# भारतीय लोक प्रशासन

# भारतीय लोक प्रशासन

शालिनी वाधवा

अर्जुन पब्लिशिंग हाउस

भारतीय लोक प्रशासन



प्रथम संस्करण, 2003

ISBN 81-88775-15-0

*प्रकाशक* :

अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस

4831/24, प्रह्लाद गली,

असारी रोड, दरियागंज,

नई दिल्ली—110002

फोन : 23272541, 23257835

फैक्स : 91-011-23257835

e-mail : campusbooks@hotmail.com

*टाइपसेटिंग* :

अर्जुन कम्प्यूटर्स

दिल्ली—110051

*प्रिन्टर्स*

रोशन ऑफसेट प्रिंटर्स

दिल्ली

# भूमिका

भारत के आधुनिक लोक प्रशासन में ब्रिटिश पद्धतिया का बडा गहरा प्रभाव है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के आगमन से पूर्व जितने भी शासक हुए उनके रहन-सहन, राजनीतिक व्यवस्थाए, प्रशासन तथा प्रशासनिक व्यवस्थाओ के उतार-चढाव तथा उससे सदर्भित घटनाओं का सम्मिश्रण ही भारतीय लोक प्रशासन है। इस प्रकार भारतीय इतिहास मे हिन्दू युग राजनीतिक दृष्टि से उन्नत और विकसित माना जाता है। मध्य युग में अलाउद्दीन खिलजी, शेरशाह और अकबर जैसे कुछ प्रसिद्ध नाम हैं, जिन्होंने मुगलकालीन प्रशासन को स्थापित किया, सुदृढ बनाया और उसमे कितने ही नए प्रयोग भी किए। इसी कारण जब अग्रेजो ने भारत म अपना शासन किया तो यहां मुगल प्रशासन के अवशेष मिलते थे। परन्तु मुगलकालीन प्रशासन बहुत सुदृढ होते हुए भी वह आधुनिक युगीन प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा करने मे सक्षम नही था।

अंग्रेज प्रशासकों ने जिले को प्रशासन की इकाई बनाया तथा प्रान्तो की रचना की। इस पुस्तक के माध्यम से भारत मे ब्रिटिश प्रशासन किस प्रकार विकसित हुआ और स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् विकासोन्मुख प्रशासन की आवश्यकता पर विचार किया गया है।

यह पुस्तक प्रत्येक प्रशासनकर्मी, प्राध्यापक, शोधार्थी और भारत के लोक प्रशासन मे दिलचस्पी रखनेवाले व्यक्तियो के लिए समान रूप से उपयोगी है।

शालिनी वाधवा

# विपय-सूची

# 1

# भारतीय प्रशासन की उत्पत्ति और विकास

भारतीय प्रशासन का विकास भारत में अंग्रेजी राज के विकास की कहानी का एक छोटा-सा अध्याय है। सदियों पुराने भारत के इतिहास में जिस प्रकार अनेक प्रकार के शासन और राजनीतिक व्यवस्थाएं आईं और गईं उसी प्रकार उनके अपने प्रशासन और प्रशासनिक व्यवस्थाओं का उतार-चढ़ाव भी चलता रहा। भारतीय इतिहास का हिन्दू युग जिस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से उन्नत और विकसित माना जाता है, उसी प्रकार हिन्दू युग का प्रशासन भी भारतीय इतिहास का एक गौरवपूर्ण पृष्ठ है। मध्य युग में अलाउद्दीन खिलजी, शेरशाह और अकबर जैसे कुछ प्रसिद्ध नाम हैं, जिन्होंने मुगलकालीन प्रशासन को स्थापित किया, सुदृढ़ बनाया और उसमें कितने ही नये प्रयोग भी किये। अंग्रेज जब भारत वर्ष में आये तो मुगल शासन की तरह मुगल प्रशासन भी पतनोन्मुख होने के साथ-साथ अस्त-व्यस्त स्थिति में था। बंगाल में दीवानी अधिकार प्राप्त करने के समय से लेकर सन् 1857 तक कम्पनी-शासन ने अपने आपको एक ऐसी स्थिति में पाया जिसमें मुगलकालीन प्रशासन उसके अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों के अनुरूप नहीं था और अंग्रेजी प्रशासन की विशेषताएं भारत जैसे देश में उत्पन्न करना एक असम्भव कार्य था।[1] सन् 1858 से 1947 तक क्राउन की सरकार ने संसदीय संस्थाओं को संवैधानिक सीमाओं में रखते हुए विकसित करने के अनेक प्रयत्न किये जिसके फलस्वरूप भारतीय प्रशासन को भी राजनीतिक और आर्थिक सुधारों की दृष्टि से एक नया प्रयोग-क्षेत्र माना जाने लगा।

अंग्रेजी युग में प्रशासन का सबसे बड़ा विरोधाभास एवं विडम्बना यह रही कि एक ओर तो वह साम्राज्यवादी हितों का यन्त्र बना, किन्तु दूसरी ओर अंग्रेजों ने अपने उदारतावादी दर्शन के आधार पर भारत की राष्ट्रीयता को उसमें समाहित करने की कोशिश भी की। साम्राज्यवाद की मांग थी कि केन्द्रीकृत प्रशासन स्थायित्व का यन्त्र बने, किन्तु उदारतावाद और भारतीय राष्ट्रीयता का तकाजा था कि प्रशासन जनहित में कार्य करे और उसमें धीरे-धीरे भारतीयों को उचित स्थान दिये जाएं। अंग्रेजों ने इस दुविधा को सुलझाने के लिए कार्यपालिका के प्रभुत्व को स्वीकार किया और साथ ही साथ यह भी कोशिश की कि जातिवादी व्यवस्था सुरक्षित रह सके। फलस्वरूप जैसा कि प्रशासन के इतिहासकार

डॉ० मिश्रा मानते हैं, नौकरशाही-निरकुशता, ब्राह्मणवादी निरकुशता में बद्धमूल हो गई। इस युग के प्रशासनिक इतिहास में लार्ड कार्नवालिस, होल्ट मैकेन्जी, सर चार्ल्स मैटकाफ, विलियम वैंटिन, सर बटलर तथा सर मैल्कम् हैली आदि कितने ही ऐसे नाम हैं जिन्होंने अपने अथक प्रयत्नों से मसवदारी-व्यवस्था को एक अनुबन्धित व्यवस्था में बदला। विजय के औचित्य को कानून की पवित्रता प्रदान की और प्रशासन में विशेषीकरण को जन्म देकर कार्यकुशलता और नये प्रकार की नौकरशाही का ढाचा खड़ा किया। इस दो सौ वर्षों के अंग्रेजी प्रशासन के इतिहास की यदि कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि है तो वह यह कि उसने एक शिक्षित शहरी मध्य-वर्ग को जन्म देकर एक ऐसे प्रशासन-तत्र की भारत में स्थापना की जो आगे चलकर (एलिटिस्ट) होने के साथ-साथ अभिजातवादी और आत्मकेन्द्रित बन गया।

भारत में लोक-प्रशासन जैसा मुगल युग में था और जिस प्रकार की स्थितियां अंग्रेजों ने छोड़ी उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि वह एक जिला-आधारित प्रशासन रहा है, जिसमें प्रतिष्ठा और पद-सोपान, वेतन-स्तर आदि के भारी भेदभावों के साथ-साथ केन्द्रीय प्रशासन और राज्य-स्तरीय प्रशासनों के लिए दो भिन्न-भिन्न दिशायें उभरी हैं। राजस्व और विधि-व्यवस्था इस प्रशासन के मूल आधार रहे हैं और विकास कार्य का प्रशासन इन्हीं के साथ-साथ इन्हीं में अन्तरगुम्फित रहा है। अंग्रेजी युग की इस प्रशासनिक व्यवस्था को निम्न छ भागों में विभाजित कर इसका विकास-क्रम पहचाना जा सकता है:

1. सवैधानिक सरकार,
2. केन्द्रीय सचिवालय,
3. सार्वजनिक सेवायें,
4 वित्तीय प्रशासन,
5. राजस्व और न्याय-प्रशासन,
6 स्थानीय स्वराज्य।

## 1. संवैधानिक सरकार

सन् 1773 के रेग्यूलैटिंग एक्ट के आरम्भ होने वाले सवैधानिक विकास के चरण जिन महत्वपूर्ण वर्षों से गुजरे हैं, उनमें 1813, 1833, 1858, 1861, 1892, 1909, 1919 और 1935 विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन महत्वपूर्ण वर्षों में जो सवैधानिक अधिनियम और सुधार भारत में लागू किये गये उनमें राजनीतिक घटनाचक्र और कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव ढूढा जा सकता है। इन अधिनियमों ने भारत को विकासमान ससदीय सस्थाए दी जिनके आधार पर भारत का वर्तमान संविधान बना है।' गदर से पहले सवैधानिक इतिहास रेग्यूलैटिंग एक्ट के चारों ओर विकसित हो रहा था। 1858 में क्राउन द्वारा सरकार लिये जाने पर लदन में गृह-सरकार की स्थापना हुई और साम्राज्ञी विक्टोरिया ने उदारतावादी घोषणा द्वारा भावी सुधारों की ओर सकेत किया।'

सन् 1861 के अधिनियम ने भारत की प्रान्तीय और केन्द्रीय कार्यकारिणी को सुगठित बनाया। उसके पश्चात्, 1885 से लेकर 1892 तक की उदारतावादी मांगों के फलस्वरूप एक कान्सिल व्यवस्था जन्मी जिसमें अप्रत्यक्ष चुनाव का वचन दिया गया। 1905 के बग-भग आन्दोलन, मुस्लिम लीग के जन्म तथा उग्रवादी राजनीति के फलस्वरूप सन् 1909 मे मार्लेमिन्टो योजना आई जिसने कान्सिल व्यवस्था का विस्तार कर अर्ध-प्रतिनिधित्व-धारी सस्थाओं के विवाद-मचों को जन्म दिया। सन् 1917 में मॉन्टेग्यू घोषणा के उपरात माण्ट फोर्ड-योजना के अधीन द्वैध शासन मिला और प्रातों में अर्ध-उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना हुई। दोनों विश्व युद्धों के बीच का युग गाधीवादी राजनीति का युग है और साइमन कमीशन की सिफारिशों को सवैधानिक रूप में प्रस्तुत करने वाला 1935 का भारतीय अधिनियम केन्द्र में द्वैध शासन और प्रान्तों में स्वराज्य के प्रावधान प्रस्तुत करता है।' भारतीयों को अधिक-से-अधिक स्वायत्ता देने वाले इस अधिनियम में ऐसे कितने ही विशेषाधिकार और निषेधाधिकार थे जिन्होंने इसके व्यावहारिक रूप को सफल होने से रोका। फलस्वरूप सन् 1935 का सघ कभी नहीं बन सका और 26 जनवरी, 1950 को गणतत्र की घोषणा करने की अवधि तक सामान्य परिवर्तनों के साथ, भारत में 1919 का अधिनियम ही लागू रहा।

यदि इन सब अधिनियमों को गम्भीरता से विश्लेषित किया जाए तो इस सारे क्रमिक विकास में तीन विशेषताए दिखाई देंगी

1 भारत में प्रतिनिधित्वपूर्ण सस्थाओं की स्थापना और उनकी सदस्य सख्या और प्रकृति का क्रमिक विकास।
2 इन सस्थाओं के माध्यम से शासन का जनतान्त्रीकरण और उत्तरदायित्व की भावना का विकास।
3 भारतीय शासन का भारतीयकरण और भारतीयों को प्रभावशाली ढग से शासन में दिये जाने वाले अवसरों की वृद्धि।

इन तीनों प्रवृत्तियों ने जो कि सवैधानिक नीति से सबंधित थीं, भारतीय प्रशासन को अनेक वर्षों में प्रभावित किया। ब्रिटिश युग में एक ओर जबकि शासन, प्रशासन को विशेष अधिकार व सुविधाओं और नियत्रण का यत्र मानता था, तो दूसरी ओर राष्ट्रीय काग्रेस प्रतिवर्ष यह प्रस्ताव पास करती रहती थी कि प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर अधिक-से-अधिक भारतीयों को लिया जाए। फलस्वरूप सवैधानिक नीतियों एव परिवर्तनों से भारतीय प्रशासन स्पष्टत पाच प्रकार से प्रभावित हुआ।

1. सवैधानिक नीतियों ने उच्च सेवाओं को भारत-मत्री के अधीन रखकर, विशेष सुविधाए और सरक्षण दिये, जो कालातर में विकास के साथ-साथ बढते गये।
2 सेवाओं को विशेष भूमिका सौंपी गई और उनके हितों की रक्षा गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व बने।

3 इन सरक्षणों और विशेषाधिकारों की नीति ने भारत में केन्द्रीकृत अखिल भारतीय सेवाओं को जन्म दिया, जो केन्द्रीय और प्रान्तीय सेवाओं से भिन्न रूप में आज भी जीवित हैं।

4 चूंकि अंग्रेज प्रशासन स्थायित्व और व्यवस्था को महत्व देता था, अत साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए एक सुदृढ़ नौकरशाही उसका आधार स्तम्भ बनी और सारी प्रशासन व्यवस्था केन्द्रित रही।[5]

5. कांग्रेस द्वारा दुहराई जाने वाली मांगों के फलस्वरूप सभी अधिनियमों में इस बात को सिद्धात स्वीकारा गया कि प्रशासन का भारतीयकरण एक अनिवार्यता है और उत्तरदायी शासन की प्रक्रिया का विकास प्रशासक वर्ग के भारतीयकरण द्वारा ही समव है।

कुल मिलाकर 1858 से 1950 तक का भारत का सवैधानिक विकास प्रशासन को एक सुगठित नौकरशाही के रूप में प्रस्तुत करता है जिसके दूसरे निम्न स्तरों पर एक ओर जबकि भारतीयों की सख्या बढ़ती जाती है तो दूसरी ओर उच्च अधिकारी अंग्रेज वर्ग विशेष सुविधाओं और शक्तियों का केन्द्र बना रहता है।

## 2. केन्द्रीय सचिवालय

अंग्रेजी साम्राज्य ने भारत को जो प्रशासनिक एकता दी है उसको लाने में केन्द्रीय सचिवालय की एक विशेष भूमिका रही है।[6] कम्पनी शासन में बगाल के गवर्नर-जनरल के अधीन केन्द्रीय सरकार का सचिवालय जब गठित किया गया तो उसका कोई वैधानिक आधार नहीं था। सन् 1833 के चार्टर अधिनियम के अन्तर्गत प्रशासन में मितव्ययिता लाने के लिए सर होल्ट मैकेन्जी की सलाह से केन्द्रीय सचिवालय में तीन परिवर्तन किये गये।[7] (क) कामर्स विभाग समाप्त कर दिया गया, (ख) राजस्व और वित्त विभागों को मिलाकर एक मिश्रित विभाग बना दिया गया, और (ग) दो सचिवों, जिनके नाम एच टी प्रिन्सपे और डब्ल्यू एच मैक्न काट थे, की अध्यक्षता में क्रमश दो विभाग समूह बनाये गये। प्रथम समूह में सामान्य, विदेश और वित्त विभाग थे तथा दूसरे समूह में राजस्व, न्यायालय, गुप्तचर आदि विभागों का समूहीकरण किया गया। यह प्रयोग एक मिश्रित सचिवालय व्यवस्था के नाम से कुछ समय तक चला, किंतु एक प्रयोग के रूप में सफल न हो सका।

सन् 1943 में कान्सिल स्थित गवर्नर-जनरल के पर्यवेक्षण में चार विभाग पुनर्गठित किये गये। इस सुधार आयोजन के अन्तर्गत

1 सैनिक-विभाग ज्यों-का-त्यों बना रहा।
2 विदेश-विभाग में दौत्य सबधी मामले और जोड दिये गये।
3 गृह मत्रालय की कार्यसूची में पुलिस, दीवानी और फौजदारी न्याय, सार्वजनिक निर्माण और स्वास्थ्य आदि विषय डाल दिये गये।
4 वित्त-विभाग को सारे वित्तीय कार्य सौंपे गये। सन् 1855 में सार्वजनिक निर्माण

विभाग, गृह विभाग से पृथक् कर दिया गया और लार्ड डलहौजी ने सचिवालय की कार्य-विधि को सरल बनाने के लिए कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाये। फलस्वरूप सचिवालय पत्रों को चार प्रकारों में बाटा गया।

(i) अतिआवश्यक

(ii) सामान्य

(iii) महत्वपूर्ण

(iv) अमहत्वपूर्ण

इन पत्रों के सचार तथा मूल सदर्भ आदि के नियम बनाये गये और लार्ड केनिंग ने कार्य-प्रक्रिया को गति कार्यक्षमता उत्तरदायित्व तथा गवर्नर-जनरल की व्यक्तिगत मुक्ति आदि के सिद्धातों के आधारों पर उन्हें सशोधित एव परिमार्जित किया। यह स्थिति 1857 के गदर से पहले की थी, जिसे केन्द्रीय सचिवालय का शैशवकाल भी कहा जा सकता है।

गदर के कारण उत्पन्न अव्यवस्था को सुनियोजित करने के लिए केन्द्रीय सचिवालय में सन् 1862 से 1919 तक नये विभागों का गठन किया गया और उन्हें सचिवों के प्रशासकीय नियत्रण में रखा गया।

ये नये विभाग थे .

1 विधायन अथवा व्यवस्थापन विभाग (1869)

2 कृषि और राजस्व विभाग (1871)

3 उद्योग और वाणिज्य विभाग (1905)

4 रेलवे बोर्ड (1905)

यद्यपि सन् 1877 की काल्विन कमेटी ने एग्रीकल्चर, राजस्व और वाणिज्य विभागों को गृह मत्रालय में मिलाने की सिफारिश की थी, किन्तु प्रशासनिक दृष्टि से यह सभव नहीं हो सका और सन् 1881 में अकाल विभाग भी राजस्व मत्रालय में जोड दिया गया। सन् 1905 में लार्ड कर्जन के प्रयासों से उद्योग और वाणिज्य विभाग को अनेक नये विषय मिले, किन्तु रेलवे बोर्ड के गठन के बाद रेलवे का सार्वजनिक निर्माण कार्य रेलवे बोर्ड को ही सौंप दिया गया।

सन् 1906 में सेना विभाग को दो भागों में विभक्त कर सेना विभाग और मिलिट्री सप्लाई विभाग के नाम दिये गये जो क्रमश कमान्डर-इन-चीफ और मिलिट्री सदस्य के अधीन कर दिये गये। 1911 में गृह मत्रालय के तत्वावधान में सर विलियम आरेन्ज की अध्यक्षता में शिक्षा विभाग का स्वतत्र रूप से गठन किया गया, जो स्तर की दृष्टि से एक उप-विभाग था।

सन् 1855 से 1911 तक की इस अवधि में विभागीय पुनर्गठन के साथ-साथ कितने ही कार्य-विधि सबधी सुधार भी हुए। लार्ड स्लमिन ने विभागीय मामलों पर नोटिंग-पद्धति

आरम्भ की तथा लार्ड कर्जन ने फाइलों की मूवमेन्ट तथा अतर-विभागीय सदर्भ के लिए नई व्यवस्था का विधान किया। इसी समय सेक्रेटेरियट इन्सट्रक्शन्स के नाम से केन्द्रीय सचिवालय की कार्य संहिता भी प्रथम बार प्रकाशित हुई।

सन् 1919 से 1947 तक का समय केन्द्रीय सचिवालय में विभिन्न सुधारों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस युग में चार समितियों का गठन हुआ जिन्होंने सचिवालय सुधार के लिए समय-समय पर पहल की। सन् 1919 की लिविलियन स्मिथ कमेटी के सुझाव के आधार पर (क) विभागीय विषयों को पुनर्गठित किया गया, (ख) लिखित आलेखों की प्रथा आरम्भ की गई, (ग) केन्द्रीकृत भर्ती की व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ, तथा (घ) सचिवालय में अवधि प्रतिनियुक्ति व्यवस्था को सुदृढ किया गया। इसी प्रकार सार्वजनिक स्वास्थ्य को शिक्षा विभाग, कापी राइट को उद्योग विभाग तथा एक्साइज को होम डिपार्टमेन्ट को सौंपा गया। फलस्वरूप पुनर्गठित सचिवालय में कुल ग्यारह विभाग बने, जिनके नाम इस प्रकार थे

1. गृह
2 विदेशी मामले
3 वाणिज्य
4 शिक्षा एव स्वास्थ्य
5 विधि-निर्माण
6 वित्त
7 उद्योग
8 सेना
9 रेल
10 सार्वजनिक निर्माण
11 राजस्व एव कृषि

चार वर्ष बाद नियुक्त होने वाली इचकैप समिति ने विभागीय पुनर्गठन के प्रश्न को कार्यकुशलता और मितव्ययिता के सदर्भ में परीक्षित किया। इस समिति की सिफारिशों के अनुसार नौ विभागों को चार विभागों में मिला देने पर दस लाख रुपये की बचत हो सकती थी। अत समिति ने सिफारिश की कि रेल और पोस्ट ऑफिस को मिलाकर एक विभाग बना दिया जाए। आडिट और अकाउन्ट्स को दो पृथक् विषय मानकर अलग कर दिया जाए और बोर्ड ऑफ रेवेन्यू का विस्तार किया जाए।

सन् 1936-37 में नियुक्त होने वाली व्हीलर और मैक्सवैल समितिया जिन्हें सचिवालय समिति और सगठन तथा प्रक्रिया समिति भी कहते हैं, केन्द्रीय सचिवालय के सुधार के लिए व्यापक सुझाव प्रस्तुत करती है। व्हीलर समिति की मान्यता थी (1) केन्द्र और प्रातों के बीच डेपुटेशन-सिस्टम बनाया रखा जाये, (2) आई सी एस के अधिकारी आडिट और टैक्स विभागों में कार्य करें, तथा (3) डबल नोटिंग सिस्टम को समाप्त किया जाये। सन् 1937 की मैक्सवैल समिति एक ओर जबकि पद सौपने के स्तर को छोटा करना चाहती थी, तो दूसरी ओर उसने प्रणाली सबधी अनेक सुझाव प्रस्तुत किये। समिति का सुझाव था कि फाइल पर पहला नोट लिखने वाला अधिकारी अवर सचिव के स्तर का होना चाहिए। सयुक्त सचिव और सहायक

सचिव के पद हटा दिये जायें तथा सचिव स्तर का व्यक्ति ही एक मात्र प्रशासकीय अधिकारी माना जाए।

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण जब स्थिति नाजुक हुई, तब सन् 194, में एक बार फिर सचिवालय का पुनर्गठन आवश्यक समझा गया।[9] इससे पूर्व सन् 1941 में ही नागरिक प्रतिरक्षा, सूचना एवं प्रसारण तथा प्रवासी भारतीयों से संबंधित पहले से ही स्थापित किये जा चुके थे। युद्ध के कारण प्रतिरक्षा समायोजन का एक नया विभाग और बना तथा एक युद्ध विनियोजन बोर्ड भी गठित किया गया। इसी प्रकार सन् 1942 में खाद्य विभाग बना और उद्योग तथा नागरिक रसद विभागों को फिर से एक साथ जोड दिया गया। सन् 1944 में आयोजना एवं विकास नाम से जो विभाग स्थापित किया गया वह इस बात का प्रतीक था कि ब्रिटिश शासन अपनी नीतियों में तीव्रगति से परिवर्तन कर रहा था। पुनर्गठन की दृष्टि से टाटनहोम समिति ने एक छोटे सचिवालय का सुझाव दिया था, जिसमें अधीनस्थ एवं संयुक्त कार्यालयों की स्थापित की सिफारिश की गई थी। समिति चाहती थी कि प्रत्येक डिपार्टमेन्ट को सचिव, विंग को सह-सचिव, डिविजन को उप-सचिव तथा ब्रान्च को अवर सचिव पर्यवेक्षित करें।[10]

युद्ध के बाद यद्यपि सचिवालय में सामान्य परिवर्तन हुए, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण घटना शिक्षा, स्वास्थ्य एवं कृषि मत्रालयों का विभाजन था। इसी प्रकार श्रम मत्रालय भी इस समय जन्मा। 15 अगस्त, 1947 को जब सत्ता हस्तान्तरण हुआ तो नई दिल्ली के केन्द्रीय सचिवालय में उन्नीस विभाग थे जिन्हें फिर से पुनर्गठित करने और सुधारने के लिए स्वतत्र भारत की सरकार ने सर गिरिजाशकर बाजपेयी की अध्यक्षता में सचिवालय पुनर्गठन समिति की स्थापना की। केन्द्रीय सचिवालय का यह बेतरतीब विकास साराश रूप में कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की ओर सकेत करता है। प्रथम, तो यह कि यह सारा विकास लार्ड कर्जन जैसे वाइसराय तथा स्मिथ मैक्सवैल तथा टाटनहोम जैसे सलाहकारों के प्रशासनिक-दर्शन के चारों ओर हुआ। दूसरे, सचिवालय सबधी अधिकतर सुधार सन् 1862 से 1919 तथा 1940 से 1947 की अवधि के बीच में ही सम्पन्न हुए। तीसरे, विश्वयुद्धों, अकालों तथा सकटकालीन स्थितियों ने इस विकास को नई दिशा तथा नये तत्व देने में पर्याप्त योगदान दिया। यद्यपि अधिकतर सुधार सचिवालय में मितव्ययिता एवं कार्यकुशलता का आधार लेकर चले थे, किंतु उन्हें क्रियान्वित करने में कौन्सिल व्यवस्था एवं सचिव व्यवस्था सबसे बडी बाधायें सिद्ध हुईं। यद्यपि यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि केन्द्रीय सचिवालय में विकास जैसा महत्वपूर्ण विभाग दूसरे विश्व-युद्ध तक नहीं खुल सका, किंतु यह नि सदेह ही आश्चर्य का विषय है कि अंग्रेजी शासनकाल के सुदीर्घ इतिहास में सचिवालय के पुनर्गठन एवं विकास के प्रश्न को किन्हीं निश्चित तर्कप्रधान एवं विवेक सम्मत नीति सिद्धांतों के आधार पर क्यों नहीं सुलझाया गया?

## लोक सेवाएं

ब्रिटिश शासन काल में भारत की प्रशासनिक सेवाएं सचिवालय संगठन की तुलना में अधिक तीव्रगति से बदली एवं विकसित हुई हैं।" इसका एक कारण यह माना जा सकता है कि ब्रिटिश शासन ने साम्राज्यवाद तथा प्रशासनिक सुधार दोनों ही दृष्टियों से भारतीय लोक सेवाओं को एक प्रमुख क्षेत्र माना था। (मैकाले)[12], इसलिंगटन[13] तथा ली-फर्नहाम[14] आदि प्रसिद्ध अंग्रेजों ने भारत की प्रशासनिक सेवाओं को एक विशिष्ट ढांचे में ढालने के लिए गंभीर प्रयत्न किये और आज भी प्रशासन में जिन अखिल भारतवर्षीय सामान्य सेवाओं का वर्चस्व है वह इन्हीं महानुभावों की बौद्धिक परिकल्पना का परिणाम है। लंबे विकास ने इन सेवाओं को अनाम बेनाम, तटस्थ एवं स्वामिभक्ति की विशेषताओं से सुदृढ़ बनाया है, किंतु जिन सिद्धांतों पर इनका आरम्भिक गठन हुआ था उन्हें ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में साम्राज्यवादी परिस्थितियों का परिणाम कहा जाना कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

कंपनी शासन के बनाने में भारत में आने वाले प्रशासकों का चयन हेलेबरी कालेज की एक समिति के माध्यम से बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स किया करते थे। वह लूट का जमाना था और कंपनी मनमानी और मनचाही नियुक्तियां करती रहती थी। सन् 1833 के अधिनियम में प्रथम बार यह कोशिश की गई थी कि भारतीय प्रशासनिक सेवाओं पर ब्रिटिश संसद का सीधा नियंत्रण रहे और उनकी अनुशासनात्मक कार्यवाही पर कलकत्ता स्थित भारत सरकार का कठोर नियंत्रण हो। इस संदर्भ में यह निर्णय लिया गया कि भारतीय प्रशासनिक सेवा में सीधी भर्ती एक सीमित प्रतियोगिता परीक्षा प्रणाली आरम्भ की जाये जिसके प्रतियोगी परीक्षार्थियों की उम्र 20 और 21 वर्ष के बीच में हो। नियंत्रण को सुदृढ़ बनाने के लिए यह तय किया गया कि अर्द्धवार्षिक पब्लिक रिपोर्ट सिस्टम आरम्भ किया जाए, जो कालांतर में जाकर वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन के रूप में विकसित होता हुआ आज भी भारतीय कार्मिक वर्ग प्रशासन में ज्यों-का-त्यों सुरक्षित है।

भारतीय सेवाओं के इतिहास में सन् 1854 सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर्ष है जबकि लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में कमेटी आन इण्डियन सिविल सर्विसेज का गठन हुआ।[15] इस कमेटी ने आई.सी.एस. के लिए जो सिफारिशें दी थीं वे न्यूनाधिक रूप में आज भी भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के गठन और कार्य प्रणाली की आधार स्तम्भ हैं। लार्ड मैकाले का सुझाव था कि ब्रिटेन के युवावर्ग में से 18 और 23 वर्ष के बीच की उम्र वाले स्नातकों को यदि प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से सामान्य विषयों के आधार पर चुना जाये, तो वे एक ऐसी मैरिट-ओरियेन्टेड कैरियर सर्विस बन सकेंगी जिसमें उदारतावाद और साम्राज्यवाद दोनों का समन्वय संभव हो सकेगा। सन् 1857 में गदर के बाद जब भारत मंत्री भारतीय सेवाओं के संरक्षक बने तो सिविल सर्विस सेवाओं के सुधार को लेकर तीन क्षेत्रों में विवाद खड़ा हुआ .

(अ) आई सी एस की भर्ती की उम्र क्या हो?

(ब) सेवाओं में कार्यकारिणी और न्यायपालिका सबधी भेद किया जाये अथवा नहीं?

(स) किन भारतीयों को कौन से स्तर पर नौकरिया दी जायें?

(अ) आई सी एस की उम्र को लेकर भारतवर्ष के राष्ट्रीय इतिहास में एक भारी विवाद चलता रहा। मैकाले का दर्शन, जो आई सी एस के लिए योग्यतम युवा प्रतिभाओं को आकृष्ट करना चाहता था, पाच साल बाद 1859 में *अव्यावहारिक माना गया।* ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों के स्नातक इस सेवा में अधिक रुचि न ले सके और प्रतियोगियों की सख्या उत्तरोत्तर घटती रही। फलस्वरूप सन् 1876 में भारत मत्री सालसबरी ने एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया और भर्ती की प्रतियोगिता की उम्र को 18-23 वर्ष से घटाकर 17-19 वर्ष निश्चित कर दी। आई सी एस परीक्षा के लिए उम्र को नीचे करने का यह प्रावधान तीन कारणों से किया गया था। प्रथम, यह कि ब्रिटिश विश्वविद्यालय ऐसा करने के पक्ष में थे। दूसरे, ब्रिटेन में भर्ती का दर्शन यह था कि 'कैच देम यग' और तीसरे 21 वर्ष की उम्र में जो *अग्रेज युवक आई सी एस. की परीक्षा में असफल हो जाते थे उन्हें बाद में अन्यत्र कोई नौकरी नहीं मिलती थी। किंतु सालसबरी के इस निर्णय के बाद भारतवर्ष में* भी इसी प्रकार की आवाज उठने लगी। भारतीयों का यह कहना था कि 17-19 वर्ष के भारतीय युवक मेधावी होते हुए भी लदन जाकर आई सी एस की परीक्षा में सम्मिलित नहीं हो सकते। मैकाले का दर्शन सही होते हुए भी व्यावहारिक नहीं माना गया और पूरे भारतवर्ष में एक आन्दोलन खड़ा हो गया। लम्बे विवाद के बाद सन् 1892 में आई सी एस की भर्ती की उम्र फिर से बढ़ाकर 18-23 वर्ष की आयु-सीमा में निर्धारित कर दी गई।

(ब) *भारत में अग्रेजी शासन ने उच्च सेवाओं का विकास कावेनेन्टेड सर्विसेज के रूप* में निश्चितता से आरम्भ किया। अग्रेजों की यह मान्यता थी कि भारतीय लोग कानूनी कार्य करने में अधिक निपुण होते हैं। अत आई सी एस. को कानूनी प्रशिक्षण देकर वे न्यायिक सेवाओं में भी रखना चाहते थे। एलिफिसटोन, होमवर्ड, बैली आदि कितने ही अग्रेज सिविलियन कार्यकारी और न्यायिक सेवाओं के पृथकीकरण के विरोधी थे। कैम्बेल नामक एक बगाली सिविलियन ने पदोन्नति के समानान्तर सोपान के आधार पर जब समान वेतनभोगी सेवाओं के गठन का प्रस्ताव रखा तो सर एश्ले ईडन ने इसे प्रयोग के रूप में भी *अस्वीकार कर दिया।* वे चाहते थे कि पाच वर्ष तक मुन्सिफ रहने वाले लोगों को कवेनेन्टेड सेवा में प्रवेश दिया जाये और नौ वर्ष के बाद न्यायिक सेवा में माना जाए। सन् 1894 में इलियट योजना के अन्तर्गत सपूर्ण पृथकीकरण की योजना छोड़ दी गई, किंतु समानान्तर पदोन्नति का सिद्धात जारी रहा। उस जमाने में भारतवर्ष में बहुत थोड़े लोग डिस्ट्रिक्ट या हाईकोर्ट जज के पद तक प्रमोशन के माध्यम से पहुचा करते थे। सेवाओं की यह मिश्रित नीति मैकाले दर्शन का एक *अग थी और आज जबकि भारतीय संविधान पृथक्* न्यायपालिका की व्यवस्था करता है तो भी सेवाए कार्यकारी और न्यायिक कार्य मिश्रित रूप

से कर रही हैं।

(स) भारतीय सेवाओं के भारतीयकरण का प्रश्न प्रशासनिक प्रश्न की अपेक्षा राजनीतिक अधिक था। अंग्रेज यह चाहते थे कि भारतीय सेवाओं में जो प्रतिभाशाली अंग्रेज युवक आयें, वे स्वामिभक्त हों और उन्हें सुरक्षा की गारंटी दी जाये। इनके लिए जो सेवा बनी वह कवेनेन्टेड सिविल सर्विस कहलाई। अंग्रेजों के अतिरिक्त जो भारतीय पोर्चगीज, यूरेशियन्स तथा पारसी युवक कम्पनी प्रशासन में आना चाहते थे उनके लिए जो सेवा बनी, उसे अनकवेनेन्टेड सिविल सर्विस कहा जाता है। इन दोनों प्रकार की सिविल सेवाओं के बीच अंग्रेजों ने एक भारी भेद रखा और अनकवेनेन्टेड अधिकारियों को केवल सहायक या प्रान्तीय स्तर पर कार्य करने वाले कनिष्ठ सेवक मात्र माना।[14] लार्ड कार्नवालिस और विलियम वैन्टिक इस नीति के प्रणेता थे। किंतु समय के साथ-साथ जैसे-जैसे अनकवेनेटेड सेवा बदली गई, उसके सदस्यों में रोष और आक्रोश उत्पन्न हुआ। इसके मुख्य रूप से दो कारण थे–(1) भारत सरकार अनकवेनेटेड सेवाओं में उसी प्रकार का पेट्रनेज सिद्धांत चलाने लगी जैसाकि कम्पनी शासन कवेनेन्टेड सेवाओं के लिए चलाया करता था। (2) अनकवेनेन्टेड सेवाओं के यूरोपियन सदस्य भारतीय सदस्यों के साथ मिलकर कवेनेन्टेड सेवाओं में प्राप्त सुविधाओं एवं विशेषाधिकारों के विरुद्ध आवाजें उठाने लगे थे।

सन् 1861 के अधिनियम के अन्तर्गत दोनों प्रकार की सेवाओं में पदोन्नति के क्षेत्र एवं अवसर बढ़ाये गये। सन् 1879 में लार्ड लिटन ने यह माना कि अनकवेनेन्टेड सिविल सर्विस में भारतीयों का प्रतिशत 16.66 तक रहा है। इसी समय कवेनेन्टेड और अनकवेनेटेड के काडरों में भेदभाव बढ़ने लगा जिसे ठीक करने के लिए भारतीय सेवाओं का विस्तार किया गया। सन् 1889 तक आते-आते अनकवेनेन्टेड प्रशासनिक सेवाओं का एक बहुत बड़ा भाग प्रांतों में कार्य करने लगा और धीरे-धीरे उन्हें प्रांतीय सिविल सर्विस के नाम से जाना जाने लगा। बाद में प्रांतीय सेवाओं में भी इतनी अधिक भीड़ इकट्ठी हो गई कि उनके नीचे के स्तरों और पदों को पृथक् करने की आवश्यकता अनुभव हुई जिसने अधीनस्थ सेवा नाम की छोटी भारतीय सेवाओं को जन्म दिया। उक्त विकास को निम्न ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है -

भारत में लोक सेवाएं

- कवेनेन्टेड वरिष्ठ
  - अखिल भारतीय इम्पीरियल सेवाएं
  - केन्द्रीय सेवाएं
- अनकवेनेन्टेड कनिष्ठ
  - प्रांतीय सेवाएं
  - अधीनस्थ सेवाएं
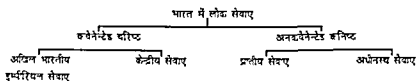
प्रस्तुत तालिका भारत में लोक सेवाओं के वर्गीकरण का विकास बतलाती है। सेवाओं की कार्यकुशलता के लिए आवश्यक था कि उन्हें उच्च और निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जाए किंतु साथ-ही-साथ सामाजिक न्याय और राष्ट्रीयता का यह भी तकाजा था कि इन

सभी सेवाओं में अधिक-से-अधिक भारतीयों को लिए जाने के लिए उनके प्रांतीय और निम्नवर्गीय स्तरों में अभिवृद्धि की जाये। भारतीयकरण का यह प्रश्न जब उच्च स्तरीय सेवाओं में उठाया गया तो इसमें यूरोपवासी बनाम भारतवासी का एक राजनीतिक प्रश्न उठा, जिसे बाद में अंग्रेजों ने हिन्दू बनाम शुद्ध मुस्लिम प्रश्न बनाकर अपनी साम्राज्यवादी नीति को सुदृढ़ किया। प्रांतीय सेवाओं का गठन कर्जन समिति (1903) की सिफारिशों के बाद गृह विभाग के आदेश से आरम्भ हुआ। इसके बाद केन्द्रीय और प्रांतीय सेवाओं की सुविधाओं में अंतर कर दिये गये और उनके वेतन, अवकाश तथा परीक्षा संबंधी नये नियम बना दिये गये।

मोर्ले मिन्टो सुधारों के पश्चात् भारतीय सेवाओं के पुनर्गठन के लिए दो महत्वपूर्ण कमीशन बने, जिन्हें इस्लिंगटन और ली कमीशन नामों से जाना जाता है। इस्लिंगटन आयोग (1912-15) ने सेवाओं का कार्य आधारित संगठन सुझाते हुए उन्हें फर्स्ट, सैकिण्ड और थर्ड क्लास सेवाओं में वर्गीकृत किया।[17] लंदन और दिल्ली में साथ-साथ इम्तिहान लेने की पद्धति को समाप्त कर आई.सी.एस. के 25 प्रतिशत वरिष्ठ पद भारतीयों के लिए सुरक्षित करने को कहा और सेवाओं में लिये जाने वाले युवकों को तीन भागों में बांटा : (1) लंदन से चुने जाने वाले, (2) यूरोप से चुने जाने वाले, (3) भारत से चुने जाने वाले। वेतन, अवकाश, सुविधाएं आदि की विस्तृत विवेचना के बाद भी इस्लिंगटन आई.सी.एस. और गैर-आई.सी.एस. की उम्र, योग्यता, विशेष सुविधायें, निपुणता, प्रांतीयकरण तथा राजनीति में भाग लेने के प्रश्नों को नहीं सुलझा सका। चूंकि इन सभी प्रश्नों के साथ, गंभीर राजनीतिक, राष्ट्रीय, प्रशासनिक तथा गोरे-काले के भेद-भाव के प्रश्न जुड़े हुए थे।

सन् 1919 में जब मान्टेग्यू घोषणा के अनुसार सेवाओं के प्रगतिशील भारतीयकरण का प्रश्न आया तो मैस्टन, हैरिस तथा बटलर आदि कितने ही वरिष्ठ सेवा अधिकारियों ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि भारतीयकरण का अर्थ प्रांतीयकरण नहीं है और इससे सेवाओं में जातीय भावना भी कम होगी। द्वैधशासन के प्रयोग ने इन आशंकाओं को सच्चा सिद्ध किया और राजनीतिक शिकार की समस्या से सेवाओं को बचाने के लिए लोक सेवा आयोग का संरक्षण मांगा गया।

सन् 1924 में रायल कमीशन आन सुपीरियर सिविल सर्विसेज ली ऑफ फर्नहाम आयोग की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। इस आयोग की चार सिफारिशें सार्वजनिक सेवाओं के विकास को चरम परिणति तक ले जाती हैं।[18] ली आयोग ने सिफारिश की कि : (1) भारत में सभी प्रकार की सेवाओं का वर्गीकरण किया जाए, (2) केन्द्रीय एवं अर्द्ध-न्यायिक सेवाओं में भर्ती के लिये केन्द्रीय लोक सेवा आयोग की स्थापना की जाए, (3) सेवाओं में काडर वाइज भारतीयकरण को बढ़ाया जाये, और (4) पब्लिक सर्वेन्ट्स को अधिक अच्छे वेतन और सुविधायें मिलें।

ली आयोग की कुछ सिफारिशों को साइमन आयोग ने भी दोहराया और फलस्वरूप 1935 के अधिनियम में भारत को सघीय लोक-सेवा आयोग मिला, जो दो वर्ष बाद सन् 1937 में उद्घाटित किया गया।

इस तरह जब 1947 में हमें आजादी मिली तो भारत की लोक सेवाए एक बहुत अच्छी और सुविधापूर्ण स्थिति में थीं। लदन में रहने वाला भारत मत्री उनका सरक्षक था और आई सी एस सेवा को तो 'स्टील फ्रेम' की सज्ञा दी जाती थी। शाति और व्यवस्था राजस्व और न्यायिक प्रशासन में निपुण 'जनरलिस्ट' प्रशासक सारे भारत में फैले हुए थे और अखिल भारतीय, केन्द्रीय प्रातीय तथा अधीनस्थ सेवाओं चार वर्गों में वर्गीकरण निश्चित बन चुका था। राष्ट्रीय आदोलन के सदर्भ में गोरे-काले तथा हिन्दू-मुस्लिम हितों की रक्षा के जो प्रश्न सेवाओं के साथ जुडे हुए थे वे अब स्वतत्रता प्राप्ति के बाद समाप्त हो चुके हैं। किंतु इतिहास के मुख्य प्रश्न सेवाओं की कार्य-कुशलता तथा सामाजिक न्याय के आधार पर उनका चयन आज भी ज्यों-के-त्यों मुह बाये खडा है।

**प्रातों का पुनर्गठन**—अग्रेजी युग के लबे इतिहास में अनेक राजनीतिक और गैर-राजनीतिक कारणों से तीन प्रकार की प्रातीय इकाइयों का जन्म हुआ जिन्हें (क) गवर्नर के प्रात, (ख) लेफ्टिनेन्ट गवर्नर का प्रात, तथा (ग) चीफ कमिश्नर की इकाई कहा जाता है। पहले प्रकार के प्रातों में गवर्नर की सहायता के लिये कौन्सिलें थीं जबकि शेष दो प्रातों या इकाइयों का प्रशासन बिना किसी कौन्सिल के चलाया जाता था।

भारत में प्रातों के निर्माण की कहानी तीन प्रेसिडेन्सी टाउनों के विस्तार के साथ आरम्भ होती है, जो बाद में बम्बई, बगाल और मद्रास के मुख्य प्रात कहलाये। अग्रेजी शासन के फैलाव के साथ-साथ नये प्रात बने जिनमें आगरा, अवध, ईस्ट बगाल, आसाम, बिहार, उडीसा, पजाब, यू पी , एम पी और सिंध आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी प्रात क्षेत्रफल और स्तर में इतने भिन्न थे कि उनका अस्तित्व केवल ऐतिहासिक सयोग द्वारा ही उचित ठहराया जा सकता है। अग्रेजों ने इन्हें मेजर और माइनर प्रातों के रूप में स्वीकार किया और इनके तत्वावधान में धीरे-धीरे सपूर्ण जिला प्रशासन को सुगठित किया।

आज का जिला प्रशासन जो जिलाधीश और पुलिस अधीक्षक के नियत्रण में चलता है, इन्हीं प्रातों की प्रशासनिक समस्याओं को ध्यान में रखते हुए बहुत कुछ एकरूपता के *साथ विकसित हुआ है। फिर भी प्रातीय स्तर पर कितनी ही समितियों की सिफारिशें द्रष्टव्य* है जिन्होंने अलग-अलग प्रातों में जिला प्रशासन को सगठित और विकसित करने में अपना योग दिया है।

सन् 1935 के अधिनियम ने भारतीय मानचित्र को बदला। उधर काग्रेस दल ने भाषाई प्रातों के लिए साइमन आयोग के जमाने से ही आवाज उठा रखी थी। राजनीतिक कारणों से माटेग्यू इसे पहले ही अस्वीकार कर चुके थे। आजादी के जमाने तक काग्रेस भाषावार प्रातों को प्रशासन के जनतात्रीकरण का साधन मानती थी और 1948 में धर

कमीशन द्वारा इसे अस्वीकार कर दिए जाने के उपरान्त भी भारत सरकार ने भारतीय संविधान में ए बी सी राज्यों में बटे हुए भारतीय मानचित्र को सन् 1955 के फजल अली आयोग की सिफारिशों के द्वारा भाषाई आधार पर पुनर्गठित किया और आन्ध्र, महाराष्ट्र, हरियाणा, आदि कितने ही नये राज्य बने।

## वित्त-प्रशासन

वित्त-प्रशासन के विकास का इतिहास भारत में केन्द्र राज्यों के सबध का इतिहास है। कम्पनी प्रशासन में वित्त प्रशासन बडी घनघोर अनिश्चितताओं से ग्रस्त था। सन् 1858 से 1919 तक की अवधि में जब कि सारे देश में एक केन्द्रीकृत व्यवस्था जन्म ले रही थी, वित्त को विकेन्द्रित करना लगभग असम्भव था। सन् 1919 से 1947 तक के काल में यद्यपि विकेन्द्रीकरण के क्षेत्र में कितने ही अभिनव प्रयोग हुए, किंतु व्यवहार में प्रातीय सरकारें केन्द्रीय सरकारों की एजेन्ट मात्र बनी रहीं और केन्द्रीकृत व्यवस्था में सन् 1947 तक कोई दरार नहीं आ सकी।"

वित्त प्रशासन को यदि विस्तार के साथ परखा जाये तो विकास के इस सारे काल में तीन निर्धारक तत्व और चार विशेषताए दृष्टी जा सकती है। ये निर्धारक तत्व थे—(अ) साम्राज्यवादी तत्व, (ब) राजनीतिक तत्व, और (स) प्रशासनिक तत्व। साम्राज्यवादी तत्वों की यह माग थी कि भारत सरकार की आमदनी का एक बहुत बडा भाग लदन और दिल्ली के बीच बाटा जाये। दूसरी ओर राजनीतिक तत्व सरकार को इस बात के लिए विवश करते थे कि भारतीय करदाता को केवल उतना ही दबाया जाये जितना कि वह कर-भार सहन कर सके, किंतु इन दोनों प्रश्नों को सुलझाने में प्रशासनिक नीति के लिये यह आवश्यक था कि इस आमदनी को वसूल करने और खर्च को नियंत्रित करने के लिये भारत सरकार के पास कोई ऐसा वित्तीय यत्र हो जिसके माध्यम से नियमानुसार अकाउटिंग और आडिट की व्यवस्था सभव हो सके।

फलस्वरूप सन् 1919 में आडीटर जनरल का पद बनाया गया जिसकी अधीनता में प्रातीय स्तर पर अकाउन्टेंट जनरल बने।" वित्त नियत्रण की सारी व्यवस्था केन्द्र और प्रात दोनों स्तरों पर धीरे-धीरे बढी और बाद में एक स्वतत्र तथा तकनीकी व्यवस्था के रूप में विकसित होती चली गई जो इस वित्त व्यवस्था को चलाने के लिये केन्द्रीय वित्त सेवाओं के रूप में सामने आई।" विकास के इस लबे काल में भारत सरकार की आमदनी और खर्चे दोनों बढे और इसके लिए कर-प्रशासन को वित्त प्रशासन से पृथक् करने का सुझाव आया। इसी तरह खर्चे का बटवारा लदन और दिल्ली, दिल्ली और प्रातीय राजधानियों के बीच कैसे हो, इसके लिए अनेक सिद्धात विकसित किये गए और अनेक स्तरीय समितियों ने इस विषय में सुझाव भी दिये।

वित्त प्रशासन की इन विकास समस्याओं को यदि निश्चितता से पहचानने का प्रयास किया जाए तो लबे क्रम से छ समस्याओं को चुना जा सकता है।

1 प्रतिरक्षा और नागरिक प्रशासन के व्ययों के बीच प्राथमिकता किस खर्चे को दी जावे और किन सिद्धातों के आधार पर यह निर्णय कौन ले कि प्रतिरक्षा और नागरिक प्रशासन की राशि को बजट में किस अनुपात में बाट कर खर्च किया जाए।
2 भारतीय भूगोल और जलवायु के सदर्भ में अकाल, बाढ, महामारी आदि सकटकालीन स्थितियों के लिए विशेष वित्त कहा से और कैसे जुटाया जाए ?
3 भारत जैसे गरीब देश में जहा कर आरोपण के साधन सीमित है वहा स्थानीय करों के आधार कैसे फैला कर उसे व्यापक बनाया जाए ?
4 भारतीय प्रशासन में व्यवस्था और विकास के खर्चों के बीच सतुलन किस प्रकार स्थापित किया जाए और यदि व्यवस्था का खर्चा अधिक हो तो विकास के लिये धन-जुटाने के लिए कौन-से साधन ढूढे जाए ?
5 साम्राज्यवादी सदर्भ में वित्त-प्रशासन के सचालन में लदन की गृह सरकार की क्या भूमिका हो और प्रात, केन्द्र और गृह सरकारों के बीच तालमेल स्थापित करने के लिए कौन-सा यत्र समुचित होगा ?
6 जनतांत्रिक परपराओं के विकास की दृष्टि से बजटों के माध्यम से प्रातीय और केन्द्रीय व्यवस्थापिकाओं को नियंत्रित करने के लिए कौन-कौन से अधिकार दिये जाए ?

ये सभी प्रश्न बडे महत्वपूर्ण थे और विभिन्न गवर्नर-जनरलों और भारत मंत्रियों ने इन्हें आदोलनों और साम्राज्यवादी इतिहास के सदर्भ में अपने-अपने ढग से सुलझाने की चेष्टा भी की।

## राजस्व और न्याय प्रशासन

भारतीय प्रशासन में राजस्व और न्याय-व्यवस्था आरम्भ से ही महत्वपूर्ण रही है। शांति और सुरक्षा को अपना प्रथम कर्त्तव्य मानने वाले मुगल प्रशासन ने इन दोनों प्रकार के प्रशासनों को सुगठित करने के लिए कितने ही स्पृहणीय प्रयोग किये थे। अग्रेजों ने जब देश का शासन सभाला तो वे इस बात से परिचित थे कि भारत जैसे विशाल देश में जहा राजस्व और न्याय व्यवस्था की सुदृढ परपरायें रही हों एक सीमा से अधिक परिवर्तन करना न तो सभव होगा और न ही वाछनीय। इस सदर्भ को ध्यान में रखते हुए मुगल व्यवस्था के चारों और राजस्व निर्धारण और राजस्व वसूली के महत्वपूर्ण सिद्धातों को विकसित किया गया।

इन सिद्धातों को विकसित करने में उन्होंने दो तत्वों को मुख्य रूप से निर्धारक माना। एक तो यह कि राजस्व व्यवस्था ऐसी न हो कि वह 1857 जैसी राजनीतिक अव्यवस्था और गदर की स्थिति को दोहराए। दूसरे यह कि राजस्व प्रशासन में भारतीय ग्रामीण जीवन, कृषि व्यवस्था, उत्पादन स्थिति और आपातकालीन स्थिति को देखते हुए सिद्धातों का

निर्धारण और निरूपण सम्यक् रूप से किया जाए।

इसके अतिरिक्त एक अन्य बात जो राजस्व प्रशासन के लिए आवश्यक थी वह यह कि सभी प्रांतों में छोटे-से-छोटे स्तर पर एक ऐसा प्रशासनिक सगठन खड़ा किया जाए जिसमें न्यायालयों का एक पद-सोपान हो और यह प्रशासकीय सगठन राजस्व प्रशासन की नीतियों को दृढ़ता से क्रियान्वित कर सके। ऐसा करते समय वे इस बात के प्रति भी जागरूक थे कि भारतवर्ष के लबे इतिहास में स्थानीय स्वराज्य की परपराए लगभग समाप्त हो चुकी थीं। अत जिन ग्रामीण क्षेत्रों स्थानीय प्रशासन जैसी कोई सस्था न हो, वहा यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि राजस्व-प्रशासन, जनता को प्रशासन की रिक्तता अनुभव न होने दे। यही कारण था कि राजस्व प्रशासन को जिला प्रशासन का आधार दिया गया और जिलाधीश को राजस्व-प्रशासन का मुख्य अधिकारी आज तक माना जाता है।

अंग्रेजों ने राजस्व-प्रशासन के दो मुख्य सिद्धात भारतीय स्थिति में प्रतिष्ठापित किये। सर्वप्रथम तो उन्होंने सम्पत्ति जैसी सस्था को कानून के माध्यम से भूमि के साथ जोडा। जो जमीन पहले केवल एक जमीन मात्र थी, वह राजस्व नियमों के अतर्गत भू-सम्पत्ति के रूप में कानूनी सरक्षण का विषय बनी। दूसरा कार्य अंग्रेजों ने यह किया कि उन्होंने कृषक वर्ग के अधिकारों की सम्पत्ति के माध्यम से व्याख्या की और कृषकों के मालगुजारी या दीवानी अधिकारों को सुरक्षित करने के लिये राजस्व विधि, राजस्व अधिकारी तथा राजस्व न्यायाधीशों को जन्म दिया। नीचे के स्तर पर मुगलकालीन पटवारी, गिरदावर, कानूनगो, तहसीलदार जैसे के तैसे बने रहे, किंतु उनके ऊपर के स्तर पर राजस्व अधिकारियों का एक लबा-चौड़ा और ऊचा पद सोपान खड़ा कर दिया गया और उन्हें नये कानून और नई नीतिया क्रियान्वित करने के लिए सौंपी गई। रैवेन्यू बोर्डों-का नया प्रातीय सगठन बना और डिविजनल कमीशनरों के माध्यम से जिला स्तर पर पर्यवेक्षण का कार्य चलता रहा।

न्याय-प्रशासन भी राजस्व प्रशासन की तरह भारतीय और अंग्रेजी पद्धतियों एव सस्थाओं का समिश्रण था। गदर के तुरत बाद अंग्रेजों ने न्याय व्यवस्था पर गभीरता से ध्यान दिया और मुगलकालीन परपराओं को सुरक्षित रखते हुए उसमें न्याय के अंग्रेजी सिद्धांतों को गूथने की कोशिश की। होल्ट मैकेंजी नामक एक अंग्रेज आई सी एस की इस क्षेत्र में भारी भूमिका रही। उन्होंने भारतीय न्याय-प्रशासन के सदर्भ में चार सिद्धात विकसित किये—

1 भारत जैसे देश में (जहा उनके अनुसार लोगों में सार्वजनिक सेवा की भावना नहीं थी) न्यायाधीशों को सीमित अधिकार देना आवश्यक था, किंतु न्याय की निष्पत्ति के लिए लबी अपील व्यवस्था भी उतनी ही वाछनीय थी।
2 देर से मिलने वाला न्याय अन्याय होता है, इस ब्रिटिश कहावत के अनुरूप वे

न्याय प्रशासन में सामान्य-प्रशासन की तुलना में कम पद सोपान चाहते थे।

3 इग्लैण्ड के म्यूनिसिपल जस्टिस में आस्था रखने के कारण उनकी मान्यता थी कि न्याय स्थानीय स्तर पर ही मिलना चाहिये।

4 किन्तु भारत की स्थिति को देखते हुए वे यह भी जानते थे कि अन्याय को रोकने के लिए भारतीय न्यायालयों पर अग्रेज-प्रधान, आई सी एस कार्यकारिणी सेवा का ही नियत्रण बना रहना चाहिए।

होल्ट मैकेन्जी के इन सिद्धातों के आधार पर भारत में न्याय-प्रशासन का विकास दो दिशाओं में हुआ।[21] 1 दीवानी और फौजदारी न्याय को दो अलग-अलग व्यवस्थाओं के रूप में अलग-अलग कानूनों और प्रक्रिया विधियों के साथ सुधारा एव विकसित किया गया। 2 भारत जैसे कानूनी विभिन्नता के देश में जहा धर्म, जाति, क्षेत्र के विभिन्नता भरी परपराओं और कानूनों का जाल फैला हुआ था वहा उन्होंने कानून के पजीकरण और एकीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण पहल की, जिससे कालातर में कानून के शासन का सिद्धान्त जन्म ले सका।

सन् 1935 तक भारत का न्याय प्रशासन स्वतत्र-न्यायपालिका के सिद्धात की अवमानना करता रहा, किन्तु 1935 का अधिनियम पहली बार यह स्वीकार करता है कि केन्द्रीय और प्रातीय न्याय व्यवस्थाए पृथक् की जायें और सघीय न्यायालय जैसे एक स्वतत्र और पृथक् सस्था भारत में स्थापित की जाए। नया सविधान इसी नीति को आगे ले जाकर न्याय-प्रशासन के इतिहास में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित करता है।

न्याय-प्रशासन का एक महत्वपूर्ण अग पुलिस-प्रशासन भी रहा है जिसे अग्रेजों ने जानबूझ कर एक अविकसित और यथा-स्थिति का प्रशासन मात्र रखा। सन् 1772 में लार्ड कार्नवालिस ने मुगलकालीन दरोगा व्यवस्था को कपनी की सुरक्षा व्यवस्था का आधार माना। मुगलकालीन ग्राम चौकीदारों की सस्था जिन्दा रखी गई और स्थानीय लोगों को पुलिस-व्यवस्था में लिया गया।

40 वर्ष बाद 1902 में अखिल भारतीय पुलिस आयोग द्वारा इस व्यवस्था को परीक्षित करवाया और आज भी पुलिस का प्रशासन 1861 के अधिनियम और 1902 की सिफारिशों के इर्द-गिर्द घूम रहा है। पुलिस को प्रातीय विषय मानकर अग्रेजों ने एक ओर जनतात्रिक सिद्धात को स्वीकार किया, किन्तु दूसरी ओर उनकी यह मजबूरी भी थी कि चूंकि केन्द्रीय पुलिस जैसा सगठन भारत जैसे विशाल देश में सभव अथवा व्यावहारिक नहीं था। इसके अतिरिक्त अग्रेजों ने भारतीय पुलिस को ग्रामीण व्यवस्था के साथ मिलाकर आका और जैसे-जैसे आजादी की लड़ाई का सघर्ष बढा, पुलिस-प्रशासन के इतिहास को निम्न सदर्भों में देखा गया।[22]

1 पुलिस सिविल प्रशासन या कलेक्टर के सुपरविजन में काम करे और कानून और व्यवस्था का अधिकारी पुलिस अधीक्षक न होकर जिलाधीश माना जाये।

2. पुलिस की प्रक्रियाओं को न्याय प्रशासन की प्रक्रियाओं के साथ अखिल भारतीय अधिनियम, आई पी सी (इण्डियन पीनल कोड), सी आर पी सी (क्रिमनल प्रोसीजर कोड ऑफ इण्डिया) और इण्डियन एविडेन्स एक्ट के अंतर्गत सुनियोजित किया जाये।
3. पुलिस प्रशासन में नीचे के स्तर पर स्थानीय और उच्च स्तर पर आई सी एस की तुलना में कम योग्य अंग्रेजों को जो मानसिक शक्ति की अपेक्षा शारीरिक दृष्टि से अधिक कुशल थे, लिया गया।

पुलिस-प्रशासन को जानबूझकर अपरिवर्तित रखना अंग्रेजों की नीति थी और यही कारण था कि सौ वर्ष के लंबे इतिहास में पुलिस का आधुनिकीकरण, विशेषीकरण तथा जनतांत्रीकरण आदि संभव नहीं हो सका। पुलिस-प्रशासन के वर्ग यूरोपीय, प्रांतीय, अपर-सबोर्डिनेट और लोअर-सबोर्डिनेट के रूप में चलते रहे और प्रांतों के गृह मंत्रालय इसका प्रशासनिक उत्तरदायित्व संभाले रहे। यहां तक कि बड़े शहरों की पुलिस भी बहुत कम विशेषज्ञ पुलिस बन सकी।

## स्थानीय प्रशासन

जब अंग्रेज भारत में आये तो मुगल इतिहास की केन्द्रीकृत परंपराओं के कारण स्थानीय स्वराज्य जैसी संस्थाएं लगभग नष्ट हो चुकी थीं। अंग्रेजों ने, जो कि अपने देश में स्थानीय स्वराज्य के बड़े शौकीन रहे थे, इस स्थिति को घोर निराशाजनक पाया। उनकी दुविधा यह थी कि यदि स्वराज्य को विकसित किया जाए तो उससे आने वाले जनजागरण पर साम्राज्यवाद नहीं चल सकता। किंतु जिस देश में अंग्रेजी संस्थाएं आरोपित करनी हों, वहां स्थानीय स्वराज्य न विकसित हो, यह भी एक विरोधाभास था। फलस्वरूप भारत में स्थानीय स्वराज्य का विकास उल्टे ढंग से हुआ। वह गांवों के बदले पहले शहरों में शुरू हुआ। वह कुछ क्षेत्रों में पूर्ण विकसित होकर बाद के युग में फिर धीरे-धीरे विकसित हुआ। उसमें अंग्रेजी-राजनीति के सिद्धांत और भारतीय जीवन की जाति धर्म की विशेषताएं आपस में टकराती रहीं और वह विकेन्द्रीकरण के विश्वास और केंद्रीकरण की आवश्यकताओं के बीच झूलता रहा। फिर भी यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आज जो भी स्थानीय स्वराज भारत में विकसित हो सका है उसका पूरा श्रेय अंग्रेजों को ही दिया जाना चाहिए। आर्थिक समस्याएं, स्थानीय जातिवाद, भारतीयकरण की नीतियां, जिला प्रशासन का संदर्भ इसके विकास का दम घोंटता रहा, किंतु इन सब बाधाओं के बावजूद भी कुछ तत्व इसे आगे बढ़ाते रहे। भारत में स्थानीय स्वराज्य का विकास तीन युगों से गुजरा है। पहला 1857 से 1992 तक, दूसरा 1982 से 1919 तक और तीसरा 1919 से 1947 तक।

पहले युग में कंपनी शासन ने जो थोड़ी बहुत मेयर कोर्ट और म्युनिसिपल मजिस्ट्रेटों की संस्थाएं बनाई थीं, उन्होंने कलकत्ता, बम्बई और मद्रास जैसे शहरों में काफी सफलतापूर्वक कार्य किया। सन् 1872 में बनने वाला बम्बई कारपोरेशन इस बात का

उदाहरण है कि भारत में स्थानीय स्वराज्य का विकास अग्रेजों ने जानवूझकर और वहुत ऊचे स्तर पर इन तीन वडे शहरों में किया।[24] वाद में इनके सगठन, कार्य शक्ति, सवध आदि में नाना प्रकार के सुधार किये गए और 1892 तक आते-आते यह कहना उचित होगा कि इन तीनों वडे शहरों में स्थानीय स्वराज्य अपने विकास का एक महत्वपूर्ण चरण छू सका। जहा तक अन्य नगरपालिकाओं का सवध है, इस पहले युग में अग्रेजों ने ऐच्छिक के स्थान पर अनिवार्य रूप से अलग-अलग प्रातों में नगरपालिकाओं के विस्तार, जनतात्रीकरण एव सेवा कार्यों को उन्नत वनाने के लिए योजनावद्ध प्रयास किये।[25]

लार्ड रिपन का वाइसराय काल स्थानीय स्वराज्य का 'स्वर्णकाल' है और लार्ड रिपन को भारत में स्थानीय स्वराज्य का पिता भी कहा जाता है। 18 मई, 1882 के सरकार प्रस्ताव में जिसे इतिहास में रिपन प्रस्ताव के रूप में अधिक माना जाता है, पहली वार स्थानीय इकाइयों को जन शिक्षा का माध्यम मानकर, स्वशासित रूप में, अधिक वजट देकर चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से विकसित करने की वात कही गई।[26] चुनाव सिद्धात के साथ-साथ देश के अलग-अलग प्रातों में स्थानीय स्वराज्य का जाल फैला और राजनीतिक चेतना का विकास हुआ। 1909 के विकेन्द्रीकरण प्रतिवेदन[27] ने रिपन की इस नीति को समाप्त करने की कोशिश की और मोर्ले-मिन्टो सुधारों तक आते-आते अग्रेजों का भारतीयों में अविश्वास स्थानीय स्वराज्य को रोके वैठा रहा।

1919 से 1947 तक की अवधि में यद्यपि भारतीयकरण, राष्ट्रीयतावाद, सघवाद की वातें वरावर उठीं, किंतु प्रातीय स्तर पर अधिक कुछ नहीं हो सका। द्वैध शासन और प्रातीय शासन के सुधारों में स्थानीय स्वराज्य भारतीय मंत्रियों को मिला, सामान्य प्रयत्न भी हुए, किंतु नौकरशाही और गवर्नर का अग्रेजी-तत्र उन्हें उसी स्थिति में रोके रहा।

आजादी के वाद इस दिशा में यद्यपि सोचना प्रारम्भ हुआ है, किंतु विभिन्न प्राथमिकताओं के वीच स्थानीय स्वराज्य वहुत पीछे रह गया। सामुदायिक विकास योजनाओं से आरम्भ होने वाला पचायती राज कार्यक्रम यद्यपि स्वतत्र भारत के इतिहास में संविधान के नीति-निर्देशक तत्व के अनुसार स्थानीय स्वराज्य की दुनिया का एक भारी कदम है, किंतु इसे इतिहास की विभिन्न धाराओं की चरम परिणति कहना सर्वथा भ्रामक होगा। जिला प्रशासन के स्तर पर अभी भी पचायती राज स्थानीय स्वराज्य होते हुए भी, स्वायत्त शासन के रूप में नहीं स्वीकारा जा रहा है।[28] दर्जनों शहरों में निगम वने हैं। नगरपालिकाए ऊची उठाई गई हैं, किंतु वजट म्युनिसिपल सेवा और राज्य सरकार के नियत्रण को देखते हुए यह विकास अभी भी कुण्ठित-सा प्रतीत होता है।

अग्रेजों ने स्थानीय स्वराज्य को अपने व्यावहारिक हितों की दृष्टि से आरम्भ किया था। साम्राज्यवादी हितों ने इन सभी को रोका। फलस्वरूप एक विष चक्र चलता रहा। स्थानीय स्वराज्य इसलिये नहीं मिला कि जनता अयोग्य थी और जनता इसलिये अयोग्य थी कि उसे स्थानीय स्वराज्य नहीं मिला। फिर भी शहरों का स्थानीय शासन अग्रेजों की

सूझबूझ और उदारवादी नीति का परिणाम था। संसदीय सरकार की आधारशिला के रूप में भारतीय संविधान ने स्थानीय स्वराज्य को संविधान में कोई मान्यता नहीं दी, वरन् राज्य सूची का एक विषय बनाकर उसकी विविधता, स्थानीयता और स्वायत्तता का सम्मान किया है।

इस प्रकार भारतीय प्रशासन का विकास विभिन्न क्षेत्रों में ब्रिटिश शासन की नीति और तत्कालीन देश और प्रांतों की परिस्थितियों की अन्तर्प्रक्रियाओं के फलस्वरूप आगे बढ़ता हुआ स्वतंत्र भारत के प्रशासन की स्थिति तक पहुंचा है। इस सारे घटना चक्र की सदर्भ सीमाएं यदि विश्लेषणात्मक ढंग से पहचानी जायें तो एक ही तथ्य बार-बार उभर कर अन्य तथ्यों को जन्म देता एवं दबाता-सा प्रतीत होता है। यह तथ्य ऐतिहासिक परिस्थिति-मूलक था, जिसके अनुसार भारतीय प्रशासन के विकास काल में एक ओर जब कि बहुसंख्यक प्रशासित समाज हिन्दू था, जो उस पर दूसरी ओर (मुगलकालीन) प्रशासनिक सस्थाएं शासन कर रही थीं। अंग्रेज लोग जो प्रशासन का एक कानूनी नया दर्शन लेकर हिन्दुस्तान आये थे, वे अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिये हिन्दू समाज की जातिवादी एवं वैयक्तिक परिवार व्यवस्था के साथ कोई छेड़-छाड़ करना नहीं चाहते थे। इसी प्रकार साम्राज्यवादी सदर्भ में यह भी सभव नहीं था कि उपलब्ध मुगलकालीन नौकरशाही या सामंतवादी प्रशासन तंत्र को समाप्त कर नया प्रयोग किया जाए। फलस्वरूप अंग्रेजी जीवन दर्शन और प्रशासन की मान्यताओं को लेकर भारतीय प्रशासन में हिन्दू एवं मुगल वर्गों के साथ प्रयोग किया गया। परिणाम यह निकला कि इस विकास क्रम से निकल कर आने वाला भारतीय प्रशासन तीनों व्यवस्थाओं की अच्छाइयां ग्रहण करने के स्थान पर उनके अन्तर्विरोधों में फस कर पगु बन गया।

भारतीय प्रशासन के विकास इतिहास में साम्राज्यवाद का सदर्भ एक सबसे बड़ी विकास सीमा है, जिसकी अवहेलना करना ओपनिवेशिक शासन के लिये आत्महत्या सिद्ध हो सकती थी। साम्राज्यवादी हितों की यह माग थी कि उपनिवेशों का प्रशासन शांति और व्यवस्था को सर्वोपरि महत्व दे और राजस्व तथा न्याय के क्षेत्रों में जो भी चुनौतियां व्यवस्था प्रशासन के समक्ष उपस्थित हों उन्हें संगठनात्मक एवं प्रक्रियात्मक परिवर्तनों एवं सुधारों के माध्यम से सुलझायें। यही कारण था कि विकास इतिहास में एक केन्द्रीभूत प्रशासन तथा जिला-प्रशासन पर अधिक बल रहा और विकास प्रशासन जैसा शब्द अथवा यंत्र सुनने तक को नहीं मिला। व्यवस्था प्रशासन की अनेक सीमाएं स्वयं राष्ट्रीयता आंदोलन से जन्मी थीं और इस कारण विकास काल में बहुत से सुझाव वाछनीय होते हुए भी ब्रिटिश दृष्टि से अव्यावहारिक माने गये।

सन् 1857 में तथाकथित गदर के पश्चात् भारतीय प्रशासन में जो सुधार हुए हैं उनकी सदर्भ सीमा इसी क्रांतिकारी घटना को माना जा सकता है। केन्द्रीय सचिवालय एवं सार्वजनिक सेवाओं के विकास में गदर की पुनरावृत्ति का भय अंग्रेजों

को नये प्रयोग करने से रोकता रहा। इसी कारण से उन्होंने यह कोशिश की कि भारतीय उच्च सेवाओं पर योग्य अंग्रेज युवकों का वर्चस्व बना रहे और राष्ट्रीयतावादी भारतीयकरण की माग को प्रशासनिक सेवाओं के निम्न स्तरों पर धीरे-धीरे खपाया जाए। केरियर और योग्यता सेवाओं में अंग्रेजों का विश्वास था, किंतु भारत की परिस्थितियों में यदि वे इसे पूरी तरह जन्म देने की कोशिश करते तो सभवत राष्ट्रीयतावादी आदोलन से निपटना असभव हो जाता। अत उन्होंने सेवाओं को भारतीयों को प्रशासनिक प्रशिक्षण देने का ही साधन नहीं माना बल्कि समय-समय पर उन्हें कौन्सिलों में मनोनीत कर राजनीतिक साझेदारी को भी प्रोत्साहित किया। नौकरशाही प्रशासकों की स्वामिभक्तिपूर्ण यह राजनीतिक भूमिका एक ओर जबकि आदोलनों का कारण बनी तो दूसरी ओर तर्क यह दिया गया कि भारतीय सेवाओं को अनाम, बेनाम एव तटस्थ भाव से प्रशासन चलाने का कार्य एव प्रशिक्षण दिया जा रहा है। इस तर्क के द्वारा भारतीय सेवाओं के उच्च भारतीय अधिकारियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे भारत की राष्ट्रीय राजनीति से तटस्थ रहें और स्वामिभक्ति मे कार्य करें, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि अंग्रेज आई सी एम अधिकारी अपने देश की साम्राज्यवादी राजनीति के प्रति तटस्थ होकर निरपेक्ष हो जाए।

अंग्रेज जब भारत में प्रशासनिक सगठन एव सेवाओं के विकास में लगे हुए थे तो उसका एक प्रयास यह भी था कि प्रशासन के माध्यम से वे अपनी सैनिक एवं कूटनीतिक विजय को भारतीय जनता की दृष्टि से समुचित ठहरवाए। इस दृष्टि से उन्होंने सारे देश में एक कानून व्यवस्था को खडा किया जो आज कानून का शासन कहलाती है। जाति, धर्म से बधा हिन्दू समाज तथा मनसबदारी और रयैतवाडी से चलने वाली मुगल प्रशासनिक सस्थाओं के सदर्भ में यह एक बहुत क्रांतिकारी कदम था। फिर भी अंग्रेजों ने सारे देश के लिए कानूनों का पर्जीकरण किया, प्रादेशिकता का सम्मान करते हुए कुशलता एव मितव्ययिता, के सिद्धातों को प्रशासन में मूलबद्ध करने के लिए मनोबल से प्रयोग किये और व्यक्तिगत सेवा और स्वामिभक्ति की सस्कृति में अनुबध सेवाओं के ढाचे को विकसित किया। इस सदर्भ सीमा में उनके अपने निहित स्वार्थ थे, किंतु सुधार और विकास के लिए यह अत्यत आवश्यक था कि भारतीय समाज में एक अंग्रेजी पढे-लखे शहरी मध्य वर्ग को पैदा कर उन्हें सरकारी सेवाओं की ओर आकर्षित होने के लिए उत्प्रेरित किया जाए। शासक और शासित के बीच का यह प्रशासकीय भारतीय मध्यवर्ग धीरे-धीरे अंग्रेजी व्यवस्था का आधार स्तम्भ बना और इसका सहारा ले एक ओर तो प्रशासन में योग्यता और भारतीयकरण के सिद्धात बनाये, किंतु दूसरी ओर एक ऐसी अप्रजातान्त्रिक नौकरशाही विकसित होकर सामने आई जिसे आज की परिवर्तित स्थिति से ताल-मेल बिठाने में आज चालीस वर्ष बाद भी कठिनाइया आ रही हैं।

संक्षेप में भारतीय संविधान और प्रशासन के विकास का इतिहास राष्ट्रीय आंदोलन के परिवेश में विकसित होने वाली प्रवृत्तियों के प्रभाव और उपलब्धियों का इतिहास है। प्रशासन के माध्यम से अंग्रेजों ने अपनी जीत का औचित्यीकरण किया, साम्राज्यवाद को सींचा और साथ-साथ अपने राजनीतिक दर्शन के आधार पर नई संस्थाएं बनाई और मुगलकालीन संस्थाओं का नवीनीकरण किया। मुगल युग में जो प्रशासन क्रियात्मक रूप में केन्द्रीकृत था वह धीरे-धीरे अंग्रेजी युग में भौगोलिक एवं कार्यात्मक रूप से केन्द्रीकृत बना। सेवाओं में विशेषीकरण पनपा और प्रशासनतंत्र सरकारी व्यवस्था के कार्यकलापों के साथ इतना व्यापक बना कि स्थानीय इकाइयां और संस्थाएं बौना बन कर रह गईं। विकास के उदारतावादी सिद्धांतों के बावजूद भी भारतीय समाज भारतीय प्रशासन से अछूता एवं पृथक् रहा, जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज और भारतीय प्रशासक एक दूसरे से निकटता से संबंधित होते हुए भी अपनी अलग-अलग दुनिया में जीते और सोते रहे। आज भी भारतीय प्रशासन की सबसे बड़ी चुनौती यही है कि वह जिस समाज का प्रशासन चल रहा है उसका सच्चे अर्थों में प्रतिनिधि बने और उसके प्रति प्रभावी रूप में अपना उत्तरदायित्व निभा सके।

## ब्रिटिश युग की प्रशासनिक विरासतें और उनका प्रभाव

*भारतीय प्रशासन के विकास का इतिहास उसकी वर्तमान संरचना एवं प्रशासनिक कार्यविधि* पर एक निर्णायक प्रभाव छोड़ सका है। ये प्रशासनिक विरासतें भारतीय प्रशासनिक यथार्थ से इस प्रकार जुड़ी हैं कि इन्हें उन से पृथक् करने पर भारतीय प्रशासन की पूरी संकल्पना ही असंभव हो जाती है। यह एक ऐतिहासिक सच है कि अंग्रेजों ने मुगल कालीन सैनिक प्रशासन की विरासत पर अपना औपनिवेशिक ढांचा खड़ा किया। मुगल शासन से भिन्न उनकी आवश्यकता एक ऐसा प्रशासन बनाना और चलाना था जो सुदूर लंदन सरकार के प्रति उत्तरदायी था। फिर जैसे-जैसे उदारतावादी शासन की मांग राष्ट्रीय आंदोलन के साथ बलवती होती गई वैसे-वैसे ही प्रशासनिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं को भी औपनिवेशिक दर्शन के साथ-साथ उदारतावादी सिद्धांतों के अनुरूप समायोजित किया गया। यह स्थिति केन्द्रीय और प्रांतीय प्रशासनों में अलग-अलग ढंग से प्रतिबिम्बित होती रही और दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति तक भारतीय प्रशासन का जो चित्र उभर कर सामने आया वह मुगल प्रशासन, ब्रिटिश प्रशासन, भारतीय राजनीतिक एवं ग्रामीण स्थिति तथा उपनिवेशवादी हितों का एक अद्भुत सम्मिश्रण था। ये विरोधाभासी विरासतें भारतीय प्रशासनिक जीवन में इस प्रकार घुल-मिल गई हैं कि एक की विद्यमानता दूसरी को सशक्त बनाती है और यदि सुधार के नाम पर एक को उन्मूलित कर दिया जाए तो पूरे ढांचे और प्रक्रिया में दर्जनों परिवर्तन अनिवार्य हो जायेंगे। शताब्दियों के अंतराल में भारतीय प्रशासकों की आदत का अंग बन जाने के कारण ये विरासतें प्रभावी हैं और प्रशासन को निरंतरता देती हैं।

गत चार दशकों में जब-जब भी इस ऐतिहासिक प्रभाव को कम करने के लिए माग उठी है तब-तब ही सुधारक परिवर्तन से भयभीत होकर इन विरासतों को जैसे-तैसे बचाते रहे हैं। फलस्वरूप ब्रिटिश प्रशासनिक इतिहास के इस प्रभाव को भारतीय प्रशासन के विविध आयामों में आज भी स्पष्टता से परिलक्षित होते हुए देखा जा सकता है। भारतीय प्रशासन के जिन क्षेत्रों और दिशाओं में यह प्रभाव गभीर रूप से व्यावहारिक रहा है उनमें से निम्नलिखित द्रष्टव्य है

**सचिवालय व्यवस्था**–यह व्यवस्था भारत में अग्रेजी राज की देन होने के साथ-साथ एक प्रशासनिक प्रयोग भी थी। मुगल प्रशासन में केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सचिवालयों का आकार एव स्वरूप विभागीय होने हुए भी सस्थागत निश्चितता लिए हुए नहीं था। ब्रिटिश ससदीय व्यवस्था की कार्यकारिणी के स्वरूप से लिया गया सचिवों का यह 'आलय' भारत की औपनिवेशिक व्यवस्था में इग्लैण्ड से कहीं अधिक सशक्त सस्था बन सका। ये सचिव जो अग्रेज होने के साथ-साथ आई सी एस के सदस्य होते थे मत्री और सचिव दोनों पदों को अपने में समाहित किये विभाग के सर्वेसर्वा होते थे। नीति निर्माण से अधिक इन के नियत्रणात्मक कार्य इन्हें शक्तिशाली प्रशासनिक शासक के रूप में प्रस्तुत करते थे। गवर्नर जनरल अथवा गवर्नरों के अतिरिक्त ये किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। फलस्वरूप भारत में जो सचिवालय व्यवस्था विकसित हुई वह ब्रिटिश व्यवस्था से उधार लिए जाने पर भी शक्ति प्रतिष्ठा तथा कार्यविधि की दृष्टि से एक अनूठा प्रयोग था। आज भी ये सचिवालय सलाहकार से अधिक प्रशासक हैं और राजनीतिक लोकतत्र की ससदीयता के पर्याप्त रूप से विकसित हो जाने पर भी इनकी सरचना, इनके अधिकारी, इनकी सस्कृति, कार्य शैली तथा प्रशासनिक नियत्रण की स्थिति बहुत कुछ अग्रेजी राज के जमाने की है और प्रशासनिक विकास के साथ इसकी मूल प्रकृति एव सरचना में कोई मौलिक अतर नहीं आया है। विभागों के नाम बदले हैं। नये विभाग भी सृजित हुए हैं और समितियों के माध्यम से काम करने की प्रणाली भी विकसित हुई है, पर सचिवों, उप-सचिवों और अवर सचिवों की पद सोपानी सीढ मूलत उसी अग्रेजी युग की सचिवालय की सरचना और सचिवालय की सस्कृति को जिन्दा रखे हुए है जो उसे इतिहास ने विरासत में दी है।

## *जिला एव क्षेत्रीय प्रशासन*

*अग्रेजी राज का प्रशासन प्रधानत* व्यवस्था प्रशासन था। सरकार के नियामकीय कार्य, जिनमें विकास अथवा औद्योगिक कार्य नहीं के बराबर थे, क्षेत्रीय एव जिला प्रशासन के अधिकारियों की जिम्मेदारी थी। ऐतिहासिक दृष्टि से तो यह ढाचा अग्रेजों को भी मुगल प्रशासन से विरासत में मिला था। इसकी निरतरता को जिन्दा रखते हुए उन्होंने जिला, तहसील तथा ग्राम स्तर पर कुछ अधिकारियों को नया स्वरूप तथा कानूनी अधिकार देकर जिले और क्षेत्रों में अपने प्रशासन की पहचान बनाई। राजस्व प्रशासन तथा न्याय प्रशासन के क्षेत्र में ये प्रशासनिक अधिकारी नीचे के स्तरों पर ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि तथा

शासन के प्रतीक बन कर अवतरित हुए। इन्हें निश्चित कानूनी अधिकार तथा प्रशासनिक प्रक्रिया से काम करने की शैली देकर अंग्रेजी शासन ने कानून का शासन स्थापित किया और ग्रामीण जनता से बिना किसी प्रकार का सहयोग लिए बिना स्थानीय संस्थाओं के अभाव में प्रशासन को ही शासन या सरकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। सदियों तक इस जिला प्रशासन, निदेशालय तथा क्षेत्रीय कार्यालयों के माध्यम से प्रशासन में रहते और उन्हें चलाते हुए भारतीय प्रशासक तथा जन साधारण इस व्यवस्था से इतने जुड़ गये हैं कि 'पंचायती राज' को सिद्धांततः स्वीकार करते हुए भी बिना कलेक्टर और एस.पी. के भारतीय जिला प्रशासन की कल्पना भी उनकी चिंतन सीमा से परे है। यह ब्रिटिश इतिहास का प्रशासनिक प्रभाव ही है कि जिसके फलस्वरूप भारत में स्थानीय स्वराज्य का विकास स्वतंत्रता के बाद भी बाधित रहा है। हमारी प्रशासनिक विरासतें विकेन्द्रीकरण के विचार और उसकी संरचनाओं के प्रयोग पर संदेह चिन्ह लगाती हैं। जिला एवं नीचे के क्षेत्र स्तर पर जबकि विकास और औद्योगिक प्रशासनों का एक व्यापक एवं तकनीकी क्षेत्र विकसित हो चुका है। भारत का जिला प्रशासन सामान्य शक्ति एवं कार्य परिवर्तनों के अतिरिक्त अपने जिला प्रशासन में कोई संरचनात्मक मोड़ नहीं ला सका है। यहां तक कि विकास एवं कल्याण प्रशासन जिसके माध्यम से ग्रामीण महिलाओं, बच्चों तथा अनुसूचित दुर्बल वर्गों के लिए कल्याण योजनायें क्रियान्वित की जा रही हैं उसे भी, पारंपरिक जिला प्रशासन के ढांचे में जोड़ कर एक दुविधाजनक स्थिति पैदा कर दी गई है। ब्रिटिश विरासतों का यह प्रभाव निश्चय ही लोकतंत्र एवं कल्याण राज्य के विकास में बाधक है।

## लोक सेवाएं

ब्रिटिश युग में भारतीय प्रशासनिक सेवाओं को स्टील फ्रेम कहा जाता था। आज की जनतांत्रिक व्यवस्था में चाहे वे स्टील की न रही हों पर फ्रेम पूरी तरह वही है। अंग्रेजी प्रशासन ने अपने उपनिवेश को प्रभावी ढंग से प्रशासित करने के लिए लोक सेवाओं की जो परिकल्पना की थी उसमें यह आवश्यक समझा गया कि उच्च स्तरीय लोक सेवक सामान्यज्ञ (जनरलिस्ट) शहरी, अंग्रेजी जानने वाले अभिजात वर्ग के सदस्य, जनसाधारण से दूर रहने वाले, सरकार भक्त तथा कानून परस्त व्यक्ति हो। विकास प्रशासन के अभाव में भारतीय प्रशासन प्रोफेशनल्स या तकनीकी विशेषज्ञों को लोक सेवाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं दे सका। आज आजादी के पांचवें दशक में जबकि प्रशासन की आकृति, प्रकृति, भूमिका तथा सब कुछ बदल चुका है या बदल जाना चाहिए भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के मूल ढांचे में कोई उल्लेखनीय खरोंच भी दिखलाई नहीं देती। अखिल भारतीय सेवायें राष्ट्रीय एकीकरण तथा केन्द्र सरकार के एजेन्ट के रूप में पहले की तरह अपना वर्चस्व बनाये हुए है। लोक सेवाओं को प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाये जाने की मांग आरक्षण नीति के विरोध के रूप में पूरे समाज में हिंसा और प्रतियोगी की राजनीति को जन्म देती है। प्रतियोगिता परीक्षाओं में योग्यता की परिभाषा, खोज और चयन अभी भी औपनिवेशिक प्रक्रिया को जारी रखे

हुए है जो आभिजात्य समर्थक होने के कारण नव ब्राह्मणवादी है। इतना ही नहीं ससदीय शासन के दबाव और परिवर्तनों की यथार्थता के बावजूद भी लोक सेवकों की तटस्थता एव अनाम-बेनाम स्थिति का उद्घोष किया जाता रहता है। लोक सेवाओं में ग्रामीण युवाओं का प्रवेश शहरी शिक्षा की योग्यता परिभाषा के कारण आज भी सरल या सभव नहीं लगता। प्रशासनिक इतिहास का लोक सेवाओं पर यह प्रभाव उन्हें एक विशेष प्रकार की 'एलीट' तथा निहित स्वार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है। अपनी सेवा स्थितियों को बचाए रखने के लिए वे एक ट्रेड यूनियन की तरह आचरण करती है और सुधार या परिवर्तन के सारे अभ्यास विरासतों की पवित्रता एव उपयोगिता के नाम पर स्थगित कर दिये जाते हैं। स्वतत्र भारत में *ससदीय जनतत्र के प्रादुर्भाव के साथ मत्री और लोक सेवकों के विवादों* ने कितने ही सघर्षों को भी जन्म दिया है, पर लोक सेवाओं की यह ब्रिटिश विरासत एक प्रेशर ग्रुप के रूप में इतनी सक्रिय एव सशक्त है कि राजनीतिक निर्णय क्रिया इसके मूल ढाचे को विघटित नहीं कर सकती। ससार के सभी विकसित देशों में लोक सेवाए कोई विशेष भूमिकायें नहीं निभातीं। उपनिवेश काल में इनकी बनावट, आचार संहिता, प्रकृति एव कार्य-कलापों पर विदेशी शासन के हित में बल दिया गया। पर इतिहास द्वारा पवित्रीकृत यह विरासत अब इतनी अमूल्य मानी जा रही है कि इसके रहते भारतीय लोक प्रशासन में अनेक वाछनीय सुधार भी सभव नहीं लगते। निरतरता की प्रतीक भारतीय लोक सेवाए ब्रिटिश प्रशासन की सबसे बडी देन और उसके प्रभाव की उपलब्धता को दर्शाती है।

### *कार्य प्रक्रिया*

प्रशासन मूलत नियमबद्ध ढग से नियोजित कार्य करने की कला है। मुगल प्रशासन तत्कालीन स्थिति में मौखिक अधिक था। कार्य शैली या प्रणाली अधिकारी परक थी और ये अधिकारी अधिकतर निम्नस्तरीय होने के साथ-साथ व्यक्तिगत निष्ठा भक्ति के आधार पर जुडे हुए होते थे। अग्रेजों ने अपने प्रशासन के लिए कानून, नियम, आचार-संहिताए आदि लिखित में तैयार कीं और इन्हें लागू करने की व्यवस्था की। उच्च अधिकारी अग्रेज थे और स्वाभाविक था कि वे इन नियम संहिताओं के घेरे से ऊपर अथवा परे थे। दफ्तरों, सगठनों और विभागों आदि में नियमों के *माध्यम से जो कार्य प्रणाली लागू की गई* वह इसलिए कठोर तथा अतिकानूनी थी कि छोटे अधिकारी नियम विरुद्ध कार्य कर ब्रिटिश शासन को बदनाम न कर सकें। ये प्रशासनिक नियम और संहिताए आजादी की लगभग आधी शताब्दी के बाद भी करीब-करीब वे ही हैं और उन्हें बदलने का कोई भी प्रस्ताव यह कह कर रोका जाता रहा है कि ये सब उपयोगी नियम हैं जो कानून का शासन लागू करने के लिए विदेशी शासन ने ईमानदारी से बनाये थे। प्रशासनिक कार्य कुशलता की दृष्टि से इन *कार्य विधियों* का यदि अनुशीलन किया जाए तो स्पष्ट है कि ये पारस्परिक अविश्वास पर आधारित हैं और अराजपत्रित कर्मचारी नामक एक बहुत बडा लोक सेवी वर्ग तो इतना अक्षम है कि उसके कथन या वक्तव्य को गजटेड अधिकारी द्वारा सत्यापित किया जाना

जरूरी है। कार्यालयों में सब कुछ लिखित में इसी 'अविश्वास' का प्रतिफल है जो अंग्रेजी लेखन के कारण और भी अधिक हास्यास्पद है। पर यह औपनिवेशिक विवशता थी जिसमें प्रशासनिक कार्य विकेन्द्रित नहीं किये जा सकते थे और महत्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए पत्रावलियों का ऊपर नीचे फाइलों के रूप में घूमते रहना गलत निर्णयों को रोकने के लिए जरूरी था। इस प्रशासनिक कार्यविधि ने देश में एक खास प्रकार की 'साहब संस्कृति' और 'बाबू संस्कृति' को जन्म दिया है जो ब्रिटिश प्रशासनिक विरासत के रूप में स्वतंत्र देश के प्रशासन के लिए एक भारी अभिशाप बनकर सारे सुधार अभ्यास को रोके हुए है। यह दफ्तरी कार्य प्रणाली प्रशासनिक आदत एवं सुविधाओं का एक अंग बन चुकी है। जाने-अनजाने इसे चलाते रहना इतना सरल है कि प्रशासन इसे अपने हितों के संवर्द्धन के लिए आवश्यक पाता है और मानता है। इतिहास द्वारा पविश्रीकृत यह प्रशासनिक विरासत, सभी संगठनों तथा उनके लोकतांत्रिक उद्देश्यों के मार्ग में भारी बाधा है। विकास प्रशासन के प्रशासक इससे अधिक गंभीर रूप से प्रभावित हैं पर चूंकि उन्हें नियामकीय और विकास दोनों ही प्रकार के प्रशासनिक क्षेत्रों में कार्य करना पड़ता है अत: वे इसे एक 'ऐतिहासिक विविन' मानकर स्वीकार करते हैं और नये प्रयोगों को करने में असमर्थ पाते हैं।

ब्रिटिश प्रशासनिक विरासतों की वैसे कोई गणना नहीं की जा सकती और न ही वर्तमान भारतीय प्रशासन पर उनके प्रभाव का कोई निश्चित मूल्यांकन किया जा सकता है। शताब्दियों में फैले लंबे औपनिवेशिक शासन और प्रशासन ने मुगल कालीन संस्थाओं के स्वरूप में आमूल-चूल परिवर्तन उपस्थित कर उसे ब्रिटिश प्रशासन का मुखौटा देने की एक कारगर कोशिश की। संगठनात्मक एवं संरचनात्मक प्रयोगों के कारण नये विभाग एवं मंत्रालय जन्मे। लोक सेवाओं के गठन और विकास ने प्रशासन को एक नये अभिजात्य वर्ग के प्रशासन में रहना सिखाया। विदेशी भाषा में लिखित आदेशों से चलने वाला कानून का शासन धीरे-धीरे एक नई प्रशासनिक शैली विकसित कर अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ। इस प्रशासन के उद्देश्य सीमित एवं नियमनकारी थे। आज की भांति बहुत सारा प्रशासन इसके अधिकार क्षेत्र में ही नहीं था। फिर लोकतन्त्रात्मक जनप्रतिनिधियों के अभाव में इसकी शक्ति एवं कार्य क्षेत्र असीम था और जवाबदेहिता की दृष्टि से बंधन भी नहीं के बराबर थे। जन सहयोग तथा जन प्रतिक्रियाओं से इस औपनिवेशी प्रशासन का कोई विशेष लेना-देना नहीं था। स्वाभाविक है कि उसकी कार्य दक्षता की परिभाषा उच्च अधिकारियों के संतोष से निर्धारित होती थी। जन साधारण प्रशासनिक क्रिया-कलापों से लाभान्वित हो, उनमें अपना सहयोग दें तथा प्रशासनिक गतिविधियों का मूल्यांकन करें, यह स्थिति ही अकल्पनीय थी। परिणामस्वरूप प्रशासन ने एक संवेदनशून्यता एवं अनुत्तरदायित्व की संस्कृति विकसित कर ली जो आज भी सर्व स्वीकृत उद्देश्यों के बावजूद उन्हें व्यवहार में बदल नहीं पाती। सभी प्रशासक सिद्धान्ततः यह मानते हैं और एक स्वर से यह राग

भी अलापते रहते हैं कि लोकतांत्रिक प्रशासन में जन सहयोग एवं जनसहभागिता अनिवार्य, उपयोगी एवं वांछनीय है पर जब वे व्यवहार में अपने कार्यालय में बैठकर प्रशासनिक गतिविधियों को चलाने लगते हैं तो आभिजात्य की विरासत जन सहभागिता की समस्याओं से टकराने लगती है और वर्तमान से अतीत जीतने लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रिटिश कालीन विरासतें केवल संरचनाओं और ढांचों में ही मूर्तिमान नहीं हुई है, किन्तु उनका वास्तविक एवं अति सघन प्रभाव स्वतंत्र भारत की प्रशासनिक संस्कृति, कार्यालयों की कार्य प्रणाली, प्रशासकों के राजनीतिक आचरण, अधिकारियों की नेतृत्व शैली तथा कर्मचारियों के नियमहीन भ्रष्टाचरणों के रूप में देखा जा सकता है।

## टिप्पणियां

1 मिश्रा बी बी , *दि एडमिनिस्ट्रेटिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, लंदन ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970, भूमिका
2 पायली, वी एम , *कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, बम्बई 1967, पृ 28-29, 99-100
3 सिंह गुरुमुख निहाल, *लैंडमार्क्स इन इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेन्ट*, आत्माराम, दिल्ली, 1952, पृ 7
4 अप्पाद राई एण्ड मारिश ग्वायर, *स्पीचेज एण्ड डाकूमेन्ट्स*
5 *रिपोर्ट आन डिस्ट्रिक्ट एडमिनिस्ट्रेशन*, ए आर सी , गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1971
6 मिश्रा बी बी , *दि एडमिनिस्ट्रेटिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, पूर्वोक्त पृ 106, 66
7 उपरोक्त, पृ 106
8 उपरोक्त पृ 15-28 ,
9 रजाल्यूशन ऑफ दि एक्जिक्यूटिव कमेटी ऑफ दि गवर्नर-जनरल होम (पब्लिक) एस न 96/39
10 महेश्वरी श्रीराम, *दि एवाल्यूशन ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन*, लक्ष्मी नारायण एण्ड सन्स, आगरा, 1970, पृ 162-63
11 चन्दा ए के , *एण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन*, एलन एण्ड उनविन, लंदन, 1965, पृ 97-100
12 सन् 1853 के चार्टर अधिनियम को क्रियान्वित करने के लिए सन् 1854 में एक कमेटी' आन दि इण्डियन सिविल सर्विस नियुक्त हुई थी। लॉर्ड थामस मैकाले ने युवकों को आई सी एस में चुने जाने के लिए मैकाले समिति के प्रतिवेदन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'इस समिति के प्रतिवेदन का सबसे महत्वपूर्ण और स्थायी बात इस सिद्धान्त की स्वीकृति है कि प्रतियोगिता परीक्षाओं का स्तर बहुत ऊंचा हो और केवल छिछले ज्ञान के आधार पर कोई परीक्षार्थी सफलता न पा सके।' 'ए ओ मैन, दि इण्डियन सिविल सर्विस, लंदन, फ्रैन्क कास एण्ड कम्पनी 1965, पृ 242
13 लॉर्ड इस्लिंग्टन सन् 1912 में नियुक्त होने वाले 'दि रायल कमीशन आन दि पब्लिक सर्विसेज इन इण्डिया' के अध्यक्ष थे। इस आयोग ने भारतीय लोक सेवाओं के ढांचे में आमूल-चूल परिवर्तन की सिफारिश की थी किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के कारण जब तक इस आयोग का प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ (1917) तो भारतीय जनमत ने 'इसे घोर निराशाजनक पाया', दि रिपोर्ट आन इण्डियन कान्सटिट्यूशनल रिफार्म, 1918
14 ली ऑफ फर्नहॉम सन् 1923 में ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त दि रायल कमीशन आन दि सुपीरियर सिविल सर्विसेज इन इण्डिया के उपाध्यक्ष थे। सेवाओं के वर्गीकरण तथा लोक-सेवा आयोगों के गठन तथा कार्य प्रणाली के संदर्भ में ली प्रतिवेदन विशेष रूप से दृष्टव्य है। सरदार के एम पणिक्कर ने इस

प्रतिवेदन को भारत में लोक सेवाओं की भावना के विपरीत बतलाया। पत्रिकार के एम बुलिटन ऑफ दि इन्सटिट्यूट ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन पटना विश्वविद्यालय, पटना, दिसम्बर 1957

15 इस कमेटी के अन्य सदस्य थे ऐशवर्टन तथा जी लैक्वर। समिति ने अपना प्रतिवेदन कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स को नवम्बर 2, 1854 को प्रस्तुत किया। देखिए पार्लियामेन्ट्री पेपर्स (एच सी) 1855 न 34

16 पेपर्स रिलेटिंग टू दि एम्पलॉयमेन्ट ऑफ नेटिवस दि सिविल एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ इण्डिया, मिश्रा पूर्वोक्त

17 इस्लिंग्टन आयोग के भारतीय सदस्य थे : (1) श्री गोपाल कृष्ण गोखले, (2) श्री महादेव भास्कर चावल तथा (3) श्री भद्र रहीम। इसी प्रकार ली आयोग में जो भारतीय सदस्य थे उनके नाम थे (1) श्री भूपेन्द्रनाथ बसु (2) श्री एम हबीबुल्लाह (3) श्री हरि कृष्ण तथा (4) श्री एन एम समरथ।

18 महेश्वरी श्रीराम, *दि एवोल्यूशन ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया* पूर्वोक्त, पृ 104-8

19 रिपोर्ट ऑफ दि ए आर सी आन फाइनेनाल एडमिनिस्ट्रेशन गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली

20 चन्दा ए के, इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन, पूर्वोक्त

21 वेलबी कमीशन (1895-1900) ने पोस्ट ऑफिस, टेलीग्राफ पब्लिक वर्क्स तथा रेलवेज को कामर्शियल सर्विसेज के रूप म स्वीकार किया था।

22 मिश्रा बी बी, *दि एडमिनिस्ट्रेटिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया* पूर्वोक्त, पृ 511 527

23 करी, जे सी, *दि इण्डियन पुलिस*, लदन, फैबर एण्ड फैबर, 1932

24 अर्गल राजेश्वर, *म्युनिसिपल गवर्नमेन्ट इन इण्डिया* इलाहाबाद अग्रवाल प्रेस 1955

25 सादिक अली समिति प्रतिवेदन राजस्थान, जयपुर, 1969, पृ 28

26 उपरोक्त

27 उपरोक्त

28 उपरोक्त

# 2

# भारतीय प्रशासन का संगठन

भारतीय संविधान भारत में संसदीय-शासन-प्रणाली की स्थापना करता है। इस शासन प्रणाली में दो प्रकार की कार्यपालिकाएं होती हैं—एक औपचारिक अथवा नाम मात्र की कार्यपालिका और दूसरी वास्तविक कार्यपालिका। राष्ट्रपति भारत का नाममात्र का अध्यक्ष है, जिसे कार्यपालन संबंधी वास्तविक शक्तियां प्राप्त नहीं है, यद्यपि सरकार का संपूर्ण कार्य-व्यापार उसी के नाम पर किया जाता है। वह संपूर्ण प्रशासन के 'सुगम संचालन' हेतु नियम बनाता है तथा वास्तविक कार्यपालिका की नियुक्ति करता है। संसद के बहुमत दल के नेता को वह प्रधानमंत्री तथा उसकी सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है।

सिद्धान्ततः प्रधानमंत्री सहित मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने के लिए होती है, परंतु वास्तविकता यह है कि संपूर्ण प्रशासन राष्ट्रपति के नाम पर प्रधानमंत्री तथा उसके अन्य साथियों (मंत्रियों) द्वारा प्रशासित होता है। इसीलिए भारत सरकार की संपूर्ण प्रशासनिक रूप-रचना को सरकारी कार्यों का कुशलतापूर्वक संपादन करने हेतु अनेक मंत्रालयों तथा विभागों में विभाजित किया गया है। राष्ट्रपति संविधान की धारा 77 की उपधारा (3) के अन्तर्गत प्रधान मंत्री की सलाह पर मंत्रालयों की स्थापना करता है और प्रत्येक मंत्री को तत्संबंधी कार्य सौंपता है। भारत सरकार के मंत्रालयों में या तो केवल एक ही विभागीय मंत्रालय है[1] अथवा कुछ मंत्रालयों में दो या दो से अधिक विभाग भी संगठित हैं।[2]

एक सरकारी विभाग अथवा मंत्रालय अपनी प्रशासनिक संरचना का सबसे बड़ा उप-सम्भाग होता है। जहां तक भारत में विभागीय संगठन का प्रश्न है यहां की विभागीय पद्धति को डॉ. एम.पी. शर्मा ने एक तीन मन्जिली इमारत बताया है, जिसमें ऊपर की मंजिल पर राजनैतिक स्तर, मध्य में सचिवालय और निम्न-स्तर पर निदेशालय होते हैं। सिद्धान्ततः में, निदेशालय सचिवालय से आदेश प्राप्त करता है तथा सचिवालय राजनीतिक स्तर को सलाह देता है तथा उनकी ओर से निदेशालय को आदेश भेजता है।

किसी भी विभाग अथवा मंत्रालय का एक राजनीतिक अध्यक्ष अथवा मंत्री होता है, जिसकी सहायता राज्य-मंत्री, उप मंत्री अथवा संसदीय सचिव करते हैं। ये सभी पदाधिकारी

सत्ताधारी राजनीतिक दल के सदस्य होते हैं। इसलिए दल के साथ ही इनका राजनीतिक भाग्य ही जुडा रहता है।

विभाग के राजनीतिक प्रधान के रूप में मत्री विभाग की मुख्य नीति का निर्धारण करता है और विभाग के कार्य के लिए ससद के प्रति उत्तरदाई होता है। यदि विभाग में कोई गडबडी होती है अथवा कोई गलत बात होती है तो मत्री ससद के प्रति उसके लिए जवाबदेह होता है। मत्री चूँकि अपने विभाग के सभी कार्यों के लिए ससद के प्रति उत्तरदाई है, अत वह अपने विभाग पर अपना सपूर्ण नियत्रण तथा अधिकार स्थापित करने का अधिकारी भी है।

राजनीतिक अध्यक्ष के तुरत बाद उस विभाग का सचिवालय-सगठन होता है। मत्री एक सार्वजनिक क्षेत्र का नेता अथवा व्यवसाय से एक राजनीतिज्ञ होता है। उसे महत्वपूर्ण प्रशासनिक मामलों में विशेषज्ञों के परामर्श की आवश्यकता होती है। मत्री की सहायतार्थ सरकार का एक सचिव होता है (जो कि स्थाई सिविल सेवा से सबधित होता है) और जिसके नियत्रण में केन्द्रीय सचिवालय का एक भाग होता है। सचिव विभाग का प्रशासकीय प्रमुख होता है और वह मत्रालय से सबधित प्रशासन तथा नीति सबधी सभी मामलों में मत्री का प्रधान सलाहकार माना जाता है। सचिव का काम यह होता है कि वह नीति सबधी कोई भी निर्णय लिये जाने से पूर्व सभी तथ्यों और आकडों को मत्री के समक्ष प्रस्तुत करे। नीति-सबधी मामलों में सचिव मत्री पर भारी प्रभाव डालता है। विभाग के महत्वपूर्ण प्रशासकीय मामलों के सबध में वह मत्री को सूचना, सलाह और यदि आवश्यक हो तो चेतावनी भी देता है। सचिव न केवल मत्री को परामर्श देता है, अपितु वह अपने विभाग के कुशल प्रशासन के लिए भी उत्तरदाई होता है। यही नहीं, वह सार्वजनिक लेखा समिति जैसी ससदीय समितियों के समक्ष विभाग का प्रतिनिधित्व भी करता है और इन कर्त्तव्यों को पूरा करने में सचिव की सहायता एक सयुक्त सचिव, उप-सचिव, अवर सचिव तथा कभी-कभी अतिरिक्त सचिव द्वारा भी की जाती है।

मत्री तथा सचिवालय द्वारा नीति का निर्धारण किये जाने के पश्चात् उसे कार्यान्वित करना होता है। नीति को लागू करने की जिम्मेदारी विभाग के कार्यकारी सगठन की होती है। मत्रालय अथवा विभाग के अधीन जो प्रशासकीय सगठन होता है, उसे सलग्न अथवा अधीनस्थ कार्यालयों की सज्ञा दी जाती है। सलग्न कार्यालय पर ऐसे कार्यकारी निर्देश देने का उत्तरदायित्व होता है जो कि उस मत्रालय अथवा विभाग द्वारा निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक होते हैं तथा जिससे वे सबद्ध होते हैं। वे विचाराधीन प्रश्नों के तकनीकी पहलुओं के सबध में मत्रालय अथवा विभाग को सलाह देते हैं और आवश्यक तकनीकी आकडे प्रस्तुत करते हैं। अधीनस्थ कार्यालय सरकार के कार्यक्रमों एव नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए मुख्यत उत्तरदाई होते है। वे सामान्यत एक सलग्न कार्यालय के

निर्देशों के अधीन कार्य करते है और जब काम की मात्रा कम होती है तो उस स्थिति में प्रत्यक्ष रूप से मत्रालय अथवा विभाग के अधीन भी काम कर सकते हैं।

सचिवालय के बाद विभागीय अध्यक्ष को स्थनास्वामी' ने मत्रालय का हाथ कहा है। प्रशासन के कार्यों के सचालन के लिए यह आवश्यक है कि सचिवालय और विभागीय अध्यक्षों के बीच पूर्ण सद्‌भावना बनी रहे, परतु भारत में सचिवालय द्वारा विभागीय कार्य-व्यापार में जो नियत्रण की भूमिका निभाई जाती है उसे कुछ आलोचक हस्तक्षेप तक की सज्ञा देते हैं।

श्री ए डी गोरवाला' के अनुसार इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप प्रशासन में अकुशलता आती है और इसीलिए प्रशासन को असफलता का मुह देखना पड़ता है। कार्य में देरी होने लगती है और अधिकारियों में अनुत्तरदायित्व की भावना पनपती है। विभागीय अध्यक्ष एव दूसरे अधिकारियों में निराशा जन्म लेती है और समय-समय पर मानवीय-साधनों और सामग्री का दुरुपयोग होता है।

## सरकार के मंत्रालय/विभाग

केन्द्र सरकार में अनेक मत्रालय विभाग हैं, जिनकी सख्या तथा स्वरूप में समय-समय पर उनके कार्यों, समयानुसार विषयों का महत्व बढ़ जाने व यथास्थिति में बदलाव तथा राजनीतिक औचित्यों के साथ परिवर्तन होता रहता है। 15 अगस्त, 1947 को केन्द्रीय सरकार के मत्रालयों की सख्या 18 थी। 25 सितम्बर, 1985 को जारी की गई विज्ञप्ति के अनुसार कार्य सचालन नियम, 1961 के अन्तर्गत भारत सरकार में निम्नलिखित मत्रालय/ विभाग थे–

*1. कृषि मंत्रालय*

(अ) कृषि तथा सहकारिता विभाग,
(ब) कृषि अनुसधान और शिक्षा विभाग,
(स) ग्रामीण विकास विभाग,
(द) उर्वरक विभाग।

*2. वाणिज्य विभाग/मंत्रालय*

(अ) वाणिज्य विभाग,
(ब) कपड़ा विभाग,
(स) आपूर्ति विभाग।

*3. संचार मंत्रालय*

(अ) डाक विभाग,
(ब) दूर-सचार विभाग।

*4. रक्षा मंत्रालय*

(अ) रक्षा विभाग,
(ब) रक्षा उत्पादन तथा आपूर्ति विभाग,
(स) रक्षा अनुसंधान तथा विकास विभाग।

*5. ऊर्जा मंत्रालय*

(अ) कोयला विभाग,
(ब) विद्युत विभाग,
(स) गैर-परंपरागत ऊर्जा स्रोत विभाग।

*6. पर्यावरण तथा वन मंत्रालय*

(अ) पर्यावरण, वन तथा वन्य जीवन विभाग।

*7. विदेश मंत्रालय*

*8. वित्त मंत्रालय*

(अ) आर्थिक कार्य विभाग,
(ब) व्यय विभाग,
(स) राजस्व विभाग।

*9. खाद्य तथा नागरिक आपूर्ति मंत्रालय*

(अ) खाद्य विभाग,
(ब) नागरिक आपूर्ति विभाग।

*10. स्वास्थ्य एवम् परिवार कल्याण मंत्रालय*

(अ) स्वास्थ्य विभाग,
(ब) परिवार कल्याण विभाग।

*11. गृह मंत्रालय*

(अ) आंतरिक सुरक्षा विभाग,
(ब) राज्य विभाग,
(स) राजभाषा विभाग,
(द) गृह विभाग।

*12. मानव संसाधन विकास मंत्रालय*

(अ) शिक्षा विभाग,
(ब) युवा-कार्य तथा खेल विभाग,
(स) महिला कल्याण विभाग,
(द) कला विभाग,

(य) सस्कृति विभाग।

13 *उद्योग मंत्रालय*
(अ) औद्योगिक विकास विभाग,
(ब) कपनी कार्य विभाग,
(स) रसायन तथा पेट्रोलियम रसायन विभाग,
(द) सार्वजनिक उद्यम विभाग।

14. *सूचना और प्रसारण मंत्रालय*

15. *श्रम मंत्रालय*

16 विधि तथा न्याय मंत्रालय
(अ) विधि कार्य विभाग,
(ब) विधायी विभाग,
(स) न्याय विभाग।

17 *ससदीय कार्य तथा पर्यटन मंत्रालय*
(अ) ससदीय कार्य विभाग,
(ब) पर्यटन विभाग।

18. *कार्मिक, प्रशिक्षण, प्रशासनिक सुधार, सार्वजनिक शिकायत तथा पेंशन मंत्रालय*
(अ) कार्मिक तथा प्रशिक्षण विभाग,
(ब) प्रशासनिक सुधार तथा सार्वजनिक शिकायत विभाग,
(स) पेन्शन तथा पेन्शनभोक्ता कल्याण विभाग।

19. *पेट्रोलियम तथा प्राकृतिक गैस मंत्रालय*

20. *योजना मंत्रालय*
(अ) योजना विभाग,
(ब) साख्यिकी विभाग।

21. *योजना क्रियान्वयन मंत्रालय*

22. *विज्ञान और प्रौद्योगिकी मंत्रालय*
(अ) विज्ञान विभाग और प्रौद्योगिकी विभाग,
(ब) वैज्ञानिकी तथा औद्योगिकी अनुसधान विभाग।

**23. इस्पात तथा खान मंत्रालय**

(अ) इस्पात विभाग,
(ब) खान विभाग।

**24. परिवहन मंत्रालय**

(अ) रेल मत्रालय,
(ब) नागरिक विमानन मत्रालय,
(स) जल-भूतल परिवहन विभाग।

**25 शहरी विकास मंत्रालय**

**26. जन संसाधन मंत्रालय**

**27. कल्याण मंत्रालय**

**28. परमाणु ऊर्जा विभाग**

**29. इलैक्ट्रोनिक्स विभाग**

**30. महासागर विकास विभाग**

**31. अन्तरिक्ष विभाग**

**32 मत्रिमंडल सचिवालय**

**33. राष्ट्रपति का सचिवालय**

**34. प्रधानमंत्री का कार्यालय**

**35. योजना आयोग**

सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मत्रालयों अथवा विभागों की बडी सख्या अत-विभागीय समन्वय की महत्वपूर्ण समस्या उत्पन्न करती है। वर्तमान सदर्भ में इन मत्रालयों में अपेक्षित समन्वय की स्थिति है। भारत जैसे कल्याणकारी राज्य में जहा मत्रालयों अथवा विभागों की सख्या उत्तरोत्तर तीव्रगति से बढ रही है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि सरकार के सारे मत्रालयों में समुचित समन्वय स्थापित रहे तथा उसके कार्यों में पुनरावृत्ति एव अतिव्यापकता का दोष न आये।

*आगे के अध्ययन में भारत सरकार के चार मत्रालयों (1. गृह, 2 वित्त 3 विदेश तथा 4 प्रतिरक्षा) का पर्यावलोकन एव सगठनात्मक विवेचन प्रस्तुत का प्रयास किया* जायेगा।

## भारत सरकार का केन्द्रीय सचिवालय

व्यापक अर्थ में 'सचिवालय' शब्द के तात्पर्य सचिवों के कार्यालयों से है। यह मंत्री का मुख्य सलाहकार होता है, जो उसके प्रशासनिक कार्यों में उसकी सहायता तथा आवश्यक निर्देश प्रदान करता है। इस शब्द की उत्पत्ति भारत के प्रशासन में उस समय हुई जबकि अंग्रेजों ने अपने उपनिवेश में सचिवों की सरकार स्थापित की। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकारी सत्ता जनता द्वारा निर्वाचित मंत्रियों के हाथों में आई। अतः अब प्रशासनिक सचिवों को मंत्रियों के अधीन रखने की व्यवस्था की गई है। इस बदली हुई स्थिति में सचिवालय का संबंध मंत्री के कार्यालय से जोड़ा जा सकता है।

सचिवालय एक ऐसा संगठन है, जो सरकार के कार्य संचालन में सहायता करता है। यह सहायता मंत्रियों द्वारा नीति-निर्माण संबंधी कार्यों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त वह सचिव की समस्त अपेक्षित सूचनाएं तथा सामग्री मंत्रियों के सम्मुख रखता है जिससे कि वह शीघ्रता से सही नीति-निर्धारण कर सके।

भारत को प्रशासनिक एकता दिलवाने में केन्द्रीय सचिवालय की एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यदि सचिवालय के प्रारम्भिक इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो कंपनी शासन के युग में बंगाल के गवर्नर-जनरल के अधीन केन्द्रीय सचिवालय के गठन के कोई वैज्ञानिक आधार नहीं मिलते हैं। सन् 1833 में चार्टर अधिनियम के अन्तर्गत प्रशासन में मितव्ययिता लाने के लिए होल्ट मैकेंजी की सलाह से केन्द्रीय सचिवालय में तीन परिवर्तन किये गये थे–

वाणिज्य विभाग समाप्त कर दिया गया।

राजस्व व वित्त को मिला दिया गया।

दो विभाग समूह बनाये गये जिनमें क्रमशः एक ओर सामान्य, विदेश और वित्त विभाग रखे गये तो दूसरी ओर राजस्व, न्यायालय तथा गुप्तचर विभाग।

1857 से पूर्व तक केन्द्रीय सचिवालय का शैशव काल रहा। इसके बाद अनेक आवश्यकताओं को दूर करने के उद्देश्य से सन् 1862 से 1919 तक अनेक नये विभागों को सचिवालय में जोड़ा गया।

विदेश, गृह, वित्त तथा सैन्य विभाग तो सचिवालय में पहले से ही थे। इस अवधि में कृषि एवं राजस्व, उद्योग तथा वाणिज्य, निर्माण कार्य आदि अतिरिक्त विभागों को केन्द्रीय सचिवालय में यथासमय स्थापित किया गया।

1919 से 1947 तक की अवधि में सचिवालय में अन्य अनेक महत्वपूर्ण सुधार किये गये, किंतु यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि अंग्रेजी शासनकाल में सचिवालय के विकास को किन्हीं निश्चित तर्क सम्मत तथा विवेकपूर्ण सिद्धांतों के आधार पर गठित नहीं किया गया।

स्वतंत्रता के बाद केन्द्रीय सचिवालय के संगठन कार्य एवं महत्व में अभूतपूर्व वृद्धि

हुई। इस अभिवृद्धि का कारण स्वयं प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरु थे, जिन्होंने इसे एक समन्वयकर्त्ता निकाय का स्वरूप दिया। उन्होंने सचिवालय को नये सिरे से पुनर्गठित किया। सन् 1950 में योजना प्रक्रिया के लिए एक वित्तीय शाखा खोलने का प्रस्ताव रखा गया। 1957 में एक रक्षा शाखा स्थापित की गई। 1961 में सांख्यिकी विभाग, 1964 में ओ एण्ड एम विभाग, 1965 में सूचना विभाग तथा 1966 में लोक उद्यम के ब्यूरो को वित्त विभाग में गठित कर, सचिवालय में स्थान दिया गया।

सचिवालय के विकास की इस संक्षिप्त भूमिका को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान सचिवालय मुख्य रूप से स्वतंत्रता के बाद का पुनर्जीवित स्वरूप है। स्वतंत्रता के बाद इसके कलेवर तथा महत्व में काफी व्यापकता एवं परिवर्तन आये हैं। जिसका बहुत कुछ श्रेय मंत्रिमंडलीय समितियों को दिया जा सकता है।

प्रारम्भ में ही भारत का सचिवालय दो भागों में विभक्त रहा–(1) एक अधिकारी वर्ग, तथा (2) सहायक वर्ग। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व सचिवालय विभागों में विभक्त था। प्रत्येक विभाग एक निश्चित कार्य करता था, जो कि उस भाग की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य के सुपुर्द होता था। प्रत्येक विभाग एक जैसे उच्च स्तरीय सचिव के अधीन कार्य करता था जिसकी सहायता के लिए संयुक्त सचिव, उप-सचिव, सहायक सचिव तथा अवर सचिव आदि होते थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ये विभाग, मंत्रालय कहलाने लगे, परंतु पद सोपान पद्धति उसी प्रकार बनी रही।

सचिवालय के वर्तमान संगठन को निम्नलिखित तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है–

| | |
|---|---|
| सेक्रेटरी | विभाग का अध्यक्ष |
| एडीशनल सेक्रेटरी | अनेक सेक्शनों की एक विंग का अध्यक्ष |
| ज्वायंट सेक्रेटरी | |
| डिप्टी सेक्रेटरी | चार सेक्शनों के एक डिविजन का अध्यक्ष |
| अण्डर सेक्रेटरी | दो सेक्शनों की एक ब्रांच का अध्यक्ष |
| सेक्शन ऑफिसर | सेक्शन का अधिकारी |
| एसिस्टेन्ट | सेक्शन अधिकारी का सहायक |
| क्लर्क | वरिष्ठ एवं कनिष्ठ श्रेणी |
| सबोर्डिनेट स्टाफ | सहायक |

उक्त तालिका में 'अण्डर सेक्रेटरी' सचिवालय सेवा प्रथम-श्रेणी का सदस्य होता है तथा उसके ऊपर के अन्य अधिकारी राज्य प्रशासनिक सेवा, आई ए एस तथा अन्य सेवाओं के सदस्य भी होते हैं। यद्यपि इसमें से अभी भी कुछ का नाम विभाग है जैसे संचार विभाग, समाज कल्याण विभाग इत्यादि। गोपाला स्वामी आयंगर की योजना थी कि सचिवालय को 37 प्रमुख इकाइयों में संगठित किया जाए, जिनमें 28 विभाग हों, 8 केन्द्रीय प्रशासकीय

स्तर के दफ्तर तथा एक केबिनेट सचिवालय।

इस रिपोर्ट को प्रस्तुत करने के समय सचिवालय में बाईस इकाइयां, उन्नीस मन्त्रालय, दो ऐसे विभाग जो कि किसी भी मन्त्रालय में सम्मिलित नहीं थे तथा एक केबिनेट सचिवालय था। आयंगर की सिफारिश के अनुसार अट्ठाइस विभागों को बीस मन्त्रालयों में संगठित किया जाना चाहिए था। उसके अनुसार मन्त्रालय मन्त्री के अधीन तथा विभाग सचिव के अधीन होने चाहिये थे। उन्होंने सिफारिश की थी कि–

वित्त विभाग के चार विभाग होने चाहिए।
गृह मन्त्रालय के तीन विभाग,
विदेश मन्त्रालय के दो विभाग, तथा
कृषि मन्त्रालय के दो विभाग।

अन्य शेष मन्त्रालयों के लिए विभागीय प्रकृति उचित मानी गई। उनका कहना था कि इस नव संगठन के पश्चात् भी कुछ विभाग इतने बड़े रह जायेंगे कि एक सचिव पूरे विभाग की देखभाल नहीं कर सकता। ऐसे विभागों के सचिवों की सहायता हेतु आवश्यक संख्या में संयुक्त सचिव हों। प्रत्येक संयुक्त सचिव के अधीन एक विंग हो, जिसमें उसे कार्य करने की अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाए तथा उत्तरदायित्व भी उसी का माना जाए।

इस रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशों को भारत सरकार ने स्वीकार नहीं किया। 3 अगस्त, 1950 को सदन में इस आशय की एक सैद्धान्तिक घोषणा अवश्य की गई, परन्तु उनकी क्रियान्विति नहीं हो सकी। गोपाला स्वामी की इस योजना की एक दुर्बलता यह रही कि उसमें 'मिनिस्ट्री' तथा मिनिस्टर्स इनचार्ज को एक ही माना गया। इससे मन्त्रालय में कमांड की एकता तथा पद-सोपान की अवहेलना होती थी। योजना की दूसरी त्रुटि यह थी कि इसमें छोटे विभाग के सचिव को बड़े विभाग के संयुक्त सचिव के समकक्ष रखने की भूल थी।

आयंगर योजना से अब तक कोई रचनात्मक विचार सचिवालय के संगठन सुधारने के विषय में नहीं लिये गये हैं और सचिवालय का समस्त विकास बिना किसी क्रम-बद्ध योजना के तथा पद-सोपान को ध्यान में रखते हुए हो रहा है, यद्यपि स्वतन्त्रता के बाद स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है।

## *सचिवालय के अधिकारियों की भर्ती*

अंग्रेजी शासनकाल में आई सी एस परीक्षा में सफल अनुभवी व्यक्तियों को 'टेन्योर' व्यवस्था के आधार पर कुछ निश्चित समय के लिए सचिवालय के अधिकारी पद पर नियुक्त किया जाता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से आई सी एस परीक्षा की शर्त को हटा दिया गया है, परन्तु सिद्धांत में 'टेन्योर' प्रथा अब भी चल रही है। यद्यपि अण्डर सेक्रेटरीज के अधिकांश पद तथा डिप्टी सेक्रेटरीज के पदों की भर्ती सेन्ट्रल सेक्रेटेरियट सर्विस, जिसे 1948 तक इम्पीरियल सेक्रेटेरियट सर्विस कहा जाता था, से स्थाई रूप में होने लगी है,

किन्तु शेष स्थानों के लिए अभी योजना बनानी है। आधुनिक युग में प्रत्येक विभाग का कार्य अधिक पेचीदा हो गया है तथा विशेष प्रकार की योजना चाहता है। यदि एक विभाग के लिए विशेष प्रकार की योग्यता आवश्यक कर दी जाती है तो अन्य विभागों के लिए भी उन विभागों से संबध रखने वाली योग्यताएं निर्धारित करनी पड़ेंगी।

सचिवालय की कार्य-कुशलता के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक विभाग के प्रशासन में 'विशेषीकरण' सामान्य ज्ञान तथा प्रशासकीय अनुभव जैसे विभिन्न गुणों को समन्वित बल मिले। किसी एक गुण को आवश्यकता से अधिक महत्व देना न तो व्यावहारिक हो सकता है और न ही आज के बदले हुए संदर्भ में वांछनीय।

प्राय यह कहा जाता है कि वर्तमान संविधान में राज्यों को पूर्ण रूप से प्रांतीय *स्वायतता प्रदान की है। अत राजकीय प्रशासनिक केन्द्र से सचिवालय* के लिए अनुभवी प्रशासकों के उधार लेने की आज कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह एक संकीर्ण दृष्टिकोण है तथा उस लक्ष्य की अवहेलना करता है जो केन्द्र को देश के भावी विकास के लिए अपने समक्ष रखना है। देश के आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए योजना बनाने तथा उसको कार्यान्वित करने में केन्द्र तथा इकाईयों के बीच पारस्परिक सहयोग की निरंतर आवश्यकता पड़ेगी।

अब केन्द्र तथा इकाइयों के बीच ऊंच-नीच के संबध न रहकर पारस्परिक सहयोग एवं साझेदारी के संबध हैं। दोनों के कार्यों में निरंतर समन्वय बना रहना आवश्यक है। यदि राजकीय सेवा का अधिकारी केन्द्रीय सचिवालय में आयेगा तो उसे व्यावहारिक प्रशासन का अनुभव होगा तथा उसके द्वारा निर्मित नीतियां तथा कार्य-पद्धति अधिक व्यावहारिक और देश के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सचिवालय में कार्य करने की पद्धति की जानकारी भी सफल प्रशासन के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी कि किसी क्षेत्र के *व्यावहारिक प्रशासन की जानकारी। दोनों प्रकार के ज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं। इसका अर्थ* यह हुआ कि काडर पद्धति के साथ-साथ टेन्योर पद्धति भी आवश्यक है। प्रत्येक विभाग के लिए अलग-अलग सेवा निर्माण करने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा होगा कि अधिक-से-अधिक विभागों के लिए सामान्य सेवा की व्यवस्था की जाए। सचिवालय सेवा तथा सिविल सेवा के बीच की लक्ष्मण रेखा को समाप्त कर देना वांछनीय होगा। सचिवालय सेवा में जो योग्य व्यक्ति हों, उन्हें पदोन्नत कर सिविल सर्विस में भेज देना चाहिए, जिससे सचिवालय के उच्च अधिकारी सिविल सर्विस में प्रवेश की सुविधाओं एवं अवसरों से वंचित न रहें।

किसी भी विभाग का स्वच्छ तथा प्रभावी *कार्य* उसके *अधीनस्थ कार्यालयों* के कर्मचारियों की योग्यता एवं दक्षता पर निर्भर करता है। आरम्भ में किसी विभाग के कार्यालय में दो स्तरों के लिपिक होते थे जिनका निरीक्षण कार्यालयाध्यक्ष किया करते थे।

लोक सेवा आयोग जिसने 1926 में स्टाफ सलैक्शन बोर्ड के कार्य को अपने हाथों में लिया, यह प्रस्तावित किया कि एक अन्तर्विभागीय सम्मेलन कार्यालय के ढाचे तथा भर्ती की पद्धति पर फिर से विचार करें। इस अध्ययन एव इस परीक्षण के परिणामस्वरूप लिपिक वर्ग को तीन श्रेणियों में सगठित किया गया।

प्रथम दो श्रेणियों में वे उच्च स्तरीय लिपिक थे, जिनमें फाइल पर नोट लगाने तथा पुराने सबंधित पत्रों को प्रस्तुत करने का सामर्थ्य था। तीसरी श्रेणी केवल टाइप करने वालों तथा रूटीन कार्य करने वाले लिपिकों की थी। प्रथम दो श्रेणियों के बीच केवल मात्राओं का अतर था, जबकि प्रथम दो श्रेणियों तथा तृतीय श्रेणी के बीच एक मौलिक प्रशासनिक भेद रखा गया।

इस दूषित प्रथा में पहला सुधार सन् 1936-37 में मैक्सवेल कमेटी आन आर्गनाइजेशन तथा प्रोमीजर्म की सिफारिश के आधार पर किया गया। इन तीनों श्रेणियों को समाप्त करके केवल दो श्रेणिया निश्चित की गई—एक सहयोगियों की जो कि मामलों की छानवीन कर सकते थे तथा दूसरी लिपिकों की, जो रूटीन कार्य किया करते थे। दोनों श्रेणियों के लिपिकों की भर्ती आज भी सामान्य प्रतियागी परीक्षाओं के द्वारा की जाती है, परतु प्रथम-श्रेणी के स्थानों को प्रत्यक्ष रूप से भर्ती किये हुए कर्मचारियों तथा नीची श्रेणी से पदोन्नत किये गये कर्मचारियों में समानता के अनुपात में विभक्त कर दिया जाता है। लिपिकों के ऊपर एसिस्टेन्टस का पद है और इन पदों में पचास प्रतिशत पदों को लिपिकों में से पदोन्नति द्वारा तथा शेप पचास प्रतिशत को प्रतियोगी परीक्षा के चयन के माध्यम से भरा जाता है।

### *सचिवालय के कार्य*

सचिवालय का मुख्य कार्य मत्री को नीति-निर्माण में सहायता देना है। मत्री निर्वाचनों के समय जनता से वायदे करके चुनाव जीतता है उसके बाद उन वायदों को पूरा करने हेतु उसे कुछ नीतिया बनानी होती हैं। इन नीतियों के निर्माण हेतु सचिवालय सबंधित मत्री को आवश्यक सूचनाए और आकडे प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार यह मत्रियों के व्यवस्थापन सबधी कार्यों में सहायता करता है। यह व्यवस्थापिका में प्रस्तुत होने वाले प्रस्ताव तैयार करता है। ससदीय समितियों या ससद द्वारा मत्री को पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उसे आवश्यक सामग्री, सूचनाए आदि सप्रेषित करनी पडती हैं।

सचिवालय एक सस्थागत बुद्धि की भांति है, जो उभरती हुई समस्याओं के आवश्यक परिवेश में परीक्षण करता है तथा इस प्रकार का परीक्षण कार्य विषयगत निरतरता, दृढता एवम् अनुकूलता के लिए अत्यत आवश्यक है।

सचिवालय एक सचार माध्यम के रूप में भी कार्य करता है। यह सचार व्यवस्था एक सरकारी अग से दूसरे सरकारी अग के मध्य होती रहती है जैसे योजना एव वित्त आयोग।

इसके अतिरिक्त यह क्षेत्रीय कार्यालयों पर भी पर्यवेक्षण रखता है। वह यह देखता है कि इन क्षेत्रीय कार्यालयों में सरकारी नीतियों का क्रियान्वयन प्रभावशाली ढग से जैसा निश्चित किया गया था उसी रूप से किया गया अथवा नहीं। यह किसी भी समस्या को उसकी समग्रता के परिवेश में देखता है और इस सदर्भ में अन्य महत्वपूर्ण मत्रालयों से विचार-विमर्श भी करता है। इसलिए सचिवालय के विषय में यह कहा गया है कि सेक्रेटेरियट इज ए क्लियरिंग हाऊस प्रलिमिनरी टु गवर्नमेन्टस डिसीजन्स।

सचिवालय के प्रमुख कार्यों की सूची सरकारी हैण्डबुक के अनुसार इस प्रकार है—

1 नीति-निर्माण एव नीति-सशोधन के प्रश्नों पर मत्री को समय-समय पर परामर्श देना। -
2 कानून, नियम एव उपनियम बनाना।
3 क्षेत्रीय योजनाए एव परियोजनाए बनाना।
4 मत्रालय अथवा विभाग के आय-व्यय पर बजट के माध्यम से नियत्रण रखना।
5 नीति क्रियान्वयन पर पर्यवेक्षण एव नियत्रण रखना तथा उनके परिणामों का मूल्याकन करना।
6 नीति की क्रियान्विति में समन्वय स्थापित करना।
7 मत्रालय-विभाग तथा उनकी इकाइयों के अधिकारी वर्ग की कार्य-क्षमता बढाने के लिए कदम उठाना।
8 मत्री को ससद के प्रति अपने उत्तरदायित्व के वहन करने में सहायता करना।

## *सचिवालय की कार्य-प्रक्रिया*

एक मत्रालय अथवा विभाग के लिए सबोधित किये जाने वाले सभी पत्र या अन्य विषय केन्द्रीय सप्राप्ति एव प्रगार शाखा में पहुचते हैं। यह शाखा उन्हें विभिन्न सबधित अनुभागों में वितरित करती है। अनुभाग का डायरिस्ट इस पत्र को अनुभाग अधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत करता है। अनुभाग अधिकारी इन्हें दो श्रेणियों में वर्गीकृत कर लेता है। प्राथमिक तथा सहायक नये तथा मौलिक कार्यों से सबंधित पत्र प्रथम श्रेणी में रखे जाते हैं और शेष पत्रों को सहायक श्रेणी में लिया जाता है। प्राथमिकता वाले पत्रों को पुन दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है।

1 वे महत्वपूर्ण पत्र—जिनमें विस्तृत परीक्षा अथवा दीर्घकालीन विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है तथा जिनका उत्तर एक माह से पूर्व नहीं दिया जा सकता।

2. अवशिष्ट पत्र—इस प्रकार का वर्गीकरण करने के पश्चात् अनुभाग अधिकारी उस पत्र को सबधित सहायक के पास भेज देता है। जब कोई पत्र जटिल होता है अथवा उसके तथ्यों पर कोई व्यक्तिगत विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है तो अनुभाग अधिकारी या तो स्वय उसका जवाब देता है अथवा सबधित सहायक को आवश्यक निर्देश आदि भेज देता है। आवश्यक अर्जेन्ट प्रकृति के पत्रों को अनुभाग अधिकारी उच्च अधिकारियों के पास

भेजते हैं तथा यदि आवश्यक समझे तो वह उनसे आवश्यक आदेश या निर्देश प्राप्त कर लेता है।

जब डायरिस्ट को अनुभाग अधिकारी से ये पत्र वापिस मिल जाते हैं, तो वह उन्हें 'दैनन्दिनी' में चढा लेता है और सबंधित सहायकों के पास प्रेषित कर देता है। ये सहायक उस पत्र की जाच के लिए सबंधित फाइलें पिछले कागजात, सूची-पत्र, नियम, अधिनियम, इत्यादि का अध्ययन करते है और अत में अपना नोट लगाकर अनुभाग अधिकारी को पुन वापिस लौटा देते हैं। अनुभाग अधिकारी इस नोट को ध्यान से परीक्षा करता है और अपनी राय तथा सुझावों के साथ उसे अपने शाखा अधिकारी के पास भेज देता है। शाखा अधिकारी अपने ही दायित्व पर अधिक-से-अधिक मामलों को निपटा देता है। महत्वपूर्ण ममलों अथवा नीति सबधी प्रश्नों पर वह उप-सचिव या अन्य अधिकारी के आदेश प्राप्त कर लेता है। उप-सचिव को कुछ प्रत्यायोजित शक्तिया प्राप्त होती हैं। तदनुसार कुछ विषयों को या तो वह स्वय निपटा लेता है अथवा उन्हें अपने उच्च अधिकारियों जैसे सयुक्त सचिव के लिए भेज देता है। इन अधिकारियों तक प्राय वे ही विषय भेजे जाते हैं, जो अत्यत महत्वूर्ण प्रकृति के होते हैं अथवा जिनका सबध किसी नीति विषयक प्रश्न से होता है। सयुक्त सचिव तथा सचिव यदि आवश्यक समझें तो विषय को मत्री के सम्मुख रख देते हैं। ऐसा करते समय व अपनी संक्षिप्त टिप्पणी भी इसके साथ लगा देते हैं। यहा मत्री को यह स्वविवेक का अधिकार प्राप्त है कि वह या तो स्वय उस विषय में आदेश प्रसारित करे अथवा उस समस्या विशेष को निर्णय के लिए मत्रिमडल के समक्ष प्रस्तुत करे।

निर्णय होने के बाद सबंधित विषय की फाइल फिर उस मार्ग से लौटना आरम्भ करती है तथा उन सभी चढाई के स्तरों से उतरती हुई सबंधित अनुभाग में आकर पहुचती है। यदि इसका उत्तर आवश्यक हो तो निर्णय के अनुसार उसका प्रारूप बनाया जाता है तथा उस अनुभाग द्वारा उस सबंधित व्यक्ति, अधिकारी अथवा सस्थान को प्रेषित कर दिया जाता है।

### *सचिवालय प्रक्रिया में देरी*

सचिवालय की प्रक्रिया में फाइल को निर्णय की मंजिल तक पहुचने के लिए अनेक स्टेशनों पर रुकना पडता है। *अनेक बार यह रुकना उपयोगी न होकर केवल औपचारिकता का निर्वाह करना मात्र होता है। इसके परिणामस्वरूप कार्यों में विलम्ब होता है और प्रभावित* व्यक्ति तक निर्णय की सूचना इतने समय बाद पहुचती है कि जब निर्णय का कोई महत्व नहीं रह जाता। देर से दिया गया न्याय अन्याय कहा जाता है। सचिवालय की अनगिनत मेजों पर यहा से वहा घूमता हुआ एक कागज अनेक बार बड़े दुखदाई परिणामों का कारण बन जाता है। अत यह कहा जाता है कि 'सचिवालय' में कागज यहा से वहा चलते रहते हैं लेकिन वे केवल चलने के लिए चलते हैं, न कि किसी निर्णय तक पहुचने के लिए।

भारत में सचीय सचिवालय की कार्यवाहियों में विलम्ब की समस्या ने प्रजातंत्र के स्वरूप को भ्रष्ट करने में अपना समुचित योगदान दिया है। भ्रष्टाचार के कितने ही रूप इसमें पलते और पनपते हैं। सचिवालय स्तर पर कार्य की यह देरी अनेक कारणों का परिणाम है जैसे—अधिकारियों में अनुत्तरदायित्व की भावना, अधीनस्थों पर अधिक काम छोड़ देना और ऊपर के हस्तक्षेप का भय, उपयुक्त प्रशिक्षण का अभाव, आये दिन होने वाले स्थानांतरण, निर्णय लेने में अनेक कारणों से होने वाली देरी, अधिकारियों में पहल का अभाव पत्रों के प्राप्त होते ही विचार न करना, स्तरों की अत्यधिक संख्या, सत्ता के प्रत्यायोजन का अभाव आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो सचिवालय के कार्यों में देरी के लिए उत्तरदाई हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय-प्रशासन के विद्यार्थी सचिवालय की निम्न-आधारों पर भी आलोचना करते हैं।

सचिवालय में सेवीवर्ग की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई है कि यह भीड़ भरा संगठन मात्र बन कर रह गया है। ऐसा संगठन जन-सुविधा को ध्यान में रखकर तत्परता से कार्य नहीं करता।

इसी प्रकार उनका कहना है कि दिन-प्रतिदिन के कार्यों में राजनीतिक हस्तक्षेप इतना बढ़ गया है कि अनेक वरिष्ठ कर्मचारियों को निराशा का सामना करना पड़ता है। यह प्राय: अमहत्वपूर्ण कार्यों से दबा रहता है। प्रशासनिक औपचारिकता का निर्वाह करने में उच्चाधिकारियों को महत्वपूर्ण कार्यों के लिए समय ही नहीं मिल पाता। कार्य के गलत तरीके अपनाए जाते हैं। कागजों को अनेक स्तरों पर होकर बार-बार निकलना पड़ता है तथा उपयुक्त प्रत्यायोजन की व्यवस्था नहीं की जाती।

एक अन्य महत्वपूर्ण आलोचना सचिवालय के संबंध में यह की जाती है कि प्रशासनिक सचिवालय तथा विभागीय अध्यक्षों के बीच जो संबंध स्थापित होने चाहिए, वे स्थापित नहीं हो सके हैं। दोनों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध अभी स्थापित नहीं हो सके हैं। इसी प्रकार नियोजन तथा वित्त विभागों के मध्य कार्यों का अतिराव तथा दोहराव होता रहता है। सचिवालय की अधिकांश कार्यवाही अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा सपन्न की जाती है और उच्च अधिकारी केवल रबर की मोहर की भांति उनके कार्यों को हस्ताक्षरित करते हैं।

इसी प्रकार सचिवालय के अधिकारियों का चयन करते समय पर्याप्त सावधानी नहीं बरती जाती। इन अधिकारियों का कार्यकाल निश्चित नहीं होता।

### *सचिवालय सुधार के लिए सुझाव*

सचिवालय के संगठन तथा कार्यवाही में सुधार किया जाना भारतीय प्रशासन की एक वांछनीयता है। इसके कर्मचारियों के निषेधात्मक दृष्टिकोण को विधेयात्मक बनाया जाना जरूरी है, जिससे कि वे अपने कार्य भली-भांति एवं कुशलता से सम्पन्न कर सकें तथा अपने आपको समयानुसार बदल सकें। इस कार्य द्वारा सरकार को कार्यकुशल तथा राष्ट्र को शक्तिशाली और विकासोन्मुख बनाया जा सकता है। इस मौलिक सुधार के लिए निम्नलिखित

सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

सचिवालय सुधार हेतु वर्तमान सरकारी क्षेत्र का पुनर्गठन करना आवश्यक है क्योंकि इसमें मध्यस्थों के आधिक्य के कारण कार्य देरी से होता है। सचिवालय द्वारा योजनाएं बनाई जाती हैं और नीचे के स्टाफ द्वारा इन्हें क्रियान्वित किया जाता है। शेष कर्मचारी अनावश्यक देरी के अतिरिक्त कोई निर्णय नहीं लेते। अत यह उचित है कि उनकी संख्या कम की जाए तथा निदेशकों का पद ही समाप्त कर दिया जाए। ऐसा होने पर योजनाओं की क्रियान्विति में कम-से-कम विलम्ब होगा।

अनेक विभागों में या तो बहुत अधिक कर्मचारी हैं अथवा कुछ-कुछ ऐसे भी हैं जिनमें कर्मचारियों की संख्या आवश्यकता से काफी कम है। अत जिन विभागों में आवश्यकता से अधिक या कम कर्मचारी हैं, उनको पुनर्व्यवस्थित किया जाए तथा अप्रशिक्षित, अयोग्य, झूठे सम्मान की दम्भपूर्ण भावनायुक्त तथा नियमों के अन्धभक्त कर्मचारियों और अधिकारियों को परिवर्तित अथवा सेवामुक्त किया जाए। सर्वोवर्ग को नये दायित्वों का महत्व बतलाया जाए।

सचिवालय के कार्यों में कुशलता लाने के लिए विभागाध्यक्ष, सचिव तथा मंत्री तीनों के मध्य की स्थानगत दूरियां कम की जाएं। सचिव तथा विभागाध्यक्ष के कार्यालय निकटवर्ती कक्षों में हों तथा मंत्री भी इतना समीप हो कि सम्प्रेषण बाधाएं उपस्थित न हों।

नीतियों तथा नियमों को सही तरीके से निश्चित अवधि में क्रियान्वित करने की व्यवस्था भी एक आवश्यकता है। क्रियान्विति के समय मूल उद्देश्यों की अवहेलना करते हुए व्यक्तिगत स्वार्थों को ध्यान में रखने की परिपाटियों पर रोक लगाई जाए।

प्रशासकीय विभागों की अध्यक्षता विशेषज्ञ अधिकारियों द्वारा की जानी चाहिये। प्राय होता यह है कि गैर-अनुभवी भारतीय प्रशासनिक सेवा के युवक अधिकारियों को विभागाध्यक्ष बना दिया जाता है और दो तीन वर्ष की अवधि के अंतर पर ही उन्हें एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानांतरित कर दिया जाता है, जो मूल रूप से हानिकारक है। तकनीकी विभागों का संचालन हमेशा विशेषज्ञों को सौंपा जाना चाहिए और सामान्यज्ञ का स्थान केवल नियोजन, समन्वय मंडल, आयोग इत्यादि में ही शीर्ष पर रहे। शेष कार्यों में उसे सहयोगी बनाया जाए।

इसके अतिरिक्त सचिवालय में स्थाई नीति निकायों का भी अभाव है। अत प्रत्येक विभाग में नीति-सम्बन्धी एक स्थाई शाखा रखी जाए, जिसमें नीति रचना के कार्य में अनुभवी व्यक्ति ही भाग ले सकें और गैर-अनुभवी व्यक्तियों द्वारा महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न न हों।

इस प्रकार उपर्युक्त सामान्य सुझावों के प्रयोग से वर्तमान की बहुत-सी आलोचनाएं घट सकेंगी। व्यावहारिक होने के साथ-साथ उक्त सुझाव इस प्रक्रिया को आरम्भ कर सकेंगे, जो सुधारों के समय योजना के लिए भी उपयोगी सिद्ध होंगी।

## केबिनेट सचिवालय

केबिनेट सचिवालय मुख्य रूप से स्वतत्रता के बाद की घटना है। वैसे ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी रचना स्वतत्रता से पूर्व हो चुकी थी, किंतु इसका वर्तमान स्वरूप स्वतत्रता के बाद ही अस्तित्व में आया है। स्वतत्रता के बाद इसके पुरातन रूप में आमूल-चूल परिवर्तन किये गये हैं। प्रारम्भ में जब सचिवालय की स्थापना की गई थी उस समय इसकी स्थापना का प्रमुख उद्देश्य मत्रियों को अपेक्षित सूचनाए, आकडे, तथ्य आदि उपलब्ध कराना मात्र था। इस प्रकार नीति निर्माण कार्यों में केबिनेट की सहायता करना इसका उद्देश्य पहले भी था और आज भी है, परतु स्वतत्रता के बाद शनै -शनै इसका स्वरूप काफी व्यापक बना है।

सक्षेप में जो विषय केबिनेट सचिवालय में विचारार्थ आते हैं वे मुख्यत निम्न हैं–

1 विधि निर्माण एव अध्यादेशों से सबंधित मामले।
2 विदेशी सरकारों से सन्धियों तथा सपर्क आदि रखने के प्रश्न।
3 राष्ट्रपति द्वारा ससद में दिये जाने वाले अभिभाषण तथा सदेश।
4 ससद के सत्र आहूत करना तथा उन्हें स्थगित करना।
5 सार्वजनिक जाच समितियों की नियुक्ति एव उनके प्रतिवेदनों पर विचार।
6 विभिन्न मत्रालयों के मध्य चलते रहने वाले विवाद एव मतभेद।
7 केबिनेट द्वारा लिये गये पूर्व निर्णयों पर पुनर्विचार।
8 प्रतिनिधि मडलों का चयन तथा सरकार द्वारा चलाये गये मुकदमों को वापस लेना आदि।

भारत जैसे ससदीय जनतत्र में जहा केबिनेट मंत्रियों को ससद में उपस्थित होना पडता है और जन-प्रतिनिधियों के प्रश्नों का उत्तर देना पडता है, उन्हें उचित सलाह देने तथा आवश्यक आकडे उपलब्ध कराने के लिए सामान्य प्रकार के विभाग से कार्य नहीं चल सकता। अत इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विशेषत केबिनेट स्तर के मंत्रियों से ससद में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने हेतु आवश्यक आकडे एव तथ्य उपलब्ध कराने तथा नीति निर्माण सबधी निर्णयों मे सहायता करने के लिए एक नवीन प्रकार के निकाय की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की गई। यह केबिनेट सचिवालय नाम से पुराना होते हुए भी कार्यक्षेत्र एव प्रकृति की दृष्टि से बिल्कुल नया है। ससदीय प्रश्नों के उत्तर देने तथा नीति-निर्माण कार्य में सहयोग देने की दिशा में इस सचिवालय की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली एव विशेषीकृत है।

इस सशोधन एव परिवर्तन के कारण इसके महत्व में काफी अभिवृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त केबिनेट समितियों की स्थापना के कारण इसके महत्व एव भूमिका में एक क्रांतिकारी परिवर्तन देखा जा सकता है। प्रधान मत्री के सचिवालय की स्थापना के कारण इसका महत्व अब कुछ कम हो गया है, किंतु फिर भी बढते हुए महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

## केबिनेट सचिवालय का संक्षिप्त इतिहास

भारत में केबिनेट सचिवालय का आरम्भ उस समय से होता है, जबकि भारत सरकार द्वारा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में विभाग व्यवस्था की नींव रखी गई। उससे पूर्व सभी सरकारी कार्य गवर्नर-जनरल द्वारा परिषद् में वितरित किये जाते थे। यह परिषद् एक विचार-विमर्श करने वाली समिति मात्र थी, परतु जैसे-जैसे इसके कार्य की अधिकता बढी, वैसे-वैसे ही इसके कार्यों को गवर्नर-जनरल द्वारा इसके सदस्यों के अधीन विभिन्न विभागों में वितरित किया जाने लगा। केवल अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य ही गवर्नर-जनरल अथवा सपूर्ण परिषद् के समक्ष रखे जाते थे। पोर्टफोलियो व्यवस्था का प्रारम्भिक परिचय लॉर्ड कैनिग के समय में सन् 1861 के काउन्सिल एक्ट के अतर्गत देखा जा सकता है। इस अधिनियम में कार्यकारिणी परिषद् का सचिवालय वायसराय के निजी सचिव की अध्यक्षता में रखा गया था, किंतु वह परिषदीय सम्मेलनों में सम्मिलित नहीं होता था। लॉर्ड विलिगटन ने सर्वप्रथम इन सम्मेलनों में सम्मिलित होने की प्रथा प्रारम्भ की, जो नवम्बर 1935 तक चलती रही। इस वर्ष वायसराय के निजी सचिव को कार्यकारिणी परिषद् का सचिव भी बना दिया गया। अब तक वह इस पद पर सिर्फ वायसराय का निजी सचिव होने के नाते ही कार्य करता था। सितम्बर 1946 में अतरिम सरकार के आदेश द्वारा इस सचिवालय का नाम परिवर्तित किया गया और कार्यों में भी सामान्य परिवर्तन किया गया। कार्यकारिणी परिषद् का यह सचिवालय अब केबिनेट सचिवालय कहा जाने लगा। स्वतत्रता के आगमन ने सचिवालय के कार्यों एव स्वरूप को काफी गभीरता से प्रभावित किया। अब सचिवालय में मंत्रियों और मत्रालयों में पत्रों के सचार मात्र जैसा निष्क्रिय कार्य ही नहीं चल सकता था अपितु मत्रालयों के मध्य एक प्रभावशाली समन्वय यत्र का सगठन भी आवश्यक बन गया था।'

केबिनेट सचिवालय के कार्यों में सन् 1957 में और भी अधिक वृद्धि हुई। इसका कारण मंत्रिमडल की रक्षा-समिति का गठन था। इस मंत्रिमडलीय समिति के सहायतार्थ केबिनेट सचिवालय में एक 'मिलिट्री विंग' भी स्थापित किया गया। इसकी रचना एवं सगठन हेतु प्रतिरक्षा सेवाओं से सदस्य लिये गये।

इसके साथ ही सन् 1949 में मंत्रिमडल ने एक वित्तीय समिति के गठन की घोषणा की। इस समिति का कार्य वित्तीय क्षेत्र में कार्यों को तेजी से सम्पन्न करना था। प्रथमत, इसे वित्त विभाग में रखा गया, परतु जून, 1950 के पश्चात् यह केबिनेट सचिवालय में एक वित्तीय शाखा के नाम से जानी जाने लगी। बाद में अनावश्यक दोहराव को रोकने के लिए इस विंग को अक्तूबर, सन् 1955 में मुख्य सचिवालय में मिला दिया गया।

इसी प्रकार सन् 1954 में सगठन एव पद्धति सम्भाग भी केबिनेट सचिवालय का एक नया अग बनाया गया। इस सगठन एव पद्धति (ओ. एण्ड एम) प्रभाग को बाद में गृह

मत्रालय में मिला दिया गया। सन् 1961 में सांख्यिकी विभाग केबिनेट सचिवालय के एक विभाग के रूप में उदित हुआ।

जून, 1962 में केबिनेट सचिवालय में विशेष वित्त समन्वय कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक और विभाग खोला गया। पर बाद में नवम्बर, 1962 में ही इसे नव-स्थापित 'वित्त मत्रालय एव रक्षा समन्वय विभाग' में विलीन कर दिया गया। जुलाई, 1965 में संयुक्त इण्टेलीजेन्स समिति के सहायतार्थ केबिनेट सचिवालय में एक इण्टेलीजेन्स विग आरम्भ हुआ। विकास के बढते दबाव के कारण जनवरी 1966 में लोक उद्यमों का ब्यूरो भी जो पहले वित्त मत्रालय में था वहा से हटाकर केबिनेट सचिवालय में स्थानातरित किया गया, किंतु बाद के अनुभवों के कारण जून, 1966 में यह पुन वित्त मत्रालय में लौट कर आ गया।'

## केबिनेट सचिवालय का सगठन

केबिनेट सचिवालय प्रत्यक्षत प्रधान मत्री के अधीन है। इसका सचिव 'केबिनेट सचिव' कहलाता है, जो कि केन्द्रीय स्थापना मडल का पदेन अध्यक्ष है। वर्तमान में केबिनेट सचिवालय दो विभागों में विभक्त है–

1 मंत्रिमडलीय मामलों का विभाग,
2 सांख्यिकी विभाग।

### मन्त्रिमडलीय मामलों के विभाग का संगठन

इस विभाग का सगठन मुख्य रूप से तीन शाखाओं में व्यवस्थित है–

1 जन शाखा,
2 सैन्य शाखा,
3 इन्टेलिजेन्स शाखा।

*1 जन शाखा*

यह मंत्रिमडल एवम् उसकी समितियों तथा सचिव समितियों का सारा कार्य देखती है और उसका पूरा ब्यौरा इत्यादि सग्रह करती है। भारत सरकार के कार्यकारी नियमों को समीचीन बनाने के लिए भी यह उत्तरदाई है।

जन-शाखा सचिवालय

| | |
|---|---|
| सचिव | 1 |
| सहायक सचिव एव उपाध्यक्ष | 1 |
| सामान्य निर्देशक | 1 |
| सयुक्त सचिव | 2 |
| उप-सचिव | 4 |
| अवर सचिव | 2 |
| सेक्शन अधिकारी | 8 |

*2 सैन्य शाखा*

यह शाखा, राष्ट्रीय रक्षा-परिषद् तथा सेना सबधी रक्षा मत्री की समिति आदि से सबधित सारे कार्य करने के लिए उत्तरदाई है। इसके साथ-ही रक्षा मत्री की पेन्शन पुनर्विचार समिति, सेवीवर्ग अधिकारी समिति, सेनाध्यक्षों की समितियों (वायु सेना, जलसेना एव स्थल सेना) तथा अन्य समितियों जैसे—सयुक्त आयोजन समिति, सयुक्त प्रशिक्षण समिति, सयुक्त सेवा-समिति, इलेक्ट्रोनिक्स समिति, अतर-सेवा समिति आदि से सबधित कार्य भी इसी शाखा द्वारा किये जाते हैं। यह शाखा सघीय-युद्ध पुस्तिका के प्रकाशन से सबंधित कार्य भी करती है।

सचिवालय

| | |
|---|---|
| उप-सचिव | 1 |
| (जो ब्रिगेडियर या उसके समकक्ष रैंक का हो) | |
| निदेशक | 1 |
| (जो कर्नल या उसके समकक्ष रैंक का हो) | |
| स्टाफ अधिकारी | 9 |
| विज्ञान अधिकारी | 9 |
| स्टाफ अधिकारी | 7 |

*3 इन्टेलिजेन्स विग*

यह शाखा मंत्रिमडल की 'सयुक्त इन्टेलीजेन्स समिति' से सबंधित मामलों की देख-रेख रखती है। इस शाखा के सचिवालय में निम्न प्रकार के अधिकारी हैं

| | |
|---|---|
| उप-सचिव | 1 |
| (ब्रिगेडियर या उसके समकक्ष) | |
| स्टाफ अधिकारी | 3 |
| (लेफ्टीनेन्ट कर्नल या उसके समकक्ष) | |

*साख्यिकी विभाग*

इस विभाग के अधीन दो सलग्न कार्यालय हैं—

1 केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन सी एस ओ , और
2 कम्प्यूटर सैन्टर।

*केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन, नई दिल्ली*

यह सगठन मई, 1957 में स्थापित किया गया। उस समय इसे निम्न कार्य सौंपे गये थे

(क) योजना एव कृषि अनुसधान से सबंधित साख्यिकी कार्य।

(ख) राष्ट्रीय आय का अनुमान।

(ग) सांख्यिकी सेवीवर्ग का प्रशिक्षण।
(घ) राज्यों और संघ के मध्य सांख्यिकी कार्य का समन्वय।
(ङ) श्रम-रोजगार, जनसंख्या एवं जहाज निर्माण संबंधी औद्योगिक तथा सामाजिक क्षेत्र में सांख्यिकी का एकत्रीकरण।
(च) सांख्यिकी प्रतिवेदनों का प्रकाशन तथा सांख्यिकी सूचनाओं के प्रारूप आदि का प्रस्तुतीकरण।
(छ) राष्ट्र संघ के सांख्यिकी कार्यालय अन्य अन्तर्राष्ट्रीय ऐजेन्सियों तथा सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थानों आदि (भारत में और भारत के बाहर) को सांख्यिकी की सामग्री प्रेषित करना।
(ज) सांख्यिकी कार्यों में समन्वय।

केन्द्रीय सांख्यिकी विभाग सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था के बावजूद एक पृथक् अंग की भांति कार्य करता है। इस संगठन का अध्यक्ष सांख्यिकी विभाग का संयुक्त सचिव होता है जो इस संगठन का निदेशक भी होता है।

इस संगठन की बारह शाखाएं हैं–

1 सांख्यिकी इन्टेलिजेन्स डिविजन,
2 आयोजन तथा राज्य सांख्यिकी शाखा,
3 जनसंख्या शाखा,
4 उद्योग एवं व्यापार शाखा,
5. मानव शक्ति शोध शाखा,
6. प्रशिक्षण शाखा (पुस्तकालय आदि सहित),
7 राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे शाखा,
8. राष्ट्रीय आय शाखा,
9 आय वितरण समिति शाखा,
10. औद्योगिक सांख्यिकी शाखा,
11. पद्धति शाखा,
12 प्राइसेज एण्ड कोस्ट ऑफ लिविंग सांख्यिकी शाखा।

इस कार्यालय की अध्यक्षता एक मुख्य निदेशक करता है जो इसके क्षेत्रीय कार्यों का भी निदेशक होता है। क्षेत्रीय कार्यों के लिए सारा देश कुछ क्षेत्रों में और क्षेत्र कुछ खण्डों में विभक्त कर दिये गये हैं।

सांख्यिकी विभाग भारतीय सांख्यिकी संगठन (कलकत्ता) के लिए वित्तीय अनुदान की व्यवस्था करता है। यह संस्था भारतीय सांख्यिकी अधिनियम, 1959 के पारित होने के पश्चात् 1 अप्रैल, 1960 से राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित कर दी गई है। इस विभाग के सचिवालय में निम्न प्रकार के अधिकारी कार्य करते हैं–

| सांख्यिकी विभाग (सचिवालय) | |
|---|---|
| सचिव | 1 |
| निदेशक | 1 |
| पदेन सयुक्त सचिव | 1 |
| उप-सचिव | 1 |
| अवर सचिव | 1 |
| सेक्शन अधिकारी | 6 |
| **केबिनेट सचिवालय का स्टाफ** | |
| मंत्रिमडलीय मामलों का विभाग | 223 |
| साख्यिकी विभाग (केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन) | 49: |
| साख्यिकी विभाग (कम्प्यूटर सेन्टर) | 62 |
| राष्ट्रीय सेम्पल सर्वे निदेशालय | 1955 |

केबिनेट सचिवालय के सगठन को सलग्न तालिका द्वारा और भी अधिक स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है। इन दो विभागों के अतिरिक्त केबिनेट सचिवालय में दो नये विभागों की स्थापना और की गई है। ये विभाग हैं—

1 कार्मिक एव प्रशासनिक सुधार विभाग,
2 इलेक्ट्रोनिक्स विभाग।

कार्मिक विभाग की स्थापना प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिश के आधार पर की गई थी। वैसे पहले यह विभाग गृह मत्रालय में था, किन्तु 27 जून, 1970 को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी कर उसे मत्रिमडल सचिवालय में स्थानांतरित कर दिया है। इस विभाग के प्रमुख कार्य लोक सेवाओं के चयन, पदोन्नति, मनोबल, प्रशिक्षण सर्तकता, अनुशासन, सेवा शर्तें, सघीय लोक सेवा आयोग, कार्मिक प्रबध सेवाएं, कार्मिक प्रशासन में शोध आदि विषयों से सबधित हैं।

इलेक्ट्रोनिक्स विभाग जून, 1970 में मंत्रिमडल द्वारा अपने सचिवालय में स्थापित किया गया था। इलेक्ट्रोनिक्स उद्योग के विकास से सबधित नीति-निरूपण करने के लिए प्रयास करना इसका कार्य-क्षेत्र है।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट आन दि मशीनरी ऑफ दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एण्ड इट्स प्रोसीजर ऑफ वर्क्स, 1968 में इस सबध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। आयोग के इस प्रतिवेदन में लिखा है कि केबिनेट सचिवालय एक अत्यत महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली सस्था है, यद्यपि वर्तमान में इस सगठन को अनेक प्रकार की आलोचनाओं का सामना करना पड रहा है। विभिन्नताओं एव मतभेदों को दूर करने के प्रभावशाली समन्वय कार्य करने में यह उतना सक्षम नहीं हो सका है, जितनी कि इससे अपेक्षा थी। अत इस समिति ने इसके पुनर्गठन के लिए कुछ सुझाव दिये हैं,

जो निम्न हैं–

1 सांख्यिकी विभाग को वित्तीय विभाग में मिला दिया जाना चाहिए। ऐसा करने से इस सचिवालय के पास अधिकांशतः ऐसे विभाग बचे रहेंगे जिनका संबंध मंत्रिमंडलीय मामलों से है। इसके अतिरिक्त सैन्य प्रशाखा भी रक्षा मंत्रालय को सौंप दी जानी चाहिए। सेनाध्यक्षों की समिति भी केवल रक्षा कार्यों से ही संबंधित होनी चाहिए।

2 उपर्युक्त विभागों को हटाकर इस सचिवालय का इस प्रकार से पुनर्गठन किया जाए कि इसमें सरकारी कार्यों के संपादन हेतु विशेषीकृत इकाइयों की व्यवस्था हो। इन इकाइयों के कार्य होंगे–

(1) मंत्रालयों में होने वाली गतिविधियों से प्रधान मंत्री को अवगत कराते रहना।

(2) मंत्रियों के प्रमुख निर्णयों का स्मरण-लेख प्राप्त कर प्रधान मंत्री के सम्मुख प्रस्तुत करना।

(3) केबिनेट समितियों से संबंधित ऐसे कार्य जो मंत्रालयों के समूह से संबंधित हैं, केबिनेट सचिवालय को सौंपते रहना।

(4) प्रधान मंत्री मंत्रिमंडल तथा केबिनेट सचिवालय द्वारा उच्च मंत्रिमंडलीय कार्यक्षेत्र में नई नीतियों को नया रूप देने में सहायता करना।

(5) प्रधान मंत्री के विचारों से मंत्रिमंडल तथा मंत्रिमंडलीय समितियों को समय-समय पर अवगत कराते रहना।

समिति ने कहा है कि इस प्रकार की आठ सेल्स होनी चाहिए। समिति ने यह भी स्वीकार किया कि इस व्यवस्था से संभवतः मंत्रियों का उत्तरदायित्व कुछ घट जाएगा, किंतु यह हानि इसकी सुविधाओं एवं तुलनात्मक लाभों को देखते हुए नगण्य-सी है।

(6) संयुक्त सचिव (जिसके अधीन सेल हो) सचिव, समिति के सचिव की भांति कार्य करे और यह सेल द्वारा सेवित हो और केबिनेट समिति से संबंधित हो और यदि उसके मंत्रालयों के बारे में कोई विवादास्पद विषय हों तो उन्हें मंत्रिमंडल की बैठक में भी सम्मिलित किया जा सकता है।

(7) यदि दो या दो से अधिक मंत्रालयों के बीच मतभेद हो तो उससे संबंधित सचिव को प्रारम्भिक अवस्था में ही केबिनेट-सचिवालय को सूचित करना चाहिए, जिससे कि अनौपचारिक विचार-विमर्श के बाद मतभेदों को दूर किया जा सके।

(8) केबिनेट-सचिव को समय-समय पर अन्य सचिवों से मिलते रहना चाहिए।

(9) यदि किसी मंत्रालय में किसी महत्वपूर्ण मामले से संबंधित कोई जटिल प्रश्न उठ खड़े होते हैं तो उन्हें केबिनेट सचिव को बतलाना चाहिये, जिससे कि वह यदि आवश्यक समझे तो प्रधान मंत्री से आदेश पाकर उन प्रश्नों को सुलझा सके।

(10) केबिनेट-सचिवालय मंत्रिमडल के सचिवालय के कार्यों के लिए एक स्टाफ भुजा के समान है। अत इसे सरकारी कार्यों का सपादन करने हेतु एक सरकारी विभाग मात्र नहीं समझा जाना चाहिए। इसका अस्तित्व भारत सरकार के नियमों द्वारा पुनर्गठित किया जाना चाहिए।

इस प्रकार प्रशासनिक सुधार आयोग ने केबिनेट सचिवालय के सबध में अपने कुछ सुझाव दिये हैं, जिन पर अमल किया जाना चाहिए। वैसे भी आयोग के सभी सुझाव व्यावहारिक नहीं हैं। उदाहरण के लिए आयोग ने सेल्म की व्यवस्था करने के लिए सिफारिश की है, परतु वर्तमान व्यवस्था को देखते हुए और विशेषकर ससदीय शासन व्यवस्था में जहा मंत्रियों के उत्तरदायित्व की प्रधानता है यह सभव भी प्रतीत नहीं होता और न ही इसमे वाछित लाभ मिल सकेंगे।

आज की प्रशासनिक व्यवस्था में केबिनेट-सचिवालय का अत्यत महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ लोगों की मान्यता है कि प्रधान मत्री के सचिवालय की स्थापना के बाद इसके महत्व में अब कुछ कमी अवश्य देखी जा सकती है, फिर भी गत दशकों की परपराओं ने इसकी स्थिति को पर्याप्त रूप से प्रतिष्ठित बना दिया है।

## *केबिनेट-सचिव*

केबिनेट-सचिव वरिष्ठतम लोक सेवक होने के नाते भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठतम सदस्य होता है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में लिखा है कि योग्यतम एव वरिष्ठतम अधिकारी ही 'केबिनेट-सचिव' बनाया जाना चाहिए।

केबिनेट-सचिव मंत्रिमडलीय सम्मेलनों में प्रधानमत्री के समीप बैठता है। वह केन्द्रीय प्रस्थापना-मडल का पदेन अध्यक्ष होता है। वह मुख्य सचिवों के सम्मेलन की अध्यक्षता भी करता है। इस पद की महत्ता को आयगर प्रतिवेदन निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करता है—

केबिनेट-सचिव प्रशासनिक अधिकारियों में सबसे ऊंची रैंक का व्यक्ति होता है, जो अपने गुणों, शक्ति पहल करने की क्षमता तथा प्रभावशालिता के कारण इस पद पर नियुक्त किया जाता है। यह केबिनेट-सचिवालय में समन्वयात्मक कार्यों को देख सकता है, विशेषत इन कार्यों को जिनमें मंत्रिमडल और प्रधान मत्री रुचि रखते हों।

ब्रिटेन मे केबिनेट सचिव का पद बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। वहा के केबिनेट-सचिव की स्थिति को निम्नलिखित शब्दों में वर्णित किया गया है—

वह वरिष्ठतम लोक सेवक होता है। यही वह धुरी है जिस पर सपूर्ण मंत्रिमडल की व्यवस्था टिकी हुई है। वह अन्य अधिकारियों को सलाह देने वाला तथा सद्विवेक का रक्षक है। अन्य अधिकारी अपनी अन्तर्विभागीय कठिनाइयों को सुलझाने हेतु इसके पास सलाह और निर्देश लेने आते हैं।

उपर्युक्त स्थिति को देखते हुए भी श्री आयगर ने यह सुझाव दिया था प्रधान मत्री

अथवा मंत्रियों द्वारा प्रशासनिक नियुक्तियों के लिए, जो सलाहकार सचिव समिति है, उसका कैबिनेट-सचिव पदेन अध्यक्ष नियुक्त किया जाना चाहिए। जैसे-जैसे मंत्रिमंडल संसदीय व्यवस्था में शक्तिशाली एवं सम्मानित बनता जाता है, वैसे-वैसे ही कैबिनेट-सचिव की स्थिति एवं महत्व केन्द्रीय बनता जाता है। भारतीय प्रशासन का यह सबसे शक्तिशाली एवं प्रतिष्ठित पद है।

## मंत्रिमंडल समितियां

ब्रिटिश शासन व्यवस्था की भांति भारत में भी केन्द्रीय सरकार में मंत्रिमंडल समितियां कार्य कर रही हैं। ये समितियां मंत्रालय स्तर पर पारस्परिक रूप से संबंधित विषयों में समन्वय स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। इन समितियों के कार्य करने के कारण मंत्रिमंडल की बैठकें बार-बार बुलाने की आवश्यकताएं कम अनुभव की जाती हैं। मंत्रिमंडल समितियां अनेक निर्णय अपने ही स्तर पर लेती हैं तथा जहां अधिक महत्वपूर्ण मामले आते हैं, वहां ये अपनी सिफारिशों के साथ सारे मामले को ही मंत्रिमंडल के समक्ष प्रस्तुत करती रहती हैं।

सन् 1968 के अंत में केन्द्रीय स्तर पर निम्नलिखित विषयों के लिए नौ मंत्रिमंडल समितियां गठित की गई थीं—

1. आन्तरिक मामले
2. विदेशी मामले
3. सुरक्षा
4. मूल्य, उत्पादन तथा निर्यात
5. परिवार-नियोजन
6. खाद्य तथा कृषि
7. पर्यटन तथा यातायात
8. संसदीय मामले
9. नियुक्तियां

प्रशासनिक सुधार आयोग ने भारत सरकार के प्रशासन तंत्र तथा उसकी प्रक्रिया प्रणाली पर प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में यह सिफारिश की थी कि मंत्रिमंडल समितियों का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। आयोग के अनुसार निम्नलिखित विषयों के लिए ग्यारह समितियां गठित करना उपयुक्त होगा—

1. सुरक्षा,
2. विदेशी-मामले,
3. आर्थिक मामले,
4. संसदीय मामले तथा जन-संपर्क,
5. खाद्य तथा ग्रामीण-विकास,
6. यातायात, पर्यटन तथा संचार,
7. सामाजिक सेवाएं,
8. वाणिज्य, उद्योग तथा विज्ञान,

केबिनेट सचिवालय

प्रधान मंत्री

सांख्यिकी विभाग

अतिरिक्त सचिव एवं अध्यक्ष

उप-सचिव

स्टाफ अधिकारी

इन्टलिजेन्स विंग

सैन्य शाखा

मंत्रिमंडल का सांख्यिकी सलाहकार

उप-सचिव

निदेशक

सैक्शन अधिकारी इलेक्ट्रोनिक्स कमेटी

वैज्ञ अधिकारी ज्वायट कम्प्यूटर सेंटर

स्टाफ अधिकारी सैन्य शाखा
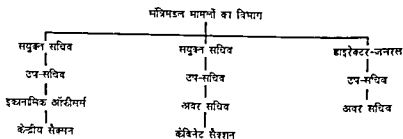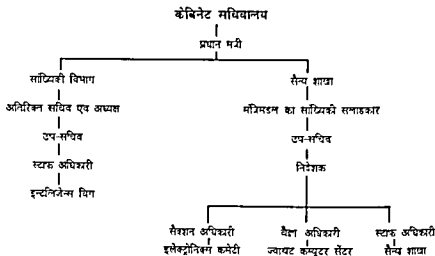
9 आंतरिक मामले (केन्द्र-राज्य संबंध सहित),

10 प्रशासन,

11 नियुक्तियां।

आयोग ने यह सिफारिश भी की थी कि सरकारी कार्यों के सभी महत्वपूर्ण विषय मंत्रिमंडल समितियों के कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत आने चाहिए। आयोग की कुछ अन्य सिफारिशें निम्न हैं–

सामान्यतः किसी भी समिति की सदस्य संख्या छः से अधिक नहीं होनी चाहिए। एक समिति में संबंधित विषयों के सभी प्रभारी मंत्री-सदस्य होने चाहिए, चाहे वे केबिनेट स्तर के मंत्री हों या न हों। प्रत्येक मंत्रिमंडलीय समिति के लिए एक पृथक् सचिव समिति भी होनी चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर किसी विषय की जांच करने हेतु मंत्रियों की तदर्थ समितियां भी बनाई जा सकती हैं, ये समितियां संबंधित मंत्रिमंडल अथवा मंत्रिमंडल को अपना प्रतिवेदन देंगी। इसके अतिरिक्त समितियां नियमित रूप से अधिक-से-अधिक मिलती

रहनी चाहिये।

सरकार ने इनमें से काफी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है, किंतु यह सिफारिश स्वीकार नहीं की जा सकी है कि प्रत्येक मंत्रिमंडलीय सचिव के लिए पृथक् से एक सचिव समिति भी हो।

इस प्रकार केन्द्रीय मंत्रिमंडल विभिन्न मंत्रिमंडल समितियों, मंत्रिमंडल सचिवालय तथा सचिवों की समितियों की सहायता से प्रशासन के जटिल कार्यों का संपादन करता है। इन संगठनों के अतिरिक्त प्रधान मंत्री का सचिवालय विभिन्न मंत्रियों के अपने सचिव तथा केन्द्रीय सरकार का सचिवालय भी उच्चस्तरीय प्रशासनिक समन्वय में अपनी-अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाते हैं।

## गृह मंत्रालय एवं कार्य

भारतीय सरकार के समस्त मंत्रालयों में गृह मंत्रालय का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रोटोकोल नियमों के अनुसार केबिनेट में प्रधान मंत्री के बाद गृह मंत्री का नाम आता है। स्वतंत्रता के बाद सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ कैलाशनाथ काटजू, यशवन्तराव चाव्हाण, भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी तथा श्री चरणसिंह जैसे राष्ट्रीय स्तर के नेता इस मंत्रालय की अध्यक्षता करते आये हैं। इस मंत्रालय के कार्य व्यापार को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मानो गृह मंत्रालय ही समस्त भारतवर्ष की सरकार हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कार्य संपूर्ण भारत सरकार से अपेक्षित है उन सबका किसी-न-किसी रूप में संपादन तथा निकट का संबंध गृह मंत्रालय तथा इसकी प्रशासकीय इकाइयों से है।

गृह मंत्रालय की स्थापना का मुख्य उद्देश्य संपूर्ण देश में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना है। इस प्रमुख उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अन्य कितने ही कार्य संपादित होते हैं। सामान्य प्रशासन के लिए सार्वजनिक सेवाओं का नियमन किया जाता है। प्रशासनिक सुधारों के लिए समय-समय पर विभिन्न उपाय ढूंढे जाते हैं। सामान्य प्रशासन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए ही भ्रष्टाचार निरोध आदि से संबंधित मामले, विभिन्न केन्द्र प्रशासित प्रदेशों का प्रशासन, अण्डमान निकोबार द्वीपों का प्रशासन, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्रियों, उपमंत्रियों तथा राज्यपालों के वेतन और विभिन्न भत्तों तथा अन्य विशेष अधिकारों की रक्षा, सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति एवं इसी प्रकार की अन्य नियुक्तियां, राष्ट्रीय ध्वज तथा राष्ट्रीय गायन, विदेशियों की नागरिकता के मामले, जागीरदारी, जमींदारी, सुधारों से संबंधित समस्याएं तथा भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों से आये हुए विधेयकों का परीक्षण आदि कुछ इस प्रकार के कार्य हैं जो इसी मंत्रालय के कार्य-क्षेत्र में आते हैं।

बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करना यद्यपि इस मंत्रालय का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व नहीं है फिर भी राष्ट्रीय सुरक्षा के हेतु नाना प्रकार की कार्यवाहियों के लिए पहल करना

इस मंत्रालय का विशिष्ट उत्तरदायित्व है। उदाहरण के लिए देश की सीमाओं के रक्षार्थ सीमा सुरक्षा दल, गृह मंत्रालय के एक सलग्न कार्यालय के रूप में कार्य करता है। देश की आन्तरिक सुरक्षा हेतु कितनी ही प्रकार की सुरक्षा सेवाएं एवं प्रशिक्षण कार्य जैसे राष्ट्रीय अग्नि सेवा महाविद्यालय, नागपुर, राष्ट्रीय नागरिक सुरक्षा महाविद्यालय, नागपुर, आदि संस्थानों का संचालन इसी मंत्रालय के तत्वावधान में किया जाता है। सारे देश में शांति एवं व्यवस्था की स्थिति पर निगरानी रखना इस मंत्रालय की विशेष जिम्मेदारी होने के कारण इस कार्य से संबंधित सभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष-कार्य गृह मंत्रालय के कार्य की सीमा रेखा में आते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये यह राष्ट्रीय हित के सभी प्रश्नों पर राज्य सरकारों को परामर्श देता है एवं उनके अन्तर्राजकीय प्रयासों के मध्य समन्वय की स्थापना करता है। इसके संकटकालीन राहत डिविजन का मुख्य कार्य ही यह है कि यह केन्द्र तथा राज्य स्तर पर संकटकालीन राहत कार्यों के लिए जो योजनाएं बनाई जाएं, उनकी क्रियान्विति में सहायता, सहयोग एवं समन्वय प्रदान करे।

## गृह मंत्रालय का इतिहास

गृह मंत्रालय भारत सरकार के प्राचीनतम विभागों में से एक है।[7] गृह मंत्रालय के इतिहास का व्यापक परिप्रेक्ष्य समझने के लिए इसके जन्म एवं विकास की कहानी को तीन चरणों में विभाजित कर देखा जा सकता है।

प्रथम युग इसके जन्म और शैशव की कहानी है। इस समय में यह गृह मंत्रालय होते हुए भी विदेश, वित्त एवं प्रतिरक्षा कार्यों का नियमन करता था जिसे एक प्रकार से समस्त भारत सरकार कहा जा सकता था। कंपनी युग के अपने प्रारम्भिक काल में इस मंत्रालय ने अपने कार्यक्षेत्र एवं अधिकारों को निरंतरता से फैलाया। विकास का दूसरा चरण 19वीं शताब्दी के मध्य से 20वीं शताब्दी के मध्य तक देखा जा सकता है। सन् 1858 से 1947 तक का समय एक ऐसा समय है जबकि इस मंत्रालय के कार्यों और शक्तियों में उत्तरोत्तर विस्तार एवं संकोचन होता रहता है। अंग्रेजी सरकार के शासन काल में विभिन्न विषय इसके हाथों से निकलने लगते हैं और अन्य नये विभागों का गठन प्रारम्भ होता है। यद्यपि प्रत्यक्ष कार्यों में संपादन की शक्तियां समय-समय पर स्थापित किये जाने वाले नये विभागों के हाथों में चली गईं फिर भी इन नये विभागों पर नियंत्रण का मुख्य कार्य गृह विभाग के पास ही रहा। इस तरह इस युग में गृह विभाग के अनेक सहयोगी विभाग पैदा हुए, किंतु उन पर नियंत्रण, निरीक्षण एवं निर्देशन की पूरी जिम्मेदारी गृह विभाग की ही रही। सन् 1947 के बाद देश में अव्यवस्था एवं राजनीतिक विघटन की आशंकाओं के कारण इस विभाग की स्थिति पुनः सुदृढ़ होने लगी और एक दलीय प्रशासन के कारण आज तक केन्द्रीय बनी हुई है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गृह विभाग के इतिहास की कहानी उसके उदय, ह्रास एवं पुनरुत्थान की कहानी है। कंपनी शासन ने जिस शक्तिशाली गृह विभाग की संरचना की थी वह विकास के कारण अंग्रेजी शासन के युग में शाखा,

प्रशाखाओं में विभक्त हुआ, किंतु स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय एकता के हित में उसकी एक शक्तिशाली विभाग के रूप में पुनर्जीवित होना एक स्वाभाविकता थी।



## ईस्ट-इण्डिया कंपनी का शासन काल (1843 से 1858)

भारत में गृह मत्रालय की आधार शिला ईस्ट-इण्डिया कपनी के प्रशासन काल में सन् 1843 में उस समय रखी गई जबकि भारत सरकार का केन्द्रीय सचिवालय बगाल सरकार के सचिवालय से पृथक् किया गया। इस समय गृह विभाग नामक एक नये विभाग की स्थापना की गई थी और उसके लिए एक सचिव भी नियुक्त किया गया था। आरम्भ में इस विभाग की छ शाखाए थीं जो इसके कार्य-क्षेत्र, सगठन एव उद्देश्य की ओर सकेत करती हैं।*

ये छ शाखाए थीं–

1 सामान्य शाखा,
2 राजस्व शाखा,
3 समुद्री शाखा,
4 न्यायिक शाखा,
5 विधि शाखा,
6 चर्च सबधी शाखा।

### *सामान्य शाखा*

नियुक्तियों, आतरिक राजनीतिक, जेल, पुलिस, फैक्ट्रीज, पेट्रोलियम, शिक्षा, अस्पताल और अस्त्र-शस्त्र तथा कानून के प्रशासन के लिए जिम्मेदार थी। इसी प्रकार अन्य शाखाए जैसा कि उनके नाम से ही स्पष्ट है, अपने-अपने कार्यों के लिए उत्तरदाई थीं। यद्यपि इन क्षेत्रों में प्रशासन का दैनिक कार्य प्रातीय सरकारों के हाथ में था किंतु अपने इस विभाग के माध्यम से भारत सरकार इन सब विषयों पर अपना समग्र नियत्रण रखती थी। इस प्रकार देश की सपूर्ण प्रशासन व्यवस्था पूर्णरूपेण ब्रिटेन की ससद के प्रति उत्तरदाई थी।

प्रारम्भ में गृह विभाग के कार्यक्षेत्र में प्रातीय सरकारों के राजनीतिक एव प्रशासनिक मामलों का नियत्रण अण्डमान निकोबार आदि द्वीप समूहों के प्रशासन तथा केन्द्रीय सीमाओं से सबधित सभी प्रकार के प्रशासनिक कार्य आते थे, लेकिन धीरे-धीरे नये विभागों की रचना के फलस्वरूप गृह विभाग के अतर्गत आने वाले विषय उसकी नियत्रण, परिधि से हटने लगे। उदाहरणार्थ सन् 1855 में सार्वजनिक निर्माण विभाग नाम के नवीन विभाग के गठन के फलस्वरूप सार्वजनिक कार्यों से सबधित विषय सबसे पहले गृह विभाग से पृथक् किये गये। सन् 1869 में एक अन्य विभाग बना, जिसे विधि विभाग के नाम से अभिहित किया गया। दो वर्ष बाद सन् 1871 में राजस्व एव कृषि विभाग की स्थापना की गई। कालातर में यह अनुभव किया गया कि यह विभाग अपने

उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम सिद्ध नहीं हो सका है अत इसे पुन गृह विभाग में विलीन कर दिया गया। किंतु सन् 1880 में जब 'अकाल आयोग' ने राजस्व एव कृषि विभाग के पुनर्गठन की सिफ़ारिश की तो सन् 1881 में इसे गृह विभाग से फिर पृथक् कर स्वतत्र अस्तित्व दे दिया गया।

लगभग पच्चीस वर्षों तक यही व्यवस्था चलती रही। सन् 1905 में उद्योग एव वाणिज्य सबधी कार्य जो अब तक गृह विभाग के तत्वावधान में प्रशासित होते थे, गृह विभाग के अधिकार क्षेत्र से बाहर निकाल दिये गये और उन्हें 'उद्योग एव वाणिज्य विभाग' नामक एक नये विभाग को सौंप दिया गया। इस नवगठित विभाग की स्थापना के फलस्वरूप गृह विभाग के फैक्ट्री अन्वेषक और पेट्रोलियम आदि से सबधित कुछ कार्य हल्के हो गये। इसी प्रकार सन् 1910 में शिक्षा विभाग की स्थापना की गई और गृह विभाग को इस कार्य भार से भी मुक्ति मिली।

सन् 1919 से पहले भारतीय सरकार के सगठन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि *सरकारी शक्ति और सत्ता केवल गवर्नर-जनरल सहित उसकी परिषद् में ही केन्द्रित थी।* सन् 1919 के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत प्रातों में द्वैध शासन की स्थापना हुई। इस व्यवस्था में प्रातीय विषय दो श्रेणियों में विभाजित किये गये—

1 सुरक्षित, तथा

2 हस्तातरित

हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन, प्रातीय गवर्नर चुने हुए भारतीय मंत्रियों की सहायता से चलाता था जबकि सुरक्षित विषय उसकी अपनी कार्यकारिणी परिषद् के प्रशासक सदस्यों के अधीन रहते थे। इस परिवर्तन के बावजूद भी प्रातीय सुरक्षित विषय जैसे—जेल, पुलिस आदि पर केन्द्र के गृह विभाग का पहले की भांति ही नियत्रण बना रहा। कानून एवं व्यवस्था के क्षेत्र में भी गृह मत्रालय प्रातीय सरकारों को गवर्नर के माध्यम से यथावत निर्देश भेजता रहता था।

सन् 1923 में शिक्षा विभाग का पुर्नगठन किया गया और इस पुर्नगठित विभाग का नाम शिक्षा, स्वास्थ्य एव भूमि विभाग रखा गया। जो नये विषय जुडे वे गृह विभाग से स्थानान्तरित हुए। इसी वर्ष स्वास्थ्य विभाग को एक स्वतत्र विभाग का स्तर दिया गया और सबंधित कुछ अन्य कार्य भी 'गृह विभाग' से हटा कर इस नये विभाग को सौंप दिये गये।

सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम ने प्रातों की द्वैध शासन प्रणाली को समाप्त कर वहा प्रातीय स्वराज्य की घोषणा की और इस कारण प्रातों के कार्य क्षेत्र में एक अभूतपूर्व वृद्धि हुई। किंतु प्रातीय स्वराज्य की इस व्यवस्था में गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व एव विवेकी शक्तिया भी थीं। इन क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकार का गवर्नर-जनरल अपने गृह विभाग के माध्यम से प्रातों की व्यवस्था पर अपना पूर्ण नियत्रण रखता था। प्रांतों

में उत्तरदाई शासन की स्थापना के फलस्वरूप केन्द्रीय गृह विभाग का यह कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा।

अक्तूबर सन् 1941 में भारत सरकार की सूचना सबधी क्रियाए भी गृह विभाग से पृथक् कर दी गई और उन्हें 'सूचना एव प्रसारण विभाग' नामक एक नवगठित विभाग के अतर्गत रख दिया गया।

स्वतत्रता प्राप्ति के बाद, अगस्त 1947 में गृह विभाग का नाम बदल कर उसे 'गृह मत्रालय' कर दिया गया। स्वतत्र भारत के गणतत्रीय सविधान में यह प्रावधान रखा गया है कि राज्यों को अपने कार्य इस प्रकार से सपादित करने होंगे कि सघ सरकार के कार्यों में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो और सघीय कानून को स्वीकार करते हुए वे कार्यपालन सबधी उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सके। स्वाभाविक है कि सविधान की इस व्यवस्था को प्रशासकीय स्तर पर सचालित करने का भार गृह मत्रालय पर है और उसकी यह जिम्मेदारी उसे अत्यत महत्वपूर्ण बनाती है।

अगस्त 1965 में 'असम राइफल्स' का प्रशासनिक नियत्रण जो अब तक विदेश मत्रालय के अधीन था, उसे अब गृह मत्रालय के आधीन हस्तातरित कर दिया गया। जनवरी 1966 में प्रशासकीय जाच-पडताल करने हेतु भारत सरकार ने एक आयोग की स्थापना की जिसका मुख्य कार्य देश की लोक प्रशासन व्यवस्था की जाच करना और उसके सुधार एव पुनर्गठन हेतु सिफारिशें प्रस्तुत करने से सबधित था। बाद में इसे गृह मत्रालय के साथ जोड दिया गया अर्थात् गृह मत्रालय का सलग्न कार्यालय बनाया गया।

जुलाई 1947 में देशी राज्यों से सबधित समस्याओं को हल करने के लिए एक नया 'राज्य विभाग' बनाया गया, किन्तु सन् 1955 तक देशी राज्यों का भारतीय सघ में विलय कार्य पूरा हो गया तो इसी वर्ष इस विभाग को पुन गृह मत्रालय में मिला दिया गया। केन्द्रीय प्रशासन की समस्याओं के अध्ययन तथा उनके उपयुक्त समाधान हेतु एक 'प्रशासनिक सुधार विभाग' का गठन किया गया और इस रचना के फलस्वरूप केबिनेट सचिवालय के ओ एण्ड एम प्रभाग का भी प्रशासनिक सुधार विभाग में मिला दिया गया।

जून सन् 1964 में भारत सरकार द्वारा 'सामाजिक सुरक्षा विभाग' नामक एक अन्य नये विभाग की सर्जना की गई है। तभी से गृह मत्रालय में सपादित किये जाने वाले पिछडी जातियों एव वर्गों के उत्थान से सबधित कार्य इस नये विभाग को सौंप दिये गये हैं।*

## मंत्रालय का प्रशासकीय संगठन

भारत सरकार के गृह मत्रालय का प्रधान केबिनेट स्तर का एक वरिष्ठ मत्री होता है। सदैव से ही यह मत्रालय महत्वपूर्ण कार्य करता रहा है। अत भारत सरकार के सभी मत्रालयों से इसका किसी-न-किसी रूप में निकट का सबध है। भारत सरकार से अपेक्षित

सभी प्रकार के कार्य इस मत्रालय द्वारा सपादित किये जाते हैं। अत स्वाभाविक है कि इस मत्रालय का प्रशासकीय सगठन भी पर्याप्त रूप से व्यापक हो।

गृह मत्री की सहायता के लिए इस मत्रालय में एक राज्य मत्री और एक उप-मत्री होता है। विभागीय कार्यों को देखने के लिए प्रशासकीय सचिव होते हैं जिन्हें–

1 गृह सचिव, और

2 सेवा सचिव कहा जाता है।

इन दोनों सचिवों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने का वर्तमान में कोई साधन नहीं है। दोनों ही सचिव सीधे स्वतत्र रूप से मत्री महोदय क पास जा सकते हैं और अपने-अपने नोटस सप्रेषित कर सकते हैं।

सन् 1969-70 के आकड़ों के आधार पर इस मत्रालय के विभिन्न श्रेणी के प्रमुख प्रशासकीय अधिकारियों की सख्या इस प्रकार थी–

| | |
|---|---|
| सचिव | 2 |
| अतिरिक्त सचिव | 1 |
| महासचालक नागरिक सुरक्षा | 1 |
| सयुक्त सचिव एव अधिकारी | 1 |
| सयुक्त सचिव | 11 |
| मुख्य कल्याण अधिकारी | 1 |
| सचालक शोध एव नीति | 1 |
| मुख्य सुरक्षा अधिकारी | 1 |
| उप-सचिव | 29 |
| उप-सचालक, प्रशिक्षण | 2 |
| उप-महासचालक, नागरिक सुरक्षा | 1 |
| उप-महासचालक होम गार्ड्स | 1 |
| वरिष्ठ स्टाफ अधिकारी | 1 |
| अग्नि परामर्शदाता | 1 |
| सचिव, दिल्ली बाढ नियत्रण समिति | 1 |
| अवर सचिव | 34 |
| ससदीय विशेष कार्याधिकारी | 1 |
| सचिव, केन्द्रीय सचिवालय | 1 |
| क्रीडा नियत्रण बोर्ड | |
| सहायक महासचालक, होम गार्ड्स | 1 |
| वरिष्ट शोध अधिकारी | 1 |
| सहायक महासचालक, नागरिक सुरक्षा | 2 |

प्रशासकीय संगठन की दृष्टि से गृह मंत्रालय का सारा कार्य 26 प्रभागों में व्यवस्थित किया गया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं–

1 प्रशासन एवं ओ एण्ड एम प्रभाग,
2 प्रशासकीय सतर्कता प्रभाग,
3 अखिल भारतीय सेवा प्रभाग,
4 केन्द्रीय सचिवालय सेवा प्रभाग,
5 स्थापना प्रभाग,
6 विदेशी एवं नागरिकता प्रभाग,
7 न्यायिक प्रभाग,
8 आपातकालीन सहायता प्रभाग,
9 स्थापनाधिकारी प्रभाग,
10 पुलिस प्रभाग,
11 राजनीतिक प्रभाग,
12 राज्य पुनर्गठन प्रभाग,
13 राज्य पुनर्गठन (सेवाएं) प्रभाग,
14 संघीय प्रदेश प्रभाग (प्रशासन एवं सेवाएं आदि),
15 संघीय प्रदेश (विधायी) विभाग,
16 सरकारी भाषा प्रभाग,
17 कश्मीर प्रभाग,
18 कल्याण प्रभाग,
19 वित्त एवं लेखा प्रभाग,
20 जनशांति निदेशालय,
21 सार्वजनिक प्रभाग,
22 सार्वजनिक शिकायत प्रभाग,
23. प्रशिक्षण प्रभाग,
24 संयुक्त मंत्रणा एवं अनिवार्य पंचनिर्णय प्रभाग,
25 सचिवालय सुरक्षा संगठन,
26 शोध एवं नीति प्रभाग।

## संलग्न कार्यालय

वर्तमान समय में भारत सरकार के गृह मंत्रालय में सात संलग्न कार्यालय हैं।[10]

### *1 केन्द्रीय गुप्तचर ब्यूरो, नई दिल्ली*

केन्द्रीय गुप्तचर ब्यूरो का जन्म सन् 1887 के ठगी विभाग की एक विशेष शाखा से

हुआ है। इस शाखा का कार्य राजनीतिक और सामाजिक दशा के बारे में सूचनाएं एकत्रित करना तथा आर्थिक विकास और राष्ट्रीय आंदोलन को प्रभावित करने वाले तत्वों की जानकारी रखना था। सन् 1904 में इस विभाग का नामकरण 'अपराधी गुप्तचर विभाग' के नाम से किया गया। सन् 1918 में इस विभाग के संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये जिनके फलस्वरूप इसे 'केन्द्रीय गुप्तचर विभाग' के नाम से अभिहित किया गया। दो वर्ष बाद इसे एक ब्यूरो का स्वरूप दिया गया और यह 'केन्द्रीय गुप्तचर ब्यूरो' कहलाया जाने लगा। तब से आज तक इसका यही नाम चला आ रहा है। अब यह मंत्रिमंडल सचिवालय में है।

यह ब्यूरो देश की सुरक्षा से संबंधित गुप्त सूचनाएं एकत्रित करता है तथा सुरक्षा के मामलों में सरकार को परामर्श देता है। इसका प्रधान एक डाइरेक्टर है, जिसकी सहायता के लिए अनेक क्षेत्रीय अधिकारी होते हैं। ब्यूरो का मुख्यालय नई दिल्ली में स्थित है।

## 2. केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो

केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो की स्थापना अप्रैल, सन् 1963 में की गई। यह मुख्य रूप से एक भ्रष्टाचार विरोधी अभिकरण है जिसमें विशेष पुलिस संस्थाओं को सम्मिलित कर दिया गया है। यह केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों पर भ्रष्टाचार संबंधी मामलों की जांच-पड़ताल करता है। इसके अतिरिक्त लोक उद्यमों अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा चलाये जाने वाले अर्द्ध-सरकारी उद्यमों के कर्मचारियों के मामले भी इस ब्यूरो में जांच-पड़ताल के लिये भेजे जाते हैं। इसके साथ ही यह सरकारी विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार, गबन, गोलमाल तथा धोखा-धड़ी के मामले एवं निजी क्षेत्र की कंपनियों आदि से संबंधित अनियमितताओं की सूचनायें एकत्रित करता है।

## 3 लाल बहादुर शास्त्री प्रशासनिक अकादमी, मसूरी

इस अकादमी की स्थापना सन् 1959 में 'भारतीय प्रशासनिक सेवा प्रशिक्षण स्कूल, दिल्ली' तथा 'भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी महाविद्यालय, शिमला' का विलय द्वारा की गई थी। इस अकादमी में अखिल भारतीय तथा केन्द्रीय सेवाओं के अधिकारियों के लिए पृष्ठभूमि प्रशिक्षण एवं आधारभूत प्रशिक्षण दिये जाने की व्यवस्था है। सेवा में प्रवेश लेने के बाद आई ए एस, आई पी एस तथा केन्द्रीय सेवाओं के नये युवक अधिकारी यहां प्रशिक्षण लेने आते हैं जिन्हें भारतीय इतिहास एवं संविधान, नागरिक कानूनों के प्रावधान, लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं व्यवहार तथा प्रशिक्षणार्थी के राज्य विशेष की भाषा आदि विभिन्न विषयों में प्रशिक्षित करने की व्यवस्था है। अकादमी वरिष्ठ अधिकारियों के लिए नवीनीकरण पाठ्यक्रमों एवं प्रशिक्षण योजनाओं का भी संचालन करती है।

### *4. सचिवालय प्रशिक्षण विद्यालय, नई दिल्ली*

इस विद्यालय की स्थापना मई, सन् 1948 में की गई थी। यहां पर केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयिक अधिकारियों एवं सचिवालयी कर्मचारियों की कार्य निपुणता की दृष्टि से तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाता है।

### *5. जनगणना महारजिस्ट्रार कार्यालय, नई दिल्ली*

महारजिस्ट्रार का यह कार्यालय सन् 1951 की जनगणना से संबंधित कार्यों को सम्पन्न करने के लिए गृह मंत्रालय द्वारा स्थापित किया गया था। सन् 1953 के जून माह के यह कार्य उप-महापंजीयक को सौंप दिया गया है। महापंजीयक की ओर से जनसंख्या के आकड़ों में सुधार पर इस संगठन द्वारा अनेक सांख्यिकी प्रतिवेदन प्रकाशित किये जाते हैं जिनका विकास आयोजनाओं की दृष्टि से विशिष्ट महत्व है।

### *6. केन्द्रीय रिजर्व पुलिस, नीमच (मध्य प्रदेश)*

सन् 1939 में इस पुलिस फोर्स की स्थापना 'क्राउन्स रिप्रेजेन्टेटिव पुलिस' के नाम से की गई थी। स्वतंत्रता के पश्चात् इसका नाम परिवर्तित कर 'केन्द्रीय रिजर्व पुलिस' कर दिया गया। यह रिजर्व पुलिस देश में आंतरिक सुरक्षा बनाये रखने में राजकीय पुलिस की सहायता करती है। इसका अध्यक्ष एक डायरेक्टर-जनरल होता है, जो गृह विभाग के तत्वावधान में संकटकालीन स्थितियों से निपटने के लिए अपने संगठन को उद्यत रखता है।

### *7. सीमा सुरक्षा दल*

सन् 1965 के पाकिस्तान युद्ध के पश्चात् भारत-पाक सीमा की सुरक्षा के उद्देश्य से सीमा सुरक्षा दल की स्थापना की गई। यह अर्द्ध-सैनिक पुलिस दल शांतिकाल में सीमाओं की देखभाल करने के लिए उत्तरदाई है। पहले यह कार्य वे राज्य सरकारें किया करती थीं, जिनकी सीमा पाकिस्तान से मिली हुई थी, किंतु यह सारा काम अब इस स्वतंत्र संगठन के अधिकार क्षेत्र में है। यह दल सीमा सुरक्षा सेवा कानून, 1968 द्वारा अभिशासित होता है। इस दल का प्रमुख कार्य भारत-पाक सीमा पर होने वाले अपराधों, तस्करी एवं विदेशी नागरिकों की घुसपैठ आदि को रोकना तथा शत्रु द्वारा की जाने वाली इन्टेलिजेन्स आदि पर रोक लगाना है। दल का प्रधान इन्सपेक्टर-जनरल कहलाता है तथा इसके वरिष्ठ अधिकारी आई पी एस के सदस्य हैं।

## गृह मंत्रालय के अधीनस्थ कार्यालय

गृह मंत्रालय के उपर्युक्त 7 संलग्न कार्यालयों के अतिरिक्त 11 अधीनस्थ कार्यालय भी हैं। इन कार्यालयों का कार्य क्षेत्र राष्ट्रीय एवं अन्तर्राज्यीय है। प्रशिक्षण कार्य में विशिष्टता रखने के साथ-साथ इन अधीनस्थ कार्यालयों के माध्यम से केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों का शासन गृह मंत्रालय के निर्देशन में चलता रहता है। ये कार्यालय निम्न हैं—

### 1. सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद

भारतीय पुलिस सेवा के नये एवम् वरिष्ठ अधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए सेंट्रल पुलिस ट्रेनिंग कालेज की स्थापना स्वतत्र भारत में सन् 1948 में की गई। बाद में इसका नाम एवम् स्थान बदलकर राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, माउण्ट आबू कर दिया गया। यहा पर आई.पी.एस. अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाने लगा। बाद में सातवें दशक में इस सस्था का स्थानातरण करके हैदराबाद में इसे स्थापित किया गया और सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी के नाम से नामकरण किया गया। यहा पर भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों को विशिष्ट प्रकार का व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता है। अकादमी का प्रधान एक डायरेक्टर होता है जो वरिष्ठ पुलिस महानिदेशक के समकक्ष होता है।

### 2 समन्वय निदेशालय (वायरलेस), नई दिल्ली

इस निदेशालय की स्थापना सन् 1950 में की गई थी। निदेशालय का मुख्य कार्य विभिन्न राज्यों की पुलिस सचार सेवाओं में समन्वय स्थापित करना तथा विभिन्न राज्यों को रेडियो सचार की तकनीकी समस्याओं पर परामर्श देना है। केन्द्र तथा राज्य कर्मचारियों को बेतार सचार से सबंधित तकनीकी प्रशिक्षण देने की भी यह निदेशालय व्यवस्था करता है। इसके नवीनीकरण प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, राज्यों के पुलिस विभागों को पुलिस के आधुनिकीकरण में सहायता प्रदान करते हैं।

### 3. राष्ट्रीय अग्नि सेवा महाविद्यालय, नागपुर

इस कालेज की स्थापना 2 जुलाई, सन् 1956 को की गई। सामान्य जन-जीवन को अग्निकाण्डों से बचाने के लिए, आग बुझाने के वैज्ञानिक तरीकों का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस सबध में की गई नई-नई शोधों पर भी इस विद्यालय में विचार-विमर्श होता है। यह कालेज पहले रामपुर में स्थित था, किंतु सन् 1960 में इसे नागपुर स्थानातरित कर दिया गया।

### 4. राष्ट्रीय नागरिक सुरक्षा महाविद्यालय, नागपुर

इस कालेज में सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रशिक्षणार्थियों को आपातकालीन सहायता सबधी प्रशिक्षण दिया जाता है।

### 5. भारत-तिब्बत सीमा पुलिस, नई दिल्ली

यह पुलिस दल भारत-तिब्बत सीमा की चौकसी करता है। इसका प्रधान एक इन्सपेक्टर-जनरल ऑफ पुलिस स्तर का अधिकारी होता है।

### 6. क्षेत्रीय पंजीकरण कार्यालय

भारत में विदेशों से आने वाले विदेशी नागरिकों के पजीकरण हेतु चार क्षेत्रीय पजीकरण कार्यालय हैं। ये कार्यालय दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास शहरों में स्थित हैं। दिल्ली

का ऑफिस दिल्ली प्रशासन तथा कलकत्ता एवं बम्बई कार्यालय वहां की राज्य सरकारों के नियंत्रण में कार्य करते हैं। मद्रास कार्यालय ही एक मात्र ऐसा क्षेत्रीय कार्यालय है, जो प्रत्यक्ष रूप से केन्द्र के गृह मंत्रालय द्वारा प्रशासित एवं संचालित होता है।

### *7. भ्रमणशील नागरिक आपातकालीन पुलिस, नई दिल्ली*

भ्रमणशील असैनिक आपातकालीन फोर्स संगठन की स्थापना, आपातकालीन स्थिति में पुलिस दल द्वारा बचाव कार्यों में सहायता करने के लिए की गई है।

### *8-11 क्षेत्रीय कार्यालय, हिन्दी प्रशिक्षण योजना*

हिन्दी प्रशिक्षण योजना के अंतर्गत गृह मंत्रालय, नई दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में चार क्षेत्रीय संगठन रखता है। इस योजना का उद्देश्य सरकार के अहिन्दी भाषी केन्द्रीय कर्मचारियों को हिन्दी सिखाना है। सन् 1960 में राष्ट्रपति के आदेशानुसार 45 वर्ष से कम आयु वाले सरकारी कर्मचारियों के लिए हिन्दी सीखना आवश्यक है।

### *12. आंतरिक सुरक्षा अकादमी, माउण्ट आबू*

सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में जब आई पी एस अधिकारियों की प्रशिक्षण अकादमी माउण्ट आबू से हैदराबाद स्थानांतरित कर दी गई तो उसका नाम रखा गया सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद तथा आई पी एस अधिकारियों के प्रशिणालय के स्थान पर माउण्ट आबू में आंतरिक सुरक्षा से संबंधित अधिकारियों एवम् कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवम् ओरियन्टेशन कार्यक्रम के लिए आंतरिक सुरक्षा अकादमी यहां स्थापित की गई। यह अकादमी भी पूर्णतया केन्द्रीय गृह मंत्रालय के तत्वाधान में कार्य करती है।

### *13. औद्योगिक सुरक्षा बल, नई दिल्ली*

आठवें दशक में देश के उद्योगों की सुरक्षा के लिए इस नये बल की स्थापना की गई। जैसा कि इसके नाम से परिलक्षित होता है, यह एक क्षेत्र विशेष की सुरक्षा के लिए बनाई गई पुलिस है। इसका मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में स्थित है।

## केन्द्र प्रशासित क्षेत्र और नेफा

केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में शासन तथा प्रशासन संबंधी सभी कार्यों की जिम्मेदारी भारत सरकार के गृह मंत्रालय के हाथों में है। नेफा का प्रशासन भी इस दृष्टि से केन्द्रीय सरकार की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी है। इन राज्यों को प्रदत्त सभी विषयों के प्रशासन से केन्द्रीय गृह मंत्रालय घनिष्ठ रूप से संबंधित है। आजादी के पूर्व ये केन्द्र प्रशासित क्षेत्र केवल चार थे—

1. अजमेर,
2. कुर्ग,
3. दिल्ली, और
4. अण्डमान, निकोबार।

देशी रियासतों के विलय से इनकी सख्या में वृद्धि हुई है। सन् 1950 में जब भारत का नया संविधान लागू हुआ उस समय संविधान की प्रथम अनुसूची भाग (सी) में इनकी सख्या ग्यारह थी–

1 अजमेर
2 कूच विहार
3 भोपाल
4 दिल्ली
5 विलासपुर
6 हिमाचल प्रदेश
7 कुर्ग
8 कोंच
9 मणिपुर
10 त्रिपुरा
11 विध्य प्रदेश

कूच विहार को सन् 1950 में पश्चिमी बगाल के साथ मिला दिया गया और इसी प्रकार सन् 1954 में विलासपुर हिमाचल प्रदेश में विलीन हो गया। अण्डमान निकोबार विशेष रूप से अनुसूची (1) भाग (1) में रहे। इन राज्यों का प्रशासन स्टेट एक्ट, 1951 के अनुसार चलता रहा। राज्य पुनर्गठन कानून, 1950 ने ए, बी, सी और डी राज्यों का अतर समाप्त कर अजमेर, भोपाल, विध्यप्रदेश, कुर्ग और कोंच के केन्द्र शासित क्षेत्रों को क्रमश राजस्थान, मध्यप्रदेश, मैसूर (कर्नाटक) और बम्बई में मिला दिया। वर्तमान समय में केन्द्र प्रशासित राज्य निम्नलिखित हैं–

1 अण्डमान निकोबार तथा पोर्ट ब्लेयर
2 दादरा एव नगर हवेली
3 लक्षद्वीप, मिनिकोय अमीनदिवि
4 गोवा, दमन एव द्वीप
5 चण्डीगढ
6 पाण्डीचेरी

इन केन्द्रीय प्रशासित राज्यों के प्रशासन हेतु गृह मत्रालय की सलाह पर उप-राज्यपाल मुख्य आयुक्त नियुक्त करता है और वे इस प्रशासन के लिए भारत सरकार के गृह मत्रालय के प्रति उत्तरदाई होते हैं। गोवा, दमन-द्वीप, पाण्डीचेरी में विधानमडलों एव मंत्रिपरिषदों की व्यवस्था है। अण्डमान निकोबार, लेकोडिव, मिनिकोय अमिनदिवि तथा चण्डीगढ में परामर्शदात्री समितिया है जो ससद द्वारा गठित की जाती हैं।

## गृह मंत्रालय से संलग्न आयोग[11]: केन्द्रीय सर्तकता आयोग

सन्थानम् कमेटी की सिफारिश के परिणामस्वरूप लोक सेवाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए इस आयोग की स्थापना फरवरी सन् 1964 में की गई। सामान्यत यह आयोग केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा किये गये जाच-पडताल और परीक्षण को अपनी कार्यवाही का आधार बनाता है, किन्तु यदि आयोग स्वय किसी विभाग की जाच करना चाहे तो सरकार इसे जाच कानून आयोग के अतर्गत एक स्वतत्र जाच आयोग के रूप में नियुक्त कर सकती है। यह आयोग सरकार को अपना वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है और यदि इसके द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर कार्यवाही नहीं की जाती तो यह सरकार को पुन प्रतिवदेन प्रस्तुत कर सरकार का ध्यान आकर्षित कर सकता है। पद एव स्थिति की दृष्टि

से सर्तक्ता आयोग लोक सेवा आयोग के समान है। कानूनी रूप से इस का प्रमुख कार्य सलाह देना है, लेकिन इसकी सलाह और सिफारिशें लोक सेवा आयोग की सिफारिशों की भाति मान्य मानी जाती हैं। वर्तमान समय में सर्तकता आयोग की तीन शाखाए हैं–

1. मुख्य कार्यालय,
2. प्रमुख तकनीकी परीक्षक सगठन,
3. विभागीय जाच आयुक्त का कार्यालय।

प्रत्येक मत्रालय में सतर्कता सबधी कार्य के सपादनार्थ एक सेल होता है। यह सेल उप-सचिव स्तर के अधीन कार्य करता है जिसे सर्तकता अधिकारी के नाम से अभिहित किया जाता है। सर्तक्ता आयोग का निदेशक सभी इकाइयों के सर्तक्ता अधिकारियों के कार्यों का समन्वय करता है। इसके अतिरिक्त यह विशेष पुलिस सस्थान का नियत्रण भी करता है।

सर्तकता अधिकारी को मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य करने होते हैं–

(अ) भ्रष्टाचार एव दुर्व्यवहार को प्रोत्साहन देने वाली परिस्थितियों एव कारणों को कम करना अथवा समाप्त करना।

(ब) नियमित निरीक्षण या बिना सूचना दिये दौरे कर भ्रष्टाचार के कारणों की जाच करना तथा उनके निवारणार्थ प्रयास करना।

(स) भ्रष्टाचार एव गलत आचरण का सदेह होते ही उस पर तुरत कार्यवाही करना।

## गृह मंत्रालय को परामर्श देने वाले विभिन्न निकाय

परामर्शदात्री निकायों के माध्यम से गृह मत्रालय विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रशासन में समन्वित करने का प्रयास करता है। ये निकाय अधिकतर कार्यात्मक हैं और समितियों के रूप में सलाह देते हैं।

### *1. केन्द्रीय संस्थापना बोर्ड*

इस बोर्ड की स्थापना सचिवालय से सबंधित अवर सचिव के पद एव उससे ऊपर के पदों की नियुक्तियों के सबध में (सचिव को छोड़कर) सिफारिश प्रदान करने के लिए की गई थी, किंतु सचिव, राजदूत एव विदेश मत्रालय के उच्च पदाधिकारियों तथा राष्ट्रपति द्वारा की जाने वाली सवैधानिक नियुक्तिया इस बोर्ड के परामर्श क्षेत्र से बाहर हैं। इस बोर्ड के सात सदस्य होते हैं–

(अ) भारत सरकार का केबिनेट सचिव, अध्यक्ष

(आ) भारत सरकार का सस्थापन अधिकारी, सचिव

(इ) आर्थिक प्रशासन से सबंधित मत्रालयों के दो प्रतिनिधि

(ई) अन्य मत्रालयों के तीन प्रतिनिधि

यह बोर्ड प्रशासकीय विशेषज्ञों का निकाय है और इसका परामर्श बाध्यकारी नहीं होता।

## 2. संकटकालीन राहत संगठन, केन्द्रीय परामर्शदात्री समिति

आपातकालीन सहायता सगठन की केन्द्रीय परामर्शदात्री समिति के दो कार्य हैं–

(अ) आपातकालीन सहायता सगठन को आपातकालीन सहायता के सबध में परामर्श देना, तथा

(आ) आपातकालीन सहायता के कार्यक्रमों में जनता की अभिरुचि जागृत करना तथा इसके लिए जनता एव सरकार के मध्य निकट सपर्क सूत्र पैदा करना।

इस समिति के सदस्य निम्न अधिकारी होते है–

| | |
|---|---|
| 1 गृह सचिव | अध्यक्ष |
| 2 उप-सचिव (आपातकालीन सहायता) | सचिव |
| 3 एक सरकारी अधिकारी | सदस्द |
| 4 दो गैर-सरकारी | सदस्य |

यह एक निश्चित समिति है और गृह सचिव की अध्यक्षता इसको महत्वपूर्ण बनाती है।

## केन्द्र-प्रशासित प्रदेशों की परामर्शदात्री समितियां

गृह मत्रालय में इस प्रकार की तीन समितिया सक्रिय हैं–

1 अण्डमान-निकोबार द्वीप के लिए परामर्शदात्री समितिया,

2 लक्षद्वीप-मिनिकोय एव अर्मीनदिवी से सबंधित परामर्शदात्री समितिया,

3 चण्डीगढ से सबंधित परामर्शदात्री समितिया।

इन परामर्शदात्री समितियों के माध्यम से सबंधित क्षेत्र से निर्वाचित समद सदस्य तथा अन्य गणमान्य गैर-सरकारी प्रतिनिधियों का सहयोग प्राप्त किया जाता है। ये सभी समितिया अपने-अपने क्षेत्रों की प्रशासकीय समस्याओं पर गृह मत्रालय को परामर्श देती रहती हैं।

## गृह मंत्रालय के कार्य

गृह मत्रालय का इतिहास एव सगठन की व्यापकता, उसके कार्यों की विशदता के प्रतीक हैं। इसके कार्य-व्यापार को देखने से विदित होता है कि यह एक बहुकार्यकारी मत्रालय है। गृह मत्रालय का मुख्य कार्य देश में शांति एव सुव्यवस्था बनाये रखना है। सघ सूची के अन्तर्गत आने वाले लगभग सभी कार्यों का सपादन इसी मत्रालय के माध्यम से होता है जैसे नवीन राज्यों का निर्माण, उनके क्षेत्र में आवश्यकतानुसार फेर-बदल, राज्यों की सीमाओं का निर्धारण एव उनका नामकरण, अपराधियों को क्षमा करना, प्राणदण्ड की आज्ञा को कुछ समय के लिए टालना, देशी रियासतों के साथ किये गये समझौते एव प्रिवीपर्स को समाप्त करना, संविधान के आपातकालीन उपबधों को क्रियान्वित करना, भारत सरकार एव राज्य सरकारों द्वारा आयोजित लाटरियों पर नियत्रण रखना आदि विषयों पर इसे निर्णय लेने पड़ते हैं।

भाषा के संबंध में राष्ट्रपति द्वारा दिये गये निर्देशों से संबंधित कार्य, केन्द्रीय सरकार के लोक सेवकों के लिए हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था, नागरिकता, राष्ट्रीयता, जनगणना आदि से संबंधित मामलों पर यह मंत्रालय प्रशासकीय पहल करता है और संबंधित समस्याओं का समाधान ढूढ़ता है। इसी प्रकार समवर्ती सूची के अंतर्गत आने वाले विषयों के संबंध में भी जैसे अपराधी कानून, अपराध प्रक्रिया से संबंधित मामले, कैदियों को एक राज्य से दूसरे राज्य में भेजना, जन्म एवं मृत्यु के आंकड़े रखना, अखबार पुस्तकें एवं मुद्रण तथा प्रेस से संबंधित प्रश्नों आदि का प्रशासन गृह मंत्रालय के तत्वाधान में संपन्न होता है।

गृह मंत्रालय द्वारा संपादित किये जाने वाले कुछ महत्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं—

## 1. देश में शांति एवं सुव्यवस्था बनाये रखना

गृह मंत्रालय मुख्यतः ऐसे मामलों को निपटाता है जिनका संबंध देश में शांति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने से हैं। संपूर्ण देश में शांति और सार्वजनिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए समुचित उपाय करने की जिम्मेदारी इस मंत्रालय की है। ब्रिटिश शासन काल में भी गृह विभाग (जिसे अब गृह मंत्रालय कहा जाता है) गवर्नर-जनरल के अधीन रहा और आंतरिक शांति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए उसे विशेष अधिकार प्राप्त थे। आज भी देश में शांति एवं व्यवस्था के भंग होने पर यदि राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है तो उन राज्यों का प्रशासन इसी मंत्रालय के द्वारा संचालित किया जाता है। राष्ट्रीय संकटकाल में भी केन्द्रीय सरकार की सारी शक्तियां यही मंत्रालय प्रयोग में लाता है। इसी प्रकार शांतिकाल में भी राज्यों की स्थिति पर केन्द्र सरकार अपना नियंत्रण रखती है जो अप्रत्यक्ष रूप से गृह मंत्रालय का ही कार्य है। साथ ही राज्यों की पुलिस, जेल, रेलवे पुलिस, सतर्कता ब्यूरो, केन्द्रीय रक्षा कालेज आदि विभिन्न संगठनों का नियोजन तथा उनके कार्यों के समन्वय द्वारा यह मंत्रालय सारे देश की कानून और शांति व्यवस्था पर निगरानी रखता है।

## 2. लोक सेवाओं का नियमन

केन्द्रीय सेवाओं की स्थापना तथा उनसे संबंधित अन्य प्रश्नों पर गृह मंत्रालय की सलाह से राष्ट्रपति निर्णय लेता है। यह भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति करता है। वित्त मंत्रालय के ऑफिस-स्टाफ एवं प्रशिक्षणालयों की व्यवस्था करता है और सचिवालय सेवाओं का पुनर्गठन भी करता है। सचिवालय सेवा तथा अन्य वरिष्ठ पदों पर नियुक्ति के समय योग्य व्यक्तियों के चयन के लिए मंत्रालय द्वारा राज्य सरकारों से पत्र-व्यवहार किया जाता है। सभी सेवाओं की नियुक्ति, अनुशासन और अन्य शर्तों में एक मानकी स्तर बनाये रखने के लिए उनके सभी सामान्य विषयों का नियमन करना गृह मंत्रालय का विशेष उत्तरदायित्व है।

## 3. उच्च पदों की स्थापना एवं सेवा शर्तों का नियमन

गृह मंत्रालय भारत सरकार तथा राज्यों में उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं

प्रतिनियुक्ति संबंधी कार्यों का व्यवस्थापन करता है। उच्च अधिकारियों की सेवा शर्तों के नियमन के लिए यह वैधानिक कार्यवाही के लिए प्रबंध करता है। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्री, उप-मंत्री, राज्यपाल आदि अधिकारियों के भत्ते, विशेषाधिकार, वेतन आदि के मामलों को यहां निपटाया जाता है। सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों तथा अन्य न्यायाधीश सदस्यों की नियुक्ति तथा सेवा शर्तें भी इसी मंत्रालय द्वारा नियमित की जाती हैं। इनके अतिरिक्त राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्रीय प्रतीक, राष्ट्रीय-पक्षी आदि से संबंधित विषय इस मंत्रालय के अधीन हैं, जो इन पर प्रशासनिक निर्णय लेकर समुचित संवैधानिक संस्थाओं के सामने निर्णयार्थ प्रस्तुत करता है।

### 4 समन्वय संबंधी कार्य

गृह मंत्रालय एक समन्वयकारी मंत्रालय है। यह स्वयं इतने कार्य नहीं करता जितना कि दूसरे संबंधित मंत्रालय से करवाता है। सारे देश के सभी भागों की समस्याओं तथा स्थितियों पर इसे विशेष ध्यान रखना पड़ता है। राष्ट्रीय हित के प्रश्नों पर राज्य सरकारें इस मंत्रालय से परामर्श लेती हैं तथा यह उनके प्रयासों में समन्वय की स्थापना करता है। इसके संकटकालीन राहत प्रभाग का मुख्य कार्य ही यह है कि वह केन्द्र तथा राज्य स्तर पर संकटकालीन सहायता के लिए जो भी केन्द्रीय एवं राजकीय योजनाएं बने उनमें समन्वय स्थापित करे।

### 5. भ्रष्टाचार निरोध एवं प्रशासनिक सुधार कार्य

लोक सेवाओं में भ्रष्टाचार विरोधी अभियान चलाने के लिए गृह मंत्रालय में एक सतर्कता आयोग कार्य करता है। इसी प्रकार प्रशासन में सुधार लाने के लिए इस मंत्रालय ने उच्च स्तरीय 'प्रशासनिक सुधार आयोग' की स्थापना की थी जिसने प्रशासनिक समस्याओं का अध्ययन कर उनके निराकरण के लिए अपने प्रतिवेदनों में सिफारिशें प्रस्तुत कर प्रशासन में सुधार लाने का प्रयास किया।

### 6 राजनीतिक कार्य

गृह मंत्रालय कुछ ऐसे भी कार्य सम्पन्न करता है जिससे देश की राजनीति गंभीर रूप से प्रभावित होती है। ऐसे कार्यों में समाचार पत्र प्रकाशन तथा पासपोर्ट आदि से संबंधित कार्य प्रमुख हैं। प्रेस से संबंधित कानूनों का प्रशासन, गैर-कानूनी मुद्रण के विरुद्ध कार्यवाहियां तथा देश में विदेशी पुस्तकों के आयात तथा आपत्तिजनक प्रकाशनों की जब्ती आदि कार्य यही मंत्रालय संपन्न करता है। पासपोर्ट देते समय यह देखता है कि ऐसा करने से देश की आंतरिक स्थिति तथा सुरक्षा के लिए कोई संकट तो नहीं उत्पन्न हो जायेगा। यह भारतीय पासपोर्ट अधिनियम तथा विदेशी नागरिकों से संबंधित कानूनों एवं तदधीन आदेशों के विषय में नीति-निर्णय लेता है।

### 7. केन्द्र प्रशासित राज्यों का प्रशासन

(अ) पाण्डिचेरी, गोवा, दमन, द्विप, दादरा एव नगर हवेली और चण्डीगढ आदि केन्द्र प्रशासित राज्यों में शांति रखने एव सुप्रशासन चलाने की दृष्टि से गृह मत्रालय आवश्यक कदम उठाता है। इस कार्य के लिए जो विषय इसके प्रशासन क्षेत्र में आते हैं उनमें से प्रमुख हैं रेलवे, गाव तथा नगर के पुलिस सगठनों पर नियत्रण संविधान तथा न्याय व्यवस्था से प्राप्त होने वाली फीस, न्यायालय के सगठन के मामले दिल्ली नगर निगम का संविधान और उसकी शक्तिया, दिल्ली अग्नि सेवा इन क्षेत्रों में चलने वाले अपराध एव अपराधी गिरोहों पर रोक तथा लोकसेवाओं से सबधित सामान्य प्रशासन।

(आ) अण्डमान-निकोबार द्वीपों से सबधित समस्त प्रशासन गृह मत्रालय के नियत्रण एव पर्यवेक्षण में कार्य करता है, किन्तु प्रशासनिक नियत्रण की परिधी में निम्नलिखित विषय नहीं आते—

1 जगल, शिक्षा, सडक और पुल से सबधित विषय,

2 द्वीप के अदर तथा बाहर नावों की व्यवस्था।

(इ) लक्षद्वीप, मिनिकोय तथा अमीनदिवी द्वीपों में आतरिक नौका सचरण के विषयों को छोडकर इन क्षेत्रों का सारा प्रशासन गृह मत्रालय द्वारा सचालित किया जाता है।

इस प्रकार सगठन शक्तियों एव कार्यों की दृष्टि से गृह मत्रालय एक अत्यत विशाल एव व्यापक सगठन है। इसका सगठनात्मक स्वरूप तथा कार्य यह सिद्ध करते हैं कि यह मत्रालय मुख्य रूप से एक समन्वयात्मक सगठन अधिक है, और निष्पादक सगठन बहुत कम। कार्यक्षेत्र की जटिलता एव प्रसार के कारण इसमें कार्यों का दोहराव भी दिखाई देता है। इस प्रकार से यह भारत सरकार के सभी प्रकार के महत्वपूर्ण कार्यों के सपादन के लिए विशेष रूप से उत्तरदाई है। वित्त व्यवस्था, राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न तथा विदेशियों से सबधित सभी सरकार के विषय इस मत्रालय द्वारा प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से सपादित किये जाते हैं। वित्त, प्रतिरक्षा तथा विदेश मत्रालय इससे सहायता एव सहयोग मागते हैं। अत कार्यों का दोहराव एक स्वाभाविकता है। वस्तुत यह देश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मत्रालय है और इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मत्रिमडल के किसी वरिष्ठ सदस्य को ही इस मत्रालय का भार अपने कधों पर लेना पड़ता है। फिर भी सगठनात्मक दृष्टि से यह मत्रालय आज तक अपने उसी ऐतिहासिक एव परपरागत स्वरूप में कार्य कर रहा है। शांति एव सुव्यवस्था कायम रखने के लिए पुरानी कानून संहिताए आज भी जीवित हैं, यद्यपि आज परिस्थितिया एव शासन पद्धति बहुत कुछ बदल चुकी हैं। कानूनों में समुचित सशोधन के अभाव में कानून एव व्यवस्था की राष्ट्रीय एव राजकीय समस्याए जटिल से जटिलतम होती चली जा रही हैं। नये प्रकार के सामाजिक एव आर्थिक अपराध उभरकर शांति एव व्यवस्था को चुनौती दे रहे हैं। भ्रष्टाचार नये-नये रूपों में बढ़ता दिखाई देता है। राजनीतिक स्वार्थ, बेरोजगारी तथा नैतिक स्तरों में गिरावट की प्रक्रिया से व्यापारियों, मजदूरों, कर्मचारियों

एव विद्यार्थियों के आदोलनों में हिसक प्रवृत्तिया पनपती जा रही हैं। स्वय राजनीतिक दलों के आपसी विवाद विरोध बन कर व्यवस्था को झकझोरते दिखाई देते हैं।

इस कारण इन बढते हुए दायित्वों को पूरा करने के लिए गृह मत्रालय के पास न तो कुशल सगठन है और न ही इसका सेवीवर्ग इस दृष्टि से प्रशिक्षित है। भारत में शांति एव व्यवस्था के प्रशासकों को जन-साधारण का अविश्वास, घृणा तथा असहयोग, देशी रियासतों तथा अग्रेजी शासन से विरासत में मिला है। पुराने दमनकारी तथा जन विरोधी तरीकों की पृष्ठ-भूमि में जनतत्र का नया परिवेश नये तरीकों एव उत्तरदायित्वों को पूरा करने की जो माग रखता है वह आज के गृह मत्रालय की सबसे बडी चुनौती है। इन समस्याओं से निपटने के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

1 बढती हुई हिसा एव अव्यवस्था की समस्याओं से जूझने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि आज की बदली हुई परिस्थिति एव सदर्भ में देश की कानून सहिता में आमूल-चूल परिवर्तन किए जायें। व्यवस्था प्रशासन कानून की क्रियान्विति एव अनुपालना है अत कानूनो को ऐसा होना आवश्यक है कि वे सविधान में उल्लिखित सामाजिक एव आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लक्ष्य में सहायक हो सकें। कानून के ये सशोधन कानून की प्रक्रिया और अधिकारियों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन ला सकेंगे। अत गृह मत्रालय को विधि मत्रालय के साथ सहयोग कर, कानूनी सशोधनों पर निरतरता से विचार करने के लिए एक प्रशासनिक यत्र बनाना उपयोगी होगा।

2 गृह मत्रालय के सलग्न कार्यालय के रूप में एक ऐसे विशेषीकृत पुलिस आयोग की स्थापना की जा सकती है जो पुलिस कर्मचारी-नीतियो के सबध में समय-समय पर गृह मत्रालय को परामर्श दे सके। निरतरता से पुलिस प्रशासन में सुधार लाने वाला यह स्थाई एव विशेषीकृत पुलिस आयोग, पुलिस प्रशासन की सार्वजनिक प्रतिमा को भी सुधार सकेगा। कानून एव व्यवस्था प्रशासन के लिए अभी तक जिस प्रकार के पुलिस कर्मचारियों को भर्ती किया जाता है और जैसा पुराने ढर्रे का प्रशिक्षण दिया जाता है, वह सब वर्तमान सदर्भ में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अत एक ऐसे आयोग की आवश्यकता है जो सपूर्ण पुलिस प्रशासन को सुधार कर उसमें निहित बुराइयों का निवारण करने के लिए सगठनात्मक स्तर पर निरतरता से कार्य कर सके।

3 गृह मत्रालय का एक अन्य उत्तरदायित्व कानून के शासन के लिए प्रशिक्षित अधिकारी तैयार करना है। यह प्रशिक्षण अपराधों की रोकथाम के लिए अत्यत आवश्यक है। स्वतत्रता पर लगाये गये उचित प्रतिबधों को हिंसक ढग से तोडने से प्रजातत्र की हत्या हो सकती है। अपराधियों को यदि जन-समर्थन मिलता है तो व्यवस्था भग होती है। इन अपराधियों को सजा दिलवाने के लिए उदासीनता

के स्थान पर एक जागृत नागरिक को गवाह और साक्षी बनकर आगे आना चाहिए, किन्तु ऐसे नागरिकों की सुरक्षा का प्रबध भी प्रशासन को करना होगा। पुलिस अधिकारियों को नागरिकों का सौहार्द प्राप्त करने तथा जनसपर्क बढ़ाने के लिए जनता को यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि कानून और व्यवस्था भग होने के मूल कारण, किन-किन विशिष्ट परिस्थितियों में किस प्रकार विस्फोटित होते हैं। कानून एव व्यवस्था के भग होने की परिस्थितिया जो प्राय राजनीतिक तथा प्रशासनिक निर्णयों, पक्षपातपूर्ण नीतियों, निजी स्वार्थों तथा आधुनिक व्यवहार आदि के कारण उत्पन्न होती हैं, बाद में पुलिस कार्यवाही के पश्चात् पुलिस के माथे पर मढ दी जाती हैं। अत अभाव, अकाल, चुनाव, राजनीतिक दलों की योजनाओं आदि से उत्पन्न परिस्थितियों की पूर्व सूचनाए तथा उनसे उत्पन्न होने वाले प्रभावित अपराधों की जानकारी जनसाधारण को दी जानी चाहिए। इसके लिए गृह मत्रालय को सभी स्तरों पर पुलिस प्रशिक्षण को आधुनिकतम मनोवैज्ञानिक तकनीकी तथा व्यावहारिक बनाने में पहल करनी चाहिए तथा सूचना एव प्रसारण मत्रालय के सहयोग से अपने यहा जन-सपर्क का एक ऐसा प्रशासकीय प्रकोष्ठ गठित करना चाहिए जो सार्वजनिक अपराधों के विरुद्ध जनमानस बना सके।

4. इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सगठनात्मक सुधार भी इस दृष्टि से विचारणीय होंगे। प्रशिक्षण का जो कार्य सलग्न तथा अधीनस्थ कार्यालयों के स्तर पर होता है उसे गृह मत्रालय के प्रशिक्षण विभाग को अधिक व्यापक एव उच्च-स्तरीय बनाना चाहिए।
5. इसके लिए शोध प्रकोष्ठ स्थापित किये जा सकते हैं। सकटकालीन परिस्थितियों के सदर्भ में देखते हुए यह उचित होगा कि गृह मत्रालय के सचिवालय स्तर पर एक ऐसी स्वतत्र प्रशासकीय इकाई की स्थापना की जाए जो इस स्थिति के लिए नीति आयोजना का कार्य करे।
6. एक अन्य सुझाव यह दिया जा सकता है कि केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों की प्रशासनिक गतिविधियों का पर्यवेक्षण करने के लिए गृह मत्रालय में पृथक् से एक प्रशासकीय विभाग की व्यवस्था कर दी जाए। ऐसा करने से इस कार्य में विशेषीकरण आ सकेगा और इन क्षेत्रों की बढती हुई समस्याओं पर अधिक गहराई से विचार-विमर्श कर नीति-निर्माण का कार्य सभव बन सकेगा।
7. कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इस मत्रालय के सगठन में कई डिविजनों की व्यवस्था बहुत अधिक जटिल है। इन्हें कम किया जा सकता है और विभागों की सख्या बढाई जा सकती है।
8. सगठन तथा अधीनस्थ कार्यालयों में कार्य सचालन की रीति-नीतियों में जो परपराए चली आ रही हैं, उनमें परिवर्तन लाये जाने के लिए इन कार्यालयों का प्रशासकीय सगठन पुनर्व्यवस्थित किया जाना समीचीन होगा।

## वित्त मंत्रालय का संगठन तथा कार्य

वित्त व्यवस्था की सरकार के जीवन रक्त से तुलना की जाती है। वित्त तथा प्रशासन एक दूसरे से अभिन्न रूप से सबद्ध हैं। भारत सरकार का वित्त मत्रालय सघीय सरकार के वित्त प्रशासन तथा उससे सबधित विभिन्न राज्यों के वित्तीय मामलों को निपटाने के लिए उत्तरदाई है। यह मत्रालय उन अनुमानों तथा मदों पर व्यापक नियत्रण रखता है, जो ससद द्वारा समय-समय पर स्वीकृत किये जाते हैं और जिनके लिए ससद द्वारा साधनों का विनियोजन भी किया जाता है। विभिन्न व्ययकारक विभागों पर यह मत्रालय प्रशासकीय नियत्रण रखता है और उनके क्रिया-कलापों में समन्वय भी स्थापित करता है। सरकार की सामान्य आर्थिक तथा वित्तीय नीतियों तथा अन्य सहायक कार्यक्रमों का निर्धारण भी वित्त मत्रालय में ही होता है। यह मत्रालय सरकार के आय और व्यय के वार्षिक अनुमान तैयार करता है और उन्हें अनुमोदनार्थ ससद के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदाई है। ससद द्वारा बजट की स्वीकृति के पश्चात् इस मत्रालय में बजट की कार्यान्विति के लिए भी कार्यवाहिया की जाती हैं। इस प्रकार भारत सरकार का यह मत्रालय मुख्यत नियत्रण और पर्यवेक्षण करने वाला सगठन है। वित्तीय कार्यों के प्रबध एव प्रशासन में इस मत्रालय की भूमिका केवल भारत सरकार को ही नहीं अपितु सारे देश की प्रशासनिक व्यवस्था को निर्णायक ढग से प्रभावित करती है।

इस मत्रालय का मत्री केबिनेट स्तर का एक वरिष्ठ एव राष्ट्रीय नेता होता है। मत्रिमडल में उसका स्थान गृहमत्री के बाद आता है। भूतपूर्व वित्त मत्री श्री मोरारजी देसाई तो केन्द्रीय मंत्रिमडल में उप-प्रधान मत्री भी रह चुके हैं।

### वित्त मंत्रालय का इतिहास

वित्त मत्रालय की उत्पत्ति सन् 1810 की उस घटना में ढूढी जा सकती है जबकि भारत सरकार के जन-विभाग के विभाजन से वित्त विभाग उससे पृथक् हुआ। उस समय इन दोनों विभागों का प्रशासन एक ही सचिव के हाथों में था। सन् 1816 में जब कपनी शासन ने क्षेत्रीय-विभाग नाम एक नये विभाग की आधारशिला रखी, तो वित्त एव राजस्व विभागों" को उसकी अधीनता में रखने की व्यवस्था की गई। इस नवनिर्मित विभाग का मुख्य उत्तरदायित्व भारत सरकार के राजस्व सबधी मामलों के प्रशासन को सचालित करना था। अब इसका अध्यक्ष भी पृथक् रूप से सचिव स्तर पर नियुक्त किया गया लेकिन कपनी प्रशासन में विभागों की स्थिरता कभी एक-सी नहीं रह सकी। अत सन् 1830 में "क्षेत्रीय-विभाग" को समाप्त कर वित्त विभाग की सारी जिम्मेदारियां सामान्य विभाग (जन-विभाग जो सन् 1818 से सामान्य विभाग के नाम से अभिहित किया जाने लगा था) के सचिव के हाथों में सौंप दी गई। कालातर में यह अनुभव किया गया कि दोनों विभागों की कार्यवाहियों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए एक सचिव सक्षम नहीं हो सकता

था। अत सन् 1843 में वित्त विभाग के लिए एक स्वतत्र वित्त सचिव की नियुक्ति करना आवश्यक हो गया।

सन् 1843 में भारत सरकार एव बगाल सरकार के सयुक्त सचिवालय की व्यवस्था समाप्त हुई और भारत सरकार का एक पृथक् सचिवालय बनाया गया। यह सचिवालय वित्त विभाग सहित चार विभागों में सगठित किया गया। इसी बीच वित्त विभाग में एक परिवर्तन और हुआ और वह यह कि जो राजस्व शाखा अब तक वित्त विभाग के अधीन थी, उसे अब गृह विभाग में विलीन कर दिया गया।

सन् 1860 में भारत सरकार ने एक नई व्यवस्था अपनाई और उसके फलस्वरूप वित्त विभाग के कार्य क्षेत्र को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से वाणिज्य से सबंधित सभी मामले, जो अब तक राजस्व विभाग द्वारा प्रशासित किये जाते थे, वित्त विभाग को सौंप दिये गये। इसलिए इस विभाग का पुन नामकरण भी किया गया और अब यह वित्त एव वाणिज्य विभाग के नाम से अभिहित किया जाने लगा। 1905 में पुन वित्त विभाग से 'वाणिज्य' सबधी कार्य छीन लिये गये और उन्हें नव स्थापित 'वाणिज्य एव उद्योग विभाग को हस्तातरित कर दिया गया। इस प्रकार यह विभाग "वित्त विभाग" के नाम से जाना जाने लगा।

सन् 1970 तक आते-जाते वित्त विभाग की जिम्मेदारिया कुछ कम होने लगीं। ये शक्तिया केन्द्र सरकार से ली जाकर धीरे-धीरे प्रातीय सरकारों को दी जाने लगीं। समय-समय पर किये जाने वाले सवैधानिक परिवर्तनों के फलस्वरूप भारत के वित्तीय प्रशासन पर अंतिम नियत्रण भारत सचिव के हाथों में केन्द्रित हुआ, यद्यपि व्यवहार में गवर्नर-जनरल इन शक्तियों का उपयोग करता रहा। मार्ले मिन्टो सुधारों के अतर्गत जब कुछ निश्चित वित्तीय विषय प्रातीय सरकारों को हस्तातरित किये गये तो वित्त विभाग का पुनर्गठन आवश्यक हो गया। इस पुनर्गठित विभाग की मुख्य रूप से सात शाखाए थीं।[1]

| | |
|---|---|
| 1 सामान्य वित्त | 5 नागरीय खाते |
| 2. राजस्व | 6. सेना सबधी वित्त |
| 3. मुद्रा एव बैंकिंग | 7 सेना सबधी खाते |
| 4. वेतन एव भत्ते | |

सन् 1919 के अधिनियम ने सर्वप्रथम महालेखा परीक्षक के पद को कानूनी रूप दिया। 1919 के अधिनियम के लागू होने से पूर्व भारतीय बजट को विधान मडल में प्रस्तुत करने से पहले भारत सचिव से पूर्व अनुमति लेनी पड़ती थी। इस अधिनियम ने केन्द्रीय विधान मडल को वित्त प्रशासन पर नियत्रण रखने के कुछ सीमित अधिकार प्रदान किये। स्थाई वित्तीय समितियों और लोक लेखा समितियों के माध्यम से विधानमडल का वित्त प्रशासन पर नियत्रण बढा। ये समितिया नवीन व्यय के विभिन्न मामलों एव प्रस्तावों पर विचार करती थीं। लेकिन फिर भी भारत सचिव भारत सरकार से सबधित सपूर्ण आय-व्यय के मामलों को नियत्रित करने की अंतिम शक्ति अपने हाथों में रखता था। राज्य

सचिव की सहायता के लिए भारतीय कार्यालय में दो सचिवों की व्यवस्था की गई थी। इन दोनों की अधीनता में अलग-अलग शाखाए थी। भारतीय-कार्यालय में वित्त विभाग के मुख्य उत्तरदायित्व निम्नलिखित थे–

(अ) कर लगाने एव उनको एकत्रित करने सबधी प्रस्तावों का प्रशासन, (ब) भारत सरकार एव प्रातीय सरकारों के सामान्य वित्त प्रशासन से सबंधित प्रश्न, (स) भारत में सार्वजनिक और सेना सबधी व्यय, (द) मुद्रा एव बैंकिग से सबधित नीति, (य) ऋण सबंधित मामले।

भारत सचिव की वित्तीय मामलों में सहायता के लिए एक वार्षिक वित्तीय समिति की नियुक्ति भी की जाती थी। यह समिति, प्रकृति से एक सलाहकार समिति थी। यह उन विषयों से सबंधित थी जो भारत सचिव द्वारा इसे सप्रेषित किये जाते थे।

सन् 1935 के अधिनियम ने भी वित्तीय मामलों में भारत सचिव के अधिकार क्षेत्र अथवा अंतिम नियत्रण शक्ति को कम नहीं किया। यद्यपि अब प्रांतों में स्वायत्त शासन और केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना की जा चुकी थी, किंतु वित्तीय विषयों पर भारत सचिव का अंतिम नियत्रण यथावत् बना रहा।

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय कार्यालय का वित्तीय मामलों पर नियत्रण कुछ कम हुआ। युद्ध के कारण भारत में आर्थिक-नियोजन वित्त विभाग का एक महत्वपूर्ण कार्य बना और इसलिए जो विभाग अब तक सात शाखाओं में सगठित थे उन्हें नौ शाखाओं में विभक्त कर पुनर्गठित किया गया–

1 राजस्व
2 रेलवे
3 सुरक्षा
4 सचार
5 व्यय सामान्य
6 सार्वजनिक-व्यवस्थापन
7 बजट
8 वित्त
9 नियोजन

स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सचिव का पद समाप्त कर दिया गया और लदन स्थित वित्त विभाग एव वित्त समिति ने भी कार्य करना बद कर दिया। अब वित्त विभाग को जब पुन प्रतिष्ठापित किया गया तो उसे वित्त मत्रालय का स्तर तथा नाम दिया गया। सगठन की दृष्टि से इस मत्रालय में तीन शाखाए स्थापित की गईं–

1 व्यय,
2 आर्थिक मामले,
3 राजस्व।

सन् 1949 में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप वित्त मत्रालय के दो विभाग बने–

1 राजस्व एव व्यय विभाग,
2. आर्थिक मामलों से सबधित विभाग।

आर्थिक मामलों से संबंधित विभाग को चार प्रभागों में विभक्त किया गया—

1 बाह्य वित्त,
2 आतरिक वित्त,
3 बजट,
4 नियोजन।

पचवर्षीय योजना के सदर्भ में राजस्व प्रशासन के बढ़ते हुए कार्य एव महत्व को देखते हुए "राजस्व एव व्यय विभाग" के राजस्व प्रभाग को 'प्रभाग श्रेणी' से हटाकर जुलाई 1956 में एक स्वतत्र विभाग बना दिया गया और इस प्रकार "व्यय प्रभाग" का जो शेष बचा उसे एक अलग विभाग के रूप में गठित कर व्यय विभाग का नाम दिया गया।

अगस्त 1955 में वित्त मत्रालय के अतर्गत एक नवीन विभाग ने जन्म लिया, यह विभाग था "कपनी ला विभाग"। इस प्रकार अब भारत सरकार के वित्त मत्रालय में चार विभाग कार्य करने लगे—

1 आर्थिक मामलों से सबधित विभाग,
2. राजस्व-विभाग,
3 व्यय विभाग, और
4 कपनी ला प्रशासन से सबंधित विभाग।

सन् 1958 में कपनी ला प्रशासन विभाग वाणिज्य एव उद्योग मत्रालय को हस्तातरित कर दिया गया। सरकार की आर्थिक प्रक्रियाओं के समन्वय हेतु सन् 1963 में इस मत्रालय में 'समन्वय विभाग' नाम से एक नया विभाग और खोला गया। इसी वर्ष वित्त मत्रालय ने 'वाणिज्य एव उद्योग मत्रालय' से कपनी ला प्रशासन से सबंधित कार्य फिर से अपने हाथों में ले लिये और उन्हें 'राजस्व एव कपनी ला' विभाग के अतर्गत रखा गया।

सन् 1964 में 'राजस्व और कपनी ला विभाग' से कपनी ला प्रशासन का कार्य तथा 'आर्थिक मामलों से सबंधित विभाग' से बीमा सबधी कार्य लेकर वित्त मत्रालय में एक नये विभाग का गठन किया गया। 'कपनी सबधी मामले तथा बीमा विभाग' नामक इस नये विभाग के जुड़ने से अब इस मत्रालय में पाच विभाग हो गये—

1 राजस्व विभाग,
2 व्यय विभाग,
3. आर्थिक मामलों से सबधित विभाग,
4 समन्वय विभाग,
5 कपनी ला एव बीमा विभाग।

जनवरी 1966 में जब नई मत्रीपरिषद् की रचना हुई तो 'कपनी ला एव बीमा विभाग' को समाप्त कर दिया गया। कपनी ला प्रशासन से सबंधित कार्य 'विधि मत्रालय' को हस्तातरित कर दिये गये, और बीमा विषय, राजस्व विभाग के अधीन आ गया जिसे

बाद में 'राजस्व और बीमा विभाग' के नाम से अभिहित किया गया। जून 1967 में इस मत्रालय का समन्वय विभाग भी समाप्त कर दिया गया और उसके कार्य व्यय विभाग को सौंप दिये गये। अत वित्त मत्रालय में अब फिर से तीन विभाग रह गये—

1 राजस्व एव बीमा विभाग,
2 व्यय विभाग,
3 आर्थिक मामलों से सबंधित विभाग।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के कारण उत्पन्न स्थिति से निपटने के लिए एक नये विभाग का गठन और किया गया जिसे 'बैंकिग विभाग' कहा जाता है।

वर्तमान में यह मत्रालय एक कैबिनेट स्तर के मत्री के अधीन है, जिसकी सहायता हेतु एक राज्य मत्री और एक उप-मत्री है, जो विभिन्न विभागों की देखभाल करते हैं।[14]
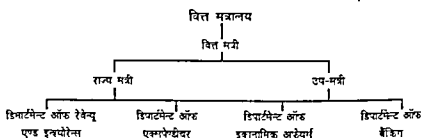
वर्तमान में वित्त मत्रालय के चार विभाग हैं—

(1) राजस्व एव बीमा विभाग,
(2) व्यय विभाग,
(3) आर्थिक मामलों से सबंधित विभाग,
(4) बैंकिग विभाग।

## राजस्व एवं बीमा विभाग

कानून की दृष्टि से राजस्व एव बीमा विभाग प्रमुख रूप से निम्न कार्यों के निष्पादन के लिए उत्तरदाई है—

(1) राजस्व एव बीमा विभाग।
(2) केन्द्रीय राजस्व मडल से सम्बद्ध सभी मामले।
(3) एक्सचेंज बिलों, चैकों, प्रामिसरी नोटों, लोडिग बिलों, क्रेडिट पत्रों, बीमा पालिसियों, शेयरों के हस्तातरण।
(4) प्रोक्सियों तथा रसीदों पर स्टैम्प ड्यूटी आदि से सबंधित मामले।
(5) सभी प्रकार के स्टैम्पों की सप्लाई तथा वितरण।

(6) आयकर (इनकम-टैक्स एपीलेट ट्रिब्यूनल से संबंधित मामलों को छोड़कर) कारपोरेशन कर, कैपिटल गेन्स कर, एक्सेस प्रोफिट्स कर, बिजनेस प्रोफिट्स कर, एस्टेट ड्यूटी, सम्पत्ति कर, व्यय कर, उपहार कर।
(7) रेलवे यात्री भाड़ा अधिनियम से संबंधित सभी मामले।
(8) केन्द्र प्रशासित प्रदेशों में आबकारी के प्रशासन से संबंधित मामले, जैसे मादक पेय पदार्थ, अफीम, गांजा तथा अन्य मादक वस्तुएं।
(9) औषधियां अथवा सौन्दर्य प्रसाधन।
(10) अफीम की कृषि, उत्पादन तथा बिक्री, खतरनाक मादक वस्तुओं से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा उनका क्रियान्वयन।
(11) सीमा कर नीति (जैसे भारतीय सीमा कर अधिनियम, सीमा कर बोर्ड, सीमा कर मूल्यांकन, उद्योगों की सीमा कर की दृष्टि से सुरक्षा, भूमि सीमा कर नीति, अन्तर्राष्ट्रीय मंडलीय, प्राथमिकताएं, इत्यादि) को छोड़कर सीमा कर से संबंधित सभी मामले, जिनमें समुद्र, वायुयान या स्थल मार्गों द्वारा माल के आयात-निर्यात पर लगे कर।
(12) राजस्व के हित में आयात-निर्यात पर लगे प्रतिबंध तथा निषेध और सीमा की व्याख्या।
(13) केन्द्रीय आबकारी से संबंधित सभी मामले।
(14) नमक पर भारत विभाजन से पूर्व दी गई ड्यूटी की वापसी के सभी दावे।
(15) सामान्य बीमा से संबंधित नीतियां, बीमा-विधि, 1938 का प्रशासन, जीवन-बीमा से संबंधित नीति, जीवन-बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण, जीवन बीमा अधिनियम, 1956 का प्रशासन आदि। उपर्युक्त कार्यों की निष्पत्ति के लिए इस विभाग के अधीन निम्न प्रशासनिक एवं अधीनस्थ संगठन कार्य कर रहे हैं जो विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए उत्तरदाई हैं—
(क) आयकर विभाग,
(ख) सीमाकर विभाग,
(ग) केन्द्रीय आबकारी विभाग,
(घ) मादक वस्तुओं का विभाग।

### राजस्व एवं बीमा विभाग का संगठन

यह विभाग केन्द्रीय सरकार के सभी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के प्रशासन और बीमा कार्य के प्रशासन संबंधी मामलों के लिए उत्तरदाई है। राजस्व-संबंधी मामलों के संबंध में यह विभाग अपने नियंत्रण अधिकारों का प्रयोग अपने अधीन काम करने वाले दो महत्वपूर्ण बोर्डों (केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड और केन्द्रीय उत्पादन शुल्क तथा सीमा-शुल्क बोर्ड) के माध्यम से करता है। इन दोनों बोर्डों के लिए एक अध्यक्ष तथा तीन-तीन सदस्य होते हैं। अध्यक्ष

पदेन भारत सरकार का अतिरिक्त सचिव स्तर का अधिकारी होता है। सदस्यों का पदेन स्तर सयुक्त सचिव या उसके समकक्ष होता है।

कुछ महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष कर तथा कर अधिनियम जो भारत सरकार के वित्त मत्रालय द्वारा प्रशासित होते हैं, निम्न हैं-

(1) आयकर (इनकम-टैक्स एक्ट, 1961),
(2) सम्पत्ति कर (वैल्थ टैक्स एक्ट, 1957),
(3) एस्टेट ड्यूटी (एस्टेट ड्यूटी एक्ट, 1958),
(4) उपहार कर (गिफ्ट टैक्स एक्ट, 1958),
(5) अतिरिक्त कर (कपनीज प्राफिट सरटैक्स एक्ट)।

भारत सरकार द्वारा लगाये गये अप्रत्यक्ष करों में सघीय उत्पादन शुल्क तथा सीमा-शुल्क आदि विषय आते हैं। राजस्व, बीमा-विभाग तथा स्वर्ण नियत्रण कानून, 1963 आदि विषय भी प्रशासन की दृष्टि से वित्त मत्रालय के अतर्गत आते हैं। भारत रक्षा नियम, स्वर्ण नियत्रण के विनिमय सबधी प्रावधानों के अतर्गत भारत सरकार ने एक स्वर्ण नियत्रण प्रशासक नियुक्त किया है, जो स्वर्ण नियंत्रण विनियमों की समुचित क्रियान्विति की देखभाल करता है। इसका मुख्य कार्य यह है कि देश में सोने का प्रयोग तथा उपभोग कम हो। यह स्वर्ण सबधी समस्त विषय में केन्द्र सरकार को परामर्श भी देता है। यह विभाग सात सलग्न कार्यालयों एव अनेक अधीनस्थ कार्यालयों से युक्त एक बहुत बडा विभाग है। इनके अतिरिक्त विभाग के प्रशासनिक नियत्रण में एक लोक उद्यम भी है।

| | |
|---|---|
| सेक्रेटरी | 1 |
| चैयरमैन, सैन्ट्रल बोर्ड ऑफ डाइरेक्ट टैक्सेज एण्ड एक्स-ऑफियो एडीशनल सेक्रेटरी | 1 |
| मैम्बर्स, सैन्ट्रल बोर्ड ऑफ एक्साइज एण्ड कस्टम्स | 3 |
| मैम्बर्स, सैन्ट्रल बोर्ड ऑफ डाइरेक्ट टैक्सेज | 3 |
| स्वर्ण नियत्रण प्रशासक एव सयुक्त सचिव | 1 |
| उप-सचिव | 17 |
| सचिव | 1 |
| ऑफिसर आन स्पेशियल ड्यूटी | 2 |
| निदेशक | 2 |
| उप-निदेशक | 1 |
| अवर सचिव | 31 |
| सेक्शन ऑफिसर | 51 |
| प्रिंसपल अप्रेजर | 1 |
| अप्रेजर्स | 3 |

## संलग्न कार्यालय

भारत सरकार के वित्त मंत्रालय के अधीन सात संलग्न कार्यालय हैं।

**(1) बीमा विभाग, शिमला**–(क) बीमा अधिनियम, 1938 का प्रशासन (संशोधित स्वरूप, 1861), (ख) इस अधिनियम के अंतर्गत कानूनी कार्यों के संपादन में केन्द्र सरकार की सहायता करना, तथा (ग) बीमा परिषदों की सहायता करना।

**(2) प्रवर्तन निदेशालय, नई दिल्ली**–यह निदेशालय उन विषयों पर विचार करता है जो विदेशी (विनिमय-नियमन) अधिनियम, 1947 के भंग होने पर उत्पन्न होते हैं।

**(3) निरीक्षण निदेशालय (अनुसंधान, सांख्यिकी एवं प्रकाशन)**–इस निदेशालय की स्थापना 1 दिसम्बर, 1960 को हुई। इसके कार्य हैं–

(अ) प्रत्यक्ष करों से संबंधित प्रशासन कार्य, बजट संबंधी नीति एवं प्रशासनिक नियंत्रण के लिए प्रत्यक्ष करों की व्याख्या करना।

(ब) कर संबंधी विषयों पर अनुसंधान एवं अध्ययन।

(स) विभिन्न प्रकार के करों के लिए फार्म आदि छपवाना।

(द) अखिल भारतीय राजस्व सांख्यिकी प्रकाशन।

**4. निरीक्षण निदेशालय (आयकर निरीक्षण शाखा), नई दिल्ली**–यह निदेशालय आयकर अधिकारियों पर कुशल नियंत्रण रखने के लिए उपाय करता है और सहायक आयुक्तों के कार्य का निरीक्षण करता है। 1 अप्रैल, 1946 से इस निदेशालय को वित्त मंत्रालय के संलग्न कार्यालय का स्तर दे दिया गया है।

निदेशालय का मुख्य कार्य परामर्शदात्री प्रकृति का है। सहायक आयुक्तों के निरीक्षण के लिए कार्यक्रम बनाना, निरीक्षण प्रतिवेदनों का परीक्षण करना तथा व्यक्तिगत स्तर पर उनका निरीक्षण करना, निरीक्षण के दौरान बतलाये गये दोषों को दूर करने के लिए क्षेत्रीय अधिकारियों को सामान्य निदेश जारी करना, कार्यभार का मूल्यांकन करना तथा क्षेत्रीय अधिकारियों से संबंधित संगठनात्मक विषयों पर मंडल को परामर्श देना, इस निदेशालय के प्रमुख कार्य हैं।

**5. निरीक्षण निदेशालय (आयकर) जांच-पड़ताल शाखा, नई दिल्ली**–यह निदेशालय, जांच-पड़ताल आयोग की सिफारिश के आधार पर अक्तूबर सन् 1952 में स्थापित किया गया था। यह प्रत्यक्ष करों के केन्द्रीय-मंडल के प्रति उत्तरदाई है। इसके मुख्य कार्य करों की चोरी के कठिन और जटिल मामलों की जांच-पड़ताल करना तथा "टैक्स इवेजन" रोकने के उपायों में समन्वय स्थापित करना है। विशेष सर्किलों का तकनीकी पर्यवेक्षण, सतर्कता संबंधी कार्य तथा विशेष प्रकार के मामलों में लेखों की परीक्षा प्रणाली के संबंध में सरकार को तकनीकी परामर्श एवं निदेशन आदि भी यह निदेशालय देता है।

**6. निरीक्षण निदेशालय, (सीमा-शुल्क तथा केन्द्रीय आबकारी), नई दिल्ली**—यह निदेशालय 1939 में स्थापित किया गया था। सामाजिक निरीक्षण तथा तकनीकी प्रश्नों पर परामर्श देना इसके मुख्य कार्य हैं। प्रारम्भ में यह सी बी.डी.डी का ही एक भाग था, किन्तु 1 अप्रैल, 1946 को इसे बोर्ड से पृथक् कर एक सलग्न कार्यालय का स्तर प्रदान कर दिया गया। पुनर्गठन के बाद इस निदेशालय के चार क्षेत्रीय कार्यालय बनाये गये हैं, जिनमें से तीन इलाहबाद, कलकत्ता और हैदराबाद में स्थित हैं। प्रधान कार्यालय दिल्ली में है।

इस निदेशालय को निम्न कार्य सौंपे गये हैं—(1) सीमा-शुल्क तथा केन्द्रीय आबकारी कलक्टरों का निरीक्षण करना, (2) मडल द्वारा स्वीकृत सामान्य कार्यक्रमों के अनुसार कार्य करना तथा दोषों को रोकने तथा दूर करने के लिए प्रयास करना, (3) नियमों तथा कानूनों के व्यावहारिक कार्य सचालन पर प्रतिवेदन देना, (4) कार्य-कुशलता में सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत करना, (5) सीमा-शुल्क तथा केन्द्रीय आबकारी से सबंधित समस्याओं पर बोर्ड को परामर्श देना, (6) विशेष मामलों की जाच-पडताल कर उन पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करना, (7) बोर्ड के आदेशानुसार प्रशिक्षण एव विभागीय परीक्षाओं की व्यवस्था करना, तथा (8) बोर्ड द्वारा समय-समय पर दिये गये कार्यों का सचालन करना आदि।

**7. राजस्व सतर्कता निदेशालय, नई दिल्ली**—पहले (अर्थात् 1958 तक) यह निदेशालय सीमा-शुल्क एव केन्द्रीय आबकारी निदेशालय की एक इकाई के रूप में कार्य करता था, परतु बाद में करों की चोरी पकडने की दृष्टि से इसका पुनर्गठन किया गया। वर्तमान में इस निदेशालय का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य करों की चोरी सबधी कार्यों के बारे में सूचना प्राप्त करना तथा अखिल भारतीय स्तर पर करों की चोरी रोकने की कार्यवाहियों को सचालित करना है। इसके अतिरिक्त, यह केन्द्रीय आबकारी कलक्ट्रेट के सतर्कता एवं जाच-पड़ताल अधिकारियों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्था भी करता है।

## अधीनस्थ कार्यालय

राजस्व एव बीमा विभाग के अधीन सात अधीनस्थ कार्यालय सगठित किये गये हैं—

**1. सीमा-शुल्क एकत्रित करने वाले कार्यालय**—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, विशाखापतनम और काडला—इन कार्यालयों का कार्य भारत से आने-जाने वाले माल का मूल्याकन कर उस पर सीमा-शुल्क लगाना तथा उसे वसूल करना है। करों की चोरी की रोकथाम के लिए ये कार्यालय प्रशासकीय कदम उठाते हैं। माल के आयात और निर्यात पर लगाई गई सीमाओं एव प्रतिबधों की क्रियान्विति भी इन कार्यालयों द्वारा की जाती है। इस समय सारे देश में सीमा-शुल्क कार्यालय हैं, जिनमें से उपर्युक्त पाच के अतिरिक्त अन्य कार्यालय कोचीन, पाण्डिचेरी तथा गोवा के तटवर्ती बदरगाहों में स्थित हैं।

सीमा-शुल्क अधिकारी केन्द्रीय राजस्व मडल (सी बी आर ) के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण में

रहता है और प्रत्येक सीमा-शुल्क कार्यालय एक सीमा-शुल्क संग्रहकर्ता के नियंत्रण एवं निर्देशन में कार्य करता है।

**2. केन्द्रीय आबकारी कलक्टरों के कार्यालय**—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, बंगलौर, नई दिल्ली, शिलांग, हैदराबाद, इलाहाबाद, बड़ौदा, पटना, पूना, नागपुर, कोचीन, कानपुर, पंजिम और पाण्डिचेरी आदि में हैं—केन्द्रीय आबकारी कलक्टरों के कार्यालय समस्त केन्द्रीय आबकारी करों को लागू करने एवं एकत्रित करने के लिए उत्तरदाई हैं। इन पर आबकारी तथा सीमा-शुल्क के केन्द्रीय बोर्ड का नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण है। देश के विभिन्न नगरों में इसके सोलह कलक्टरों के क्षेत्रीय कार्यालय हैं।

**3. आयकर विभाग**—आयकर विभाग की प्रशासनिक व्यवस्था विभिन्न इकाइयों में विभाजित की गई है। इनमें से प्रत्येक इकाई एक आयकर आयुक्त के अधीन कार्य करती है। आयकर विभाग 26 इकाइयों का प्रशासन चलाता है। नवीन आयकर कानून के लागू हो जाने के कारण आयकर आयुक्तों के कार्य एवं उत्तरदायित्वों में पिछले कुछ वर्षों से अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। आयकर-विभाग के अधिकारियों को नागपुर में प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण इकाई की अध्यक्षता आयकर आयुक्त द्वारा की जाती है।

**4. सांख्यिकी तथा गोपनीय शाखा (केन्द्रीय आबकारी), नई दिल्ली**—प्रारम्भ में यह बोर्ड के कार्यालय की एक शाखा मात्र थी, किंतु 1 अप्रैल, 1946 से इसे पृथक् कार्यालय के रूप में संगठित किया गया है। इसी समय इसे एक अधीनस्थ-कार्यालय का स्तर भी दिया गया। इस शाखा के मुख्य कार्य हैं—(1) बोर्ड के आयोग के लिए संघीय आबकारी, सीमा-शुल्क तथा अफीम संबंधी सांख्यिकी सूचना संग्रहीत करना, (2) उसकी व्याख्या करना, तथा (3) सांख्यिकी की दृष्टि से बोर्ड को तकनीकी परामर्श देना।

**5. केन्द्रीय राजस्व नियंत्रण प्रयोगशाला, नई दिल्ली**—यह प्रयोगशाला—(1) सीमा-शुल्क प्रयोगशालाओं के लिए विश्लेषणात्मक तरीकों की खोज कर उनके स्तर को ऊंचा उठाने के लिए प्रयत्न करती है, (2) राजस्व विभाग को तकनीकी रासायनिक परामर्श देना भी इसका एक महत्वपूर्ण कार्य है।

**6. नारकोटिक्स तथा अफीम विभाग, ग्वालियर**—नारकोटिक्स आयुक्त का कार्यालय नवम्बर, 1950 में ग्वालियर में स्थापित किया गया। यह सारे देश के नारकोटिक्स प्रशासन के विभिन्न पहलुओं में समन्वय तथा सुधार लाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के अनुसार भारत के दायित्वों का निर्वाह करने के लिए प्रशासकीय प्रयास करता है।

**7. संकटकालीन जोखिम बीमा योजना निदेशालय, नई दिल्ली**—उक्त निदेशालय, सितम्बर 1965 को स्थापित किया गया था। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में है तथा इसके क्षेत्रीय केन्द्र कानपुर, कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई नगरों में है। इस निदेशालय का कार्य उन योजनाओं को प्रवर्तित करना है जो संकटकालीन जोखिम (माल तथा फैक्ट्री) बीमा अधिनियम, 1962 के अन्तर्गत वर्णित की गई है।

## लोक उद्यम

'राजस्व एव बीमा विभाग" के अतर्गत वर्तमान में एक लोक उद्यम भी कार्य कर रहा है। यह निगम जिसे जीवन बीमा निगम कहते हैं देश के सबसे बडे निगमों में से एक है।

1 **जीवन बीमा निगम,** बम्बई–भारत सरकार ने, 1956 में देश में जीवन बीमा व्यापार का राष्ट्रीयकरण इसलिए किया था कि पॉलिसी होल्डर्स को सुरक्षा प्रदान की जा सके तथा देश के सभी वर्गों के लोगों में अधिक-से-अधिक बीमा करवाने की प्रवृत्ति बढ सके। पचवर्षीय योजनाओं के क्रियान्वयन में जनता द्वारा की जाने वाली बचत को बढाना भी उसका एक उद्देश्य था। जीवन बीमा निगम एक कानूनी निगम है और सपूर्ण जीवन बीमा व्यापार के क्षेत्र में हैं इसे व्यापक अधिकार हैं।

निगम के दिन प्रतिदिन के कार्यों में परामर्श देने हेतु अनेक समितियों का गठन किया गया है। इनमें से कुछ प्रमुख समितिया निम्न हैं–

1 कार्यपालक समिति
2 निवेश समिति
3 सेवा एव बजट समिति
4 जन-सपर्क समिति
5 क्षेत्रीय परामर्शदात्री-मडल
6 एम्पलार्यीज एण्ड एजेन्टस् सबध समिति

निगम का मुख्यालय बम्बई में स्थित है।[15]

### (अ) व्यय विभाग

व्यय विभाग निम्नलिखित विषयों का प्रशासन सचालित करता है–(1) वित्तीय निगम एव प्रतिबध और वित्तीय शक्तियों का प्रत्यायोजन, (2) भारत सरकार के सभी मत्रालयों एव कार्यालयों से सबंधित वित्तीय अनुमतिया, विशेषत उन विभागों में जिन्हें कोई सामान्य अथवा विशेष आदेश प्राप्त नहीं है, (3) मितव्ययिता लाने के लिए सरकारी सस्थानों की भर्ती पर पुनर्विचार, (4) लागत लेखा सबधी प्रश्नों पर मत्रालयों तथा सरकारी उद्यमों को परामर्श देना तथा उनकी ओर से लागत की जाच का कार्य संभालना, (5) भारतीय लेखा परीक्षण विभाग, (6) दिल्ली प्रशासन से सबंधित व्यय के प्रस्ताव, (7) प्रतिरक्षा लेखा विभाग, (8) हीराकुण्ड बाध योजना के मुख्य लेखा-अधिकारी एव वित्तीय परामर्शदाता कार्यालय, (9) केन्द्रीय वेतन आयोग, आदि से सबंधित अन्य मामले।

इनके अतिरिक्त, स्थानीय करारोपण, राज्य वित्त, कैपिटल बजट, प्लानिंग एव विकास वित्त, औद्योगिक प्रबध पूल सहित, सरकारी उद्यम मडल से सबंधित विषयों का प्रशासन भी इसी विभाग के अतर्गत आते हैं।

सार रूप से हम यह कह सकते हैं कि व्यय विभाग भारत सरकार के समस्त व्यय

का नियंत्रण करता है और अपव्यय को रोकने के लिए उत्तरदाई है।

## व्यय विभाग का संगठन

वित्त मंत्रालय के तीन अन्य विभागों की भांति इस विभाग में कोई संलग्न और अधीनस्थ कार्यालय नहीं है। यह संपूर्ण विभाग सात प्रभागों में विभक्त है, जिनका संगठन और कार्य इस प्रकार है—

**1. संस्थापना प्रभाग**—यह प्रभाग विभिन्न वित्तीय नियमों एवं विनियमों के प्रशासन का कार्य देखता है। इनमें केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की सेवा संबंधी शर्तें, कर्मचारी निरीक्षण इकाइयों का कार्यभार आदि समग्र रूप से इसी प्रभाग के प्रधान अधिकारी के अधीन है।

**2. असैनिक व्यय प्रभाग**—प्रस्तुत प्रभाग प्रतिरक्षा मंत्रालय को छोड़कर अन्य सभी प्रशासकीय मंत्रालयों को वित्तीय मामलों पर परामर्श देता है। कार्य की अधिकता एवं तकनीकी प्रकृति को देखते हुए इस प्रभाग के कार्य को उपयुक्त समूह बनाकर 10 उप-प्रभागों में बांट दिया गया है। प्रत्येक उप-प्रभाग एक अवर सचिव या संयुक्त सचिव के अधीन रहता है। इन उप-प्रभागों के अन्य अधिकारी सरकारी क्षेत्र के विभिन्न उद्यमों के निदेशक मंडलों में तथा सरकार से भारी मात्रा में वित्तीय सहायता पाने वाले स्वायत्त सत्ताधारी संगठनों के अधिशासी निकायों में सरकार के वित्तीय प्रतिनिधियों के रूप में कार्य करते हैं।

**3. लोक उद्यमों का ब्यूरो**—सरकारी उद्यमों के सेवा समन्वय तथा मूल्यांकन एजेन्सी के रूप में सरकारी उद्यमों के इस ब्यूरो की स्थापना अप्रैल 1965 में की गई थी। इसका उद्देश्य प्रयोजनाओं के तकनीकी, आर्थिक तथा वित्तीय पहलुओं के मध्य समन्वय और मूल्यांकन संबंधी व्यवस्था स्थापित करना तथा सरकारी उद्यमों के कार्य-संचालन को एकीकृत एवं सुदृढ़ बनाना है। कार्यालय का गठन पांच प्रभागों में व्यवस्थित है जिन्हें, (1) उत्पाद, (2) निर्माण, (3) वित्त, (4) विविध प्रबंध, तथा (5) सूचना एवं अनुसंधान प्रभाग कहा जाता है। इन प्रभागों के अतिरिक्त इस ब्यूरो के कार्यालय में आंतरिक समन्वय के लिए भी एक स्वतंत्र संगठन कार्य करता है।

**4. लागत लेखा प्रशाखा**—विभाग की यह शाखा लागत तथा अर्थ संबंधी अध्ययन के लिए प्रशासकीय रूप से उत्तरदाई है। इसके द्वारा सरकारी तथा गैर-सरकारी कंपनियों के लेखों की जांच की जाती है। यह शाखा अन्य मंत्रालयों तथा विभागों से लागत तथा कीमत संबंधी समस्याओं के बारे में प्राप्त विभिन्न प्रश्नों पर उन मंत्रालयों को सलाह देने के अतिरिक्त पेट्रोलियम उत्पादनों के लिए पाइप लाइन की लागत की निर्धारण समिति, अफीम नुकसान जांच समिति, सरकारी मुद्रणालय समिति जैसी अनेक समितियों के कार्यों में भी सहायता एवं सहयोग देती है।

**5. योजना वित्त प्रभाग**—यह प्रभाग राज्य योजनाओं, राज्य वित्त व्यवस्थाओं तथा

केन्द्र और राज्य कानूनों के वित्तीय अथवा आर्थिक प्रभाव रखने वाले कार्यों को निपटाता है। उपलब्ध साधन स्रोतों के सदर्भ में औद्योगिक उद्यमों, सिचाई, बिजली तथा बाढ नियत्रण परियोजनाओं में निवेश के लिए यह राज्य सरकारों के प्रस्तावों पर केन्द्र सरकार को अपनी सलाह देता है तथा राज्यों के वित्तीय साधनों का अध्ययन करता है। केन्द्रीय मत्रालयों को जिन परियोजनाओं में भारी पूजी लगानी होती है, उनके प्रस्तावों की छानबीन भी इसी प्रभाग द्वारा की जाती है।

6. **कर्मचारी निरीक्षण इकाई**—इसकी स्थापना विशेष पुनर्गठन इकाई के पुनर्गठन के फलस्वरूप सन् 1969 में हुई। इसके मुख्यत दो उद्देश्य है—(अ) प्रशासनिक कार्य-कुशलता के अनुरूप कर्मचारियों की सख्या में कमी करना तथा (ब) कार्य प्रतिमानों के निष्पादन-मानदण्ड निर्धारित करना।

7. **रक्षा-व्यय विभाग**—यह विभाग एक वित्तीय सलाहकार के अधीन कार्य करता है। इसकी सहायता के लिए प्रभाग में चार अतिरिक्त वित्तीय सलाहकार तथा अनेक उप-वित्तीय सलाहकार हैं। ये सभी स्थल-सेना के प्रमुख स्टाफ अधिकारियों के साथ सम्बद्ध हैं। विभाग का कार्य रक्षा-हैडक्वार्टर, प्रतिरक्षा मत्रालय तथा उनसे सबंधित अन्य मत्रालयों के अधीनस्थ अधिकारियों को वित्तीय सलाह देना है। इस विभाग का वित्तीय सलाहकार सीमावर्ती सडक विकास बोर्ड का भी सदस्य एवम् वित्तीय सलाहकार होता है। वह अपने नियत्रण में कार्य करने वाले प्रतिरक्षा लेखा महानियत्रक के माध्यम से प्रतिरक्षा सबधी उपलब्धियों, व्यय की आतरिक लेखा-परीक्षा, हिसाब-किताब के प्रश्न तथा उनके सकलन आदि के कार्यों के लिए भी प्रशासकीय दृष्टि से उत्तरदाई है।

*व्यय विभाग का सचिवालय*[16]

| | |
|---|---|
| सचिव (वित्त) | 1 |
| सचिव (व्यय) | 1 |
| अतिरिक्त सचिव | 2 |
| सयुक्त सचिव | 10 |
| निदेशक | 1 |
| उप-सचिव | 25 |
| मुख्य लागत लेखा अधिकारी | 1 |
| वरिष्ट लागत लेखा अधिकारी | 3 |
| उप-सलाहकार | 3 |
| वित्त सलाहकार | 3 |
| अवर सचिव | 40 |
| वरिष्ठ शोध अधिकारी | 11 |
| सीनियर आर्किटेक्ट | 1 |

| | |
|---|---|
| सीनियर ऐनेलिस्ट | 7 |
| ऑफिसर आन स्पेशल ड्यूटी | 1 |
| उप-निदेशक | 3 |
| शोध-कम ट्रेनिंग ऑफिसर | 1 |
| लागत लेखा ऑफिसर | 1 |
| उप-वित्त अधिकारी | 7 |
| उप-लागत लेखा अधिकारी | 2 |
| अनुभागाधिकारी | 66 |
| कनिष्ठ एनेलिस्ट | 19 |
| उप-अभियन्ता | 1 |
| उप-अर्किटेक्ट | 1 |
| उप-निदेशक | 4 |
| उप-लागत लेखा अधिकारी | 14 |

*रक्षा प्रभाग*

| | |
|---|---|
| वित्तीय सलाहकार और अतिरिक्त सचिव | 1 |
| अतिरिक्त वित्तीय सलाहकार एवं संयुक्त सचिव | 4 |
| उप-वित्तीय सलाहकार एवम् उप-सचिव | 10 |
| सहायक वित्तीय सलाहकार एवम् अवर सचिव | 28 |
| अनुभागाधिकारी | 58 |

## (ब) आर्थिक मामलों का विभाग

आर्थिक मामलों का यह विभाग कानूनी दृष्टि से निम्न विषयों पर नीति निर्माण एवं नीति क्रियान्विति के लिए उत्तरदाई है—

1. विदेशी मुद्रा नियंत्रण कानून प्रशासन,
2. विदेशी मुद्रा बजट निर्माण,
3. विदेशी मुद्रा स्रोतों का नियंत्रण, जिसमें विदेशी मुद्रा की दृष्टि से आयात के प्रस्तावों की जांच करना भी सम्मिलित है,
4. विदेशी पूंजी विनियोजन,
5. सोने और चांदी का आयात-निर्यात,
6. निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत भारत सरकार को प्राप्त होने वाली तकनीकी तथा आर्थिक विदेशी सहायता—
   (अ) कोलम्बो योजना तकनीकी सहयोग स्कीम,
   (ब) अमरीकी चार सूत्री कार्यक्रम,

(स) संयुक्त राष्ट्र संघ तकनीकी सहायता प्रशासन,

(द) विभिन्न विदेशी सरकारों द्वारा प्रदान की जाने वाली अस्थाई तकनीकी सहायता।

7 भारत द्वारा अन्य देशों को दी जाने वाली सहायता का प्रशासन—

(अ) कोलम्बो योजना के अंतर्गत सहयोगिक आर्थिक विकास के लिए नेपाल सरकार को दी जाने वाली आर्थिक तथा तकनीकी सहायता,

(ब) कोलम्बो योजना के सदस्य राष्ट्रों को तकनीकी सहायता स्कीम के अंतर्गत दी जाने वाली सहायता,

(स) कोलम्बो योजना की परिषद् तथा योजना की परामर्शदात्री।

8 समिति की बैठकों से संबंधित सारे प्रश्न तथा विशेष रूप से निम्न विषय—

(अ) अमरीकी तकनीकी सहायता मिशन,

(ब) अमरीकी विकास ऋण कोष,

(स) कोलम्बो योजना,

(द) नार्वे द्वारा सहायता,

(य) फोर्ड प्रतिष्ठान तथा राक फेलर प्रतिष्ठान,

(र) विदेशों से प्राप्त होने वाले ऋण तथा अनुदान, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आयात-निर्यात बैंक इत्यादि से प्राप्त होने वाले ऋण तथा अनुदान।

*आंतरिक वित्त*

9 मुद्रा तथा बैंकिंग विषयों से सम्बद्ध निम्नलिखित प्रश्न—

(अ) मिल्वर, रिफाइनरी प्रोजक्टों सहित सिक्यूरिटी प्रेसें तथा टकसालें,

(ब) सिक्के,

(स) नोटों का चलन,

(द) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा दूसरे बैंक,

(य) स्वदेशी बैंक,

(र) पूंजी ऋण तथा पूंजी देने वाले व्यक्ति,

(ल) निगोशिएबिल इन्स्ट्रूमेन्टस एक्ट, 1881 के अंतर्गत अवकाश,

(व) भारत-पाक बैंकिंग समझौते का प्रशासन,

(स) भारत के चैरिटेबिल एण्डोमेन्ट्स के कोषाध्यक्ष के कार्य।

*आर्थिक परामर्श*

10 संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उससे सम्बद्ध संगठनों (जैसे आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्, एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग इत्यादि) में भारत के

भाग लेने से संबंधित आर्थिक तथा वित्तीय प्रश्नों पर आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करना तथा संक्षिप्त निर्देश आदि तैयार करना।

*बजट*

11 साधन तथा स्रोत

12. रेलवे बजट को छोड़कर अनुपूरक तथा अधिक अनुदानों सहित केंद्रीय बजट का निर्माण,

13. केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा ऋण लिए जाने तथा बाजार ऋणों की व्यवस्था

14. लोक ऋण अधिनियम का प्रशासन,

15. केन्द्रीय ट्रेजरी नियमों का प्रशासन,

16 ब्याज की दरों, ऋण की दरों, प्रोडक्टिविटी, टैस्ट रेट्स इत्यादि को निर्धारित करना,

17 लेखाकन तथा लेखा परीक्षण की प्रक्रियाओं का निर्धारण तथा वर्गीकरण,

18 राज्यों के पुनर्गठन, देश के विभाजन तथा सघीय स्तर पर वित्तीय एकीकरण से सम्बद्ध मामले,

19 भारत की आकस्मिक निधि सबधी नियमों का प्रशासन,

20 केन्द्रीय वित्त स्थिति को सुदृढ करने के लिए ट्रेजरी बिल्स,

21. केन्द्रीय तथा राज्यों के बजटों की सामान्य रूप-रेखा,

22. वित्त आयोग,

23 छोटी बचत (जिसमें राष्ट्रीय बचत सगठन का प्रशासन भी सम्मिलित है।)

*आयोजना*

24. राज्यों को संविधान में निहित कानूनी अनुदान तथा उनके विकास कार्यक्रमों और अन्य स्वीकृत उद्देश्यों के लिए अस्थाई वित्तीय अनुदान एव ऋण प्रदान करना,

25 स्थानीय करारोपण,

26 राजकीय वित्त,

27 सार्वजनिक सस्थाओं, जैसे निगमों, नगरपालिकाओं आदि द्वारा ऋण लेना,

28 पूंजीगत बजट,

29 महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्नों से सम्बद्ध सहकारिता,

30 आयोजन तथा विकास,

31 कराधान जाच आयोग,

32 भारतीय लोक प्रशासन सस्थान को अनुदान,

33 केन्द्र तथा राज्यों के विधान के आर्थिक एवम् वित्तीय पहलुओं की जाच पड़ताल।

*बिक्री-कर*

34 1956 के भारतीय बिक्री-कर अधिनियम का प्रशासन,

35 1956 के बिक्री-कर कानून विधेयक एव वैलीडेशन एक्ट का प्रशासन,
36 बिक्री-कर के स्थान पर अतिरिक्त आबकारी कर का आरक्षण,
37 राज्यों के बिक्री-कर से सबंधित वे मामले, जो राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए आए हैं।

*बीमा*

38 सामान्य बीमा से सबंधित नीति, 1958 के बीमा अधिनियम का प्रशासन, बीमा कपनियों के सघ का सग्रह, जीवन बीमा निगम की अधीनस्थ कपनिया,
39 जीवन बीमा से सबंधित नीति, जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण, 1956 के जीवन बीमा अधिनियम का प्रशासन तथा जीवन बीमा न्यायाधिकरण।

*निगम*

40 औद्योगिक वित्त निगम (आई एफ सी ) अधिनियम, 1948 तथा पुनर्वास वित्त प्रशासन (आर एफ ए ) अधिनियम, 1948 का प्रशासन,
41 राज्य वित्त निगम अधिनियम, 1951 के अतर्गत राज्यों के वित्तीय निगम,
42 भारत औद्योगिक ऋण तथा निगम लिमिटेड,
43 रिफाइनेन्स कारपोरेशन फार इन्डस्ट्री।

*स्टाक एक्सचेंज*

44 सिक्यूरिटीज कान्ट्रेक्ट्स (रेगुलेशन) एक्ट, 1956 का प्रशासन,
45 स्टाक एक्सचेंजों का नियत्रण।

*पूंजी निगम*

46 ज्वाइन्ट स्टाक कपनियों द्वारा जारी किये जाने वाली पूजी पर नियंत्रण।

*विविध*

47 बीमा विभाग का प्रशासन जो वित्त मत्रालय का एक ऐसा विभाग है जिसके कार्य क्षेत्र की सीमा सबसे अधिक लबी है। देश की समूची आर्थिक स्थिति इसी विभाग के कार्य क्षेत्र का विषय है।

## आर्थिक मामलों के विभाग का संगठन

इस विभाग के अतर्गत एक सलग्न कार्यालय तथा आठ अधीनस्थ कार्यालय कार्य कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त विभाग के प्रशासनिक नियत्रण में एक लोक उद्यम भी सगठित किया गया है। यह विभाग निम्नलिखित प्रभागों में विभक्त है। ये प्रभाग हैं—

1 बजट-प्रभाग,
2 आतरिक वित्त प्रभाग,
3 बाह्य वित्त एव विदेशी सहायता प्रभाग,

4 आर्थिक प्रभाग,
5 प्रशासन प्रभाग।

### 1. बजट प्रभाग

यह डिवीजन भारतीय रेलों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के बजट, अनुदानों की अनुपूरक मागों तथा अतिरिक्त अनुदानों की मागों को तैयार करने और प्रस्तुत करने का कार्य करता है। राष्ट्रपति शासन के अतर्गत आने वाले राज्यों के बजटों और उनकी अनुपूरक मागों का प्रबध भी इसी प्रभाग में किया जाता है। इनके अतिरिक्त यह प्रभाग सरकारी ऋण और अल्प बचत योजनाओं (जिनमें सरकारी सावधि जमा योजनाए भी सम्मिलित है) तथा सरकारी भविष्य निधि से सबधित अन्य मामलों के सबध में भी विभाग के सहयोग से आयकर वार्षिकी जमा योजना का काम भी करता है। राष्ट्रीय बचत सगठन की सर्वोपरि जिम्मेदारी इसी प्रभाग पर है।

बजट प्रभाग के अन्य कार्य जिन विषयों से सबध रखते है, उनमें से कुछ इस प्रकार है–

1 राज्य सरकारों द्वारा बाजार से लिए जाने वाले ऋणों तथा केन्द्रीय एव राज्य सरकारों की आर्थिक उपाय नीति पर निगरानी रखना
2 भारत की आकस्मिक निधि का प्रशासन,
3 भारत के नियत्रक व महालेखा परीक्षक के कर्त्तव्यों तथा शक्तियों सहित लेखा परीक्षा और लेखा पालन से सबधित अन्य प्रश्न,
4 वित्त आयोग से सबधित सभी विषय,
5 केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये जाने वाले ऋणों के ब्याज की दरों का निर्धारण तथा समय-समय पर उनकी समीक्षा करना,
6. केन्द्रीय राजकीय नियमों का प्रशासन तथा नियत्रक एव महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदनों को ससद के सदनों में प्रस्तुत करना आदि।

### 2. आंतरिक वित्त प्रभाग

यह प्रभाग पूजी निगमों के नियत्रण, मुद्रा और सिक्कों की ढलाई, टकसालों और उनके धातु परीक्षण विभागों के प्रशासन, धादी शोधन-प्रायोजन, इण्डिया सिक्युरिटी प्रेस, सिक्युरिटी पेपर मिल प्रायोजना और कोलार स्वर्ण खनन उद्योगों से सबधित महत्वपूर्ण विषयों के नित्य प्रति के प्रशासन के विषय में कार्यवाही करता है। प्रतिभूति सविदा (विनिमय) अधिनियम, 1950 का प्रबध तथा देश के शेयर बाजारों के विनिमय कार्य के लिए भी यही प्रभाग उत्तरदाई है।

### 3. बाह्य वित्त एवम् विदेशी सहायता प्रभाग

यह प्रभाग विदेशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एव वित्तीय सस्थाओं से भारत के आर्थिक

सबधों का सचालन करता है। इसका सबध विदेशी मुद्रा विदेशी निवेश, बाह्य वित्त और भारत को विदेशों से प्राप्त होने वाली अथवा भारत द्वारा विदेशों को दी जाने वाली तकनीकी सहायता से है। व्यापार और अदायगी के सबध में विदेशों से किए जाने वाले अनुबधों और विदेशी व्यापार-नीति के सबध में व्यापक प्रश्नों की छानबीन भी इसी प्रभाग द्वारा की जाती है। यह अपने निवेश अनुभाग की सहायता से विदेशी निवेशकर्त्ताओं एवम् तकनीकी विशेषज्ञों को भारत स्थित उद्यमों तथा कपनियों में आकर्षित करने के लिए सामान्य नीतिया बनाता है। भारत में विदेशी कपनियों की व्यापारिक कार्यवाही को हतोत्साहित कर विदेशी मुद्रा की बचत करता है। भारत में स्थापित विदेशी कपनियों या विदेशियों की बहुसख्या वाली कपनियों के भारतीयकरण की समस्याओं पर भी इस प्रभाग में विचार-विमर्श चलता रहता है।

### 4. आर्थिक प्रभाग

यह अर्थ प्रभाग की एक परामर्शदात्री प्रशाखा है। इसका मुख्य कार्य आर्थिक नीति सबधी प्रश्नों के बारे में मत्रालय को परामर्श देना और अर्थ-व्यवस्था की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना है। यह प्रभाग विदेशों में होने वाली आर्थिक घटनाओं और विशेष रूप से उन घटनाओं पर भी दृष्टि रखता है जिनका भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह भारतीय रिजर्व बैंक, योजना आयोग तथा केन्द्रीय सांख्यिकी प्रशाखाओं के निकट सहयोग से कार्य करता है। बजट के समय ससद के सम्मुख एक आर्थिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है तथा केन्द्रीय बजट का आर्थिक और कार्यात्मक वर्गीकरण प्रस्तुत कर सामने को वित्त प्रशासन में प्रशिक्षित करने में पहल करता है।

### 5. प्रशासन प्रभाग

यह प्रभाग, विभाग के ऐसे प्रशासनिक विषयों से सबंधित कार्य करता है, जिनमें सतर्कता और सगठन तथा कार्य प्रणाली-सबधी कार्य समिति भी सम्मिलित है। जहा तक इस विभाग के पदों का सबध है, प्रभाग ने हाल ही में मंत्रिमडल सचिवालय की ओर से जारी किये गये निर्देशों के अनुसार वैज्ञानिक आधार पर व्यावसायिक प्रबंध का कार्य भी अपने हाथ में ले लिया है।

*विभाग का सचिवालय*

| | |
|---|---|
| विशेष सचिव | 1 |
| अतिरिक्त सचिव | 1 |
| मुख्य आर्थिक सलाहकार | 1 |
| आर्थिक सलाहकार | 1 |
| सयुक्त सचिव | 6 |
| निदेशक | 7 |
| मुख्य लेखाकार | 1 |

| | |
|---|---|
| उप-आर्थिक सलाहकार | 1 |
| उप-सचिव | 10 |
| ऑफिसर आन स्पेशयल ड्यूटी (अकान्ट्स) | 1 |
| अवर सचिव | 20 |
| सयुक्त निदेशक | 4 |
| उप-निदेशक | 3 |
| उप-आर्थिक सलाहकार | 3 |
| वरिष्ठ शोध अधिकारी | 10 |
| वरिष्ठ अकाउन्ट्स अधिकारी | 1 |
| उप-लेखा अधिकारी | 6 |
| सेक्सन ऑफिसर (तकनीकी) | 2 |
| शोध अधिकारी | 17 |
| सैक्सन ऑफिसर | 52 |
| प्रशासनिक अधिकारी | 2 |
| अधीक्षक (वित्त आयोग) | 1 |
| वित्त अधिकारी | 1 |

## विभाग के संलग्न कार्यालय

### राष्ट्रीय बचत संगठन, नागपुर

यह सगठन देश में अल्प बचत अभियान को प्रोत्साहित करता है, जिससे लोग अपनी भावी आवश्यकताओं के लिए अपनी आय का कुछ अश बचा सके। सामान्य जनता की विकास कार्यों में रुचि जागृत कर उसे अपनी बचत को इन राष्ट्रीय कार्यक्रमों में लगाने की प्रेरणा देना इसका प्रमुख उत्तरदायित्व है। इस सगठन का प्रधान कार्यालय नागपुर में स्थित है। यह नीति सबधी सभी विषयों में पहल करता है तथा क्षेत्रीय कार्यालय एव उनके अधिकारियों पर सीधा प्रशासकीय नियत्रण रखता है।

## अधीनस्थ कार्यालय

### 1-3 भारत सरकार की टकसालें

भारत सरकार की तीन टकसालें बम्बई, कलकत्ता तथा हैदराबाद में स्थित हैं। इनका कार्य सभी मूल्यों के सिक्के ढालना है। ये टकसालें बैंकों, विश्वविद्यालयों, सरकारी सस्थाओं और रेलवे के लिए मैडल, बैज तथा टोकन आदि बनाने का कार्य भी करती हैं। सिक्कों के खरे खोटे होने की जाच भी इन टकसालों में होती है।

### 4. इण्डिया सिक्योरिटी प्रेस, नासिक रोड

इस प्रेस की स्थापना सन् 1925 में की गई थी। कार्य की दृष्टि से यह प्रेस तीन प्रशासकीय इकाइयों में बटी हुई है–

1 स्टाम्प प्रेस,
2 करेन्सी नोट प्रेस, तथा
3 केन्द्रीय स्टाम्प भडार।

### 5. चांदी परिष्करणशाला, कलकत्ता

यह शाखा उन सिक्कों से चादी निकालती है जो युद्ध के दौरान जारी किये गये और फिर बाद में जिनका प्रसारण रोक लिया गया था।

### 6 सिक्योरिटी पेपर मिल्स, होशगाबाद

सन् 1967-68 में होशगाबाद में स्थापित यह मिल प्रति वर्ष लगभग 2000 टन करेन्सी तथा बैंक नोट छापने का कार्य करती है। अभी हाल में इसकी उत्पादन क्षमता को बढाये जाने के लिए प्रयास किया गया है।

### 7. पुनर्वास वित्त प्रशासन इकाई, नई दिल्ली

पुर्नवास वित्त प्रशासन की स्थापना देश के विभाजन के तुरत बाद पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान से आये शरणार्थियों के सहायतार्थ की गई थी। स्वतत्रता के बाद से प्रशासन कई वर्षों तक शरणार्थियों को ऋण देता रहा। अब यह शाखा गौण इकाई है।

### 8. कोलार स्वर्ण खनन उद्यम, उरगांव, कर्नाटक

एक सितम्बर, 1962 को भारत सरकार ने कोलार स्वर्ण खनन उद्यम को मैसूर सरकार से अपने हाथ में ले लिया और तभी से यह उद्यम भारत सरकार के वित्त मत्रालय के प्रशासनिक नियत्रण में एक विभागीय उद्यम के रूप में चलाया जा रहा है। खनित स्वर्ण को साफ कर केन्द्रीय सरकार देश की विदेशी मुद्रा की रिजर्व मात्रा को बढाती रहती है। स्वर्ण उत्पादन के अतिरिक्त यह उद्यम भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण तथा भारतीय खनिज ब्यूरो के साथ मिलकर कोलार स्वर्ण क्षेत्र के विकास का कार्य भी सचालित करता है।

## लोक उद्यम

### 1. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, बम्बई

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना ब्रिटिश शासन काल में 1935 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अतर्गत की गई। स्वतत्रता के बाद सन् 1948 में इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। रिजर्व बैंक का मुख्य कार्य देश की मूल आर्थिक व्यवस्था को नियंत्रित करना है जिससे कि आर्थिक स्थायित्व बनाया रखा जा सके। यह सरकार द्वारा अपनाई गई आर्थिक

नीतियों के अनुसार आर्थिक विकास का प्रयास करता है। अर्थ तत्र का नियमन करने के लिए यह देश की करेंसी, बैंक व्यवस्था एवम् साख व्यवस्था पर नियत्रण करता है। इस कारण ये रिजर्व बैंक को नोट प्रसारित करने का एकाधिकार दिया गया है। यह कामर्शियल बैंकों तथा राज्य एव अन्य सहकारी बैंकों जैसी अन्य वित्तीय सस्थाओं के लिए बैंकर की हैसियत से कार्य करता है। साख के नियमनकर्त्ता के रूप में यह सामान्य साख नियत्रण का कार्य भी करता है। देश के बैंकों के स्वस्थ विकास को प्रोत्साहित करना तथा सरकार के बैंकिग एवम् वित्तीय कार्यों का सचालन इसके प्रमुख कार्य हैं। यह बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवम् राष्ट्रीय विकास तथा कल्याण की दृष्टि से रुपये के विनिमय मूल्य को बनाये रखने का अत्यत महत्वपूर्ण कार्य करता है। जब से भारत सरकार ने देश के आर्थिक विकास के कार्य को अधिक उत्साह से सम्भाला है, तभी से इस बैंक का कार्य क्षेत्र तीव्रता से बढा है। यह औद्योगिक तथा कृषि वित्त की सुविधाए बढाने के लिए पहल करता है। कामर्शियल तथा सरकारी बैंकों के क्रिया-कलाप, भुगतान सतुलन, कपनी तथा सरकारी वित्त तथा प्रतिभूति बाजार के सबध में आकडे एकत्रित करता है तथा उन पर आधारित साख्यिकी एवम् विश्लेषण को अपने सामयिक प्रकाशनों में प्रकाशित करता है। इसके एसे प्रशासकीय कार्य हैं जो अर्थ-व्यवस्था को स्थायित्व देते हैं एव विकासोन्मुख भी बनाते हैं। इसका केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है, जो सरकार को वित्तीय, आर्थिक एवम् बैंक सबधी विषयों पर विशिष्ट सलाह देता है। रिजर्व बैंक शाखाए देश के सभी प्रमुख शहरों में पाई जाती है।

रिजर्व बैंक की प्रशासकीय व्यवस्था एक केन्द्रीय निदेशक मडल करता है। इसके सदस्य भारत सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इन सदस्यों में से एक सदस्य वित्त मत्रालय से भी सम्मिलित किया जाता है। बैंक का गवर्नर इसका मुख्य कार्यपालक होता है और उसकी सहायता के लिए एक डिप्टी गवर्नर होता है। भारत सरकार को यह कानूनी अधिकार है कि वह नीति निर्माण एव बैंक कार्यों के कानूनों के सबध में इस बैंक को समय-समय पर निर्देश भेजे।

## 2. स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, बम्बई

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम, 1955 के अतर्गत 1 जुलाई, 1955 को इस बैंक की स्थापना हुई। इस बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य देश के देहाती एव अर्ध-शहरी क्षेत्रों में बहुत बडी सख्या में बैंकिग सुविधाए उपलब्ध कराना था। यह बैंक छोटे उद्योगों के विकास के लिए विशेष वित्तीय प्रावधान रखता है और सरकारी क्षेत्रों को सहयोग देता है।

बैंक का प्रबध एक केन्द्रीय बोर्ड द्वारा किया जाता है। केन्द्र सरकार इसके सभापति एव उप-सभापति की नियुक्ति करता है। बोर्ड के द्वारा दो प्रबध निदेशक नियुक्त किये जाते हैं। बैंक के अतिरिक्त शेयर होल्डर्स छ निदेशक निर्वाचित करते हैं। रिजर्व बैंक की सहमति से केन्द्र सरकार अन्य 16 निदेशक नियुक्त करती है, जो यथासभव आर्थिक एव प्रादेशिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

### 3. औद्योगिक वित्त निगम, नई दिल्ली

इस निगम की स्थापना समद के एक कानून के अतर्गत सन् 1948 में की गई थी। छोटी-छोटी कपनिया तथा सहकारी सस्थाए इस के माध्यम से भारत सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त करती हैं। इस निगम का एक महत्त्वपूर्ण कार्य औद्योगिक सस्थाओं को अल्पकालीन तथा मध्यकालीन ऋण देना है। लेकिन यहा यह उल्लेखनीय है कि निगम केवल उन्हीं कपनियों एव सहकारी सस्थाओं को सहायता देता है जिनका सबध उत्पादन, ड्रिलिंग, माइनिंग तथा होटल आदि व्यवसायों से हैं। पिछड हुए क्षेत्रों को सहायता देने के लिए यह विशेष योजनाए बनाता है। निगम का प्रबध एक निदेशक बोर्ड द्वारा किया जाता है जिसमें एक सभापति होता है और उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। इसके अतिरिक्त बोर्ड में कुछ अन्य सदस्य होते है, जो भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, बीमा-कपनियों तथा सहकारी बैंकों के प्रतिनिधि होते हैं।

निगम की निम्नलिखित शाखाए हैं, जो बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास शहरों में स्थित हैं।

### 4 कृषि पुनर्वित्त निगम, बम्बई

कृषि पुनर्वित्त निगम कानूनी निगम के रूप में जुलाई 1963 से कार्य कर रहा है। यह निगम प्राथमिक रूप से एक पुनर्वित्त एजेन्सी है और यह उन बैंकों को वित्तीय सुविधाए उपलब्ध कराता है, जो कृषि विकास के लिए ऋण की माग करती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह कृषि विकास की विभिन्न आयोजनाओं के लिए पुनर्वित्त की व्यवस्था करता है। इसका सबध कृषि विकास की उन प्रमुख आयोजनाओं से रहता है जिनकी वित्त-व्यवस्था केन्द्रीय भूमि मार्टगेज बैंकों या एपेक्स सहकारी बैंकों द्वारा सतोषजनक रूप से नहीं की जाती। अपवादस्वरूप यह निगम उन सहकारी सस्थाओं को भी प्रत्यक्ष रूप से ऋण दे सकता है, जिनकी स्वीकृति रिजर्व बैंक ने दे दी है। इस प्रकार यह रिजर्व बैंक से सम्बद्ध निगम है जिसके द्वारा उपयुक्त सस्थाओं के सरकारी गारन्टी के आधार पर पुनर्वित्त की व्यवस्था की जाती है। निगम का प्रबध एक निदेशक मडल द्वारा किया जाता है जिसमें एक अध्यक्ष, एक प्रबध निदेशक और छ निदेशक होते हैं।

### 5 भारतीय यूनिट ट्रस्ट, बम्बई

इस ट्रस्ट की स्थापना, यूनिट ट्रस्ट एक्ट, 1963 के अतर्गत फरवरी 1960 में की गई थी। यह ट्रस्ट यूनिटें बेचता है तथा इस प्रकार प्राप्त धन का उपयोग निवेश कार्यों में किया जाता है। इसकी प्राथमिक पूजी पाच करोड रुपये है। इसमें से ढाई करोड रुपये जीवन बीमा निगम, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और अन्य बैंकों द्वारा दिये जाते है, जिनमें अनुसूचित बैंक भी सम्मिलित हैं। ट्रस्ट का प्रबध एक ट्रस्ट मडल द्वारा किया जाता है। इस मडल में एक अध्यक्ष और एक कार्यकारी ट्रस्टी होता है, जिनकी नियुक्ति रिजर्व बैंक द्वारा की जाती है। इसके अतिरिक्त आठ ट्रस्टी जीवन बीमा निगम तथा अनुसूचित बैंकों आदि

द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

## परामर्शदात्री अभिकरण

उपर्युक्त सलग्न एव अधीनस्थ कार्यालयों के अतिरिक्त आर्थिक मामलों के विभाग' में दो परामर्शदात्री निकाय भी हैं ये निकाय हैं–

(1) राष्ट्रीय बचत परामर्शदात्री समिति तथा (2) महिला बचत अभियान परामर्शदात्री परिषद्। ये दो ऐसे निकाय हैं, जो इस विभाग को उक्त विषयों पर परामर्श देने के लिए गठित किये गये हैं।"

वित्त मत्रालय का ऊपर वर्णित सगठन शक्तिया तथा कार्य इस ओर सकेत करते हैं कि यह एक नियत्रणकारी मत्रालय है। भारत सरकार के अन्य सभी मत्रालयों पर इस मत्रालय का नियत्रण है तथा यह उनके कार्यों में समन्वय भी स्थापित करता है। केन्द्रीय सरकार के हाथों को सुदृढ करने वाला यह मत्रालय केन्द्रीकरण का यत्र कहा जा सकता है। यह स्वाभाविक भी है चूंकि जिसके नियत्रण में वित्त होता है, वह सभी को अधीन बनाने की क्षमता रखता है। इस मत्रालय के हाथ में वह शक्ति है जिसके आधार पर वह किसी भी मत्रालय अथवा राज्य को बडी सरलता से अपने कार्य करने से रोक सकता है। यद्यपि यह प्रशासनिक प्रकृति का मत्रालय नहीं है, फिर भी इसके सारे कार्य प्रशासनिक गतिविधियों को नियत्रित एव सचालित करते हैं। इस पर यह आरोप लगाया जाता है कि यह स्टाफ (परामर्शी) होते हुए भी लाइन अभिकरणों के उपयोगी प्रस्तावों एव कार्यों पर कुठाराघात करता रहता है, सभी मत्रालयों पर इसका प्रभाव सहयोगी मत्रालयों को हस्तक्षेप लगता है।

सगठनात्मक पुनर्गठन की दृष्टि से वित्त मत्रालय में परिवर्तन और सुधारों की महती आवश्यकता है। इस सबध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह कही जाती है कि भारत एक विकासशील देश है जिसकी सरकारों के लिए एक-एक पैसे का सदुपयोग सोच समझ कर करना चाहिये। सार्वजनिक धन का अधिकाधिक सदुपयोग एव अच्छी व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रशासनिक सुधार आयोग ने कहा था कि इस मत्रालय को एक व्यापक कार्यक्रम बनाना होगा। यह मत्रालय इतना बडा है कि यदि इसके कुछ अधीनस्थ और सलग्न कार्यालयों को विभागों में बदल दिया जाए तो उपयोगी होगा। समाजवादी अर्थ व्यवस्था में लोक वित्त के प्रशासन को सोद्देश्य रूप से चलाने के लिए मत्रालय के विभागों एव प्रभागों में एक उच्च स्तरीय विशेषीकरण की आवश्यकता है। इसी प्रकार समन्वयकारी गतिविधियों का एक प्रकोष्ठ अन्य सहयोगी मत्रालयों द्वारा हस्तक्षेप कही जाने वाली आलोचना को कम कर सकता है। योजना आयोग के गठन के समय से वित्त मत्रालय का कार्य यह माग करता है कि आयोजना सबधी वित्त का प्रबध ये दोनों मिलकर करें अथवा दोनों के बीच एक स्पष्ट विभाजन किया जाए। यह सगठन स्थिति को अस्पष्ट बनाये रखने के लिए उत्तरदाई है। अत वित्त मत्रालय में योजना वित्त तथा राज्य वित्त पर पृथक् से स्वतत्र प्रभाग अथवा विभाग स्थापित किये जा सकते हैं।

## प्रतिरक्षा मंत्रालय

ईस्ट इण्डिया कपनी के शासन काल में जब भारत सरकार ने सन् 1776 में पहली बार एक सैनिक विभाग की स्थापना की तो प्रतिरक्षा मत्रालय का जन्म हुआ। उस समय यह विभाग कपनी सरकार के अन्य विभागों में सेना को प्रभावित करने वाले सभी आदेशों का रिकार्ड रखने तथा सैनिक कर्मचारियों की सूची आदि बनाने के लिए विशेष रूप से उत्तरदाई था। इस विभाग की स्थापना से पूर्व ये कार्य जन-विभाग द्वारा सपादित किये जाते थे। सन् 1776 में जब जन विभाग के ये सैनिक कार्य, सैनिक विभाग को हस्तातरित कर दिये गए तो इस विभाग का एक पृथक् सचिव भी नियुक्त किया गया, किन्तु व्यावहारिक प्रशासन में सैनिक विभाग पुराने जन विभाग की एक शाखा मात्र बना रहा।

समस्त सैन्य कार्यवाहियों का सचालन एक कमाण्डर-इन-चीफ का उत्तरदायित्व हुआ करता था। गोपनीयता विभाग इस सैन्य प्रशासन के कार्य में सहायता प्रदान करता था। सन् 1786 में जब गोपनीयता विभाग को तीन शाखाओं में विभक्त किया गया जब गोपनीय सैन्य शाखा की स्थापना हुई।

सन् 1798 में राजनीतिक, सैन्य एव विदेश विभागों से गोपनीय शब्द हटा दिया गया। एक वर्ष पश्चात् एक पृथक् गोपनीयता विभाग की स्थापना की गई, जिसे राजनीतिक एव विदेश विभाग के सचिव की अधीनता में रखा गया, किन्तु सैन्य विभाग की अध्यक्षता एक स्वतत्र सचिव द्वारा की जाती थी। कुछ समय पश्चात् सैन्य निरीक्षण विभाग को 'सैन्य-विभाग' के साथ मिला दिया गया।

सन् 1833 के चार्टर अधिनियम के फलस्वरूप सवैधानिक एव प्रशासनिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन आये, जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन बगाल के सचिवालय से भारत सरकार के सचिवालय का पृथकीकरण था। सन् 1843 में जब यह पृथकीकरण हुआ उस समय भारत सरकार के सचिवालय में सैन्य विभाग सहित कुल चार विभाग थे जिनके सचिव भी अलग-अलग हुआ करते थे।

सन् 1864 में बम्बई, कलकत्ता एव मद्रास की तीनों प्रेसीडेन्सियों के सैनिक लेखा विभाग को सैन्य विभाग के साथ मिला दिया गया, किंतु स्थल सेना का सगठन प्रेसीडेन्सी के आधार पर ही बना रहा। सन् 1878-80 के अफगान युद्ध के पश्चात् क्राउन द्वारा एक जाच आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग ने इस सारी व्यवस्था को अयोग्य एव अक्षम ठहराकर इसका पटाक्षेप किया। यह सिफारिश सरकार ने स्वीकार कर ली किन्तु किन्हीं कारणों से सन् 1895 तक इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका। सन् 1895 में सभी प्रेसीडेंसियों की स्थल सेना को मिलाकर एक सयुक्त भारतीय थल सेना की व्यवस्था की गई, किन्तु प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखते हुए इसे चार कमानों में विभाजित किया गया।

1. पजाब (उत्तर-पश्चिमी फ्रन्टियर सहित),
2. बगाल,

3 मद्रास (वर्मा सहित),

4 बम्बई (सिन्ध स्वेत तथा अदेन सहित)।

भारतीय सेना की सर्वोच्च सत्ता गवर्नर-जनरल सहित उसका कार्यकारिणी परिषद् निहित थी, जो क्राउन के प्रति उत्तरदाई था, किंतु व्यवहार में यह उत्तरदायित्व भारत सचिव के प्रति था।

परिषद् में सेना सबधी मामलों की व्यवस्था के लिए दो सदस्य उत्तरदाई होते थे जिनमें से एक सैन्य सदस्य कहलाता था। यह सदस्य भारतीय सेना के प्रशासनिक तथा वित्तीय मामलो का पर्यवेक्षण किया करता था। दूसरा सदस्य स्वय कमाण्डर-इन-चीफ था जो 'आपरेशनल मैटर्स' की देखभाल करता था। कमाण्डर-इन-चीफ के प्रस्ताव सैन्य सदस्य के माध्यम से भारत सरकार को प्रेषित किये जाते थे। सैन्य-सदस्य ब्रिटिश या भारतीय सेना का वरिष्ठ अधिकारी होता था। यह द्वैध-नियत्रण सैन्य-प्रशासन में अव्यवस्था उत्पन्न करता था। अत सन् 1905 में भारत सचिव ने इस प्रशासन में सुधार करने हेतु क्राउन सरकार के समक्ष एक प्रस्ताव पेश किया। तत्कालीन कमाण्डर-इन-चीफ लार्ड किचनर ने यह सुझाव दिया था कि भारतीय सैन्य मामलों में कमाण्डर-इन-चीफ ही सरकार का प्रमुख परामर्शदाता होना चाहिए। लेकिन लॉर्ड कर्जन इससे सहमत नहीं थे। अत उन्होंने इस सुझाव का विरोध किया। अत में भारत सचिव ने यह निश्चय किया कि विशुद्ध सैन्य सेवाओं का प्रशासन कमाण्डर-इन-चीफ के हाथों में केन्द्रित रहेगा जबकि सैन्य सामग्री आपूर्ति तथा उत्पादन से सबंधित सेवाए सैन्य-सदस्य के नियत्रण में रहेंगी। सन् 1909 में सैन्य-सदस्य के पद को समाप्त कर दिया गया। इसी समय सैन्य-विभाग का नाम भी बदलकर सेना विभाग रख दिया गया।

यद्यपि सन् 1909 में कमाण्डर-इन-चीफ सेना विभाग का अध्यक्ष एव भारत सरकार का प्रमुख सैन्य सलाहकार बना, किंतु सैन्य प्रशासन से सबंधित अंतिम सत्ता गवर्नर-जनरल के हाथों में केन्द्रित थी। गर्वनर-जनरल सैन्य-सबधी मामलों के लिए भारत सचिव के प्रति उत्तरदाई था। भारत सचिव को भारत की सेना सबधी मामलों में सलाह देने वाला मुख्य सलाहकार भारतीय कार्यालय के ' सैन्य विभाग" का एक सचिव होता था। लदन स्थित भारतीय कार्यालय में इस मिलिट्री सचिव की सहायता के लिए एक भारतीय सैनिक अधिकारी सहायक के रूप में रहता था।

भारत सरकार के 1935 के भारतीय अधिनियम के अतर्गत भारतीय प्रतिरक्षा प्रशासन में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित नहीं किया गया। सन् 1938 में सेना विभाग का नाम एक बार फिर से बदल कर 'प्रतिरक्षा विभाग' रख दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान सन् 1942 में प्रतिरक्षा विभाग को दो विभागों में विभक्त किया गया—

(1) युद्ध-विभाग,

(2) प्रतिरक्षा विभाग।

महायुद्ध के अवसान पर सुरक्षा विभाग एवं युद्ध विभाग का फिर से एकीकरण कर दिया गया और उसका नाम 'सुरक्षा विभाग' रखा गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन् 1947 में रक्षा विभाग को एक कैबिनेट मंत्री की अध्यक्षता में प्रतिरक्षा मंत्रालय का स्तर प्रदान किया गया। इस अवसर पर प्रतिरक्षा प्रशासन में कुछ मौलिक परिवर्तन भी किये गये, वैसे तो विश्व युद्ध के दौरान ही इस दिशा में कदम उठाना आरम्भ हो चुका था। सितम्बर 1946 में जब अंतरिम सरकार बनी तो उस समय कमाण्डर-इन-चीफ केवल तीनों सेवाओं का सर्वोच्च कमाण्डर मात्र ही नहीं था अपितु भारत सरकार में उसका स्थान जनरल के बाद दूसरे नम्बर पर था।

15 अगस्त 1947 को तीनों सेवाओं के लिए अलग-अलग कमाण्डर-इन-चीफों की व्यवस्था की गई। इस तरह स्थल, नवी तथा एयर फोर्स के लिए तीन अलग-अलग कमाण्डर-इन-चीफों के पदों का जन्म हुआ।

भारतीय संविधान के अनुसार हमारे गणतन्त्र की तीनों सेनाओं का सर्वोच्च कमाण्डर भारत का राष्ट्रपति है। सन् 1955 में सैन्य-प्रशासन से कमाण्डर-इन-चीफ नामक पद को समाप्त कर दिया गया है। अब तीनों सेनाओं के कमाण्डरों को—

चीफ ऑफ दि आर्मी स्टाफ,

चीफ ऑफ दि नेवी स्टाफ, और

चीफ ऑफ दि एयर-स्टाफ नामों से अभिहित किया जाता है।

नवम्बर, 1962 में रक्षा मंत्रालय में शोध, विकास एवं सुरक्षा संबंधी उपकरणों के उत्पादनार्थ सुरक्षा उत्पादन विभाग की स्थापना की गई।*

इस प्रकार प्रतिरक्षा मंत्रालय ने अपने दो सौ वर्षों के इतिहास में कई बार अपने नाम बदले हैं। "मिलिट्री, आर्मी तथा डिफेन्स" तीनों ही शब्द इस मंत्रालय की कार्यात्मक प्रकृति के परिचायक हैं। यद्यपि अंग्रेजी शासन-काल में इस विभाग ने कोई विशेष प्रयोग एवं प्रगति नहीं की, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इसका स्वरूप एवं संगठन मूल रूप से बदला है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रारम्भिक वर्षों में तो हमारी तटस्थता की विदेशी नीति, प्रधान मंत्री श्री नेहरू की अपनी मान्यता, देश की गरीबी, शिक्षा, वैज्ञानिक शोध तथा आर्थिक साधनों का अभाव आदि इस विभाग के बजट में कटौती मांगते रहे, किन्तु सन् 1962 के चीनी तथा 1965 एवं 1971 के पाकिस्तानी आक्रमणों ने इस मंत्रालय के कार्य एवं संगठन को इतना अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है कि स्तर की दृष्टि से यह मंत्रालय गृह एवं वित्त मंत्रालयों से अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा है।

## रक्षा मंत्रालय के कार्य

रक्षा मंत्रालय का सर्वप्रथम कार्य भारत और उसके प्रत्येक भू-भाग की विदेशी

आक्रमणों से रक्षा करना है। यदि कोई देश भारत की सीमाओं पर आक्रमण करता है तो देश की सुरक्षा का प्रबंध करना इस मंत्रालय का विशेष उत्तरदायित्व है। इसके लिए इसे रक्षात्मक तैयारियां तथा ऐसे समस्त कार्य करने होते हैं, जो युद्ध तथा उसके बाद सेना को नियमित रूप से नियोजित एवं निर्धारित करने के लिए आवश्यक होते हैं।

संघ की समस्त सेनाएं थलसेना, नौ सेना और वायु सेना तीनों सेनाओं के रिजर्व प्रादेशिक सेना तथा सहायक वायुसेना, राष्ट्रीय कैडिट कोर, सैनिक फार्म संगठन, केन्टीन स्टोर विभाग, रक्षा प्राक्कलनों से खर्च प्राप्त करने वाली असैनिक सेवाएं, जल विज्ञान, सर्वेक्षण तथा नौपरिवहन, थल, नौ तथा वायुसेना में निर्माण कार्य एवं एम.ई.एस. को सौंपे गये रक्षा उत्पादन तथा संगठन से सबंधित निर्माण कार्यों की क्रियान्विति आदि के लिए यह मंत्रालय समुचित प्रशासकीय कदम उठाता है। इसी प्रकार नई छावनियों का निर्माण, छावनी क्षेत्रों की सीमाबंदी, उनकी सीमाओं में संशोधन, ऐसे क्षेत्रों में स्वायत्त शासन, छावनी बोर्ड तथा प्राधिकरणों का गठन और उनका अधिकार क्षेत्र तथा आवास संबंधी व्यवस्था करना भी इसी मंत्रालय के उत्तरदायित्व हैं।

रक्षा कार्यों के लिए भूमि और सम्पत्ति का अर्जन, अधिग्रहण और परित्याग तथा रक्षा भूमि तथा सम्पत्ति से अनाधिकृत लोगों को बाहर निकालना भी इस मंत्रालय के कार्य हैं। भूतपूर्व सैनिकों से संबंधित मामले सुलझाने का कार्य भी इसी मंत्रालय के कार्य क्षेत्र के अंतर्गत आता है।

## रक्षा उत्पादन विभाग

भारत सरकार के प्रतिरक्षा मंत्रालय में दो विभाग कार्य कर रहे हैं और रक्षा उत्पादन विभाग उनमें से एक है। इस विभाग का मुख्य कार्य प्रतिरक्षा कार्यों में काम आने वाली सामग्री का निरंतरता से बड़े पैमाने पर उत्पादन करना है। इस उत्पादन कार्य के नियोजन के लिए इस विभाग के अंतर्गत निम्नलिखित संस्थाएं कार्य कर रही हैं—

1. सुरक्षा उत्पादन एवं निरीक्षण संगठन,
2. हिन्दुस्तान एरोनोटिक्स लिमिटेड,
3. भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड,
4. मझगांव डाक लिमिटेड, बम्बई,
5. गार्डन रीच वर्कशाप लिमिटेड, कलकत्ता,
6. प्रागटूल्स लिमिटेड, सिकन्दराबाद,
7. भारत अर्थ मुवर्स लिमिटेड, बैंगलौर,
8. गोवा शिपयार्ड लिमिटेड, गोवा,
9. सुरक्षा शोध तथा विकास संगठन।

## प्रतिरक्षा आपूर्ति विभाग

सुरक्षा उत्पादन विभाग की भांति प्रतिरक्षा आपूर्ति विभाग रक्षा मंत्रालय का दूसरा

विभाग है। यह विभाग प्रतिरक्षा उत्पादन विभाग द्वारा उत्पादित एव निर्मित सामग्री को प्रतिरक्षा सस्थानों तक यथास्थान पहुचाता रहता है।

प्रतिरक्षा उद्देश्यों के लिए विशेषकर इलेक्ट्रॉनिक्स, साधन विनियोग, गाडियों और जहाज निर्माण आदि कार्यों के क्षेत्र में बाहर से आयात किये जाने वाले साज-सामान की प्रतिस्थापना के लिए विशद योजना बनाना और देश की औद्योगिक क्षमता के प्रयोग से ऐसी योजनाओं को अनुसधान, विकास और निर्माण के लिए कार्यान्वित करना, रक्षा अनुसधान तथा विकास-सगठन के कार्य के साथ देश में वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसधान और विकास कार्य में समन्वय स्थापित करना, इलेक्ट्रॉनिक्स का विकास तथा उसके विभिन्न उपभोक्ताओं के बीच समन्वय नीति का निर्माण करना आदि कुछ ऐसे कार्य हैं, जो इस विभाग द्वारा प्रशासकीय रूप से सपन्न किये जाते हैं।

इस प्रकार देश के रक्षा सबधी सभी कार्य इस मत्रालय द्वारा नियोजित एव निष्पादित किये जाते हैं। प्रतिरक्षा की दृष्टि से कौन-कौन-सी सामग्री को अभीष्ट स्थानों तथा व्यक्तियों तक किस प्रकार पहुचाया जाए, यह व्यवस्था इस मत्रालय द्वारा की जाती है।

## प्रतिरक्षा मंत्रालय का संगठन

प्रतिरक्षा मत्रालय का अपना एक सचिवालय, तीन सेवा हैडक्वार्टर्स, अनेक अतर-सेवा सगठन तथा प्रशिक्षण सस्थाए हैं, जो सारे देश में फैले हुए हैं। रक्षा उत्पादन विभाग तथा रक्षा आपूर्ति विभाग नामक दो विभागों के अतिरिक्त प्रतिरक्षा सबधी विषयों पर नीति-निर्माण सबधी निर्णय अनेक समितियों द्वारा लिये जाते हैं। ये समितिया सख्या में सात हैं जो मंत्रिमडल सचिवालय से निकट रूप से सबंधित हैं। ये समितिया हैं–

1 केबिनेट की रक्षा समिति,
2 रक्षामत्री की तीन अतर-सेवा समितिया,
3 रक्षा मत्री की स्थल, नौ तथा वायु सेना सबधी तीन समितिया।

केबिनेट की रक्षा समिति, जिसकी अध्यक्षता स्वय प्रधान मत्री करता है, केबिनेट की ओर से प्रतिरक्षा से सबधित समस्त महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करती है तथा विचार-विमर्श के बाद अपना प्रतिवेदन केबिनेट को सप्रेषित करती है। इसके द्वारा लिये गये सभी नीति-सबधी निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए तीनों सेनाओं के हैड क्वार्टर्स को भेजा जाता है।

इस समिति के अतिरिक्त रक्षा मत्री की तीन अतर-सेवा समितियों में रक्षा मत्री, रक्षा उत्पाद मत्री, उप-रक्षा मत्री, तीनों सेनाओं के तीनों प्रधान, रक्षा सचिव, वित्तीय सलाहकार (रक्षा) तथा वैज्ञानिक सलाहकार सदस्य होते हैं। ये अतर-सेवा समितिया मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्यों के लिए विशेष रूप से उत्तरदाई हैं–

(अ) रक्षा सबधी विषयों पर प्लान एव पेपर्स तैयार करना।

(आ) तीनों सेनाओं के अधिकारियों एव सैनिकों के कल्याणार्थ नीतिया बनाना एव

योजनाएं प्रस्तुत करना।

(ई) तीनों सेनाओं के कार्य तथा निर्देशन से संबंधित विषयों पर परामर्श देना।

रक्षा मंत्री की स्थल, नौ तथा वायु सेना समिति अपने-अपने क्षेत्रों से संबंधित मामलों की मूल नीतियों का प्रशासन करने के लिए उत्तरदाई हैं। रक्षा मंत्री की अध्यक्षता में दो अन्य समितियां हैं जिन्हें

1 उत्पादन समिति और

2 पेन्शनों के लिए अपीलीय समिति कहते हैं।

ये समितियां प्रतिरक्षा मंत्री को अपने अपने क्षेत्रों में तकनीकी सलाह देती हैं।

उत्पादन समिति का गठन रक्षा मंत्री की अध्यक्षता में तथा उत्पादन मंत्री उप-रक्षा मंत्री, तीनों सेनाओं के अध्यक्ष, वित्तीय सलाहकार (रक्षा), रक्षा सचिव, रक्षा उत्पादन विभाग के सचिव तथा वैज्ञानिक सलाहकार की सदस्यता से किया जाता है।

इसी प्रकार पेन्शनों के लिए अपीलीय समिति में रक्षा मंत्री, रक्षा उत्पादन मंत्री, उप-रक्षा मंत्री, रक्षा सचिव, महानिदेशक, वित्तीय सलाहकार (रक्षा) और उप-सेवा विशेष का जज एडवोकेट जनरल सेवा का प्रार्थी सदस्य होता है।

प्रतिरक्षा संबंधी अनुसंधान कार्यों में, प्रतिरक्षा मंत्री की सहायता के लिए इस मंत्रालय में एक रक्षा अनुसंधान एवं विकास परिषद् की स्थापना की गई है। यह परिषद् रक्षा संबंधी समस्याओं में समन्वय लाने तथा उनसे संबंध रखने वाले विषयों पर वैज्ञानिक निर्देशन का कार्य करती है।

विकास तथा स्थल सेना के लिए अभीष्ट साज-सामानों के सुधार के संबंध में यह विशेष रूप से अपने सुझाव प्रस्तुत करती है। इस परिषद् के पदेन सदस्य स्वयं रक्षा मंत्री, रक्षा उत्पादन मंत्री, रक्षा सचिव, रक्षा उत्पादन सचिव, तीनों सेनाओं के अध्यक्ष, वित्तीय सलाहकार (वित्त), वैज्ञानिक सलाहकार, स्थल सेना का महानिदेशक, यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन का अध्यक्ष तथा इण्डियन इन्सटीट्यूट ऑफ साइन्सेज, बैंगलोर के निदेशक होते हैं।

रक्षा मंत्रालय केबिनेट स्तर के मंत्री के अधीन कार्य करता है, जिसकी सहायता हेतु रक्षा उत्पादन मंत्री (जो राज्य मंत्री के स्तर का व्यक्ति होता है) और उप-रक्षा मंत्री होते हैं। सन् 1970 के आकड़ों के अनुसार इस मंत्रालय के सचिवालय में निम्न पदाधिकारी कार्यरत थे—

| | |
|---|---|
| रक्षा सचिव | 1 |
| सचिव, रक्षा उत्पादन विभाग | 1 |
| अतिरिक्त सचिव | 2 |
| संयुक्त सचिव | 11 |
| उप-सचिव | 25 |
| ऑफिसर आन स्पेशियल ड्यूटी | 1 |

इजीनियर-इन-चीफ कहते हैं। स्थल सेना हैडक्वार्टर के सगठन में छ शाखाए हैं जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

### *(अ) सामान्य स्टाफ प्रशाखा*

स्थल सेना हैडक्वार्टर की इस प्रशाखा के प्रमुख कार्य स्थल सेना का सगठन करना तथा उसे कार्य में लगाये रखना है। सैनिक प्रक्रियाए, सैनिक प्रशिक्षण, शिक्षा, युद्ध-कौशल का विकास, सैनिक सर्वेक्षण जिसमें नक्शों की सप्लाई तथा उन्हें सुरक्षित रखना और योजनाए आदि तैयार करना जैसे विषय भी शामिल हैं, इस प्रशाखा द्वारा प्रशासित किये जाते हैं। *इसी प्रकार स्टाफ सबधी कार्य, हथियारों और साज-सामानों का क्रय एव उनकी* मात्राए निर्धारित करना, अतर-सचार व्यवस्थाए सचालित करना साज-सामान सबधी नीतियों में समन्वय स्थापित करना, आरमेडकोर की यूनिटों के लिए प्रशिक्षण व्यवस्था जुटाना, इन्फैन्ट्री से सबधित मामलों में सलाह तथा सुझाव आदि देना, प्रादेशिक सेना और सुरक्षा कोर को सचालित करना आदि ऐसे कार्य हैं जिनकी डिप्टी चीफ ऑफ आर्मी स्टाफ देख-भाल करता है। इस प्रशाखा में कुल 13 निदेशक हैं जिनमें से छ वाइस-चीफ तथा सात डिप्टी चीफ ऑफ आर्मी स्टाफ के अधीन अपने-अपने कार्य करते हैं।

### *(ब) एडजुटेन्ट सामान्य प्रशाखा*

इस प्रशाखा के अतर्गत जन-शक्ति भर्ती, छुट्टिया, वेतन, भत्ते, पेन्शन तथा सेवा की अन्य शर्तें और अनुशासन आदि विषय आते हैं। सैनिक-कल्याण स्वास्थ्य और सैन्य विधि से सबधित कार्य भी इसी शृखला द्वारा प्रशासित किये जाते हैं।

### *(स) क्वार्टर-मास्टर सामान्य शाखा*

इस शाखा द्वारा जिन विषयों का प्रशासन चलाया जाता है उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं–भडार, साज-सामान, ईंधन, खाद्य पदार्थ तथा चारे की सैन्य आवश्यकताओं का अनुमान लगाना, इन्हें सुरक्षित रखना, उनका निरीक्षण कराना तथा उनकी सप्लाई बनाये रखना। सैनिक फार्मों का सचालन भी यही शाखा करती है। इनके अतिरिक्त सैनिक रिमाइट वेटोरने की सेवाए, सेना डाक सेवाए, श्रम एव केन्टीन सेवाए तथा आग बुझाने आदि की सेवाए इस सामान्य शाखा द्वारा युद्ध *एव शाति कालों में निरतरता से चलाई जाती हैं।*

### *(द) मास्टर-जनरल ऑफ आर्डनेन्स शाखा*

युद्ध सामग्री उपलब्ध कराने सबधी नीति के विविध पहलुओं, आर्डर्स सप्लाई की *समस्याओं तथा साज-सामान और उनके स्टोर की व्यवस्थाओं,* वसूली, मरम्मत आदि के कार्य इस शाखा के कार्य क्षेत्र के अतर्गत आते हैं।

### *(य) सैनिक सचिव शाखा*

*सेवा में कमीशन देना,* सेना के सभी गैर-मेडिकल गोपनीय प्रतिवेदन, सैनिक

अधिकारियों की नियुक्तियां, स्थानातरण, पदोन्नति, सेवानिवृत्ति, पद त्याग, अनुशासन, गोपनीय प्रतिवेदन, सैनिक अधिकारियों का सम्मान तथा उन्हें पदक आदि प्रदान करने की सिफारिशें करना तथा अमैनिक अधिकारियों को मेना में अवैतनिक कमीशन आदि देना सेवीवर्ग प्रशासन के कार्य प्रतिरक्षा मत्रालय की यह शाखा करती है।

### *(र) मुख्य अभियंता की शाखा*

इन्जिनियरिंग यूनिटों और अभियांत्रिक भडारों सबधी मामले, जिनमें परिवहन वर्गों का निपटान और सुरगों को हटाना आदि कार्य भी सम्मिलित हैं एम ई एस तथा इजीनियर कोर के कार्मिकों का प्रशासन, रक्षा सेवाओं के लिए आवश्यक निर्माण तथा उनकी प्रशासनिक व्यवस्था इस प्रशाखा के प्रमुख कार्य हैं।

### कमान और एरिया

स्थल सेना हैडक्वार्टर के अधीन भारतीय सेना को चार कमानों में गठित किया गया है। इनमें से प्रत्येक कमान के अतर्गत एरिया तथा स्वतत्र सब-एरिया है। प्रत्येक कमान का सैनिक नेतृत्व लेफ्टिनेन्ट जनरल के पद का एक वरिष्ठ जनरल अफसर कमाण्डिंग-इन-चीफ करता है। एरियाओं की कमान जनरल ऑफिसर कमाण्डिंग और स्वतत्र सब-एरियाओं की कमान ब्रिगेडियर के हाथों में होती है।

## नौ सेना

### (2) नौ सेना हैडक्वार्टर

इस सगठन का मुख्य अधिकारी चीफ ऑफ नेवल स्टाफ कहलाता है। उसके अधीन चार प्रिंसिपल स्टाफ ऑफिसर और एक नेवी सचिव होता है। नौ सेना के मुख्यालय का प्रशासनिक सगठन पाच भागों में विभक्त है, जो निम्न प्रकार हैं–

### *1. वाइस-चीफ ऑफ दि नेवल स्टाफ*

नौ सेना का यह वरिष्ठ अधिकारी नौ सेना सगठन, संक्रियात्मक योजनाओं, हथियार सबधी नीति, नौ सेना के रणक्षेत्र की गोपनीयता, नौ सेना सचार, जलप्राफ तथा नौ सेना सचिवालय से सबंधित विभिन्न प्रकार के सैनिक एव असैनिक कार्य करता है। वाइस-चीफ ऑफ दि नेवल स्टाफ नौ सेना के मुख्यालय की अन्य प्रशासनिक शाखाओं के कार्यों के मध्य एक समन्वयकर्ता के रूप में भी कार्य करता है। इस अधिकारी का कार्यालय प्रशासनिक सगठन की दृष्टि से नौ निदेशालयों में व्यवस्थित है, जिन्हें तकनीकी और गैर-तकनीकी निदेशक सचालित करते हैं।

### *2. चीफ ऑफ पर्सनेल*

यह सगठन नौ सेना के सभी सैनिक कार्मिकों की भर्ती, सेवा शर्तों, कल्याण योजनाओं,

अनुशासन, शिक्षा एवं चिकित्सा सुविधाओं तथा वैधानिक मामलों आदि से संबंधित प्रश्नों का प्रशासन चलाता है। चीफ ऑफ पर्सनैल का यह कार्यालय सात स्वतंत्र निदेशालयों में विभक्त है, जिन्हें यह समन्वित करता है। सेवीवर्ग प्रमुख के अधीन एक न्यायाधीश स्तर का एडवोकेट जनरल भी होता है जो कानूनी पहलुओं पर परामर्श देता है।

### 3. चीफ ऑफ मैटीरियल

नौ सेना से संबंधित विभिन्न प्रकार के सामानों की व्यवस्था जैसे जहाजों का क्रय-विक्रय तथा निर्माण, अस्त्र-शस्त्र और साज-सामानों की आपूर्ति के लिए यह अधिकारी उत्तरदाई है। नौ सेना डाकयार्डों की व्यवस्था आर्मीनेन्ट निरीक्षण संगठन, समुद्री तथा विद्युत अभियांत्रिकी संबंधित तकनीकी कार्य भी इस संगठन द्वारा संपादित किये जाते हैं।

### 4. एसिस्टेन्ट चीफ टु दि नेवल स्टाफ

नौ सेना का यह अधिकारी हवाई और पनडुब्बियों के हथियार संबंधी मामलों की नीति संक्रियाओं में समन्वय स्थापित करता है तथा उन्हें सामान्य निर्देशन भी देता है। इनके अतिरिक्त यूनिटों का प्रशिक्षण एवं प्रशासन, मौसम विज्ञान तथा विभिन्न परियोजनाओं का कार्यान्वयन भी इसी संगठन द्वारा निष्पादित किया जाता है।

### 5. नेवल सेक्रेटरी

नौ सेना सचिव नेवल हैडक्वार्टर्स के प्रशासनों, रिकार्डों एवं संस्थापन से संबंधित प्रश्नों एवं समस्याओं के प्रशासन के लिए उत्तरदाई है।

संक्रियात्मक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों में चीफ ऑफ दि नेवल स्टाफ की सहायता हेतु तीन कमान होते हैं जिनके अधिकारियों के नाम हैं–

1 दि फ्लेग ऑफिसर कमाण्डिंग-इन-चीफ, वेस्टर्न नेवल कमाण्ड, बम्बई।
2 दि फ्लेग ऑफिसर कमाण्डिंग-इन-चीफ, ईस्टर्न नेवल कमाण्ड, विशाखापट्टनम।
3. कोमोडोर कमाण्डिंग, सदर्न नेवल एरिया, कोचीन।

दि फ्लेग ऑफिसर कमाण्डिंग-इन-चीफ, वेस्टर्न नेवल कमाण्ड, बम्बई उन जहाजों एवं संस्थानों का नियंत्रण एवं निरीक्षण करता है जो बम्बई तथा बम्बई के समीप स्थित हैं। यह अधिकारी जामनगर एवं लोनावाला क्षेत्रों के नौ सेना प्रशासन के लिए भी उत्तरदाई है।

इसी प्रकार दि फ्लेग ऑफिसर कमाण्डिंग-इन-चीफ, ईस्टर्न नेवल, विशाखापट्टनम, कलकत्ता, अण्डमान, निकोबार तथा मद्रास में स्थित तथा तटवर्ती संस्थापनों के प्रशासन का कार्य संचालित करता है।

दि कोमोडर गोआ, कोचीन तथा इन बंदरगाहों के पास कमाण्डिंग स्थित नावों तथा समुद्री संस्थापनों के कार्यों की देख-रेख करता है।

## वायु सेना

### (3) वायुसेना हेडक्वार्टर

वायु सेना हैडक्वार्टर का प्रमुख अधिकारी चीफ ऑफ एयर स्टाफ कहलाता है। इसकी सहायता के लिए चार प्रिंसिपल स्टाफ अफसर होते हैं। चीफ ऑफ एयर स्टाफ वायु सेना के कमाण्ड, अनुशासन, संक्रियाओं, प्रशिक्षण एवं कार्य-कुशलता आदि समस्त प्रशासनीय पहलुओं के लिए पूरी तरह उत्तरदाई है। एयर हैडक्वार्टर संगठन की दृष्टि से तीन शाखाओं में व्यवस्थित है।

*1. एयर स्टाफ ब्रान्च*

यह प्रशाखा वायु सेना के नीति, संस्थापन, प्रशिक्षण, सिगनल तथा गोपनीय कार्यों के संपादन से सबंधित हैं। इसके दो भाग हैं–

पहला ग्रुप वाइस-चीफ ऑफ एयर स्टाफ के अधीन होता है तथा दूसरा डिप्टी चीफ ऑफ दि एयर स्टाफ के कमान में कार्य करता है। ये दोनों ग्रुप वाइस-चीफ एवं डिप्टी चीफ के अधीन रहते हुए क्रमशः छः और पांच निदेशालयों से सहायता लेते हैं, जो एक-एक निर्देशक के पर्यवेक्षण में कार्य करते हैं।

*2. प्रशासन प्रशाखा*

यह प्रशाखा एयर ऑफिसर-इन-चार्ज (प्रशासन) की अध्यक्षता में कार्य करती है। कर्मचारियों की भर्ती, अनुशासन सेवा के नियम तथा शर्तें, पदोन्नति, कल्याण कार्य, चिकित्सा तथा बजट आदि कार्य इस प्रशाखा द्वारा संचालित किये जाते है। निर्माण संबंधी आवश्यकताओं की आपूर्ति कानूनी सलाह जुटाने का कार्य भी इसी प्रशाखा द्वारा संपन्न किये जाते हैं।

*3. मेन्टेनेन्स ब्रान्च*

यह प्रशाखा एयर ऑफिसर-इन-चार्ज (मेन्टेनेन्स) के तत्वावधान में कार्य करती है। विमानों और गाड़ियों की व्यवस्था करना, उन्हें ठीक करना तथा ठीक रखना, हथियारों, साज-सामानों तथा वायु सेना के अन्य भंडारों को उपलब्ध कराना तथा उन्हें स्टोरों में सुरक्षित रखना इस प्रशाखा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। सशस्त्र अनुरक्षण योजनाएं, अनुरक्षण जांच तथा विमानों को सुरक्षित रखने का कार्य भी इसके विशेष उत्तरदायित्व हैं।

### वायु सेना कमाण्ड

प्रशासनीय दृष्टि से वायु सेना हैडक्वार्टर के अंतर्गत पांच कमाण्ड हैं–

1. पश्चिमी वायु सेना कमाण्ड,
2. केन्द्रीय वायु सेना कमाण्ड,
3. पूर्वी सेना कमाण्ड,

4 प्रशिक्षण कमाण्ड,
5 अनुरक्षण कमाण्ड।

पश्चिमी, केन्द्रीय तथा पूर्व वायु सेना कमानों के अतर्गत सभी प्रकार की फ्लाईंग यूनिटें हैं, जैसे—लडाकू, बम वर्षक हवाई परिवहन, सिग्नल यूनिटें इत्यादि।

कमाण्डों का मुख्य उत्तरदायित्व अपने-अपने क्षेत्रों में हवाई आक्रमणों से देश की रक्षा करना तथा प्रतिरक्षा कार्य में शत्रु के हवाई हमलों के विरुद्ध देश की स्थल एव नौ सेना की सहायता करना है।

प्रशिक्षण कमाण्ड के अतर्गत वे अनेक प्रशिक्षण संस्थाए हैं, जो भारतीय वायु सेना के अधिकारियों को विभिन्न प्रकार के ग्राउण्ड तथा फ्लाइंग प्रशिक्षण देने के तकनीकी कार्य करती है।

मेन्टेनेंस कमाण्ड विमानों, सैनिक गाडियों तथा सिगनल साज-सामान आदि की सुरक्षा का कार्य करती है। हथियार, गोला-बारूद तथा विस्फोटकों को ठीक प्रकार से स्टोर में सभाल कर रखना भी इस कमान का विशेष उत्तरदायित्व है।

## अतंर-सेवा संगठन

प्रतिरक्षा मत्रालय के अतर्गत निम्नलिखित अतर-सेवा सगठन हैं जो विभिन्न प्रकार के स्टाफ कार्य करते है। इन सगठनों का प्रशासकीय सबध सेना के तीनों प्रकार के अधिकारियों से है।

### 1. मुख्य प्रशासन अधिकारी का कार्यालय

मुख्य प्रशासन अधिकारी सशस्त्र सेनाओं के हैडक्वार्टर तथा अतर-सेवा सगठनों के सभी वरिष्ठ एव कनिष्ठ कर्मचारियों, अधिकारियों एव जवानों से सबंधित प्रशासकीय कार्य जैसे-भर्ती, पदोन्नति, अनुशासन, वेतन, भत्ते, अवकाश तथा कल्याण योजनाओं आदि से सबधित नियमों को प्रशासन चलाता है। यह रक्षा हैडक्वार्टर्स के कार्यालयों के लिए स्थान तथा सशस्त्र सेनाओं के हैडक्वार्टरों में स्थित तथा अतर-सेवा सगठनों में नियुक्त सैन्य अधिकारियों के लिए रियायती आवास आदि की व्यवस्था भी करता है।

### 2. राष्ट्रीय कैडेट कोर महानिदेशालय

एन सी सी का यह सगठन एक महानिदेशक के अधीन कार्य करता है जिसका पद मेजर-जनरल के स्तर का होता है। इस निदेशालय द्वारा राष्ट्रीय कैडेट कोर से सबंधित सभी प्रशासकीय कार्य सपादित किये जाते हैं। प्रशासन की सुविधाओं के लिए सारा देश सोलह निदेशालयों में बटा हुआ है। प्रत्येक निदेशालय एक निदेशक के अधीन है, जिसका पद ब्रिगेडियर या कर्नल के समकक्ष होता है। प्रत्येक ग्रुप में दस यूनिटें होती हैं। इस प्रकार प्रशासकीय दृष्टि से एन सी सी के अनेक ग्रुप हैडक्वार्टर्स हैं और प्रत्येक हैडक्वार्टर एक लेफ्टिनेन्ट कर्नल स्तर के सैनिक अधिकारी के अधीन कार्य करता है।

राष्ट्रीय कैडेट कोर सगठन के अनेक उद्देश्य हैं। युवकों में सहयोग एव सेवा की भावनाओं का विकास करना, नेतृत्व क्षमता को जगाना, देश की सुरक्षा में रुचि जागृत करना तथा सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रस्तुत करना तथा राष्ट्रीय आपातकाल की स्थिति में सशस्त्र सेनाओं तथा उनके प्रसार के लिए एक रिजर्व जन-शक्ति तैयार करना आदि इस सगठन के प्रमुख उद्देश्य हैं। सेवा कार्य यद्यपि इसका प्राथमिक उत्तरदायित्व नहीं है, किन्तु गौण रूप से यह इसका सगठनात्मक लक्ष्य अवश्य है।

### 3. सैनिक भूमि तथा छावनी निदेशालय

इस निदेशालय का कार्य छावनी क्षेत्रों की सीमाबदी तथा उनका प्रशासन चलाना है। यह उन सैनिक भूमियों तथा मकानों आदि की प्रबध व्यवस्था भी करता है जो सशस्त्र सेनाओं द्वारा पहले कभी प्रयोग में लाये जाते थे। सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग के लिए भूमि क्रय, भूमि अधिग्रहण तथा किराये के मकान उपलब्ध करने के कार्य तथा फालतू घोषित की गई सपत्ति का निपटारा आदि से सबधी कार्य भी इसी निदेशालय द्वारा किये जाते हैं।

सैनिक भूमि तथा छावनी के निदेशक के सहायतार्थ दिल्ली हैडक्वार्टर में एक संयुक्त निदेशक तथा अन्य प्रशासकीय अधिकारी हैं। प्रत्येक कमाण्ड हैडक्वार्टर में एक उपनिदेशक तथा एक स्टाफ अफसर सहायक के रूप में कार्य करता है। इस समय देश में अनेक मिलिट्री एस्टेट सर्किल्स तथा अनेक छावनिया है। जिनके प्रशासन का सचालन यह निदेशालय करता है।

### 4. विदेशी भाषा विद्यालय

*विदेशी भाषा विद्यालय में सेनाओं के अधिकारियों तथा भारत सरकार के सिविल* कर्मचारियों के लिए विदेशी भाषाओं के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था है। इसमें बाहर के सामान्य नागरिक भी प्रवेश ले सकते हैं। इस विद्यालय में सप्रति, अरबी, बर्मी, चीनी, फ्रेन्च, जर्मन, जापानी, मलया-बहासा, इण्डिनेशिया, फारसी, रूसी, स्पेनिश तथा तिब्बती आदि विदेशी भाषाओं को सिखाने की व्यवस्था है।

### 5. सशस्त्र सेना मेडिकल्स सेवा महानिदेशालय

स्थल सेना, नौ सेना तथा वायु सेना की सयुक्त मेडिकल सेवाओं का सशस्त्र सेवा मेडिकल सेवा महानिदेशालय एक महानिदेशक के अधीन कार्य करता है। इस निदेशालय की स्थापना सन् 1948 में तीनों सेवाओं में मेडिकल सेवा सलाहकार समिति भी है, जिसका अध्यक्ष मेडिकल सेवा महानिदेशक होता है। स्थल-सेना, नौ-सेना तथा वायु-सेना की मेडिकल सेवाओं के निदेशक इस समिति के सदस्य होते हैं। यह समिति चिकित्सा सगठन तथा नीति विषयक सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपनी सिफारिशें चीफ ऑफ स्टाफ समिति के माध्यम से सरकार को भेजती रहती है। इस महानिदेशालय का महानिदेशक अनुसधान तथा विकास परिषद् की सशस्त्र सेना चिकित्सा अनुसधान समिति का भी अध्यक्ष होता है और इस

हैसियत से वह सेना के लिए आवश्यक एव उपयोगी औषधियों में अनुसधान कार्य करने के मामलों पर सरकार को परामर्श भी देता है। भारत सरकार की स्वास्थ्य सेवाओं के महानिदेशक, चिकित्सा परिषद् तथा विदेशों की प्रतिरक्षा-सेवाओं के सगठनों से सपर्क स्थापित कर सेना के स्वास्थ्य एव चिकित्सा-प्रशासन का सचालन करता है।

### 6. ऐतिहासिक अनुभाग

इस ऐतिहासिक अनुभाग में सशस्त्र सेनाओं का एक अभिलेखागार और सदर्भ कार्यालय है। इसके मुख्य कार्य युद्ध डायरियों का अनुरक्षण एव अभिरक्षा, भारतीय सशस्त्र सेनाओं की सैनिक सधियों का इतिहास लेखन तथा उसे प्रकाशित करने की व्यवस्था करना है। तीनों सेनाओं के लिए रोचक एव उपयोगी समस्याओं पर विशेष शोध-अध्ययनों की व्यवस्था करना तथा देश के सैनिक इतिहास से सबंधित महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करना भी इसी अनुभाग का कार्य है।

यह अनुभाग तीनों सेनाओं की सभी यूनिटों को उनके रेजिमेन्टों से सबंधित इतिहास तैयार करने में सहायता-सहयोग एव दिशा-निर्देश देता है। चिन्ह निर्धारण गैर्न, झण्डों के डिजायन बनाना तथा उनके लिए उपयुक्त सुभाषित आदि चुनना इस अनुभाग का कर्तव्य है। सैनिक इतिहास के क्षेत्र में शोध एव अनुसधान करने वाले गभीर छात्रों को भी यह अनुभाग मार्ग-दर्शन आदि देता है।

### 7. जन-संपर्क निदेशालय

इस निदेशालय का नाम पहले सशस्त्र सेना सूचना कार्यालय था। यह सगठन रक्षा मत्रालय और सशस्त्र सेनाओं के सभी जन-सपर्क विषयक कार्यों के लिए उत्तरदाई है और जन-सपर्क (रक्षा) निदेशक के अधीन कार्य करता है। यह अधिकारी सूचना तथा प्रसारण मत्रालय से प्रतिनियुक्ति पर आता है। सूचना तथा प्रसारण मत्रालय इस सगठन के लिए कुछ अन्य तकनीकी कर्मचारियों की व्यवस्था भी करता है, किंतु अन्य सभी अधिकारियों की नियुक्ति रक्षा मत्रालय करता है। बगलौर, बम्बई, जोधपुर, चण्डीगढ, जालन्धर, जम्मू श्रीनगर, लखनऊ, इलाहाबाद, मथुरा, कलकत्ता, शिलाग, सिलीगुड़ी, तेजपुर और गोवा आदि देश के प्रमुख नगरों में इस कार्यालय के अपने जन-सपर्क अभिकरण हैं। यह निदेशालय सैनिक समाचार नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित करता है और प्रतिरक्षा मत्रालय द्वारा समय-समय पर प्रकाशित की जाने वाली सामग्री का सपादन एव प्रसारण करता है।

### 8. सशस्त्र सेवाओं का फिल्म तथा फोटो डिवीजन

यह डिवीजन एक फिल्म अधिकारी के अधीन है। यह फिल्मों, फोटोग्राफों, फिल्मी गीतों आदि के उत्पादन उपलब्धि और वितरण द्वारा तीनों सेनाओं तथा अतर-सेवा सगठनों की उन आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जो कि गोपनीय कार्यों में प्रशिक्षण देने, मनोबल ऊचा

उठाने अथवा सैनिक कार्यवाहियों का लेखा-जोखा रखने व कार्यों में सहायक होती है।

### 9 सेनाओं का खेल नियंत्रण बोर्ड

सेनाओं का खेल नियत्रण बोर्ड तीनों सेनाओं के कर्मचारियों जवानों तथा अधिकारियों के लिए आयोजित खेल-कूद कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करने का कार्य करता है और इसके अतिरिक्त विभिन्न अतर-सेवा सगठनों के मध्य खेल-कूद प्रतियोगिताओं की व्यवस्था करता है। तीनों सेनाओं के अधिकारी बारी-बारी से इस बोर्ड के अध्यक्ष तथा सचिव नियुक्त किये जाते हैं, जिससे तीनों सेनाओं की शारीरिक क्षमता युद्ध के लिए उपयुक्त रह सके।

### 10 भारतीय सैनिक, नाविक तथा वैमानिक बोर्ड

भारतीय सैनिक तथा वैमानिक बोर्ड का काम भूतपूर्व सैनिकों तथा उनके परिवारों को सहायता देना और सेवा में लगे उन कर्मचारियों के परिवारों का हित देखना है, जो अपने घरों से बहुत दूर सैनिक कार्यों में सलग्न हैं। यह बोर्ड अनेक प्रकार की कल्याण निधियों की व्यवस्था करता है। दिल्ली में इस केन्द्रीय बोर्ड का कार्यालय है। बोर्ड की अध्यक्षता स्वय प्रतिरक्षा मत्री करता है। इस बोर्ड के सहायतार्थ प्रत्येक राज्य में एक राज्य बोर्ड है जिसका अध्यक्ष राज्यपाल होता है। इसके अतिरिक्त उन जिलों में भी सैनिकों, नाविकों और वैमानिकों के जिला बोर्ड हैं, जहा सेवारत कर्मचारियों तथा उनके परिवारों की सख्या एक निश्चित सख्या की सीमा से अधिक हो जाती है।

### 11 पुनर्वास महानिदेशालय

यह निदेशालय केन्द्रीय मत्रालय, राज्य सरकारों और अन्य सरकारी तथा गैर-सरकारी सगठनों के साथ मिलकर ऐसी योजनाए बनाता है, जिनसे भूतपूर्व सैनिकों का सरकारी अथवा प्राइवेट सैक्टरों में पुनर्व्यवस्थापन हो सके। वह इस प्रकार की योजनाओं को पूरा करने सबधी कार्यों की देख-रेख करता है। इस प्रकार की योजनाओं को चलाने के लिए राज्य सरकारों को ऋण तथा अनुदान दिलवाने का काम भी यह निदेशालय करता है।

## प्रतिरक्षा मंत्रालय के महत्वपूर्ण प्रशिक्षण संस्थान

सैनिक प्रशिक्षण प्रतिरक्षा व्यवस्था का एक अभिन्न अग है। इसके लिए भारत सरकार के प्रतिरक्षा मत्रालय के तत्वावधान में निम्नलिखित प्रशिक्षण सस्थान सगठित किये गये हैं।

### 1. राष्ट्रीय रक्षा अकादमी, खडकवासला

खडकवासला स्थित यह राष्ट्रीय रक्षा अकादमी तीनों सेनाओं के कैडेट्स को प्री-कमीशन प्रशिक्षण देती है। यह प्रशिक्षण तीन वर्ष का होता है, जिनमें से आरम्भ के दो वर्षों में तीनों सेनाओं के कैडेटों को सम्मिलित प्रशिक्षण दिया जाता है। तीसरे वर्ष प्रशिक्षणार्थियों को अपनी-अपनी सेनाओं के सबध में विशेषीकृत प्रशिक्षण दिया जाता है। अकादमी में प्रशिक्षण पूर्ण हो जाने के उपरात नैवी तथा वायुसेना के कैडिटों को अपने से सबधित उच्च प्रशिक्षण

प्राप्त करने हेतु अन्यत्र भेज दिया जाता है। स्थल सेना के कैडेट्स एक वर्ष का उच्च प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए भारतीय सैन्य अकादमी देहरादून भेज दिए जाते हैं।

## 2 राष्ट्रीय रक्षा महाविद्यालय, नई दिल्ली

इस महाविद्यालय की स्थापना सन् 1960 में, इम्पीरियल डिफेन्स लंदन के आधार पर की गई थी। तीनों सेनाओं के वरिष्ठ अधिकारियों को विशिष्ट प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए यह महाविद्यालय एक तकनीकी संस्थान के रूप में कार्य करता है।

## 3. रक्षा सेवा स्टाफ महाविद्यालय, वेलिंगटन

यह महाविद्यालय उच्च सैन्य प्रशिक्षण और तीनों सेनाओं के अधिकारियों के लिए सामान्य शिक्षा की व्यवस्था करता है। संगठन एवं कार्यविधि की दृष्टि से यह महाविद्यालय एक विश्वविद्यालय की भांति है, जिसमें चयन किये गये कुछ विशेष ऑफिसरों को विशेष प्रकार के प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है।

## 4. सशस्त्र सेना मेडीकल महाविद्यालय, पूना

यह विद्यालय एक साथ दो कार्य करता है। एक तरफ तो नव-कमीशन प्राप्त मेडीकल ऑफिसरों को यहां चिकित्सा संबंधी व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता है, तो दूसरी ओर यह सेवारत मेडिकल ऑफिसरों की सेवा के दौरान-रिफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था करता है। *यह प्रशिक्षण डॉक्टरों को सैनिक जीवन की विशेष स्वास्थ्य समस्याओं से परिचित कराता है।*

## 5. विशेषीकृत प्रशिक्षण संस्थान (स्थल सेना)

*भारतीय सैन्य अकादमी, देहरादून स्थल सेना के अधिकारियों के प्रशिक्षण की प्रथम* सीढ़ी है। अकादमी से पास होने पर कैडेट कमीशन प्राप्त करने से पूर्व यहां एक वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करते आते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे कितने ही प्रशिक्षण संस्थान हैं, जहां स्थल-सेना के अधिकारी प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। ये प्रशिक्षण संस्थान निम्नलिखित हैं–

1. कालेज ऑफ मिलिट्री इंजिनियरिंग, किरकी।
2. दि स्कूल ऑफ आर्टिलरी, देवलाली।
3. दि इन्फेन्ट्री स्कूल, महऊ।
4. दि आर्डिनेन्स स्कूल, जबलपुर।
5. दि मान्ट्स वेटेरिनरी सैन्टर।
6. दि स्कूल ऑफ फीजिकल ट्रेनिंग, पूना।
7. दि आर्मी एण्ड एयर ट्रान्सपोर्ट स्कूल, आगरा।

इन संस्थानों में स्थल सेना के नये पुराने *अधिकारियों को नाना प्रकार के प्रशिक्षण* दिये जाते हैं।

### *6. स्पेशलाइज्ड ट्रेनिंग एस्टेब्लिशमेंन्टस (नेवी)*

भारतीय नौ सेना के प्रमुख प्रशिक्षण केन्द्र आई एन एम वेन्दुरूथी एव नेवल एयर स्टेशन, गरूदा में स्थित हैं। ये दोनों ही स्थान कोचीन बदरगाह के अतर्गत आते हैं।

दि इर्जीनियरिग कालेज एट लोनावाला नौ सेना के कनिष्ठ इर्जीनियरों तथा विद्युत अधिकारियों को प्रशिक्षण देता है।

आई एन एस वालसुरा, जामनगर नौ सेना की विद्युत शाखा के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। इनके अतिरिक्त आई एन एस सर्कम, विशाखापट्टनम और आई एन एस शिमला तथा बम्बई ऐसे केन्द्र हैं जहा भी नौ सेना के अधिकारियों को प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है।

### *7 स्पेशलाइज्ड ट्रेनिंग एस्टेब्लिशमेंन्टस (एयर फोर्स)*

भारतीय वायु सेना के अधिकारियों को प्रशिक्षण देने वाले कुछ प्रमुख सस्थान निम्न हैं।

1 दि एयर फोर्स फ्लाइग कालेज, जोधपुर।

2 दि एयर फोर्स टेकनिकल कालेज, जलाहली।

3 दि एयर फोर्स एडमिनिस्ट्रेटिव कालेज, कोयम्बटूर।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्यालयों में भी यही प्रशिक्षण दिया जाता है। ऐसे दो स्कूल जलाहली में ही स्थित है। एक स्कूल तम्बारम में तथा एक अन्य स्कूल हैदराबाद में स्थित है। इन सस्थानों में वायु सेना के अधिकारियों एव कर्मचारियों को उनके कार्यों से सबंधित प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

इन प्रशिक्षण सस्थानों के अतिरिक्त कुछ छोटी एव सामान्य प्रशिक्षण सस्थाएं भी हैं, जैसे एन सी सी ऑफिसर्स ट्रेनिग स्कूल, काम्पटी तथा आर्डिनेन्स फैक्ट्रीज के प्रशिक्षण केन्द्र आदि।

## प्रतिरक्षा मंत्रालय का रक्षा उत्पादन विभाग

प्रतिरक्षा मत्रालय के इस विभाग के अधीन निम्नलिखित सस्थान कार्य कर रहे हैं—

### 1. आर्डनेन्स कारखानों का महानिदेशालय

आर्डनेन्स कारखानों का महानिदेशक भारतीय आर्डनेन्स कारखानों का प्रशासन निर्देशन और नियत्रण कार्य करता है। ये कारखाने भारत के विभिन्न भागों में बिखरे हुए हैं और प्रतिरक्षा सेनाओं की आवश्यकताओं के अनुसार हथियारों, गोला, बारूद, गाडियों, सैनिक और अन्य उपकरणों के निर्माण एव उत्पादन का कार्य करते हैं।

आर्डनेन्स कारखानों की कुल सख्या पच्चीस है, जिसमें इन्जीनियरिंग, धातु रसायन, पैट्रोल, वस्त्र और चमडा टैक्नॉलोजी आदि का कार्य किया जाता है। इन उद्योगों में लगभग 35,000 व्यक्ति कार्य कर रहे हैं।

## 2. निरीक्षण महानिदेशालय

निरीक्षण महानिदेशालय का उत्तरदायित्व प्रतिरक्षा सेनाओं के लिए हथियारों गोला-बारूद तथा साज-सामानों (वायु-सेना और नौ सेना को छोडकर) का निरीक्षण करना है जो आर्डनेन्स और विभागीय कारखानों तथा सरकारी क्षेत्र की संस्थानों द्वारा निर्मित या उत्पादित किये जाते हैं। इनमें कुछ ऐसे भडार भी सम्मिलित हैं जिनका निरीक्षण पूर्ति तथा निपटान महानिदेशक स्वय करता है।

निरीक्षण सेवाओं का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य सामग्री और तैयार साज-सामानों के भडारों का प्रयोगशालाओं में परीक्षण करना है। इसके द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि वे निश्चित विवरण के अनुसार भी है अथवा नहीं। इस काम के लिए सभी महत्वपूर्ण स्थानों पर अलग-अलग प्रयोगशालाएं स्थापित की गई हैं जिससे सप्लाई की जाने वाली वस्तुओं का निरीक्षण शीघ्रता से हो सके।

## 3. आयोजना और समन्वय निदेशालय

इस निदेशालय की स्थापना 1964 में रक्षा उत्पादन विभाग के अधीन किसी भी अधिकारी सस्था अथवा आर्डनेन्स कारखाने के कार्य क्षेत्र में पडने वाले रक्षा उत्पादन को बढाने के प्रस्तावों का अध्ययन करने तथा रक्षा उत्पादन बोर्ड और सरकारी क्षेत्र की सस्थाओं की बैठकों के सचिवालय के रूप में कार्य करने के लिए की गई थी। रक्षा उत्पादन सबधी मामलों के विषय में निदेशालय अन्य मत्रालयों और सगठनों जैसे औद्योगिक विकास तथा कपनी मामलों (लाइसेन्स देन वाली समिति) के मत्रालय वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसधान परिषद् तथा योजना आयोग आदि से सपर्क बनाये रखता है।

## 4. हैवी व्हीकल फैक्ट्री, आवडी

मिडियम टैंकों के उत्पादन के लिए आवडी (मद्रास) में हैवी व्हीकल फैक्ट्री स्थापित की गई थी। यह फैक्ट्री अक्तूबर 1968 से कार्य कर रही है।

## 5. ए.एफ.डी. फैक्ट्री, हजरतपुर (आगरा)

अधिक ऊचाई पर तैनात सैनिकों के लिए भोजन एव शुष्क मास के उत्पादन के लिए यह फैक्ट्री हजरतपुर में स्थापित की गई है।

## 6 तकनीकी विकास तथा उत्पादन निदेशालय (वायु सेना)

इस निदेशालय की स्थापना 1954 में प्रतिरक्षा वैमानिक उपकरणों का निरीक्षण करने तथा कच्चे माल, विमान के सामान्य कलपुर्जों और वैमानिक भडारों के लिए देशी सामान तथा साधनों को विकसित करने के लिए की गई।

## 7. रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन

रक्षा अनुसधान एव विकास सगठन का उत्तरदायित्व अनुसधान डिजाइन तथा सशस्त्र

सेनाओं की आवश्यकताओं के लिए सभी प्रकार के साज-सामानों का विकास करते रहना है। इस संगठन के अंतर्गत अनेक विकास संस्थान तथा अनुसंधान प्रयोगशालाएं सारे भारत वर्ष में विभिन्न भागों में कार्यरत हैं।

8 मानकीकरण निदेशालय

यह निदेशालय तीनों सेनाओं द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले विभिन्न उपकरणों के मानकीकरण और उनकी सूची आदि बनाने के लिए उत्तरदाई है। वैज्ञानिक सलाहकार रक्षा तथा वित्त मंत्रालयों के प्रतिनिधि, तीनों सेनाओं के विशेषज्ञ अनुसंधान तथा विकास संगठन और निरीक्षण संगठनों के प्रतिनिधियों की एक मिली-जुली मानकीकरण समिति मानकीकरण के महत्व तथा देश में सामान बनाने के आधारों को ध्यान में रखते हुए रक्षा सेनाओं में नये उपकरणों के उपयोग के लिए विभिन्न प्रस्तावों पर विचार करती है।

## रक्षा मंत्रालय के अधीन लोक-उद्यम

रक्षा मंत्रालय के तत्वाधान में अनेक लोक उद्यम भी उत्पादन कार्य करते हैं। इन उद्यमों में रक्षा सेनाओं के काम आने वाले उपकरणों का निर्माण होता है। रक्षा मंत्रालय के रक्षा उत्पादन विभाग के अधीन कार्यरत ये लोक उद्यम मुख्य रूप में निम्न हैं–

1 भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड, बंगलौर।
2 भारत अर्थ-मूवर्स लिमिटेड, बंगलौर।
3 गार्डन रीच वर्कशाप लिमिटेड, कलकत्ता।
4 मझगांव डाक लिमिटेड, बम्बई।
5 प्रागा टूल्स कारपोरेशन लिमिटेड, सिकन्दराबाद (आन्ध्रप्रदेश)।
6 हिन्दुस्तान एरोनाटिक्स लिमिटेड, बंगलौर।
7 गोवा शिपयार्ड लिमिटेड, गोवा।

## प्रतिरक्षा पूर्ति विभाग

प्रतिरक्षा मंत्रालय का दूसरा विभाग रक्षा पूर्ति विभाग कहलाता है। इस विभाग की स्थापना नवम्बर सन् 1965 में की गई थी। इस विभाग का प्रशासकीय दायित्व डिफेन्स सप्लाइज की स्थिति को संतोषजनक स्थिति में रखना है।" इस प्रकार प्रतिरक्षा मंत्रालय का संगठन काफी विस्तृत एवं जटिल है। यह संगठन आज भी बहुत कुछ उसी रूप में चल रहा है जैसे पहले था। स्वतंत्रता के पश्चात् भी इसमें क्रांतिकारी अथवा नये परिवर्तन नहीं किये गये हैं। ब्रिटिश शासन काल का यह संगठन वैसा-का-वैसा ही विरासत के रूप में चला आ रहा है। जो सामान्य परिवर्तन गत वर्षों में किये गये हैं, वे स्पृहणीय है। संगठन की दृष्टि से प्रतिरक्षा मंत्रालय को सुगठित एवं सक्षम बनाने के लिए निम्न सुझाव उल्लेखनीय होंगे–

1 हमारे देश में सैन्य प्रशासन के प्रति एक दृष्टिकोण ऐतिहासिक रूप में जनता द्वारा

स्वीकृत एव मान्य समझा जाता रहा है। अग्रजों की भी भारतीय सेना के विषय में जो कल्पना थी वह नकारात्मक थी। उसमें परिवर्तन आवश्यक है और वाछनीय भी। हमारे यहा केवल थोड़े से लोगों को ही एक कैरियर के रूप में सारी जिदगी व्यतीत करने की व्यवस्था है। अन्य देशों की भाति 21 से 24 वर्ष तक के सभी युवकों को अनिवार्य सैन्य शिक्षा दी जा सकती है। देश के समूचे युवावर्ग को सेना में एक निश्चित समय के लिए रखने की व्यवस्था से प्रतिरक्षा सगठन को विशिष्ट लाभ हो सकते हैं।

2 सेना में प्रशिक्षण सबसे अधिक आवश्यक होता है। सैनिक प्रशिक्षण विशिष्ट एव उपयोगी हो, इसके लिए प्रतिरक्षा प्रशिक्षण को आधुनिकतम एव सगठन को सृजनशील बनाना होगा क्योंकि प्रशिक्षण का पक्ष दुर्बल रहा है। चीन के साथ युद्ध में पराजय का एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि हमारे सैनिकों को बर्फीले पहाड़ों पर लड़ने का प्रशिक्षण नहीं दिया गया था। अत इस मत्रालय में प्रशिक्षण विभाग के नाम से एक नये विभाग की स्थापना की जा सकती है।

3 भारत में सैन्य सेवाओं का आधुनिकीकरण तथा आणविकीकरण यदि नीति के रूप में स्वीकार कर लिया जाए तो प्रतिरक्षा मत्रालय को इस दिशा में सगठनात्मक ढाचा खड़ा करना होगा।

युद्ध की स्ट्रेटेजी और दर्शन बदल चुके हैं। परपरावादी हथियारों का युद्ध अब इतिहास का विषय बन चुका है। अत एप्रोच के सबध में शोध एक अनिवार्यता है। रणनीति एव सैन्य बल के वैज्ञानीकरण के विषय में भी शोध उपयोगी यत्र है। इसीलिए भारत के प्रतिरक्षा मत्रालय में एक प्रतिरक्षा शोध-प्रभाग की स्थापना की जा चुकी है। लेकिन प्रतिरक्षा जैसे मत्रालय में शोध के इतने महत्वपूर्ण कार्य को निरतरता से करने के लिए एक डिवीजन की स्थापना पर्याप्त नहीं है। यह गुरुतर कार्य डिवीजन स्तर के सगठन से यदि अपग्रेड कर दिया जाए तो उसका शोध कार्य प्रतिरक्षा सेनाओं के आधुनिकीरण में एक सशक्त भूमिका निभा सकता है।

4 आणविक अस्त्र-शस्त्रों के सबध में भी शोध करने के लिए एक स्वतत्र डिवीजन की स्थापना की जा सकती है। यह क्षेत्र भावी सैन्य प्रशासन में इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि यदि प्रतिरक्षा मत्रालय में इस विषय से सबधित कार्य करने के लिए पृथक् विभाग भी स्थापित कर दिया जाए तो सर्वथा उचित होगा। आज के विश्व में जब कि चारों ओर आणविक शस्त्रों का बोल-बाला है। इस क्षेत्र में पिछड़े रहना हमें महाशक्तियों का पिछलग्गू बनने के लिए विवश कर सकता है। अत सेना के आणविकीकरण पर शोध कार्य चालू रखने के लिए प्रतिरक्षा मत्रालय में एक शोध विभाग की स्थापना की जा सकती है, चाहे भारत की विदेश नीति अणुबम के विषय में कुछ भी हो।

5 प्रतिरक्षा उत्पादन विभाग तथा प्रतिरक्षा पूर्ति विभाग वर्तमान में दो भिन्न-भिन्न मंत्रियों के अधीन कार्य कर रहे हैं। इस सबंध में एक सुझाव यह दिया जाता है कि यदि इन विभागों को राजनीतिज्ञों के प्रशासकीय नियत्रण से हटाकर आर्मी हैडक्वार्टर्स के अधीन बना दिया जाए तो इसके कुछ लाभ होंगे। ऐसा करने से इन विभागों में व्याप्त राजनीतिक व्यवस्था को हटाया जा सकेगा और विभाग अधिक सुचारू रूप से अपना-अपना कार्य सपन्न कर सकेंगे।
6 कुछ लोगों का यह भी कहना है कि प्रतिरक्षा मत्रालय में गोपनीय कार्य का प्रशासकीय सगठन दुर्बल है। इस कमी को दूर करने के लिए समुचित प्रयास आवश्यक है। इसके लिए यदि एक नियमित इन्टलीजेन्स प्रतिरक्षा मत्रालय के सगठन में ही अन्तर्गुम्फित कर दिया जाए तो सेना की कमानों और अन्य एजेन्सीज को अपना उत्तरदायित्व निभाने में समुचित सहायता उपलब्ध हो सकेगी और प्रशासकीय सगठन की दुर्बलता को भी दूर किया जा सकेगा।

## विदेश मंत्रालय

आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग में ससार के सभी देशों के राजनीतिक नियमन के प्रशासन में विदेश मत्रालयों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। भारत के सदर्भ में तो यह बात विशेष रूप से महत्व रखती है, चूंकि भारत की अपनी भौगोलिक स्थिति एव विदेश नीति के सिद्धात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के नियमन और सचालन में एक विशेष प्रकार की भूमिका निभाते हैं। भारत का विदेश मत्रालय अन्य देशों के साथ भारत के सबधों का नियमन करने वाली विदेश नीति के निर्माण एव क्रियान्वयन के लिए उत्तरदाई है।

ईस्ट इण्डिया कपनी के शासनकाल में सन् 1783 तक भारत सरकार के वैदेशिक सबधों के सचालन का कार्यभार जिस विभाग पर था उसे सीक्रेट डिपार्टमेन्ट या गोपनीयता विभाग कहा जाता था। इस समय तक विदेश विभाग नामक न कोई स्वतत्र सस्था थी और न ही यह आवश्यक समझा गया कि साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए इन्हें सार्वजनिक रूप से सचिवालय द्वारा सचालित किया जाए। सन् 1783 में जब विदेश विभाग नाम से एक नवीन एव स्वतत्र विभाग का गठन किया गया, तब भी यह उचित समझा गया कि इस विभाग के लिए पृथक् से किसी विदेश सचिव की नियुक्ति न की जाए। अत सगठनात्मक दृष्टि से स्वतत्र अस्तित्व प्राप्त करने के पश्चात् भी प्रशासकीय दृष्टि से यह गोपनीयता विभाग के सचिव की अध्यक्षता में ही अपना कार्य करता रहा।

सन् 1786 में जब गोपनीयता विभाग का पुनर्गठन किया गया तो पुनर्गठन के फलस्वरूप इस विभाग में निम्न चार शाखाए और जोड दी गई—

1 गोपनीय-राजनीति,
2 गोपनीय-सैन्य सबध,

3 गोपनीय विदेशी मामले, एव

4 गोपनीय-उपाय एव सुधार।

मिलिट्री और सुधार शाखाए कुछ समय उपरात इस विभाग से पृथक् कर दी गईं। अठारहवीं शताब्दी के पटाक्षेप के समीप जब इस विभाग का एक बार फिर पुनर्गठन हुआ तो यह पुनर्गठित विभाग दो भागों में विभक्त हो गया एक गोपनीयता विभाग तथा दूसरा विदेश एव राजनीति विभाग, लेकिन इस समय भी ये दोनों विभाग एक ही सचिव के अधीन रहे।

सन् 1883 के चार्टर अधिनियम के अतर्गत भारत सरकार का केन्द्रीय सचिवालय बगाल सरकार के प्रातीय सचिवालय से पृथक् हुआ। इस पृथक्कीकरण के फलस्वरूप सैनिक एव गोपनीयता विभाग अब पूर्णरूपेण भारत सरकार के प्रति उत्तरदाई हो गये। फिर भी विषयों की मिश्रित व्यवस्था सन् 1843 तक बनी रही। दोनों सचिवालय पूर्णरूपेण पृथक नहीं हुए थे एक सयुक्त सचिव दोनों का प्रशासकीय कार्यभार देखता रहा। सन् 1843 में जब सयुक्त सचिवालय की व्यवस्था समाप्त की गई उस समय कपनी सरकार के चार प्रशासकीय विभाग थे। विदेश विभाग भी इसमें से एक था। यह विदेश विभाग, राजनीतिक, विदेश एव गोपनीय मामलों की तीन शाखाओं में व्यवस्थित था। सन् 1859 में गवर्नर- जनरल की कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को विभिन्न विभाग सौंपे गये और एक पोर्टफोलियो व्यवस्था आरम्भ की गई। चूंकि विदेश विभाग एक अत्यत महत्वपूर्ण विभाग था और क्राउन की सरकारों से अन्य सरकारों के सबधों के नियमन का प्रश्न एक महत्वपूर्ण मामला था। अत गवर्नर-जनरल स्वय इस विभाग को अपने पास रखते थे। सन् 1914 में इस विभाग का नाम विदेश विभाग से बदल कर विदेश और राजनीति विभाग कर दिया गया। सगठन में अब इस विभाग की दो शाखाए थीं–

1 राजनीतिक शाखा, और

2 विदेश शाखा।

इनमें से प्रथम शाखा भारतीय देशी रियासतों से सबंधित मामलों की देखभाल किया करती थी एव दूसरी शाखा भारतीय सीमा प्रदेश से सबंधित मामलों तथा भारत के विदेशों से सबध आदि प्रश्नों के लिए उत्तरदाई थी। इन दोनों शाखाओं के लिए अलग-अलग सचिवों की भी व्यवस्था की गई थी।

सन् 1937 में इन दोनों शाखाओं को अलग-अलग विभागों में परिणत कर दिया गया अर्थात् दोनों शाखाए विकसित होकर दो स्वतत्र प्रशासकीय विभाग बन गईं। राजनीतिक शाखा का स्तर बढ़ाकर राजनीतिक विभाग स्थापित किया गया और विदेशी शाखा का विदेशी मामलों के विभाग के रूप में नया नामकरण किया गया। जब से विदेश विभाग का कार्य गवर्नर-जनरल के स्वय के अधिकार क्षेत्र में आया तभी से ब्रिटिश उपनिवेशवादी देशों से

संबंधित सारे मामले एक अन्य पृथक् विभाग द्वारा संचालित किये जाने लगे। इस विभाग का मुख्य कार्य बर्मा, श्रीलंका और इसी प्रकार के अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों से संबंधित राष्ट्र-मंडलीय संबंध विभाग के नाम से अभिहित किया गया।

इस प्रकार सन् 1946 में जब अंतरिम सरकार बनी उस समय तक भारत सरकार के वैदेशिक संबंधों के लिए दो विभाग सम्मिलित रूप से उत्तरदाई थे—

1 विदेश विभाग

2 राष्ट्रमंडलीय संबंध विभाग।

विदेश विभाग राष्ट्रमंडलीय देशों को छोड़कर संसार के अन्य देशों से भी भारत के राजनीतिक एवं कूटनीतिक संबंधों का संचालन करता था तथा राष्ट्रमंडलीय देशों से राजनीतिक एवं कूटनीतिक संबंधों को बनाये रखने की जिम्मेदारी इसी राष्ट्रमंडलीय संबंध विभाग पर थी। सन् 1947 के मध्य में यह अनुभव किया गया कि 'विदेश विभाग' और राष्ट्रमंडलीय संबंध विभाग को मिला कर एक संयुक्त विभाग बना दिया जाए। फलस्वरूप जो पुनर्गठित विभाग बना उसे विदेश और राष्ट्रमंडलीय संबंध विभाग की संज्ञा दी गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस विभाग का विदेश एवं राष्ट्रमंडलीय संबंध मंत्रालय के नाम से फिर नया स्वरूप दिया गया। अब इसके कार्य बढ़ने लगे। अतः सन् 1948 में इस मंत्रालय में विदेशों से जनसंपर्क का नया कार्य जो अब तक सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के पास था जोड़ दिया गया। मार्च 1949 में इस मंत्रालय के नाम से राष्ट्रमंडलीय संबंध शब्द हटा दिया गया और यह स्वतंत्र भारत का केवल 'विदेश मंत्रालय' बन कर एक सुगठित प्रशासकीय इकाई के रूप में सामने आया।[19]

इस प्रकार विदेश विभाग की यह जीवन गाथा सन् 1783 से आरम्भ होकर सन् 1949 में अपनी चरम परिणति प्राप्त करती है। इसका इतिहास यह सिद्ध करता है कि परतंत्रता के कारण अंग्रेजों के शासनकाल में भारतीय विदेश मंत्रालय कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं पा सका। इस कारण इसका प्रशासकीय संगठन भी औपनिवेशिक हितों के अनुरूप ही विकसित हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब देश की अपनी विदेश नीति एवं नई अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिमा बनने लगी तो इसके आकार-प्रकार में अन्तर आना अनिवार्य था। फिर भी प्रशासकीय दृष्टि से इस विभाग के संगठन में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं लाये जा सके हैं। पिल्लई प्रतिवेदन ने इस मंत्रालय के ऐतिहासिक स्वरूप में परामर्शदात्री निकायों के जो सुझाव दिये थे उनके फलस्वरूप अभी हाल में इसके संगठन में कुछ सुधार आरम्भ करने की दिशा में प्रयत्न हुए हैं।

## विदेश मंत्रालय का संगठन

प्रस्तुत मंत्रालय भारत सरकार का एक विशाल मंत्रालय है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व, यह मंत्रालय सदैव ही गवर्नर-जनरल की देख-रेख में रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जब तक पंडित जवाहर लाल नेहरु भारत के प्रधानमंत्री रहे तब तक विदेश मंत्रालय उन्होंने

अपने पास रखा। उनके बाद भी इस मत्रालय के सभी मत्री सदैव कैबिनेट के महत्वपूर्ण सदस्यों में से रहे।

इस मत्रालय का प्रधान भारत सरकार की कैबिनेट के स्तर का एक मंत्री होता है। उसकी सहायता हेतु प्रशासकीय स्तर पर तीन सचिव होते हैं। पहले इन तीनों सचिवों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए एक महासचिव भी हुआ करता था। यह पद अभी हाल ही में समाप्त कर दिया गया है। अब तीनों सचिव अपने-अपने क्षेत्रों में सीधे मत्री महोदय के पास अपनी-अपनी फाइलें सप्रेषित करते हैं।

भारत के विदेश मत्रालय में एक सचिवालय और दो अधीनस्थ कार्यालय हैं। अभी तक इस मत्रालय में कोई सलग्न कार्यालय नहीं है। इन दो कार्यालयों के अतिरिक्त सारे ससार में भारत सरकार के राजनयिक अथवा राजदूत फैले हुए हैं। लेकिन ये दूतावास कार्यालय अपने-आप में विलक्षण हैं और इन्हें इस मत्रालय के अधीनस्थ अथवा सलग्न कार्यालय नहीं कहा जा सकता।

सन् 1969 के आकड़ों के आधार पर इस मत्रालय के प्रमुख पदाधिकारी इस प्रकार थे–

| | |
|---|---|
| सचिव | 3 |
| अतिरिक्त सचिव | 2 |
| सयुक्त सचिव | 12 |
| निदेशक | 11 |
| विशेष कार्याधिकारी | 2 |
| सह-सचिव | 21 |
| सूचना अधिकारी | 7 |
| सह-निदेशक | 6 |
| वरिष्ठ शोध अधिकारी | 13 |
| अटैची | 12 |
| उप-नियत्रक | 1 |
| सहायक निदेशक | 1 |
| शोध-अधिकारी | 9 |
| प्रचार अधिकारी | 5 |
| सहायक कानूनी परामर्शदाता | 2 |
| विधि अधिकारी | 7 |
| सैक्शन अधिकारी | 105 |

सप्रति यह मत्रालय अनेक प्रभागों में विभक्त है। प्रभागों का यह वर्गीकरण कार्यात्मक है। कुछ प्रभाग तो इतने बड़े हैं कि वे सारे ससार से सबध रखते हैं। प्रशासकीय दृष्टि

से इन सभी प्रभागों में विशेषीकरण देखा जा सकता है। सक्षेप में इन प्रभागों का सगठन निम्न प्रकार से है–

## भौगोलिक प्रभाग

ससार के विभिन्न देशों से अपने सबधों का नियमन करने के लिए भारत सरकार के विदेश मत्रालय ने सारे ससार के देशों को उनकी भौगोलिक स्थिति के आधार पर निम्नलिखित प्रभागों में बाट रखा है। ये प्रभाग हैं–

1 अमेरिका प्रभाग,
2 यूरोपीय प्रभाग,
3 पश्चिमी एशियाई और उत्तरी अफ्रीका प्रभाग
4 अफ्रीकी प्रभाग,
5 पाकिस्तान प्रभाग,
6 बागला देश प्रभाग,
7 उत्तरी एशिया प्रभाग,
8 पूर्वी एशिया प्रभाग,
9 दक्षिणी एशिया प्रभाग।

इस प्रकार इस मत्रालय के प्रत्येक प्रभाग में (कुछ को छोड कर) अनेक देश हैं, जो भौगोलिक आधार पर सम्मिलित किये गये हैं। प्रत्येक डिविजन अपने क्षेत्र में अवस्थित देशों से भारत के वैदेशिक सबधों के सचालन के लिए उत्तरदाई है। इन नौ भौगोलिक डिविजन्स के अतिरिक्त दस अन्य प्रभाग जो विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं इस प्रकार हैं–

### *1. प्रोटोकोल डिविजन*

यह डिविजन विदेशों से आने वाले मेहमानों के स्वागत से सबंधित जितने भी औपचारिक कार्य हैं उनके सपादन के लिए गठित किया गया है। विदेशों से आने वाले, राष्ट्राध्यक्षों तथा अन्य उच्च-अधिकारियों के आगमन पर उनके स्वागत, सधियों तथा समझौतों आदि पर हस्ताक्षर करवाने सबधी औपचारिक कार्यों की व्यवस्था यह प्रभाग करता है। इसी प्रकार की अन्य औपचारिक रीति-रिवाजों का निर्वहन इसी डिविजन द्वारा सपादित किया जाता है। यही वह डिविजन है जो विदेशी राजदूतों के भारत आने पर उनके परिचय पत्रों के प्रस्तुतीकरण के लिए समारोह आदि आयोजित करता है। इस विभाग के अधिकारी सरकार की ओर से विदेशी मेहमानों की हवाई-अड्डे पर अगवानी भी करते हैं।

### *2. संयुक्त राष्ट्र तथा सम्मेलन डिविजन*

इस डिविजन में सयुक्त राष्ट्रसघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों आदि से सबंधित कार्य सम्पन्न किया जाता है। सयुक्त राष्ट्र सघ एव अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में हमारे प्रतिनिधियों आदि को मनोनीत करने की व्यवस्था इस डिविजन द्वारा की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों

के महत्वपूर्ण दस्तावेज इसी प्रभाग में तैयार किये जाते हैं और उन्हें यह सुरक्षित भी रखता है।

### 3. पासपोर्ट, एमिग्रेशन तथा कान्सलर डिविजन

विदेश मन्त्रालय का यह डिविजन पासपोर्ट, वीसा, स्वदेश से दूसरे देश में जाकर बसने वाले भारतीयों तथा वाणिज्य संबधी मामलों की देखभाल करता है और उनके संचालनार्थ प्रशासकीय कदम उठाता है।

### 4. वैधानिक एवं संधि डिविजन

यह डिविजन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्नों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों से संबधित विभिन्न प्रकार के कार्यों का संचालन करता है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली नित नई संवैधानिक समस्याओं पर इस प्रभाग में विचार-विमर्श चलता रहता है। भारत सरकार द्वारा अन्य देशों के साथ जो संधियां तथा समझौते आदि किये जाते हैं, उन्हें प्रकाशित एवं प्रमाणित करने की व्यवस्था विदेश मन्त्रालय के इसी प्रभाग द्वारा की जाती है।

### 5. विदेशों में प्रचार डिविजन

सन् 1948 तक यह कार्य भारत सरकार का सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय करता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सन् 1948 से यह कार्य विदेश मन्त्रालय को इसलिए सौंप दिया गया कि अपनी तटस्थ विदेश नीति को संसार के विभिन्न मित्र राष्ट्रों को समझाने की भारत सरकार द्वारा आवश्यकता अनुभव की गई। आजकल विदेश मन्त्रालय में इसके लिए पृथक् से एक स्वतंत्र प्रशासकीय डिविजन है और इसका कार्य दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। यह डिविजन भारत सरकार की ओर से एवं विदेशों की राजधानियों में प्रचार एवं तत्संबधी अन्य सारे कार्य करता है, जिसकी आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अत्यंत उपयोगिता है। इसके अलावा सद्भावना मिशन, अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक कार्यक्रम, अन्तर्राष्ट्रीय मेलों एवं समारोहों में भारत के प्रतिनिधित्व से संबंधित अन्य सामान्य कार्य भी इसी डिविजन के कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं।

### 6. ऐतिहासिक डिविजन

यह प्रभाग विदेश मन्त्रालय के लिए शोध-कार्य करवाता है तथा मन्त्रालय से संबधित एक विशाल पुस्तकालय का प्रबंध भी करता है। संधि, समझौतों आदि के लिए इस विभाग की शोध, समुचित मार्ग दर्शन का कार्य भी करता है।

### 7. प्रशासकीय डिविजन

यह डिविजन विदेश मन्त्रालय तथा इसके विदेशों में स्थित विभिन्न प्रकार के दूतावासों के कार्मिक प्रशासन की समस्याओं जैसे स्थापना तथा आपूर्ति आदि का लाइन कार्य संभालता है। यह एक कार्यकारी प्रभाग है और भौगोलिक दृष्टि से इसका क्षेत्र सारे संसार में फैला हुआ है।

### 8. आर्थिक डिविजन

यह डिविजन भारत तथा दूसरे देशों के बीच आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग तथा समन्वय कार्यों को बढ़ाने के लिए प्रयास करता है। इन प्रश्नों से संबंधित सभी प्रशासकीय मामले इस प्रभाग द्वारा संचालित किये जाते हैं।

### 9. नीति आयोजन तथा पुनर्निरीक्षण डिविजन

यह डिविजन विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों के संदर्भ में भारत की विदेश नीति का मूल्यांकन करता रहता है। बदलती हुई अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में भारत की विदेश-नीति एवं संबंधों में क्या-क्या परिवर्तन किये जाने चाहिए, इस विषय पर यह विदेश नीति के लिए अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन योजनाएं भी बनाता है।

### 10. कर्मचारी, सुरक्षा, संचार और नागरिक सुरक्षा डिविजन

यह डिविजन विदेशों में रहने वाले भारतीय नागरिकों एवं भारतीय मिशनों के कर्मचारियों के हितों की रक्षा के लिए स्थापित किया गया है। यह प्रभाग यह देखता है कि प्रवासी भारतीय नागरिकों तथा भारतीय दूतावासों एवं मिशनों में कार्यरत भारतीय कर्मचारियों एवं अधिकारियों को कहीं कोई कष्ट तो नहीं है। यह डिविजन उनकी सुविधाओं के लिए समय-समय पर प्रयत्न करता रहता है। युगाण्डा में रहने वाले भारतीयों की नागरिकता का प्रश्न तथा उत्तरी वियतनाम में अमेरिकी बम वर्षा द्वारा भारतीय दूतावास को हुई क्षति आदि के मामले विदेश मंत्रालय के इस डिविजन ने बड़ी कुशलता से निपटाए। भारत के विदेश मंत्रालय में इन उपर्युक्त प्रभागों के अलावा एक निरीक्षणालय भी है जो विदेश मंत्रालय के आंतरिक मामलों और भारत सरकार द्वारा दूसरे देशों में भेजे गये मिशनों के कुशलतापूर्वक कार्य करने के संबंध में जांच-पड़ताल करता रहता है। अधिकारियों को दिये जाने वाले भत्ते आदि की जांच के लिए भी यह कार्यालय जिम्मेदार है। इसका अध्यक्ष विदेश मंत्रालय का एक अतिरिक्त सचिव होता है।

उपर्युक्त प्रशासकीय व्यवस्था भारत के विदेश मंत्रालय में दिल्ली स्थित सचिवालय की संगठनात्मक व्यवस्था है। इस मंत्रालय में अधीनस्थ एवं संलग्न कार्यालय भी हैं। संलग्न कार्यालय केवल दो ही हैं, जिन्हें हाल ही में स्थापित किया गया है।

## अधीनस्थ कार्यालय

वैसे तो विदेश मंत्रालय से संबंधित राजनीतिक एवं वाणिज्यिकी कार्यालयों का जाल सारे संसार में फैला हुआ है, पर प्रशासकीय दृष्टि से इन कार्यालयों की एक ऐसी स्थिति है जिस कारण इन्हें पारिभाषिक रूप में संलग्न अथवा अधीनस्थ दोनों ही प्रकार के कार्यालय नहीं माना जा सकता। फिर भी प्रशासकीय स्तर के आधार पर विदेशों में स्थित भारतीय राजनयिक एवं वाणिज्यिकी कार्यालयों को निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

### 1. दूतावास (आवासीय)

अन्तर्राष्ट्रीय सवधों की दृष्टि से विश्व में जो देश भारत के लिए विशेष महत्वपूर्ण हैं, उन देशों में भारत का राजदूत स्थाई रूप से रहता है। चीन, फ्रास, रूस, अमेरिका, जापान आदि देशों में भारत के आवासीय दूतावास हैं। सन् 1970 के आकडों के अनुसार ससार के 56 देशों में भारत के आवासीय दूतावास थे।

### 2. दूतावास (अनावासीय)

जो देश भारत की नजरों में किसी भी कारण से कम महत्वपूर्ण हैं, उनमें अनावासीय राजदूतों की व्यवस्था की गई है। ऐसी स्थिति में आवासीय राजदूत अपने पास के अनावासीय क्षेत्रों को सभालता है। उदाहरण के लिए मैक्सिको में भारत का आवासीय राजदूत पनामा का अनावासीय राजदूत भी है। रूस का आवासीय राजदूत मगोलिया का अनावासीय दूतावास भी सभालता है। कई देशों मे भारत सरकार इस प्रकार के अनावासीय दूतावास चलाती है।

### 3. उच्च-आयुक्त (आवासीय)

राष्ट्रमडलीय देशों में भारत सरकार के उच्च आयुक्त रहते हैं। आस्ट्रेलिया, कनाडा, श्रीलका, ब्रिटेन आदि देशों में भारत सरकार के बहुत पुराने आवासीय उच्चायुक्त कार्यालय हैं। वर्तमान में कई राष्ट्रमडलीय देशों में भारत सरकार के इस प्रकार के आवासीय उच्च आयुक्त हैं जो दूतावास प्रशासनों का सचालन कर रहे हैं।

### 4. उच्च आयुक्त (अनावासीय)

भारत के हितों की दृष्टि से छोटे अथवा कम महत्वपूर्ण राष्ट्रमडलीय देशों में भारत सरकार के अनावासीय उच्च आयुक्त कार्य करते हैं। साइमन्स, मालटा आदि देशों में वर्तमान में अनावासीय उच्च आयुक्त व्यवस्था पाई जाती है।

### 5. सह-उच्चायुक्त या सहायक उच्चायुक्त

कुछ राष्ट्रमडलीय देशों में उच्चायुक्तों के अतिरिक्त उप या सहायक उच्चायुक्त भी नियुक्त किये गये हैं। आस्ट्रेलिया में भारत सरकार के उच्च तथा उप-उच्चायुक्त दोनों ही कार्य करते हैं। उच्च आयुक्त का कार्यालय कैनबरा में है तथा उप-उच्चायुक्त का सिडनी में। बागला देश के निर्माण से पूर्व भारत सरकार का एक पाकिस्तान स्थित उप-उच्चायुक्त ढाका में रहता था। श्रीलका में उच्च आयुक्त के अतिरिक्त एव सहायक उच्चायुक्त भी कार्य करता है जिनके कार्यालय क्रमश कोलम्बो और कैण्डी में है।

### 6 आयुक्त (आवासीय)

ये छोटे स्तर के दूतावास है जहा भारत सरकार का प्रतिनिधि आयुक्त कहलाता है।

7. आयुक्त (अनावासीय)

इस प्रकार के अनावासीय आयुक्त कार्यालय कई देशों में कार्य कर रहे हैं।

8. लिगेशन (अनावासीय)

यह नामकरण ऐतिहासिक रूप में चला आ रहा है और ऐसे देश, जहा भारत सरकार के लिगेशन्स कार्य कर रहे हैं।

9. कौंसूलेट्स जनरल (आवासीय)

वाणिज्यिक सबधों के प्रोत्साहन के लिए ससार के अनेक देशों में भारत सरकार के कौंसूलेट्स जनरल कार्य कर रहे हैं। कुछ देशों में तो राजदूतों के अलावा पृथक् से वाणिज्य दूत भी हैं जैसे–डेनमार्क, जापान एव जर्मनी में भारत के राजदूत तो हैं ही, कितु उनके कार्यभार को बाटने के लिए कौन्सुलेट्स जनरल भी कार्य कर रहे हैं। जर्मनी जैसे कुछ देशों में तो एक से अधिक कौन्सुलेट्स जनरल कार्यालय हैं, जो बर्लिन, फ्रेंकफर्ट तथा हैमवर्ग शहरों में स्थित हैं।

10. कौन्सूलेट्स जनरल (अनावासीय)

वाणिज्यिक महत्त्व के अनुसार कई देश ऐसे हैं, जहा भारत सरकार की ओर से अनावसीय कौन्सुलेट्स जनरल की व्यवस्था है।

11. कौन्सूलेट्स (आवासीय)

भारत सरकार के आवासीय कौन्सूलेट्स कई हैं। इन देशों में राजदूत एव कौन्सूलेट्स जनरल के अतिरिक्त आवासीय कौन्सूलेट्स की व्यवस्था भी है और इस प्रकार वहा तीन अधिकारी कार्य कर रहे हैं। उदाहरण के लिए—अमेरिका में राजदूत के अतिरिक्त दो आवासीय कौन्सूलेट्स भी हैं, जिनके कार्यालय क्लीवलैण्ड तथा होनोलूलू में हैं। इसी प्रकार जर्मनी में भी राजदूत के अतिरिक्त तीन आवासीय कौन्सुलेट्स जनरल तथा दो अनावासीय कौन्सूलेट्स हैं। अफगानिस्तान, ईरान तथा इटली में भी राजदूत के अतिरिक्त आवासीय कौन्सूलेट्स नियुक्त किये गये हैं।

12. वाइस-कौन्सूलेट्स (आवासीय)

*आवासीय वाइस-कौन्सूलेट्स स्तर का कार्यालय केवल ईरान के जहीदीन नामक शहर* में है। यह वाइस-कौन्सूलेट्स कार्यालय राजदूत कार्यालय के अतिरिक्त है।

13. आवासीय वाणिज्य कमीशन एवं ऑफिस

*इस प्रकार के आवासीय वाणिज्य कमीशन कई हैं।*

14. विशेष मिशन (आवासीय)

ये मिशन भी कई छोटे-छोटे प्रदेशों में हैं।

उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के राजनीतिक एव वाणिज्यिक कार्यालय विदेश मत्रालय के क्षेत्रीय सस्थान अथवा अभिकरण हैं। इन्हीं के माध्यम से यह मत्रालय भारत सरकार की विदेश-नीति को कार्यान्वित करता है तथा विदेशों के साथ राजनीतिक, व्यापारिक एव सास्कृतिक सबधों को घटाता-बढाता रहता है।

## संलग्न कार्यालय

भारत के विदेश मत्रालय में केवल दो सलग्न कार्यालय हैं—

### (अ) केन्द्रीय पासपोर्ट एव उत्प्रवासी संगठन, नई दिल्ली

इस सगठन की स्थापना सन् 1959 में की गई थी। इससे पूर्व पासपोर्ट तथा उत्प्रवासी सगठन अलग-अलग प्रशासकीय सगठनों के रूप में कार्य कर रहे थे। इस सगठन के क्षेत्रीय कार्यालय हैं, जो

| | |
|---|---|
| दिल्ली, | लखनऊ, |
| कलकत्ता, | मद्रास, |
| बम्बई, | जयपुर, |

हैदराबाद आदि शहरों में स्थित हैं।

### (ब) विदेश मंत्रालय आवास, नई दिल्ली

विदेश मत्रालय द्वारा सचालित इस होस्टल में विदेश मत्रालय के अधिकारियों एव कर्मचारियों को अल्पकालीन आवास की सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। एक देश से दूसरे देश में स्थानातरण पर जाने वाले विदेश मत्रालय के दूतावासों के अधिकारी जब नई दिल्ली से गुजरते हैं अथवा परामर्श आदि के लिए राजधानी में बुलाये जाते हैं तो इस होस्टल में ठहरते हैं। इसकी स्थापना सन् 1965 में की गई थी।[21]

### विदेश मंत्रालय के कार्य[22]

विदेश मत्रालय विदेशों से भारत के मैत्रीपूर्ण सबधों की स्थापना के लिए उत्तरदाई है। मत्रालय का यह कर्तव्य है कि वह सयुक्त राष्ट्र सघ में देश का प्रतिनिधित्व करने की व्यवस्था करे तथा जब-जब भी भारत सरकार के मत्रालयों तथा राज्यों की सरकारों को विदेशी सरकारों एव सस्थाओं से कोई सपर्क अथवा सबध स्थापित करना हो तो उन्हें इस विषय में भी परामर्श दे।

प्रशासकीय दृष्टि से यह मत्रालय विदेशी सरकारों तथा राष्ट्रमडल के देशों से भारत के नित्य प्रति के सबधों का सचालन करता है। विदेशी सरकारों के साथ की जाने वाली राजनीतिक सधियों तथा समझौतों का प्रारूप तैयार करता है। सयुक्त राष्ट्र सघ एव अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उठाये जाने वाले भारत सरकार तथा अन्य सस्थाओं से सबधित मामले इसी मत्रालय में निर्णीत किये जाते हैं।

विदेश मन्त्रालय का एक महत्वपूर्ण कार्य कुछ विधियों का प्रशासन है, जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

भारतीय देशान्तरवार अधिनियम, 1922
पारस्परिकता अधिनियम, 1943
बंदरगाह हज समिति अधिनियम, 1932
*भारतीय तीर्थ-यात्रा जलयान अधिनियम*
तीर्थयात्री संरक्षण अधिनियम, 1887 (बम्बई)
मुस्लिम तीर्थयात्री संरक्षण अधिनियम, बंगाल 1896

इसी प्रकार यह मन्त्रालय भारत स्थित राजनयिक एवं वाणिज्य दूतावास अधिकारियों एवं संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकारियों तथा इनके विशेष अभिकरणों को प्रभावित करने वाले सभी विषयों पर विचार-विमर्श करता है। भारत से निर्गमन, पारपत्र और दृष्टांक आदि से संबंधित प्रशासन, भारत में विदेशी राजनयिक तथा कौन्सिल अधिकारियों को प्रभावित करने वाले विभिन्न प्रकार के प्रश्न इस मन्त्रालय के कार्य-क्षेत्र में आते हैं।

भारत से तिब्बत और तिब्बत से भारत के लिए सभी व्यापारियों, कुलियों तथा तीर्थयात्रियों के लिए यात्रा का प्रबंध भी विदेश मन्त्रालय को करना होता है। उत्तरी पूर्वी *सीमांत एजेन्सी तथा नागा पहाड़ी-तुएनसांग क्षेत्र के प्रशासन का उत्तरदायित्व भी इसे* निभाना पड़ता था।

विदेशी शरणार्थियों तथा विदेशों में सेवा अर्पित करने वालों के उत्तराधिकारियों को विदेश मन्त्रालय पेन्शन देने की व्यवस्था करता है। विदेशी आगुन्तकों, राजनयिकों तथा वाणिज्यिक दूतावासों के प्रतिनिधियों आदि के भारत आगमन पर सरकार की ओर से औपचारिकताएं निभानी होती हैं। भूटान जैसे राज्यों के साथ संबंधों का निर्वाह, सीमावर्ती क्षेत्रों के विकास कार्य, विदेशों में भारत-संबंधी प्रचार एवं संपर्क कार्य तथा भारत के बाहर स्थित तीर्थ स्थानों पर भारतीय तीर्थ यात्रियों की सहायता एवं सहयोग आदि के विभिन्न प्रकार के कार्य इस मन्त्रालय के कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं।

भारतीय विदेश सेवा से संबंधित विषय, अन्य देशों के साथ युद्ध की घोषणा *अथवा युद्ध विराम के पश्चात् आवश्यक निर्णय आदि लेना इस मन्त्रालय के विशिष्ट* कार्य हैं।

जल-थल एवं नभ में किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन, समुद्री डकैती, *हाईजैकिंग आदि अपराधों के संबंध में आवश्यक कार्यवाही करने के लिये यह समय-समय* पर कदम उठाता है। देश की सीमाओं पर होने वाले आक्रमणों तथा आक्रामक गतिविधियों का मुकाबला करना, भारत के ऊपर से गुजरने वाले विदेशी नागरिकों तथा सैनिक विभागों

को राजनयिक उडान की अनुमति देना, अतर्राष्ट्रीय कानून से सबंधित विभिन्न विषयों जैसे प्रादेशिक जल, सस्पर्शी क्षेत्र, महासमुद्रों में मछली पकड़ने के अधिकारों आदि के विषय में नीतियों की घोषणा एव अनुपालना करवाना विदेश मत्रालय के नियमित कार्य हैं।

इस प्रकार विदेश मत्रालय के सगठन एव कार्य का अध्ययन यह बतलाता है कि विदेशों से सबधित भारत सरकार के जितने भी विषय अथवा कार्य हैं उन सबका नियमित निर्वाह इसी मत्रालय के द्वारा किया जाता है। ससार के अन्य देशों से शत्रुता, मित्रता, अथवा तटस्थता से सबध स्थापित करने के निर्णय भी इसी मत्रालय में लिये जाते हैं। इसके दूतावासों को विदेशों में भारत की ऐसी आखों एव कानों की सज्ञा दी जा सकती है, जो दूसरे देशों के सबध में भारत सरकार को समय-समय पर आवश्यक सूचनाए देते रहते हैं। इसी सूचना के आधार पर भारत सरकार उन देशों से अपने सबधों में आवश्यक परिवर्तन करती रहती है।

## कुछ आवश्यक सुझाव

विदेश मत्रालय में वाछनीय सुधारों के सबध में पिल्लई कमेटी ने अनेक महत्त्वपूर्ण सिफारिशें प्रस्तुत की हैं। इनमें से कुछ प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित हैं—

पिल्लई कमेटी का कहना था कि इस मत्रालय में कोई परामर्शदात्री निकाय नहीं है। मत्रालय में अपने कार्यों के सबध में विशिष्ट परामर्श देने वाले विशेषज्ञ अभिकरणों का अभाव एव सगठनात्मक दुर्बलता है। मत्रालय को चाहिए कि वह विशेषज्ञ सलाहकारों के कुछ ऐसे प्रशासकीय निकाय गठित करें, जिनसे मत्रालय का कार्य विशेषीकृत ढग से सचालित किया जा सके। कमेटी की मान्यता थी कि हमारी विदेश नीति जो अब तक विश्व-स्तर पर असफल रही है, उसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि हमारे प्रथम प्रधानमत्री एव विदेश मत्री श्री नेहरु ने अपने विदेश मत्रालय के अधिकतर निर्णय व्यक्तिगत स्तर पर लिये और विशेषज्ञों की सहायता नहीं के बराबर ली।

अत पिल्लई कमेटी का यह सुझाव है कि इस मत्रालय में कुछ ऐसे परामर्शदाता निकाय होने चाहिए जो नीति-निर्माण में निरन्तरता के साथ विशिष्ट सलाह दे सकें।

इसी प्रकार एक अन्य सुझाव इस सबध में यह भी दिया जा सकता है कि भारत सरकार के विदेश मत्रालय में सलग्न कार्यालय केवल दो ही हैं, जबकि प्रकृति की दृष्टि से इन मत्रालयों में ऐसे कितने ही कार्य हैं, जो सलग्न कार्यालयों की कमी के कारण अच्छी प्रकार से सपादित नहीं हो पा रहे हैं। अत कुछ कार्यों के सुचारू रूप से सपादन हेतु सलग्न कार्यालयों की सख्या में वृद्धि की जा सकती है।

भारत से दूसरे देशों में भेजे जाने वाले राजदूतों के चयन एव नियुक्ति के लिए विदेश मत्रालय में वर्तमान में कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। प्रशासनिक दृष्टि से यह अत्यत उपयोगी होगा यदि विदेश मत्रालय किसी ऐसे प्रकोष्ठ अथवा शाखा का गठन करे जो राजदूतों के चयन एव उनकी योग्यताओं आदि के विषय में समुचित सूचना आदि एकत्रित कर सके।

*विदेश मत्रालय के सबध में प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी कुछ सिफारिशें की हैं।* आयोग का कहना है कि हमारी विदेश नीति में मौलिक परिवर्तन नहीं हो सके हैं। समय के साथ-साथ विदेश नीति के मूल आधारों में परिवर्तन अत्यत आवश्यक है। अत प्रशासकीय सुधार आयोग का मत था कि भारत की विदेश नीति के आधार क्या हो तथा इस मत्रालय को विदेशों के साथ कैसे सबध स्थापित करने चाहिए, इन निर्णयों को लेने के लिए एक 'नियमित विभाग' स्थापित किया जाना चाहिए। यह विभाग सदैव इस प्रकार के अनुसधान में लगा रहे कि भारत के विदेश मत्रालय को किन-किन देशों से कब और कैसे सबध स्थापित करना देश के राष्ट्रीय हित में होगा। अमुक देश के साथ वर्तमान समय में जो सबध हैं, वे ठीक हैं अथवा नहीं और यदि उन्हें बदलना हो तो किस प्रकार? यह सब कार्य इस विभाग का उत्तरदायित्व होना चाहिये।

कुछ आलोचक विदेश मत्रालय के प्रशासकीय सगठन के क्षेत्रीय आधार को अनुपयुक्त मानते हैं। इनका कहना है कि क्षेत्रीयता के स्थान पर यदि विचारधारा को आधार मान कर इस मत्रालय का प्रशासकीय पुनर्गठन किया जाए तो इसकी कार्यकुशलता बढ़ सकेगी। यद्यपि क्षेत्रीय आधार के अपने कुछ लाभ हैं, किंतु क्षेत्रीयता और विचारधारा का मिश्रित आधार बनाकर वर्तमान सगठनात्मक स्थिति में सशोधन किया जाए तो यह अधिक व्यावहारिक एव उपयोगी सिद्ध होगा।

केन्द्रीय सरकार का प्रशासनिक सगठन, समुद्र की भांति वृहदाकार दिखाई देता है। विस्तार की दृष्टि से जो पहले उसका आकार था वह आज कुछ मत्रालयों के कलेवर के बराबर बन चुका है। इस फैलते प्रशासनतत्र के युग में विभागों तथा मत्रालयों के पुनर्गठन के विषय में प्रशासनिक सुधार आयोग का प्रतिवेदन उन्हें सगतिपूर्ण कार्यकारी इकाई बनाने *की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। आयोग ने मत्रालयों में सामान्य परिवर्तन के साथ उन्हें सगतिपूर्ण* बनाने पर अधिक ध्यान दिया है और ऐसी कोई सिफारिश नहीं दी है, जो सारे ढाचे को ही अस्त-व्यस्त कर दे। यदि प्रशासकीय पुनर्गठन के ये सारे सुझाव मान भी लिये जाए तो भी केन्द्रीय प्रशासन का विशाल एव जटिल स्वरूप सीदैव बन सकेगा, यह सदेहास्पद है। यहा पर प्रशासनिक सुधार राजनीतिक सुधार के द्वारा ही सम्भव है। यदि केन्द्र केन्द्रीकरण की नीति पर चलता रहता है और नये-नये राष्ट्रीयकृत उपम सभालने में पहल करता है, तो उसका प्रशासनतत्र बोझिल बने बिना नहीं रह सकता। हो सकता है केन्द्र-स्तर पर भारतीय राजनीति और प्रशासन की इसे एक अनिवार्य बुराई मानना पड़े। फिर भी भारत सरकार के मत्रालयों को चाहिए कि वे अपने प्रशासकीय आकार एवं प्रक्रियाओं में उन बाधाओं को आने से रोके, जो प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण से रुक सकती हैं। समन्वय द्वारा कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है और इस तरह केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के मध्य एक मध्य मार्ग चुना जा सकता है। भारत सरकार के वर्तमान प्रशासनिक सगठन को उसकी ऐतिहासिक सीमाओं में रखते हुए आज के कल्याणकारी राज्य के सदर्भ में

पुनर्गठित करने की दृष्टि से कुछ सैद्धान्तिक सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिन्हें प्रत्येक मंत्रालय अपने-अपने अनुभव के आधार पर क्रियान्वित कर सकता है–

(अ) सभी मंत्रालयों के लिए यह आवश्यक नहीं होना चाहिए कि वे विभाग, संभाग, संलग्न कार्यालय तथा अधीनस्थ कार्यालय की ऐतिहासिक व्यवस्था के अनुरूप ही कार्य करें। उदाहरण के लिए यह व्यवस्था गृह तथा प्रतिरक्षा मंत्रालयों के लिए उपयोगी हो सकती है, किन्तु वित्त, विदेश, कृषि तथा संचार मंत्रालय भी इसी परिपाटी से संगठित रह कर कार्य करें यह आवश्यक नहीं लगता। मंत्रालयों का प्रशासनिक संगठन केवल विवेक सम्मत होने के साथ-साथ एकरूपता की सीमा-रेखा को तोड़कर कार्य सम्मत होना चाहिए।

(ब) जैसा कि प्रशासनिक सुधार आयोग ने सुझाया है कि प्रत्येक मंत्रालय को सम्बद्ध कार्यों के आधार पर एक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। इस सिद्धांत से कुछ नये मंत्रालय जन्म ले सकते हैं और बहुत से परंपरागत कार्य कुछ महत्वपूर्ण विभागों से हटाकर नये मंत्रालयों में दिये जा सकते हैं। पर निरंतरता से चलने वाली यह प्रक्रिया सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के दिशा-दर्शन में अनिवार्य है एवं लाभप्रद भी।

(स) मंत्रालयों के संलग्न एवं अधीनस्थ कार्यालय वर्तमान स्थितियों में रखे जा सकते हैं, किन्तु प्रशासकीय सिद्धांत के रूप में संलग्न कार्यालय को स्वशासी एवं विशिष्ट प्रकार का कार्य करने वाला अभिकरण मानने की आवश्यकता है। मंत्रालय अथवा विभाग को चाहिए कि वह संलग्न कार्यालयों को कार्यकारी स्वतंत्रता दें और उनमें विभिन्न गतिविधियों के मध्य केवल प्रशासनिक समन्वय मात्र स्थापित करें। प्रशासनिक स्तर की दृष्टि से भी संलग्न कार्यालयों को उच्च माना जाए और उनके अध्यक्ष केवल उच्च-स्तरीय अधिकारी ही हों। ये संलग्न कार्यालय केवल कार्यकारी न होकर नीति निर्माण परामर्श के अधिकरण के रूप में विकसित किये जाएं। सभी मंत्रालयों में इनकी संख्या बढ़ाई जा सकती है।

(द) अधीनस्थ कार्यालय केवल लाइन अभिकरण के रूप में स्वीकार किये जाएं। इन पर केन्द्रीय मंत्रालय का पूरा-पूरा नियंत्रण वर्तमान जैसा ही रहे, किन्तु ये सहायक तथा कार्यकारी दो प्रकार के हों। जहां कार्य की दृष्टि से ये अनेक लोगों के संपर्क में आते हों अथवा महत्वपूर्ण सेवा प्रदान करते हों, तो यह उपयोगी होगा कि ये अधीनस्थ कार्यालय क्षेत्रीय, राजकीय तथा जिलास्तरीय हों। जहां इनका कार्य सहायक का हो वहां सहायता राज्य अथवा केन्द्रीय अभिकरणों के क्षेत्र स्तर पर दी जाए। यदि वे कार्यालय केन्द्रीय मंत्रालयों को सलाह अथवा सहायता देते हों तो यह अधिक उपयुक्त होगा कि इन्हें अधीनस्थ कार्यालय से संलग्न कार्यालय के रूप में उन्नत कर दिया जाए।

(य) सचिवालय स्तर पर भारत सरकार के मत्रालय विभागों, सम्भागों, प्रभागों तथा शाखाओं में बटे हुए हैं। प्रशासकीय दृष्टि से इस सगठन में अधिक परिवर्तन करना सभव नहीं है, फिर भी यदि ये मत्रालय अपने सगठन का पदसोपान कुछ छोटा कर सकें, तो मत्रालय के सगठन में कसावट आयेगी एव उसकी कार्यकुशलता बढ़ेगी। आजादी के बाद सभी मत्रालयों में विकास के नाम पर कार्य एव कर्मचारी दोनों बढे है। इससे मत्रालय का आकार भी बढा है और पदसोपान के स्तर भी। पुनर्गठन के लिए यदि पदसोपान घटाया जाता है तो आकार फैलता है, किंतु यदि सुधारों को समग्रता से देखा जाए तो पदसोपान को घटा कर आकार के फैलाव को नये मत्रालयों में बाट कर अथवा निगम तथा मडल बनाकर सतुलित किया जा सकता है।

इस प्रकार भारत सरकार के मत्रालयों का पुनर्गठन एक घटना न होकर प्रशासनिक प्रक्रिया है जिसे निरतरता से देखा जाना चाहिये। मत्रालय चाहे कितना ही महत्वपूर्ण हो, उसका आकार इतना न बढे कि उसकी प्रशासनिक कार्यकुशलता नष्ट हो जाए। वित्त, प्रतिरक्षा और गृह विभाग, भारत सरकार के केन्द्रीय मत्रालय हैं और स्वतत्रता के बाद इनका आकार इतना फैला है कि उसे सीमित करना अनिवार्य है। यह कार्य नये विभागों की रचना द्वारा सपन्न किया जा सकता है, जो मत्रालय के अग रहते हुए प्रशासनिक दृष्टि से एक स्वतत्र इकाई बन सके। वर्तमान में जो सगठन और अधीनस्थ कार्यालय हैं उनके निर्धारण की कोई कमेटी न होने के कारण ये कार्यालय बिना अनुपात बढ रहे हैं। प्रशासनिक सुधार सगठन द्वारा इनके विषय में एक नीति निर्धारित की जा सकती है और उसके अनुरूप मत्रालय तथा उसके विभाग एव कार्यालयों के बीच एक समन्वय स्थापित किया जा सकता है। ये विभाग और कार्यालय केवल कार्यकारी विशेषता के आधार पर ही गठित किये जाए और ऐसा करने से मत्रालय का सगठन आज भी जटिल एव विशिष्ट समस्याओं को सुलझाने में सक्षम बन सकेगा। मत्रालयों में पाई जाने वाली नियत्रण की प्रक्रिया क्षेत्रीय अधिकरणों के माध्यम से सुगठित की जानी चाहिये और जो मत्रालय लाइन अभिकरण रखते हैं उन्हें भारत के सघात्मक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए अपना प्रशासनिक तत्र विकसित करना चाहिए। इस सदर्भ में जो ऐतिहासिक स्थितिया रही हैं, वे आज गभीर परिवर्तन चाहती हैं, चूंकि विकास प्रशासन सभी मत्रालयों पर नये दबाव डाल रहा है। प्रशासन सुधार आयोग ने इस सदर्भ में पुनर्गठन की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की है वह स्वागत योग्य है, किंतु आवश्यकता उससे भी आगे जाकर प्रत्येक मत्रालय का प्रशासनिक मास्टर प्लान बनाने की है, जिससे सभी मत्रालयों के आगामी दशकों के विस्तार, विकास एव सीमाओं को ध्यान में रखते हुये एक सुनियोजित चित्र के रूप में केन्द्रीय प्रशासन को देखा जा सके। इस सदर्भ में जो अध्ययन हुये हैं वे भी केवल आकार के वर्णन से आगे नहीं बढ सके। आज के सदर्भ में यह वाछनीय होगा कि मत्रालयों के कार्यों की सूची नये सिरे

से तैयार की जाए, उनके अनुरूप विभागीय सगठन या लोक निगम या मडल गठित किये जाए और अधीनस्थ व सलग्न कार्यालयों के माध्यम से स्टाफ लाइन सबधों को पुनर्वीक्षित किया जाए। सामाजिक परिवर्तन की द्रुतता के कारण यह कार्य निरतरता के साथ एक स्थाई अभिकरण द्वारा किया जाए और उसका समायोजन एव समन्वय मंत्रिमडल सचिवालय स्वय कर सकता है। मत्रालयों का गठन केवल प्रशासनिक समस्या न होकर एक राजनैतिक एव सामाजिक समस्या भी है और उस पर पुनर्विचार करते समय उन सभी तथ्यों एव तत्वों को ध्यान में रखना आवश्यक है जो किसी भी सुधार योजना को समकालीन तथा उपयोगी बनाने के लिए आवश्यक हैं।

## राजस्थान राज्य के प्रशासन की सगठनात्मक संरचना

भारत एक सघ-राज्य है। इस सघ की इकाइया दो प्रकार की है—(1) राज्य, और (2) सघीय क्षेत्र। 'राजस्थान' राज्य भारतीय सघ की एक विशाल इकाई है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह द्वितीय बडा राज्य है। अन्य सभी राज्यों की भाति राजस्थान राज्य के पास 66 विषय ऐसे हैं, जिनका प्रशासन सवैधानिक दृष्टि से राज्य सरकार की जिम्मेदारी है। भारतीय संविधान में केन्द्र एव राज्यों के प्रशासनिक सबधों की व्यवस्था सघात्मकता की अपेक्षा एकात्मकता की ओर अधिक झुकी हुई है। गुणात्मकता तथा भावात्मकता की दृष्टि से भी केन्द्र के पास केवल 97 महत्वपूर्ण विषय ही नहीं है, अपितु समवर्ती सूची के 47 विषयों पर भी उसका प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त राज्य सूची के अतर्गत आने वाले 66 विषयों पर भी केन्द्र कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियों में अपना अधिकार स्थापित कर सकता है। यही कारण है कि राज्यों की अखिल भारतीय सघात्मकता के परिप्रेक्ष्य में रह कर कार्य करना होता है। फिर राजस्थान जैसे पिछडे राज्य में जहा की प्रति व्यक्ति औसत आय (केवल बिहार को छोडकर) देश के अन्य राज्यों की तुलना में सबसे कम है और केन्द्रीय ऋण का भार प्रति वर्ष निरतरता से बढ़ता जा रहा है, केन्द्र का प्रभाव बढना और भी अधिक स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त भारतीय राजनीति के अन्य कितने ही राजनीतिक तथा आर्थिक दबाव ऐसे हैं जो भारतीय सघ की केन्द्रोन्मुखता तथा राजस्थान राज्य की परिनिर्भरता को व्यवस्थित रूप में बढावा देते हैं।

लोक प्रशासन सवैधानिक व्यवस्थाओं, राजनीतिक नीतियों, राष्ट्रीय आकाक्षाओं तथा सामान्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति एव क्रियान्विति का एक मानवीय सयन्त्र है। अनेक प्रशासनिक व्यवस्थाए, शैलिया, प्रक्रियाए एव प्राविधिया इसकी विविध एव स्थूल अभिव्यक्तिया हैं। प्रशासनिक कार्यों का निष्पादन करने के लिए भारतवर्ष में मुख्य रूप से तीन प्रकार की सस्थाए पाई जाती हैं (क) विभाग, (ख) निगम, तथा (ग) आयोग। इनके अनेक मिश्रित, अर्द्ध-मिश्रित तथा नवीन स्वरूप भी देखने को मिलते हैं। लोक-तंत्रात्मक शासन प्रणालियों में इन प्रशासनिक व्यवस्थाओं का सचालन, नीति-नियत्रण

तथा निर्देशन राजनीतिज्ञों द्वारा, सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से किया जाता है। राजनीतिज्ञ, चूंकि अधिकाशत विशेषज्ञ नहीं होते, अत उनके अपने कार्य में सहायता देने तथा दक्षता एव समन्वय लाने के लिए मत्रालयों की रचना की जाती है। इन मत्रालयों के अधिकारीगण विशेषज्ञ, अनुभवी एव प्रशिक्षित होते हैं। वे सबंधित राजनीतिक मत्री के अधीन रह कर उसे अपने कार्य सपादन में सहायता एव परामर्श प्रदान करते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु तथा उनके पारस्परिक सबधों को व्यवस्थित करने के लिए राज्यों में राज्यपालों की अनुमति से कार्यकारी-नियम बनाये जाते है। राज्यपाल ही विभिन्न विभागों तथा उप-विभागों को मुख्य मत्री के निर्देशानुसार मंत्रिमडल के सदस्यों के बीच वितरित करता है। राज्य स्तर के सभी विभाग अखिल भारतीय सेवाओं के स्थाई अधिकारियों द्वारा, जिन्हें सचिव कहा जाता है, प्रशासित किये जाते हैं। मंत्रियों की सामान्य देख-रेख, नियत्रण और निर्देशन में प्रशासकीय विभाग का कार्य चलता है। विभागों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे राज्यों की राजधानियों में ही स्थित हों। वे राजधानी में भी स्थित हो सकते हैं तथा क्षेत्रों में भी। विभाग सचिवालय के रूप में राज्य सरकार की सामूहिक इकाई का अग बनकर कार्य करते हैं।

केन्द्रीय सरकार की भांति राजस्थान सरकार में भी मंत्रियों के स्तर निम्न प्रकार के हैं—

मत्री,
राज्य मत्री,
उप-मत्री,
ससदीय सचिव।

सपूर्ण सरकारी कार्य मंत्रियों द्वारा राज्यपाल की ओर से निष्पादित होता है। राज्य सरकार के प्रत्येक मत्री के अधीन एक या एक से अधिक विभाग होते हैं। साधारणतया सबंधित विषयों का कार्यभार एक ही मत्री को दिया जाता है। इस राजनीतिक अध्यक्ष के सहायतार्थ प्रत्येक विभाग में एक प्रशासनिक अध्यक्ष होता है, जो अखिल भारतीय सेवा का सदस्य होता है।

"सचिवालय" इन्हीं विभागों एव इनके राजनीतिक तथा प्रशासनिक अध्यक्षों के कार्य-कलापों का एक सगठनात्मक स्वरूप है। कोई भी सचिव किसी मत्री विशेष का ही 'सचिव' नहीं होता, वरन् उसे सपूर्ण सरकार का सचिव कहा जाता है। भारतीय प्रशासन के परिवेश में वह सामान्यत सामान्यज्ञ होता है, यद्यपि राज्य स्तर पर कुछ विभागों में तकनीकी अधिकारियों का भी सचिव स्तर दिये जाने पर विचार चल रहा है। राजस्थान सरकार का मुख्य अभियन्ता सार्वजनिक निर्माण विभाग के सचिव स्तर का अधिकारी माना जाता है।

साधारणत विभागों की सख्या सचिवों की सख्या से ज्यादा होती है। एकाधिक विभाग

एक ही सचिव के अंतर्गत कार्य करते हैं। एक विभाग के अंतर्गत कई विभागीय अधिकारी तथा कार्यालय होते हैं। इन वरिष्ठ अधिकारियों में सचिव के अतिरिक्त उप-सचिव आदि होते हैं। बड़े विभागों में संयुक्त सचिव तथा अतिरिक्त सचिव भी पाये जाते हैं। सचिव, अतिरिक्त सचिव, संयुक्त सचिव अवर सचिव, उप-सचिव आदि सभी वरिष्ठ प्रशासक विशेष अवधि के लिये नियुक्त होते हैं। सचिवालय में उनकी नियुक्ति निश्चित समय के लिए होती है। राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव ही एक ऐसा अधिकारी है जो टेन्योर सिस्टम से बाहर है। इन सब अधिकारियों के अतिरिक्त सुपरिन्टेंडेन्ट, अनुभाग अधिकारी सहायक, उच्च-स्तरीय क्लर्क, निम्नस्तरीय क्लर्क स्टेनो टाइपिस्ट, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आदि होते हैं। यदि किसी विभाग के स्टाफ में वृद्धि की जानी होती है तो इसका प्रस्ताव सचिवालय के ओ एण्ड एम सभाग को भेजा जाता है। यह सभाग वित्त विभाग के साथ इस सबंध में विचार-विमर्श करता है परंतु अंतिम आदेश सेवीक्ति विभाग द्वारा जारी किये जाते हैं।

सचिवालय में विभिन्न स्तरों के पदाधिकारी अपने-अपने पदों की महत्ता एव कार्य शक्तियों के अनुसार अपना-अपना कार्य सपन्न करते हैं। सचिव अपने अधीनस्थ स्टाफ पर सामान्य प्रशासकीय नियत्रण एव पर्यवेक्षण रखता है तथा अपने विभाग के राजनीतिक अध्यक्ष, मत्री की सहायता करता है। उप सचिव एव अवर सचिव, सचिव की सहायता करते हैं। अनुभाग का अधीक्षक अनुभाग में अपने वाली सभी फाइलों एव पत्रों आदि पर उचित कार्यवाही की व्यवस्था करता है। अत्यावश्यक फाइलों तथा पत्रों को अवर सचिव तक पहुचाने की व्यवस्था भी यही करता है। सक्षेप में यह निर्णय के 'क्या' की अपेक्षा 'कैसे' पर बल देता है।

सचिवालय की कार्यवाही किस प्रकार सचालित की जाती है, इसका सपूर्ण विवरण 'सचिवालय-कार्यप्रणाली' में दिया हुआ होता है। राजस्थान सचिवालय में फाइल के दो भाग होते हैं : (1) टिप्पणिया, तथा (2) पत्र व्यवहार। टिप्पणी वाले भाग में सबधित विषय पर विभाग का अभिमत सम्मिलित होता है। फाइल के इसी भाग में विवाद के विभिन्न पहलू प्रस्तुत किये जाते हैं, कार्यवाही के लिए विभागीय सुझाव दिये जाते हैं और अग्रिम आदेश पारित किये जाते हैं।

पत्र-व्यवहार वाले भाग में किसी भी विषय विशेष पर प्राप्त किये गये तथा भेजे गये, ये सभी पत्र आते हैं जिन्हें दिनाक के क्रमानुसार प्रबंधित कर सख्या के साथ पजीकृत किया जाता है। राजस्थान 'सचिवालय मैन्यूअल' में यह भी उल्लिखित किया गया है कि एक कागज को किस प्रकार प्रबंधित कर बाधा जाए तथा फाइल के अदर जिल्द अथवा कवर में रखा जाए। पृष्ठों तथा पैराग्राफों पर नम्बर किस प्रकार डाले जाए तथा प्राथमिकता की चिट किस प्रकार लगाई जाए आदि-आदि। पत्राचार की प्रणाली भी इस सचिवालय मैन्युअल में वर्णित की गई है।

भारत में प्रत्येक राज्यस्तरीय सचिवालयों में विभागों की सख्या भिन्न-भिन्न है। राज्य सरकारों के आकार के अनुसार इन विभागों की सख्या होती है। 'राजस्थान सचिवालय में ये विभाग निम्नलिखित हैं और इनके नाम इस प्रकार हैं–

1. पर्सोनिल विभाग
2 सामान्य प्रशासन विभाग
3 गृह विभाग
4 वित्त विभाग
5 औद्योगिक एव खानों का विभाग
6 राजस्व विभाग
7 वन विभाग
8 आबकारी एव करारोपण विभाग
9 कृषि विभाग
10 लोक-वितरण विभाग
11. खाद्य विभाग
12. स्थानीय स्वशासन विभाग
13 चिकित्सा एव जनस्वास्थ्य विभाग
14 लोक निर्माण विभाग
15 श्रम एव रोजगार विभाग
16. शिक्षा विभाग
17 कानून एव न्यायिक विभाग
18 ससदीय मामलों का विभाग
19 आयोजना विभाग
20 सिचाई विभाग
21 चुनाव विभाग
22 सहायता तथा पुनर्वास विभाग (अस्थाई)
23 ऊर्जा विभाग
24 समाज-कल्याण विभाग
25. सहकारी विभाग
26. पचायत एव सामुदायिक विकास विभाग
27 राजस्थान नहर परियोजना विभाग
28 केबिनेट-सचिवालय
29 सांख्यिकी विभाग
30 राज्य उद्यम वभाग
31 माया विभाग

इन विभागों के अतिरिक्त, सामान्य प्रशासन विभाग के अधीन एक सामान्य पुस्तकालय चलता है। विधि विभाग का अपना पृथक् से एक पुस्तकालय है। इन पुस्तकालयों द्वारा संबंधित विभाग के अधिकारियों एवं स्टाफ के सदस्यों को पुस्तकें वितरित की जाती हैं। सचिवालय का अपना एक 'रिकार्ड सेक्शन' भी है जो दो शाखाओं में विभक्त है–

1 नवीन रिकार्ड, और

2 ऐतिहासिक रिकार्ड तथा प्रकाशन।

ऐतिहासिक रिकार्ड गोपनीय नहीं होते। अत उनकी सामग्री शोधकर्त्ताओं को उपलब्ध हो सकती है।

## राज्य सचिवालय के कार्य

सचिवालय कार्यविवरणिका के अनुसार राजस्थान राज्य का सचिवालय निम्न कार्यों के संपादनार्थ उत्तरदाई है–

### *1. सचिवालय सहायता*

राज्य सचिवालय, राज्य मंत्रिमंडल तथा उसकी विभिन्न समितियों को उनके नित्यप्रति के कार्यों से संबंधित सभी विषयों पर सचिवीय सहायता प्रदान करने, उनकी बैठकों की कार्य सूची बनाने तथा उनमें की गई कार्यवाहियों के आलखेन आदि के लिए उत्तरदाई है।

### *2. सूचना केन्द्र के रूप में*

सचिवालय विभिन्न-सरकारी संस्थाओं से संबंधित आवश्यक सूचनायें, मंत्रिमंडल तथा उसकी विभिन्न समितियों एवं राज्यपाल को प्रेषित करता रहता है। इसी प्रकार मंत्रिमंडल की बैठकों में लिये जाने वाले निर्णयों की सूचना भी यह संबंधित विभागों तक पहुचाता है। प्रमुख विषयों पर मंत्रिमंडल द्वारा लिये गये निर्णयों को यह मासिक प्रतिवेदन के रूप में तैयार करता है और विभिन्न विभागों एवं संस्थाओं को प्रेषित करता रहता है।

### *3. समन्वयात्मक कार्य*

राज्य स्तर पर सचिवालय राज्य-प्रशासन की एक समन्वयकारी संस्था है। राज्य सरकार का मुख्य सचिव विभिन्न सचिव समितियों का अध्यक्ष होने के कारण विभागों में समन्वय स्थापित करने में पर्याप्त रूप से प्रभावी रहता है।

### *4. परामर्शदात्री कार्य*

राजकीय सचिवालय, केन्द्रीय मंत्रिमंडलीय सचिवालय की भांति मुख्य मंत्री तथा अन्य मंत्रियों को समय-समय पर महत्वपूर्ण विषयों से संबंधित नीतियों के निरूपण एवं निष्पादन के विषय में परामर्श देता रहता है। वास्तव में मुख्य सचिव न केवल मुख्य मंत्री के

निकटतम सहयोगियों में से एक होता है, अपितु वह सभी विभागों के सचिवों के लिए *मार्गदर्शन का एक प्रशासकीय स्रोत भी कहा जा सकता है।*

### *5. मंत्रिमंडल से संबंधित विविध कार्य*

मंत्रिमंडल के समक्ष आने वाले सभी विषयों के सबध में सचिवालय को मंत्रिमंडल की सहायता तथा आवश्यक कार्यवाही करनी पड़ती है। इनमें से कुछ प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं–

1 व्यवस्थापन सबधी मामले, जिनमें अध्यादेश जारी करना भी सम्मिलित हैं,
2 राज्यपाल द्वारा समय-समय पर विधान सभा में दिये जाने वाले अभिभाषणों तथा सदेशों को तैयार करना,
3 विधानसभा के अधिवेशनों को आरम्भ करने, स्थगित करने तथा भग करने एव विधान सभा को ही भग करने सबधी प्रस्तावों पर विचार करना,
4 किन्हीं विशेष घटनाओं पर सार्वजनिक समितियों के गठन तथा इन समितियों द्वारा दिये जाने वाले प्रतिवेदनों पर कार्यवाही किये जाने सबधी कार्य,
5 सरकार के समक्ष वित्तीय साधनों से सबंधित कठिनाइयों तथा इन कठिनाइयों को दूर करने सबधी सुझाव,
6 विभिन्न मंत्रियों द्वारा निर्णय हेतु प्रस्तुत प्रस्तावों अथवा निर्देशों को प्राप्त करने सबधी आवेदनों पर कार्यवाही,
7. मंत्रिमडल द्वारा लिये गये पूर्व-निर्णयों को परिवर्तित अथवा सशोधित करने हेतु प्रस्ताव,
8 मंत्रियों के पारस्परिक विवादों को सुलझाने सबधी सुझाव,
9 किसी मत्री अथवा प्रशासक के बीच उठने वाले विवाद,
10 वे सभी मामले, जो राज्यपाल अथवा मुख्य मत्री, मत्रिमडल के समक्ष विचार-विमर्श हेतु प्रस्तुत करना चाहें,
11 सरकार द्वारा चलाये गये किसी अभियोग को वापस लेने सबधी प्रस्ताव।

उपर्युक्त सभी मामलों में सचिवालय मंत्रिमडल को विशिष्ट परामर्श प्रदान करता है तथा अन्य आवश्यक कार्यवाही हेतु मार्ग प्रशस्त करता है।

### *6 सांख्यकीय प्रशासन*

राज्य सरकार की सांख्यिकी नीति बनाने तथा उसे निष्पादित करने एव विभिन्न सांख्यिकियों के मध्य समन्वय बनाये रखने की दृष्टि से सचिवालय की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका है।

### *7 बजट संबंधी कार्य*

वित्त विभाग से विचार-विमर्श कर बजट का निर्माण करने तथा बजट निर्धारणों के अनुसार खर्चे की प्रगति का मूल्यांकन करने का कार्य सचिवालय द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

8 विभागाध्यक्षों की नियुक्ति, पदोन्नति, उनके वेतन तथा छुट्टियों आदि के बारे में नियम बनाना भी सचिवालय के कार्य हैं।

9 संघीय सरकार एव अन्य राज्यों द्वारा आयोजित किये जाने वाले सम्मेलनों एव प्रशिक्षण कार्यक्रमों आदि में भाग लेने वाले अधिकारियों का चयन करना भी सचिवालय की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

''राजस्थान प्रशासनिक सुधार समिति, 1963'' ने राजस्थान सचिवालय के विविध कार्यों की एक सूची बनाई थी। सचिवालय के व्यापक कार्य-क्षेत्र को स्पष्टता से प्रकट करने वाली यह सूची निम्न प्रकार से है–

*1. सामान्य कार्य*

(क) सामान्य नीति से संबंधित सभी मामले,

(ख) अन्तर्विभागीय समन्वय,

(ग) सत्ता का प्रत्यायोजन,

(घ) नये कानूनों का निर्माण, वर्तमान कानूनों में संशोधन तथा सरकारी विज्ञप्तियों तथा कानूनों की व्यवस्था करने संबधी मामले,

(ड) संघीय सरकार एव अन्य राज्यों की सरकारों से पत्र-व्यवहार,

*(च) नई योजनाओं का निर्माण तथा वर्तमान योजनाओं में सुधार,*

(छ) वित्तीय एव भौतिक योजनाओं की प्रगति की जांच,

(ज) विभागाध्यक्षों द्वारा किये गये दौरों के प्रतिवेदनों की जाच,

(झ) राज्य सरकार के अधिकारों के अंतर्गत अपीलें।

*2. वित्तीय मामले*

*(क) विभागीय बजट अनुमानों की स्वीकृति एव जाच तथा पूरक अनुदान,*

(ख) खर्चे के नये मदों के प्रस्ताव संबधी मामले,

(ग) खर्चे हेतु आकस्मिक निधि से स्वीकृति प्राप्त करना।

*3. सेवा संबंधी मामले*

(क) सेवा नियमों की स्वीकृति एव संशोधन,

(ख) *वरिष्ठ नियुक्तियों, पदोन्नतियों, स्थानांतरणों आदि मामले तथा विभागाध्यक्षों एव उच्च अधिकारियों आदि से संबंधित पत्र तथा उनके अनुशासनात्मक व्यवहार के* विरुद्ध मामले,

(ग) राज्य सेवाओं से संबंधित अधिकारियों की आरम्भिक नियुक्तियां तथा उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था आदि,

(घ) पदों का निर्माण, वृद्धि, निरतरता, पुनर्नियुक्ति, त्याग-पत्र, विशेष वेतन एव भत्ते तथा पेंशन सबधी मामले।

इसी समिति के अनुसार सचिवालय के प्रत्येक विभाग के विभागाध्यक्ष के प्रमुख उत्तरदायित्व निम्नलिखित हैं।

1 विभागीय बजट का निर्माण एव बजट के प्रथम ड्राफ्ट (प्रारूप) का क्रियान्वयन।
2 मत्रालय को तकनीकी सलाह देने सबधी कार्य,
3 विभाग के कार्य की तकनीक को सुधारने हेतु शोध एव अनुभवात्मक कार्यक्रमों का निर्धारण तथा क्रियान्वयन,
4 विभागीय जिला स्टाफ के कार्यों का निरीक्षण,
5 सहायक अधिकारियों की नियुक्तिया, पद निर्धारण, स्थानातरण एव पदोन्नति के बारे मे नियम बनाना, छुट्टियों की स्वीकृति देना तथा उन पर नियमानुसार अनुशासनात्मक शक्ति रखना। राज्य के लोक सेवा आयोग से सबंधित कार्य,
6 सरकार द्वारा बाह्य सस्थाओं में कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए सलाह देना।

इस प्रकार सचिवालय द्वारा सपादित किये जाने वाले कार्यों की उपर्युक्त सूची यह स्पष्ट करती है कि सचिवालय केवल एक नीति निर्माण का ही यत्र नहीं है, अपितु समस्त सरकार के प्रशासनिक सचालन का कार्य सचिवालय द्वारा ही सपन्न होता है। यही वह सस्था है, जो सारे प्रशासन तत्र को जोडती है और जिसे सरकारी व्यवस्था का प्रशासनिक हृदय कहा जा सकता है।

राजस्थान राज्य सचिवालय के सगठन में सुधार तथा उसके कार्यों में प्रभावशीलता लाने के लिए गत दशक में अनेक समितिया गठित की गई हैं। इनमें से कुछ प्रमुख समितियों की सिफारिशों का साराश नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है–

## प्रशासनिक सुधार समिति (1963)

इसे माथुर समिति भी कहा जाता है, क्योंकि श्री हरिशचन्द्र माथुर इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति ने राजस्थान सचिवालय के सुधारार्थ निम्न सुझाव दिये थे[11]–

1 सचिवालय केवल वे ही कार्य करे, जो पर्याप्त महत्व के हों अथवा नीतियों से सबधित हों।
2 सचिवालय का सपूर्ण सगठन इस ढग से गठित किया जाए कि अधिकारी निर्णयकर्ता हों और इस सदर्भ में तीन व्यवस्थाए अपनाई जानी चाहिए–
   (क) सेल व्यवस्था,
   (ख) समूह व्यवस्था,
   (ग) वह व्यवस्था जिसमें वर्ग अधिकारियों की वृद्धि हो पर उच्च व निम्न श्रेणी के लिपिकों की सख्या कम हो।
3. सचिवालय की वे शाखायें, जो लेखन तथा स्थापन सबधी कार्य देखती हैं, वे

वर्तमान अवस्था की तरह ही कार्य करें।

4 प्रशासनिक विभागों में लेखा अधिकारियों की नियुक्ति के साथ-साथ वित्त विभाग वित्तीय अनुमोदन की शक्तियां प्रशासनिक विभागों को प्रत्यायोजित करें।

5 वित्त विभाग एक दोहरा कार्य करे-एक ओर तो वह प्रशासकीय विभागों के वित्तीय निर्णयों व प्रस्तावों का परीक्षण कर अंतिम निर्णय दे तथा दूसरी ओर प्रशासकीय विभागों को यह सलाह दे कि उन्हें क्या-क्या कार्य करने चाहिए? परंतु इस संदर्भ में *अंतिम निर्णय प्रशासकीय विभागों का ही हो।*

6 सचिवालय में सचिवों तथा उप-सचिवों की अवधि साधारणत चार वर्ष होनी चाहिए।

7 सरकार के सचिवों के पद केवल वरिष्ठता के आधार पर ही न होकर योग्यता के आधार पर भरे जाने चाहिए।

8 सचिवालय के प्रशासकीय विभागों में उप-सचिव एव सहायक सचिव जो विकासशील प्रक्रियाओं से संबधित हैं, आर ए एस या आई ए एस सेवाओं के *लिए जाएं तथा इन अधिकारियों को क्षेत्रीय प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था हो।*

## सचिवालय पुनर्गठन समिति, 1969

सन् 1969 में गठित इस समिति की संदर्भ शर्तें राजस्थान सरकार के सचिवालय का पुनर्गठन *कर उसमें आवश्यक सुधार की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करना था।* इस समिति ने अपने प्रतिवेदन में जो प्रमुख सुझाव दिये हैं, उनमें से कुछ निम्न हैं[34]–

1 इस समिति की सिफारिश थी कि पारस्परिक वर्ग-व्यवस्था एव सैल व्यवस्था केवल वहीं रखी जाए जहा उनका विशेष महत्व हो अन्यथा अधिकतर विभागों के लिये समूह व्यवस्था ही उपर्युक्त है। समिति के मत में सैल व्यवस्था को प्रत्येक विभाग के लिए एक स्थाई व्यवस्था के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस व्यवस्था को वित्त विभाग की 'व्यय शाखा' में रखा जा सकता है। अन्य *विभागों में जैसे–' लीगल अफेयर्स* डिपार्टमेण्ट' में जहा ड्राफ्टिंग की सलाह जैसे कार्य होते हैं, वहा सैल व्यवस्था को बनाये रखना केवल एक फैशन है। अत ऐसे विभागों में से सैल व्यवस्था को हटा दिया जाना चाहिए।

2 मुख्य अभियता की भांति मुख्य टाउन प्लानर एव आर्कीटैक्चरल सलाहकार भी पदेन सहायक सचिव बनाये जाने चाहिये।

3 विभागों के कार्य विस्तार को देखते हुए उनका कार्यभार पुन निर्धारित किया जाना चाहिए।

*समिति ने यह भी निश्चित किया कि प्रत्येक समूह निम्न संगठन पर आधारित हों–*

*(क) सहायक कानूनी सहायक साख्यिकी सहायक (1)*

(ख) उच्च-स्तरीय लिपिक (3)
(ग) निम्न-स्तरीय लिपिक (4)

4 अनुभाग अधिकारी अपने समूह का मात्रात्मक तथा गुणात्मक स्तर सुधारने का प्रयास करे।
5 जिन विभागों में सैल्स या ग्रुप व्यवस्था है, उन विभागों में इन सैल्स की सख्या आठ से अधिक नहीं होनी चाहिए।
6 उप-सचिव के अधीन तीन समूह हों। ओ एव एम सभाग अपवाद हो सकता है, चूंकि इस सभाग का कार्य भिन्न प्रकार का है।
7 सहायक एव उप-सचिवों की पदोन्नति के लिए एक समिति बनाई जाए जिसके सदस्य राज्य के मुख्य सचिव एव वित्त आयुक्त होने चाहिए।
8 उच्च स्तरीय लिपिकों की प्रत्यक्ष भर्ती का कोटा निश्चित किया जाए।

## सचिवालय प्रक्रिया समिति, 1971

सचिवालय की कार्य-प्रक्रिया में विलम्ब तथा इस विलम्ब के कारणों की जाच के लिए राजस्थान सरकार ने 15 जुलाई, 1971 को इस समिति की स्थापना की थी। इस समिति का मुख्य उत्तरदायित्व विलम्ब सबधी समस्याओं का अध्ययन और उनके निवारणार्थ समुचित सुझाव प्रस्तुत करना था। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में निम्न सुझाव दिये[15]–

1 प्रत्येक विभागीय सचिव को समय-समय पर अपने विभागी कार्यालय का निरीक्षण करते रहना चाहिए।
2 प्रत्येक विभाग में ग्रुप व्यवस्था अथवा सैल व्यवस्था को आवश्यकतानुसार लागू किया जाए।
3 प्रत्येक विभाग का एक छोटा-सा पुस्तकालय हो, जहा सबंधित मैन्युअल आदि उपलब्ध हो।
4 हिन्दी अनुवाद कार्य-सम्पन्न करने हेतु सभी विभागों में पृथक् में एक-एक सैल की व्यवस्था की जाए।
5. सचिवालय के भवन में एक गुप्त रिकार्ड रूम हो, जहा विभागों की गोपनीय फाइलें आदि रखी जा सकें।
6. सहायकों की प्रत्यक्ष नियुक्ति का कोटा पचास प्रतिशत से अधिक न हो।
7 क्षेत्रीय कार्यों एव सचिवालय-कार्यों के लिए अधिकारियों का स्थानातरण एव विनिमय होता रहे, परन्तु इसके लिए निर्धारित नियमों का होना आवश्यक है। आयुक्तों, सचिवों तथा विशेष सचिवों के पद का कार्यकाल पाच वर्ष से अधिक न हो।
8 निम्न श्रेणी के लिपिकों का प्रशिक्षण काल चार महीने रखा जाये। वरिष्ठ स्टाफ हेतु रिफ्रेशर कोर्सों की व्यवस्था की जाए। यह कार्य ओ एव एम सभाग राज्य

के लोक प्रशासन संस्थान के साथ विचार-विमर्श कर तैयार करे।

9 विभागीय सचिव इस बात को लेकर आश्वस्त हों कि उनके कार्यों में वित्त विभाग, विधि विभाग तथा नियुक्ति विभाग का *अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं होगा।*

10 रेफरेन्स विभागों में कोई भी मामला पन्द्रह दिन से अधिक तथा बहुत ही महत्वपूर्ण मामले सात दिन से अधिक न रोके जाए।

11 राजस्थान सेवा नियमों तथा सामान्य वित्तीय एवं लेखा नियमों का परीक्षण करने के लिए सरकार पृथक् से एक समिति नियुक्त करे। इस समिति की अधिकांश सिफारिशें राजस्थान सरकार द्वारा 20 जनवरी, 1972 को मान ली गई थी।

## मुख्य सचिव

राज्य-सचिवालय का समग्र अध्ययन मुख्य सचिव के पद, स्थिति, कार्य तथा अधिकार एवं *शक्तियों का सम्यक् अध्ययन चाहता है। मुख्य सचिव राज्य के समस्त एवं सामान्य* प्रशासन का अध्यक्ष होता है। यह सचिवालय का एक ऐसा 'किंग पिन' है जो सभी स्तरों पर सचिवालय के सभी विभागों को परस्पर में संयुक्त करता है। वह सचिवों का मुखिया है तथा राजकीय लोक सेवाओं का अध्यक्ष है। "आन्ध्र प्रदेश प्रशासनिक सुधार समिति (1964-65)" ने मुख्य सचिव के संबंध में लिखा था–

"यह लोक सेवाओं एवं सरकारी अधिकारियों का वरिष्ठ नेता है तथा उनसे सबंधित समस्याओं, सेवा शर्तों एवं कार्यों को देखता है।"

मुख्य सचिव *राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था को नेतृत्व देता है। यह राज्य सरकार का* जन-संपर्क अधिकारी भी है। अन्तर्राज्यीय सरकारों, केन्द्रीय सरकार एवं तत्संबधी राज्य सरकार के मध्य यह प्रशासनिक संचार का माध्यम है। उसका पद और उसके कार्य इतने महत्वपूर्ण हैं कि यह "टेन्योर सिस्टम" से परे है। व्यवहार में मुख्य सचिव या तो मुख्य सचिव के पद से ही रिटायर हो जाता है अथवा उसे केन्द्र सरकार में और अधिक महत्वपूर्ण पदों पर *स्थानांतरित किया जा सकता है। राजस्थान प्रशासनिक सुधार समिति, 1963* ने मुख्य सचिव के पद की महत्ता बताते हुए लिखा है।[26]

"सरकारी यंत्र का मुखिया तथा मंत्रि-परिषद् के सलाहकार के रूप में मुख्य सचिव एक विशेष स्थिति का अधिकारी होता है। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका राज्य प्रशासन के संदर्भ में अदा करता है। विभागों में (जो कि प्रत्यक्ष रूप से उसके अधीन होते हैं) होने वाले कार्यों को देखने के साथ-साथ यह विभिन्न विभागों में समन्वय कार्य संपन्न करता है जिससे राज्य सरकार द्वारा अपनाई गई नीतियों के क्रियान्वयन में एकता रहती है।"

*"मुख्य सचिव प्रशासनिक सेवा अधिकारियों का प्रमुख होता है। सभी अधिकारी व* कर्मचारी उससे अपनी कार्य-प्रणाली तथा सेवा-शर्तों के विषय में निर्देश एवं प्रेरणा प्राप्त करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि सभी राज्यों में मुख्य सचिव वरिष्ठतम अधिकारी नहीं

होना, तमिलनाडु में मुख्य सचिव वरिष्ठतम लोक सेवक होना है जबकि उत्तर प्रदेश में वह राजस्व मडल के सदस्यों से कनिष्ठ अधिकारी होता है। पजाब में भी वह वित्त आयुक्त से कनिष्ठ होता है। ऐसा इसलिए था कि आई ए एस और आई सी एस सेवाओं में वरिष्ठता के मापदड भिन्न-भिन्न थे। वह राजस्व मडल के सदस्यों के समान होते हुए भी उनसे उच्च स्तर पर आसीन है। एक 'मुख्य सचिव सम्मेलन में यह कहा गया था कि वह 'समान स्तर वालों में प्रथम' है।"

## मुख्य सचिव के कार्य

वैसे तो मुख्य सचिव अपने राज्य के सपूर्ण प्रशासनिक कार्य-कलाप के सुगम सचालन एव दक्षता के लिए जिम्मेदार है फिर भी प्रशासनिक अध्यक्ष के रूप में उसे निम्नाकित कार्य करने पडते है–

1 राज्य स्तर पर वह मुख्य मत्री का मुख्य सलाहकार होता है। मुख्य मत्री के कार्यों में सहायता करना उसे आवश्यक सामग्री, आकडे तथा सांख्यिकी उपलब्ध कराना इसी अधिकारी के कार्य हैं। राज्य में शांति एव सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए वह *आवश्यक कार्यवाही करता है।*

2 वह सपूर्ण सचिवालय पर सामान्य पर्यवेक्षण तथा नियत्रण रखता है।

3 वह लोक-सेवाओं का अध्यक्ष है तथा सरकारी सेवी-वर्ग की नियुक्ति, स्थानातरण तथा पद विमुक्ति आदि की शक्तियां उसमें निहित हैं। फिलिप वुडरफ ने एक स्थान पर लिखा है कि "मुख्य सचिव एक ऐसा स्रोत था जिसके माध्यम से सरकारी आदेश उसके अधिकारियों तक पहुचते थे। परपरागत रूप में वही पद नियुक्तियों व स्थानातरणों का साधन था। अधिकाश जिला अधिकारियों के लिए, तो वही सरकार था।" एक अन्य व्यावहारिक अध्ययन से पता चलता है कि मुख्य सचिव के पास आने वाले हर तीन मामलों में से दो मामले सेवीवर्ग से सबधित होते हैं। मुख्य सचिव अपने अधीन किसी भी अधिकारी के विरुद्ध शिकायतों की जाच का आदेश दे सकता है। उदाहरणार्थ—राजस्थान में 1972 में बीकानेर जिले के *जिलाधीश के विरुद्ध जनता ने प्रदर्शन किये तथा मुख्य सचिव से जाच का अनुरोध* किया और मुख्य सचिव ने जाच के आदेश प्रसारित भी किये।"

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण पजाब राज्य का है जहा सितम्बर, 1972 में *कुछ वरिष्ठ अधिकारियों ने म्यूनिख ओलम्पिक में जाने के लिए चदा एकत्रित कर* लिया जबकि वे म्यूनिख ओलम्पिक दल के सदस्य नहीं थे। ऐसी स्थिति में पजाब सरकार के मुख्य सचिव ने राज्य क्रीडा सघों को तुरत जानकारी पेश करने का आदेश दिया।

4 वह सचिवालय भवनों व उनके कक्षों पर प्रशासनिक नियत्रण रखता है और मत्रियों में सलग्न स्टाफ पर भी प्रशासनीय नियत्रण रखता है।

5 वह केन्द्रीय रिकार्ड रून्च, सचिवालय पुस्तकालय तथा अधिकारी सरक्षण स्टाफ पर जो सचिवालय के सभी विभागों में कार्य करता है, पर्यवेक्षण रखता है।
6 सचिवों का प्रमुख होने के नाते मुख्य सचिव अनेक समितियों का अध्यक्ष होता है। उच्च-स्तरीय नीतियों से सबंधित राज्य में ऐसी कोई भी समिति नहीं होती, जिसमें उसका मनोनयन न किया जाता हो।
7 सकटकालीन समय में वह राज्य के 'नर्व सिस्टम' की भाति कार्य करता है। वास्तविकता यह है कि मुख्य सचिव की भूमिका सकटकालीन परिस्थितियों में एक समन्वयकर्त्ता के रूप में उभरती है।

इस प्रकार मुख्य सचिव का पद राज्य के प्रशासनिक पद-सोपान में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पद है, जिसकी पूर्ति सावधानीपूर्वक की जाती है। इस पद के लिए राजनीतिक प्रभावों का प्रयोग न केवल प्रशासनिक क्षेत्र के लिए, अपितु लोक सेवाओं को सुचारू रूप से सचालन के लिए भी घातक सिद्ध हो सकता है। राज्य प्रशासन में बढते हुये राजनैतिक हस्तक्षेप को देखते हुए अनेक बार यह आशका व्यक्त की जाती है कि भविष्य में शायद ही कोई मुख्य सचिव प्रशासनिक स्तर पर नियुक्त किया जाए तथा वह स्वतत्रतापूर्वक भय से परे होकर कार्य कर सके।

मुख्य सचिव पद की प्रभावशीलता को बढाने के लिए विभिन्न सुझाव दिये जाते हैं। प्राय यह कहा जाता है कि राज्य के वरिष्ठ अधिकारियों की सूची से वरिष्ठतम व्यक्ति को ही इस पद पर आसीन किया जाए। उसका कार्यकाल भी काफी समय के लिए हो, जिससे कि वह प्रभावपूर्ण ढग से कार्य कर सके तथा राज्य प्रशासन पर अपना प्रभाव डाल सके। सेवा मुक्त होने के पश्चात् उसे विधान सभा के उच्च सदन का (यह सदन राजस्थान में नहीं है) सदस्य मनोनीत कर दिया जाना चाहिए जहा वह एक प्रशासनिक दार्शनिक की भाति अपने अनुभव का लाभ राज्य की राजनीति को दे सके। समय-समय पर स्थापित की गई विभिन्न समितियों ने उसके पद को प्रभावशाली बनाने के सबध में जो बहुत से सुझाव दिये हैं उनमें से प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं—

## (क) राजस्थान प्रशासनिक सुधार समिति, 1963

1 मुख्य सचिव प्रभावपूर्ण तरीकों से प्रशासकीय विभागों में समन्वय स्थापित करे तथा राज्य सरकार की नीतियों में एकता स्थापित करे।
2. नई योजनाओं तथा प्रस्तावों को स्वीकार करने सबधी महत्वपूर्ण विषय मुख्य सचिव के पास ही होने चाहिए।
3 उप-विभागाध्यक्षों तथा उनसे उच्च-अधिकारियों की नियुक्ति, स्थानातरण, पदोन्नति आदि से सबधित मामले मुख्य सचिव के पास ही रहने चाहिए।
4 समिति का कहना था कि मुख्य सचिव के प्रत्यक्ष नियत्रण में निम्न-विभाग होने चाहिए—

(i) केबिनेट सचिवालय,
(ii) आयोजना,
(iii) नियुक्ति,
(iv) सामान्य प्रशासन विभाग,
(v) ओ एव एम सभाग, तथा
(vi) निरीक्षण कार्यालय।

*(ख) बंगाल प्रशासकीय जांच समिति–*

(i) मुख्य सचिव को मंत्रिमडल की विकास समिति का अध्यक्ष होना चाहिए।
(ii) उसे विकास मडल का भी अध्यक्ष बनाया जाए।
(iii) विकास सबधी गतिविधियों में जिलाधीशों के बाद उसे उच्च कार्यपालक का स्तर दिया जाए।

राजस्थान राज्य में मुख्य सचिव अपनी सुविधानुसार कार्यों को प्रभावशाली ढग से सम्पन्न करने के लिए समय-समय पर नाना सुधार करते आये हैं। समन्वय समितियों की सशक्तता एव पुनर्गठन तथा प्रकोष्ठ पद्धति इसी प्रकार के प्रयोग कहे जा सकते हैं। मुख्य मत्री का पूर्ण समर्थन मिलने पर मुख्य सचिव का पद राजस्थान सरकार में प्रभावशाली रहा है *और एक समन्वयकर्ता के रूप में मुख्य सचिव की भूमिका सशक्त एव उपयोगी कही जा* सकती है। राजस्थान में मुख्य सचिव का चयन पूर्णत वरिष्ठता के आधार पर न होकर योग्यता के आधार पर होता रहा है, किन्तु ऐसी स्थिति कभी नहीं आई जैसी कि बिहार में जहा 30 अधिकारियों की वरिष्ठता को समाप्त कर मुख्य सचिव नियुक्त किया गया। सभी अधिकारी इस तथ्य पर सहमत हैं कि मुख्य सचिव का पद विशेषज्ञ को सौंपना अधिक उपर्युक्त नहीं होगा क्योंकि सामान्यज्ञ अधिकारी अधिक प्रभावशाली ढग से प्रशासन कर सकता है और वह समस्याओं को उनकी समग्रता में देख सकता है।

## सचिवालय सुधार

राजस्थान सचिवालय के व्यावहारिक अनुभव के आधार पर निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

1 विलम्ब को रोकने के लिए निम्न-स्तरीय व उच्च-स्तरीय लिपिकों की सख्या कम कर दी जानी चाहिए। इसी प्रकार फाइलों को सर्वप्रथम उच्च-अधिकारियों के पास ही सप्रेषित किया जाना चाहिए।
2 अन्तर्विभागीय स्तर पर व्यक्तिगत विचार-विमर्श होना चाहिए जिससे विलम्ब कम हो सके।
3. सचिवालय में अत्यधिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो गया है। अत शक्ति का उदार प्रत्यायोजन उपयोगी होगा।[28]

4 राजकीय योजना निर्माण हेतु एक 'आयोजन समिति' की स्थापना की जानी चाहिए, जिसके आयोजना संबंधी निर्णय अंतिम हों।

5 अंतर्विभागीय विचार-विमर्श आवश्यक हैं, परन्तु व्यर्थ के विवादों पर रोक लगाई जानी चाहिए।

एपलबी ने भी अपने प्रथम प्रतिवेदन में सचिवालय एवं भारतीय प्रशासन के कुछ सामान्य दोषों के निवारणार्थ निश्चित सुझाव दिये थे। उनके अनुसार लाल फीताशाही को रोकने हेतु सभी सचिवालयों में कर्मचारियों की संख्या कम की जानी चाहिए, शक्ति का विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए, लाइन एवं स्टाफ में स्पष्ट अंतर होना चाहिए तथा सभी विभागों में एक-एक पृथक् प्रभाग समन्वय कार्य के लिए स्थापित किया जाना चाहिए। ये सभी सुझाव राजस्थान सचिवालय की सुधार योजना के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं। प्रकोष्ठ पद्धति के सुधार के लिए कदम उठाया जाना भी इस दिशा में स्वागत योग्य है।

इस प्रकार सचिवालय कार्य-प्रणाली में यद्यपि सचिव मंत्री के प्रति उत्तरदाई होता है, किंतु उसे विभिन्न विधि-विधानों तथा संवैधानिक परिसीमाओं में रह कर कार्य करना होता है। उसका दायित्व है कि वह नीति-निर्माण तथा विभाग की प्रशासनिक गतिविधियों के संबंध में मंत्री को परामर्श दे। वह स्वयं मंत्रालय के अधीन सभी निष्पादक अभिकरणों पर सामान्य-नियंत्रण रखता है तथा निष्पादक विभागाध्यक्षों का मार्ग-दर्शन करता है। वास्तव में वही उनके तथा मंत्रिमंडल के बीच की एक कड़ी है।" अपने कार्य को कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए विभाग संबंधी आंकड़े एकत्रित एवं संकलित करता है, जिससे उसके द्वारा दिये जाने वाले प्रत्येक निर्णय का तथ्यों द्वारा समर्थन किया जा सके। वह अपने विभाग के दर्शन का ज्ञाता होता है। इस आधार पर वह प्रत्येक नवागत मंत्री अथवा अधिकारी का अभिनवीकरण करता है। वह अपने विभाग को कुशलता तथा मितव्ययितापूर्ण संचालित करने के लिए उत्तरदाई होता है। प्रजातंत्रात्मक परिवेश में उसे राजनीतिक परिस्थितियों, प्रेस तथा जनमत का भी पूरा ध्यान रखना होता है। लोक-प्रशासन की तकनीकी भाषा में उसके कार्य मूलतः परामर्श या 'स्टाफ' संबंधी हैं, किंतु यह परामर्श कठोर परिश्रम, तथ्यों के निरंतर अध्ययन तथा क्षेत्र के क्रियात्मक अनुभवों की मांग करता है।

## राजस्थान राज्य के गृह विभाग का संगठन

राजस्थान का गृह विभाग राज्य के गृह मंत्री के तत्वाधान में कार्य करता है। कुछ समय पूर्व तक गृह विभाग केन्द्रीय स्तर पर प्रधान मंत्री और राज्य स्तर पर मुख्य मंत्रियों के हाथों में ही था, परंतु सन् 1977 के बाद केन्द्रीय स्तर पर भी और राज्यों में भी गृह विभाग, गृह मंत्रियों के हाथों में अवस्थित है। राजस्थान में गृह विभाग के साथ ही नागरिक सुरक्षा का विभाग भी जुड़ा हुआ है। मुख्य मंत्री की सहायता के लिए एक राज्य मंत्री इस विभाग का कार्य देखता है। इन राजनीतिक नेताओं के अतिरिक्त विभाग का स्थाई भार

के लिए सन् 1957 में एक डिप्टी-इन्सपेक्टर जनरल ऑफ पुलिस के नेतृत्व में राज्य में एक भ्रष्टाचार निरोध विभाग भी गठित किया गया। इसके अधीनस्थ अधिकारी अधीक्षक अतिरिक्त एवं सहायक अधीक्षक होते हैं जो शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर भ्रष्टाचार के मामलों को पकड़ते हैं तथा उनकी जाँच-पड़ताल भी करते हैं।

गृह विभाग के प्रशासकीय नियन्त्रण में अन्य महत्वपूर्ण विभाग जेल एवं सुधारालय आदि भी हैं। जेल-प्रशासन के लिए राज्य में पृथक् से एक इन्सपेक्टर जनरल ऑफ प्रिजन्स का पद है, जिसके अधीन सहायक इन्सपेक्टर जनरल, अधीक्षक आदि होते हैं। राज्य भर में जेलें अलग-अलग स्थानों पर विभिन्न अधीक्षकों के नियंत्रण में रखी जाती हैं। राज्य में कुल मिलाकर विभिन्न प्रकार की अनेक जेलें हैं। महिलाओं तथा बाल-अपराधियों के लिए जयपुर तथा उदयपुर में पृथक् से सुधारालय स्थापित किये गये हैं।

"पुलिस सब-इन्सपेक्टर स्तर तक के अधिकारियों का प्रशिक्षण" पुलिस ट्रेनिंग स्कूल, किशनगढ़ तथा आई.पी.एस. अधिकारियों का प्रशिक्षण "नेशनल पुलिस ट्रेनिंग अकादमी हैदराबाद में होता है। कान्सटेबलों के प्रशिक्षण की व्यवस्था जयपुर, जोधपुर, बीकानेर उदयपुर तथा कोटा में क्षेत्रीय स्तर पर की जाती है।

## गृह विभाग के कार्य

सारे राज्य में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना राज्य के गृह विभाग का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। राज्य स्तर पर शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह विभाग केन्द्र सरकार के गृह मंत्रालय से निर्देश प्राप्त करता है तथा कितने ही केन्द्रीय एवं राजकीय कानूनों की क्रियान्विति के लिए भी उत्तरदाई है। शांति एवं व्यवस्था कार्यों के संदर्भ इस विभाग के उत्तरदायित्वों को जटिल एवं गुरुत्तर बनाता है। सचिवालय स्तर पर गृह विभाग, नीति-निर्माण में सहयोग देता है। राजस्थान सरकार के कार्यविधि-नियमों के अनुसार निम्नलिखित विषयों का प्रशासन गृह विभाग के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता है—

1. शांति एवं व्यवस्था, प्रदेश एवं देश की सुरक्षा तथा तत्संबंधी कानूनों की क्रियान्विति के संबंध में नीति-निर्माण करना।
2. यह पता लगाना कि राजकीय प्रशासन सरकार की नीतियों की अनुपालना कर रहा है अथवा नहीं।
3. इन नीतियों में आवश्यकतानुसार सुधार के लिए समय समय पर इनका पुनर्मूल्यांकन करना।
4. विभागाध्यक्षों पर नियंत्रण रखना तथा उन्हें निर्देशन देना।
5. विधान मंडल तथा उसके विभिन्न संगठनों, जैसे जन-लेखा समिति एवं प्राक्कलन समिति से संबंधित कार्य करना।
6. पुलिस से संबंधित समस्त मामले जिनमें रेलवे तथा ग्राम पुलिस भी सम्मिलित

7 राजस्थान पुलिस सेवा।
8 राजस्थान सशस्त्र पुलिस से सबंधित प्रश्न।
9 राजस्थान प्रशासनिक सेवा के प्रशिक्षणार्थियों को तृतीय श्रेणी के दण्डनायकों के अधिकार देने से सबंधित विषयों को छोडकर सभी दडनायक और उनकी समस्याए।
10 नागरिक व्यवस्था।
11 राजकीय लाटरी को छोडकर, जुआ और लाटरी का नियमन, परतु इसमें उन पर लगने वाला कर शामिल नहीं है।
12 सशस्त्र, अग्नि-अस्त्र तथा गोला-बारूद।
13 शस्त्रागार।
14 केन्द्रीय सूचना ब्यूरो के सबध।
15 विष तथा घातक औषधिया।
16 मोटर परिवहन पर नियत्रण तथा मोटर-गाडियों से सबंधित विधियों को लागू करना, जिसमें मोटर-गाडियों पर लगने वाला कर भी शामिल है।
17 राज्य मोटर परिवहन।
18 रगशाला, नाट्य प्रदर्शन एव सिनेमा।
19 विस्फोटक तथा विस्फोस्टक पदार्थों पर नियत्रण।
20 कारागार, बोर्स्टल सस्थाए, सुधारालय, सर्टिफाइड स्कूल एवं किशोर अपराधी।
21 नजरबदी अधिनियम एव व्यवस्था।
22 कैदी सहायता समितिया, पेट्रोल, राशन, मकान किराया नियत्रण, रेलवे लाइन प्रारम्भ करने सबधी मामले, राजकीय पुस्तकों तथा प्रकाशनों का वितरण, राजपत्र, लेखन सामग्री एव मुद्रण, सरकारी मुद्रणालय, प्रचार और सूचना, समाचार एजेन्सी, समाचार पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षा, गैर-सरकारी प्रकाशनों का पजीयन तथा सूचीकरण एव प्रेस के विशेषाधिकारों तथा रियायतों से सबंधित सभी विषय।
23 पासपोर्ट और वीसा, अधिवास, देशीकरण तथा नागरिकता, भारत में अप्रवासन भारत के बाहर उत्प्रवास तथा निष्कासन, कश्मीर-भ्रमण के लिए अनुमति-पत्र, सीमा सुरक्षा और राज्य-सुरक्षा, विदेशी व्यक्तियों से सबंधित मामले, विभाग के प्रशासनिक नियत्रण के अतर्गत आने वाले अधिकारियों और कर्मचारियों के सेवा सबधी मामले इत्यादि।

उपर्युक्त विषयों को देखने से गृह विभाग के कार्य-विस्तार का ज्ञान होता है। राजस्थान सरकार के लगभग सभी महत्वपूर्ण कार्य इसी विभाग द्वारा सपादित होते हैं। सरकार के अन्य विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित कर, उन्हें समय-समय पर निर्देश देना इस

विभाग का एक प्रमुख कार्य है। अत मूलत प्रकृति से यह एक समन्वयात्मक, निर्देशात्मक तथा निष्पादक विभाग है।

इनके अतिरिक्त राजस्थान सरकार का गृह विभाग निम्न विभागों पर अपना प्रशासनिक नियत्रण रखता है–

1 पुलिस।
2 नागरिक सुरक्षा एव होम गार्ड।
3 ट्रान्सपोर्ट, जिसमें राज्यकीय पथ-परिवहन निगम भी सम्मिलित है।
4. जेल प्रशासन।
5 सार्वजनिक सपर्क।
6. मुद्रण, स्टेशनरी एव सरकारी प्रेस।

इन विभागों का प्रशासनिक एव कार्यकारी प्रवध चलाने वाला गृह विभाग राज्य में होने वाली सभी गतिविधियों के प्राथमिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता है। सगठन एव कार्यात्मक प्रकृति की दृष्टि से अत्यत महत्वपूर्ण विभाग होने के साथ-साथ यह विभाग राज्य सरकार के ही लिए नहीं, बल्कि केन्द्र सरकार के लिए भी अपनी अमूल्य सेवाए देता है। देश की सुरक्षा में विदेशी जासूसों का खतरा तथा अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह के अपराधियों आदि पर (जो राज्य में सक्रिय हों) निगरानी रख यह विभाग भारत सरकार के एजेन्ट के रूप में केन्द्रीय गृह मत्रालय की शाखा की भांति कार्य करता है। इसकी गोपनीय शाखा केन्द्र को राष्ट्रीय सुरक्षा सबधी सूचनाए प्रेषित करती रहती है, जिनके आधार पर राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण होता है।

सगठन की दृष्टि से राज्य सरकार के गृह विभाग में सामान्य दुर्बलताए ढूढी जा सकती है। प्रथम तो इस विभाग का सारा सगठनात्मक ढाचा परपरागत है, जिसमें कोई भी क्रातिकारी परिवर्तन सरल नहीं है। राजस्थान राज्य के पुनर्गठन तथा ससदीय शासन की स्थापना के बाद यह अपेक्षित था कि इसके सगठन एव कार्य-विधि में मौलिक परिवर्तन किये जाते, किंतु दुर्भाग्यवश यह विभाग पहले की भांति ही सामान्यज्ञों के एकाधिकार में है। पुलिस प्रशासन, जो इस विभाग का विशेष कार्यक्षेत्र है, अभी भी प्रशासनिक दृष्टि से परपरावादी एव सैनिक सगठन के आधार पर सगठित है। विज्ञान, तकनीकी, जनसख्या वृद्धि, औद्योगीकरण तथा गरीबी की विषम एव असतुलित स्थिति में राजस्थान सरकार का यह विभाग ऐसी समस्याओं का सामना कर रहा है, जिनके समाधान के लिए इस विभाग के पास पर्याप्त स्टाफ की कमी है। अत निर्णय लेने तथा समस्याओं के समाधान में देरी होती है। विशेषीकरण एव परामर्शदात्री अभिकरणों का अभाव, शांति एव व्यवस्था प्रशासन को धक्का पहुचता है। सत्याग्रहों, हड़तालों, आदोलनों एव अपराधों की सख्या प्रदेश में तेजी से बढ रही है और स्वय विभाग के कर्मचारियों में भी विभाग के प्रति अविश्वास बढता दिखाई देता है।

पुलिस एक्ट के अनुसार पुलिस का कार्य अपराधियों की जाच एव अपराधों का विरोध करना है। यह कार्य नाना प्रकार की समस्याओं और कठिनाइयों को जन्म देता है। पुलिस प्रशासन के विरुद्ध जो भी जनता के अभियोग हैं उनमें एक अभियोग यह भी है कि कानून की प्रक्रिया में अनेक दुर्बलताए हैं। गत वर्षों में इस विभाग ने जनता की इन समस्याओं को पहचान कर, कानून एव पुलिस में वांछित सुधार लाने के लिए एक भी महत्वपूर्ण अध्ययन अथवा सुधार कदम ऐसा नहीं उठाया है, जिसके प्रभाव का जनसाधारण को अनुभव हो सके।

राज्य में बढते हुए भ्रष्टाचार के निवारण करने में भी राज्य का गृह विभाग प्रभारी नहीं हो सका है। यद्यपि समय-समय पर कुछ ऐसे आयोगों तथा समितियों जैसे सतर्कता आयोग आदि की स्थापना अवश्य की गई है, जो भ्रष्टाचार के कारणों की जाच करने तथा उसे रोकने के उपाय बतला सके, परतु इनकी सफलता के विषय में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। राजस्थान राज्य में लोकायुक्त की नियुक्ति इस विभाग की कुछ समस्याओं को सुलझाने तथा इसके उत्तरदायित्वों को कुछ सीमा तक हल्का करने में सफल होगी, ऐसी आशा की जा सकती है।

## राजस्थान राज्य का वित्त विभाग

प्रशासन और वित्त आधुनिक सरकारों का मूल-प्राण है। लोक-प्रशासन में वित्त तथा उसका प्रबध एक समन्वयात्मक प्रक्रिया के द्योतक हैं। राजस्थान जैसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्य के प्रशासन में वित्त का प्रबध और भी अधिक विशेष महत्व रखता है। राजस्थान सरकार के वित्त प्रशासन का सारा दायित्व उसके वित्त विभाग पर है, जो प्रशासनिक सरचना और पद-सोपान में गृह विभाग के पश्चात् आता है।

## वित्त मंत्रालय के कार्य

राज्य के वित्तीय प्रशासन को सुचारू रूप से सचालित करने के लिए यह विभाग राज्य के राजस्व के स्रोतों, उनके एकत्रित करने की विधि एव प्रक्रिया उस सरकारी राशि के व्यय से सबंधित कार्य करता है। इस आय-व्यय के अनुमानित एव वास्तविक प्रशासन को जिसे बजट प्रशासन भी कहा जाता है, यही विभाग देखता है। वित्त मत्री एव वित्त आयुक्त की अध्यक्षता में कार्य करने वाले राजस्थान के वित्त विभाग में निम्नलिखित विषयों से सम्बद्ध प्रशासनिक कार्य सपन्न होते हैं–

### 1 बजट निर्माण

राज्य की आय एव व्यय के अनुमानित आकड़ों के आधार पर राज्य का वार्षिक बजट तैयार करना राज्य के वित्त मत्रालय का प्रथम एव आवश्यक कार्य है।

### 2. बजट व्यवस्थापन

आय तथा व्यय के विभिन्न तथ्यों के आधार पर विशेषज्ञों द्वारा निर्मित बजट अनुमानों

को राज्य के विधान मंडल के समक्ष वित्त मंत्री द्वारा प्रस्तुत करवा कर उसकी स्वीकृति प्राप्त करवाना इस विभाग का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है।

### 3. बजट क्रियान्वयन

विधान सभा द्वारा बजट के पास कर दिये जाने तथा राज्यपाल के हस्ताक्षरों के बाद अधिकृत अनुमानों के अनुसार बजट की क्रियान्विति तथा उसके विभिन्न चरणों के लिए नीति-निर्माण एवं समन्वयात्मक कार्यवाही की स्ट्रेटेजी आदि के लिए यह विभाग नियंत्रणात्मक कार्यवाही करता है।

राज्यकोष पर नियंत्रण रखना खर्च किये गये सभी मामलों के लिए विधानसभा के प्रति उत्तरदायित्व वहन करना, वित्त नियंत्रण के लिए विभिन्न समितियों की व्यवस्था करना, इस विभाग के सामान्य, दैनिक एवं प्रशासकीय कार्य हैं। इसके लिए यह विभिन्न प्रशासनिक नियंत्रकों एवं विभागाध्यक्षों को वित्तीय नियंत्रण निर्देश आदि देता रहता है। अनेक वित्तीय विषय एवं राशियां इस विभाग में पूर्व स्वीकृति सहमति, अनुमोदन एवं सूचनार्थ विभागों की ओर से आती रहती हैं। ये सभी प्रस्ताव जो राज्य के वित्त साधनों अथवा व्यवस्था को प्रभावित करते हैं, इस विभाग की सहमति के बिना प्रभावी नहीं बन सकते। निम्न विषयों से संबंधित सभी आदेश जारी किये जाने से पूर्व राज्य के वित्त विभाग में परामर्श के लिए आते हैं–

1. राज्य सेवा में किसी पद के बढ़ाने अथवा समाप्त करने अथवा किसी भी पद के वेतन आदि को परिवर्तित करने के सभी वित्तीय प्रस्ताव।
2. किसी पद या पदों के किसी वर्ग या राज्य सरकार के किसी कर्मचारी के लिए कोई भत्ता या विशिष्ट या वैयक्तिक वेतन स्वीकार करने का प्रस्ताव।
3. ऐसे प्रस्ताव जिनमें राजस्व को छोड़ने या ऐसा खर्च करने की बात निहित हो, जिसके लिए राज्य के विनियोग विधेयक में कोई प्रावधान नहीं किया गया हो।
4. ऐसे विषय जिनमें वित्त विभाग द्वारा सामान्य अथवा विशिष्ट निर्देशों की कानूनी आवश्यकता हो।

इन सब कार्यों का संपादन वित्त विभाग द्वारा किया जाता है। राज्य का सारा वित्त प्रशासन इसी विभाग का उत्तरदायित्व है। वित्त-विनियोजन, वितरण एवं समन्वय के लिए उत्तरदाई होने के कारण राज्य के अन्य सभी विभाग अपने विभागों से संबंधित कार्यों के संपादन हेतु इसके निर्देशानुसार कार्य करते हैं।

वित्त विभाग की कार्य-प्रक्रिया और उसका स्वरूप बड़ा जटिल है। बहुत कम अधिकारी वित्तीय मामलों की जानकारी रखते हैं। यह कार्यकारी विभाग न होने हुए भी राज्य सरकार के कार्यों में केन्द्रीकरण की शक्ति का साधन है और स्टाफ (परामर्श) प्रकृति का होते हुए भी श्रेणी-अभिकरणों के उपयोगी प्रस्तावों एवं सुझावों पर कुठाराघात करता रहता है। इस विभाग पर यह आरोप लगाया जाता है कि यह 'मुगलिया सुल्तान' की तरह अन्य सभी

विभागों पर छाया हुआ है। यह अन्य विभागों में समन्वय स्थापित करने के नाम पर उन्हें अधीनस्थ विभाग समझता है।

केन्द्र सरकार की भाँति इस विभाग की सपूर्ण वित्तीय क्रियाए राज्य के अध्यक्ष के नाम से की जाती हैं। इन वित्तीय-प्रक्रियाओं का सबध अनेक प्रशासकीय एव विधायी अभिकरणों से होता है। ये अभिकरण हैं–

1 वित्त विभाग तथा निष्पादक विभाग,
2 सचिवालयी विभाग तथा निष्पादक विभाग,
3 योजना तथा वित्त आयोग,
4 विधान सभा एव उसकी वित्तीय समितिया,
5 लेखा तथा अकेक्षण अभिकरण-विभागीय तथा स्वतत्र अभिकरणों के उदाहरण महालेखापाल, सार्वजनिक लेखा समिति तथा प्राक्कलन समिति आदि हैं।

## वित्त विभाग का संगठन

राजस्थान का वित्त मत्रालय राज्य प्रशासन का प्रशासकीय केन्द्र है। इसी कारण इसमें अत्यत अनुभवी एव वरिष्ठ प्रशासकों को रखा जाता है। इस विभाग का कार्यभार एक विशिष्ट वित्त आयुक्त सभालता है जो अन्य सहयोगी सचिवों की भाति अखिल भारतीय सेवा का एक वरिष्ठ सदस्य होता है। उसकी सहायता हेतु एक विशेष वित्त सचिव की नियुक्ति की जाती है। सगठनात्मक दृष्टि से यह विभाग छ उप-सचिवों के तत्वाधान में व्यवस्थित है। प्रत्येक उप-सचिव के पास निम्नलिखित विषयों में से एक-एक विषय समूह है–

1 करारोपण,
2 व्यय (I) एव (II),
3 भडार क्रय,
4 राजस्व एव आर्थिक मामले,
5 नियम, तथा
6 व्यय (III)

बजट निर्माण इस विभाग का गुरुत्तम कार्य है। इस कार्य के निष्पादन के लिए वित्त विभाग में एक बजट अधिकारी होता है। इसी प्रकार कोषालयों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए एक कोषाधिकारी रहता है। कुछ सहायक सचिव आबकारी तथा लेखा आदि विषयों को देखते हैं। इनकी सहायता के लिए अनेक अनुभाग अधिकारी होते हैं। एक वरिष्ठ लेखाधिकारी लेखा-सबधी कार्यों की देख-रेख करता है। जिसकी सहायता के लिए आठ सहायक लेखाधिकारी हैं। ये क्रमश व्यय, वित्त, नियम, भडार-क्रय, अकेक्षण, लेखा, स्वय आबकारी तथा वसुली को देखते हैं। लेखा-नियमों की विशेष अनुपालना एव संहिताकरण के लिए एक पृथक् लेखाधिकारी है।

इस प्रकार वित्त विभाग एक शुद्ध प्रशासनिक विभाग न होते हुए भी केन्द्रीकरण करने वाला तथा अन्य विभागों के कार्यों में समन्वय करने वाला एक सशक्त विभाग है। यह अन्य सभी विभागों पर अपना प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष नियत्रण रखता है। बजट निर्माण इसका प्रमुख कार्य है, पर बजट निर्माण तथा निष्पादन से सबंधित अन्य अनेक वित्तीय प्रक्रियाए इसके कार्यक्षेत्र में स्वाभाविक रूप से आ जाती हैं।

*इस सबध में एक महत्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि बजट निर्माण करते समय* इस विभाग द्वारा विभिन्न विभागों से अनुमानित आकडे मगवाये जाते हैं। इन आकडों की जाच प्रारम्भ में नहीं की जाती, किन्तु उन्हें बजट में शामिल करने के पश्चात् उनकी समीक्षा की जाती है। इससे प्रक्रियात्मक कठिनाइया उत्पन्न होती हैं। यदि पहले से ही पर्याप्त साख्यिकी तथा आकडे एकत्रित कर लिए जाए तो विभिन्न आयोजनाए विस्तारपूर्वक तैयार की जा सकती है। धन के व्यय उसके लेखाकन तथा अकेक्षण का दायित्व सबधित *विभागाध्यक्षों पर ही डाला जाना समीचीन होगा। इससे वित्त विभाग का कार्यभार भी हल्का* हो सकेगा।

धन के अपव्यय को रोकने के लिए इस विभाग में कुछ क्रियात्मक कदम भी उठाये जाने चाहिए। राजस्व के सग्रह, आरक्षण, वितरण तथा समन्वय की प्रक्रियाओं को अधिक तर्क-सगत बनाया जा सकता है। विकास प्रशासन के सदर्भ में सीमित आय का अधिकाधिक सदुपयोग करने के लिए राजस्थान राज्य का यह विभाग निष्पत्ति बजट प्रणाली अपना चुका है, किन्तु इसके लिए इसे एक *व्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम करना होगा। वस्तुत जैसा कि प्रशासनिक सुधार आयोग का मत भी है कि इस व्यवस्था को अखिल भारतीय स्तर पर* लागू किये जाने के पश्चात् ही राज्यों में अपनाया जाना श्रेयस्कर होगा। फिर भी राज्य स्तर पर विभागों के लिए इसका पृथक् एव स्वतत्र प्रयोग काफी उपयोगी एव समीचीन रहा है। अकेक्षण नीतिया एव उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बजट की क्रियान्विति सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है। इस कार्य में सुगमता, कुशलता तथा मितव्ययिता लाने के लिए विभिन्न विभागों में अधिक सख्या में लेखाधिकारी नियुक्त किये जा सकते हैं, *किन्तु उन्हें विभागाध्यक्ष के नियत्रण तथा निर्देशन में ही कार्य करना प्रशासनिक दृष्टि से व्यावहारिक होगा।* वित्त विभाग को चाहिए कि वह प्राक्कलन तथा सार्वजनिक लेखा समितियों के सुझावों को प्रभावशाली ढग से समायोजित करे। जहा तक राज्य के घाटे तथा कर्ज की अर्थ-व्यवस्था का प्रश्न है, सभवत इसे राज्य की कृषि तथा औद्योगिक उन्नति होने की स्थिति तक, बिना केन्द्रीय सहायता तथा वित्त आयोग की अनुकूल सिफारिशों के नहीं सुलझाया जा सकता, फिर भी *वित्त विभाग अपने आय-व्यय स्रोतों का पूरा-पूरा लाभ उठाकर राज्य की वित्तीय स्थिति* को सुधारने में अपनी क्षमता का परिचय अवश्य दे सकता है।

## राजस्थान राज्य का कृषि विभाग

*भारत आज भी एक कृषि-प्रधान देश है। अत* यह स्वाभाविक है कि कृषि जैसे

महत्वपूर्ण विषय के प्रशासन के लिए केन्द्रीय एव राजकीय स्तर पर अलग से मत्रालय एव विभाग स्थापित किये जाए। राजस्थान में भी इस प्रदेश के निवासियों का प्रमुख उद्योग कृषि ही है, परतु यहा की कृषि की उपज अधिकतर मानसून पर निर्भर करती है। राजस्थान प्रदेश में प्राय अनाज की कमी रहती है। गत वर्षों में हरित क्रांति लाने की दिशा में राज्य में कुछ प्रयास अवश्य हुए हैं और खेती का यत्रीकरण एव वैज्ञानिकरण भी बढा है।

राजस्थान प्रदेश में पिछडेपन एव रेगिस्तानी जलवायु के कारण सिचाई साधनों का अभाव रहा है। अब प्रदेश में जगह-जगह कुए खोदे जा रहे हैं, ट्यूबवैलों की व्यवस्था की जा रही है तथा गावों में बिजली पहुचाने की दिशा में भागीरथ प्रयत्न किये जा रहे हैं। ये सब कार्य राजस्थान राज्य के कृषि विभाग के तत्वावधान में सपन्न हो रहे हैं।

सन् 1949 में जब राजस्थान का एकीकरण हुआ तो कृषि प्रशासन की स्थिति बडी सोचनीय थी। उस समय जयपुर तथा बीकानेर रियासतों को छोडकर अन्य रियासतों में कृषि विभाग जैसी प्रशासनिक इकाई तक नहीं थी। आरम्भ में सयुक्त राजस्थान के कृषि विभाग के पृथक् निदेशक तथा राज्य सरकार के परामर्शदाता के बीच व्यक्तिगत मतभेदों के कारण कृषि विभाग का कार्य पूरी तरह से ठप्प पडा रहा और प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल में कृषि उत्पादन 40 हजार टन था और मोटे अनाजों को छोडकर अन्य प्रकार के अनाज एवं दालों आदि को दूसरे राज्यों से आयात किया जाता था। द्वितीय पचवर्षीय योजना में इस क्षेत्र में कोई विशेष अभिवृद्धि नहीं हो पाई। लेकिन इन दोनों अधिकारियों के चले जाने के पश्चात् कृषि-उत्पादन क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई। वास्तव में इस विभाग का इतिहास इस बात का द्योतक है कि राजनीतिज्ञ सामान्यज्ञ प्रशासक तथा विशेषज्ञ यदि समन्वय के साथ कार्य करें तो सभी समस्याओं को सफलतापूर्वक जीता जा सकता है। राजस्थान के कृषि विभाग की अनेक नीतिया व्यावहारिक सूझ-बूझ से परिपूर्ण तथा सार्थक सिद्ध हुई हैं। यद्यपि इस सारी सफलता का श्रेय केवल किसी एक कारण को नहीं दिया जा सकता, राजनीतिक स्थिरता पर भूमि सुधार तथा सामान्य प्रशासन का सहयोग भी इसमें महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। फिर भी वास्तविक कार्य बहुत कुछ कृषि विभाग के कुशल सचालन तथा निर्देशन के कारण ही सम्पन्न किया जा सका है।

परिणामस्वरूप राजस्थान राज्य कृषि प्रशासन के क्षेत्र में देश के अन्य प्रगतिशील राज्य जैसे पजाब, महाराष्ट्र तथा हरियाणा आदि के समकक्ष आने की कोशिश कर रहा है। नये और उच्च-कोटि के बीज विकसित करने, उत्पादन की मात्रा बढाने, खादों का प्रयोग करने, पौध सरक्षण एव सिचाई साधनों का उपयोग करने तथा भू-सरक्षण आदि के क्षेत्र में राजस्थान राज्य में अनेक कृषि सस्थाए, कृषि महाविद्यालय तथा कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये गये हैं, जिन्होंने राज्य को अपने कृषि-उत्पादन के लक्ष्य प्राप्त करने में आशातीत सहायता प्रदान की है। कृषि रोगों पर जितने ही शोध एव अनुसधान कार्य किये जा रहे

हैं। इनके लाभों को रेडियो, कृषि-मेले, प्रदर्शनियों, पुस्तकों तथा अन्य सूचना एवं प्रसारण के साधनों द्वारा सामान्य किसान तक पहुंचाया जा रहा है। इस कार्य में जिला स्तरीय कृषि-अधिकारियों को पंचायत समितियों के कृषि-अधिकारियों से पर्याप्त सहयोग मिला है, जो राजस्थान प्रदेश के कृषि प्रशासन की एक विशेषता कही जा सकती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में राजस्थान राज्य का कृषि-उत्पादन 40 हजार टन था। पिछले दो दशकों में प्रदेश का यह उत्पादन दुगुना (अर्थात् 80 हजार टन के करीब) हुआ है। सिंचाई के सीमित साधन होते हुए भी कृषि-उत्पादन की दर छः प्रतिशत से नौ प्रतिशत के बीच में रही है। इस दृष्टि से कृषि विभाग की कुशलता एवं प्रशासनिक प्रभावशीलता निर्विवाद मानी जाती है। उत्पादन की सभी वस्तुओं में आज राजस्थान राज्य काफी सीमा तक आत्मनिर्भर बन चुका है।

## राजस्थान राज्य के कृषि विभाग का संगठन

इस विभाग का संपूर्ण कार्यभार एक स्वतंत्र केबिनेट स्तर के मंत्री के पास है। वर्तमान में मुख्य मंत्री की भांति कृषि मंत्री के पास अन्य विषय भी हैं—जैसे पशुपालन, भेड़ एवं ऊन, स्वायत्त शासन, नगर आयोजना, अकाल सहायता तथा पुनर्वास आदि। कृषि-उत्पादन एवं पशुपालन दो भिन्न विषय होते हुए भी वर्तमान में कृषि विभाग में एक साथ गठित है। कृषि विभाग के संगठन के शीर्ष स्तर पर एक वरिष्ठ एवं स्थाई प्रशासनिक अधिकारी होता है जिसे कृषि सचिव कहा जाता है। यह अधिकारी अखिल भारतीय सेवा से लिया जाता है। इसकी सहायता के लिए तथा राज्य में कृषि-उत्पादन के लक्ष्यों की प्राप्ति पर विशेष बल दिये जाने के कारण इस विभाग में दो विशेष सचिव रखे गये हैं। इनमें से एक कृषि-प्रदाय योजना के लिए है। संगठन की दृष्टि से विभाग को सात प्रकोष्ठों में संगठित किया गया है। प्रकोष्ठ सात एक विशेष अधिकारी के पास है। प्रकोष्ठ तीन और पांच सहायक सचिवों के पास हैं। प्रकोष्ठ एक, दो तथा चार सैक्शन अधिकारियों के पर्यवेक्षण में हैं। दो उप-सचिवों में से एक योजना से संबंधित है। एक अधिकारी परीक्षा संबंधी कार्यों को देखता है। ऐसी ही व्यवस्था पशुपालन विभाग के संबंध में है।

राज्य की राजधानी में ही कृषि विभाग के तत्वावधान में एक कृषि-निदेशालय है। इसमें एक निदेशक तथा एक संयुक्त निदेशक होते हैं। एक संयुक्त निदेशक शोध-कार्यों के लिए है। निदेशालय में सात उप-निदेशक हैं। इन सात उप-निदेशकों में से कुछ तकनीकी विशेषज्ञ हैं। अन्य वरिष्ठ अधिकारी, लेखाधिकारी, कृषि-विशेषज्ञ, अर्थशास्त्री तथा खाद अधिकारी आदि हैं। निदेशालय के अधीन अनेक जिला-स्तरीय तथा क्षेत्रीय अभिकरण कार्य करते हैं।

कृषि-शोध को बढ़ावा देने के लिए राजस्थान राज्य में क्रियात्मक तथा प्रदर्शनात्मक कृषि-उत्पादन को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इस प्रकार के अनेक फार्म स्थापित किये गये हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के कृषि-अधिकारियों को प्रदर्शनों द्वारा प्रशिक्षण प्रदान दिया जाता है। इसका शोध-निदेशक एक स्वतंत्र अधिकारी है, जिसकी सहायता अनेक

कृषि-विशेषज्ञ करते हैं। प्रदेश के कुछ कृषि फार्म विदेशी सहायता से भी सचालित किये जाते हैं। पशुपालन का विभाग पृथक् है और उसकी प्रशासनिक सस्थापना भी अपने-आप में काफी विशाल है।

राज्य स्तर पर विभिन्न विभागों में प्रशासकीय समन्वय को बढावा देने के लिए राजस्थान प्रशासन में एक समन्वय-समिति का भी गठन किया गया है। इस समिति में मुख्य सचिव, सबंधित विभागों के सचिव तथा विभागाध्यक्ष भाग लेते हैं। इस समिति की बैठकों में प्रत्येक त्रैमासिक प्रगति का आलेखन एव मूल्याकन किया जाता है तथा अन्तर्विभागीय समस्याओं के समाधान किये जाते हैं। इस प्रकार के आयोजन से प्रदेश के कृषि प्रशासन को बडा लाभ हुआ है।

इसी तरह, मंत्रिमडलीय स्तर पर भी एक "कृषि उत्पादन उप-समिति" है, जिसकी अध्यक्षता स्वय मुख्य मत्री करता है। इस समिति के स्थाई सदस्य कृषि मत्री, विकास मत्री तथा वित्त मत्री होते हैं। मुख्य सचिव तथा कृषि एव पशुपालन विभागों के निदेशक इसके परामर्शदाता के रूप में इसकी बैठकों में बुलाये जाते है। इस उप-समिति की बैठकें जल्दी-जल्दी होती रहती हैं, जिससे कि पिछले कार्यों का निरीक्षण तथा भावी कार्यक्रमों का स्वरूप निश्चित किया जा सके। यह समिति कृषि-सबधी नीतिया निर्धारित करती है, जिन्हें बिना किसी समीक्षा के प्राय मान लिया जाता है और क्रियान्वयन के लिए स्वीकृत कर लिया जाता है। इसकी बैठकों में दूसरे मंत्रियों तथा अधिकारियों को भी आमंत्रित किया जा सकता है। इस प्रकार की समितियों का सबसे बडा लाभ यह है कि सभी प्रकार की सभावित बाधाओं के निराकरण के लिए सामूहिक प्रयास सभव बन जाता है।

## कृषि विभाग के कार्य

राजस्थान राज्य का कृषि विभाग सिचाई तथा खाद्य विभागों से सगठनात्मक रूप में सर्वथा एक पृथक् इकाई है। यह विभाग मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रशासकीय कार्यों के लिए उत्तरदाई है–

1 कृषि विभाग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य में कृषि-उत्पादन को बढा कर अधिकतम करना है। 'अधिक अन्न उपजाओ' तथा 'अधिक-से-अधिक सब्जिया लगाओ' जैसे अभियानों को आरम्भ कर यह विभाग सामान्य कृषकों में उत्साह का सचार करता है। उनको कृषि उत्पादन के विभिन्न उपायों से परिचित कराता है तथा यत्रीकरण एव मशीनीकरण के लाभों से किसानों को अवगत करा कर उन्हें खेती के आधुनिक तौर-तरीके सिखलाता है।
2 राज्य में कृषि विशेषज्ञों को तैयार करने हेतु अनेक कृषि विद्यालयों, कृषि महाविद्यालयों तथा बीकानेर के कृषि विश्वविद्यालय का सचालन एव निर्देशन करना इसी विभाग का एक कार्य है।
3 ये विशेषज्ञ कृषि विभाग के तत्वाधान में सामान्य किसानों को कृषि की अनेक

भयकर कीटों से बचाने के तरीकों तथा पौधों में होने वाली बीमारियों के निरोध आदि के साधन बतलाते हैं।

4 इसके अतिरिक्त राज्य में वृक्ष वर्धन तथा वन लगाना भी इसी विभाग का उत्तरदायित्व है। इस अधिकार क्षेत्र के अतर्गत राजस्थान के रेगिस्तान में वृक्ष सवर्धन का कार्यक्रम जारी है। इससे राज्य के सूखे प्रदेशों की रेत कम हो सकेगी तथा वर्षा की मात्रा भी बढ़ेगी।

5 राज्य में रेशम के कीडों के पालन की व्यवस्था तथा रेशम उद्योग को विकसित करने का कार्य भी कृषि विभाग को मिला हुआ है।

6 एक यूनिट के पौधों के रोगों से दूसरी यूनिट के पौधों को उसी रोग से बचाने के लिए कृषि विभाग निरोधक कार्यवाही करता है।

7 आधुनिकतम बीज एव औजारों की व्यवस्था तथा उन्हें साधारण किसानों तक पहुचाने के लिए औजारों का निर्माण कार्य तथा इसके लिए लोहा एव इस्पात की सप्लाई उपलब्ध कराना आदि कुछ ऐसे कार्य हैं जो इस विभाग के कार्यक्षेत्र में पर्याप्त विस्तार लाते हैं।

8 राज्य में ऊन का उत्पादन बढाने तथा उसके लिए भेड एव ऊन के प्रशासन से सबधित सभी मामले इसी विभाग की नियत्रण रेखा में आते हैं।

9 राज्य में सब्जियों, मास, अण्डे, फल आदि विभिन्न खाद्य पदार्थों की उत्पादन वृद्धि के लिए उपयुक्त नियत्रण रखना भी कृषि विभाग की प्रशासकीय जिम्मेदारी है।

इस प्रकार कृषि सबधी सभी कार्य तथा कृषि में सहायक होने वाले सबधित विषयों का कार्य भी राजस्थान के कृषि विभाग का होता है। इसके कार्यों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अपने क्षेत्र में यह एक व्यापक प्रशासकीय सगठन है। अपने इन सभी कार्यों में यह विभाग बहुत बडी सीमा तक सफल हुआ है। देश में कृषि-उत्पादन पहले की अपेक्षा काफी बढा है। इस दिशा में हम इन क्षेत्रों में आत्मनिर्भर भी हो चुके थे, परतु प्रकृति के प्रतिकूल होने से अन्न सकट से सारा राज्य त्रस्त रहता है। इसके लिए कृषि विभाग को दोषी नहीं कहा जा सकता।

मानसून पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति को खत्म करने के लिए यह विभाग पर्याप्त रूप से प्रयत्नशील है। इसके लिए यह जगह-जगह कुओं एव ट्यूब-वैलों की स्थापना कर रहा है। रेगिस्तान को हरा-भरा करने के लिए वहा वृक्षारोपण किया जा रहा है, परतु फिर भी सिचाई के साधनों के अभाव में मानसून पर निर्भरता तथा आर्थिक साधनों की कमी के कारण कृषि का विकास अभी भी अवरुद्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं तथा केन्द्र से जो सहायता मिली है वह सीमित है। किसान का रूढीवादी स्वभाव भी एक बहुत बडी बाधा है। किंतु धीरे-धीरे ये बाधाए दूर होती जा रही हैं। शोध एव अनुसधान पर जो खर्चा किया जाता है वह विदेशों की तुलना में नगण्य है। किन्तु अब राज्य की कृषि-सस्थाए अधिक सख्या में

कृषि-स्नातक निकाल रही है, जिनके माध्यम से कृषि-क्रांति को सभी क्षेत्रों में प्रसारित किया जा सकेगा। यदि उन्हें भूमि, आर्थिक साधन, बिजली, बीज खाद तथा आधुनिक कृषि उपकरण तथा शोध-संस्थाओं का सहयोग मिले, तो शीघ्र ही यह राज्य भारत में कृषि-उत्पादन का एक अच्छा नमूना प्रस्तुत कर सकता है। विभाग को इस दिशा में और अधिक सक्रिय होने की आवश्यकता है। उसे क्रियान्वयन के पक्ष पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए। इसके लिए एक उच्च-स्तरीय कृषि सेवा का गठन भी वांछनीय होगा।

## अन्तर्विभागीय समन्वय

यहां राज्य प्रशासन के सभी विभागों में से केवल तीन की समीक्षा की गई है। इन विभागों के पारस्परिक पृथक्कीकरण से समन्वय की समस्या उत्पन्न होती है। इसे मुख्य सचिव, मंत्रिमंडल तथा मंत्रिमंडलीय समिति के माध्यम से सुलझाया जाता है। बड़े विभागों में मंत्रियों की सहायता के लिए राज्य मंत्री तथा उप मंत्री होते हैं। कोई भी विभाग एक या एक से अधिक सचिवों के मध्य विभाजित किया जा सकता है। इस तरह एक सचिव के पास एकाधिक विभाग भी हो सकते हैं। सभी प्रकार के आदेशों के लिए, जो राज्यपाल के नाम से जारी किये जाते हैं, मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से उत्तरदाई होता है। इस अवस्था में समन्वय की आवश्यकता स्वाभाविक है। कतिपय मामले अनिवार्य रूप से मंत्रिमंडल अथवा उसकी समिति के समक्ष रखे जाते हैं, जैसे महान्यायवादी की नियुक्ति, सार्वजनिक लेखा-समिति की रिपोर्ट तथा राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन आदि। प्रत्येक मंत्री अपने विभाग के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदाई माना जाता है। मंत्रि-परिषद् या उसकी समितियों के लिए मुख्य सचिव स्थाई अधिकारी होता है। उसमें रखे जाने वाले सभी मामले मुख्य सचिव के द्वारा ही परिषद् में रखे जाते हैं, किंतु मुख्य मंत्री यदि चाहे तो स्वयं मंत्री, सचिवालय से परामर्श कर सकता है। वह मंत्रिमंडलीय विभिन्न विभागों तथा परिषद् संबंधी गतिविधियों से सभी मंत्रियों तथा विभागाध्यक्षों को अवगत कराता है। मंत्रिमंडल की बैठकें बार-बार होती रहती हैं। आवश्यकता पड़ने पर सम्बद्ध विभाग के सचिव को भी बुलाया जा सकता है। मंत्रिमंडल पर उसकी समिति के द्वारा निर्णय लिये जाने पर संबंधित विभाग के सचिव का दायित्व हो जाता है कि वह इस निर्णय को कार्यान्वित करे। इस विषय में सचिव स्थाई आदेशों के अनुसार कार्य करता है। वह सदैव तथा निरन्तरता के साथ मंत्री को विभागीय गतिविधियों की जानकारी देता रहता है तथा उसकी स्वीकृति प्राप्त करता रहता है। जब भी नियम बनाया जाता है अथवा कोई नवीन प्रशासनिक आयोजना हाथ में ली जाती है तो उसकी सूचना मुख्य सचिव तथा राज्यपाल को देनी होती है। यदि आवश्यक हुआ तो मुख्य मंत्री से भी स्वीकृति लेनी पड़ती है। विभिन्न विभागों से उस मामले का संबंध होने पर उसे मुख्य मंत्री के माध्यम से या एतदर्थ समिति के द्वारा निपटाया जाता है। मुख्य सचिव पर इस बात का विशेष दायित्व डाला गया है कि वह उन निर्णयों की क्रियान्विति को देखे। अधिकांश में ये मामले, गृह, वित्त तथा कृषि विभाग से ही संबंधित होते हैं।

आजकल कानून और व्यवस्था को हर क्षेत्र में चुनौती दी जाने लगी है। राजस्थान राज्य सदा से ही वित्त के अभाव से ग्रसित रहा है। राज्य के पास कृषि ही एकमात्र महत्वपूर्ण साधन है। अत ऐसा होना स्वाभाविक भी है, किंतु स्वय मुख्य मंत्री के पास गृह विभाग होने से समन्वय की समस्या उत्पन्न नहीं होती, यदि गृह विभाग किसी अन्य मंत्री के पास हो तो भी मुख्य मत्री चूंकि मंत्रिमडल का ब्रह्मा, विष्णु और महेश होता है, अत वह समन्वय करने में पूर्ण सक्षम होता है। मंत्रिमडल द्वारा विचार किये जाने वाले मामलों की सूची सदैव घटती बढ़ती रहती है। मुख्य मंत्री सविधान की धाराओं के अतर्गत राज्य प्रशासन तथा मंत्रिमडल की बैठकों में निर्णीत सभी मामलों की सूचना राज्यपाल को देता रहता है। इस प्रकार वह मुख्य कार्यपाल के प्रति अपने सवैधानिक एव औपचारिक कर्त्तव्यों को निभाता है।

*राजनीतिक अध्यक्ष का प्रशासन में वैसा ही स्थान होता है जैसा कि सिर का शरीर में।* वह व्यापक नीतियों का उपक्रम आरम्भ करता है, तथा उनकी क्रियान्विति का सामान्य निरीक्षण करता है। उसका यह दायित्व है कि वह अपने सहयोगियों में, मत्रिमडल तथा व्यवस्थापिका में, अपनी नीतियों तथा उनके सचालन में समन्वय स्थापित करे तथा अपनी नीतियों का औचित्य सिद्ध करे। वह अपने क्षेत्राधिकार में आने वाली नियुक्तिया तथा महत्वपूर्ण अधिकारियों की पद-स्थापना आदि भी करता है। प्रत्येक विभाग में अधिकारी तथा कर्मचारी वर्ग का क्रम इस प्रकार रहता है—

मत्री, राज्य मत्री, उप मत्री-राजनीतिक अध्यक्ष।
प्रशासनिक विभागाध्यक्ष-सचिव (आई ए एस)।
सम्भाग अधिकारी-सयुक्त सचिव (आई एस एस या आर ए एस)।
शाखा अधिकारी (आर ए एस)।
वरिष्ठ लिपिक।
कनिष्ठ लिपिक, टकक आदि।

## विभागीय सचिवालयों के दायित्व

*विभागीय सचिव का यह कर्त्तव्य है कि वह नीति-निर्माण तथा विभाग की प्रशासनिक* गतिविधियों के सबध में अपना परामर्श प्रस्तुत करे। उसका यह परामर्श उसके अपने कठोर परिश्रम, तथ्यों के निरतर अध्ययन तथा क्षेत्र के क्रियात्मक अनुभव के आधार पर होना अत्यत आवश्यक है। राजस्थान राज्य के उपरोक्त तीनों विभागों के व्यावहारिक अध्ययन से पता चलता है कि अधिकाश सचिवों के परामर्श तथा उनके अपने अनुभव तथा निष्पादक विभागाध्यक्षों के अनुभवों के बीच एक बहुत बडी खाई है। प्राय सभी सचिवालयों में क्रियान्वयन की ओर प्रवृत्ति बढ रही है। इसका मूल कारण स्वय मंत्रियों द्वारा प्रशासनिक कार्यों की ओर बढती हुई अभिरुचि है। वे स्वय अनेक प्रकार के स्थानीय तथा दलीय दबावों में आकर निर्णय लेते हैं। प्राय वे ही सचिव उनके प्रिय तथा कृपा पात्र बन पाते हैं जो

दूसरा दृष्टिकोण यथास्थिति के पक्ष में है। इस विचारधारा के अनुसार नीति-निर्माण तथा उसका क्रियान्वयन अलग-अलग मामले है। एक सामूहिकता, चितनात्मकता, जनभावनात्मता तथा लक्ष्योन्मुखता की माग करता है, तो दूसरा एकागिकता, वैधानिकता तथा उपलब्धियों की। मत्री एक साधारण व्यक्ति होता है। जन भावनाओं के अनुसार अपने लक्ष्यों को साकार कराने के लिए उसे मार्ग दर्शन चाहिए। सचिवालय इस दृष्टि से एक फिल्टर एण्ड फनल की तरह कार्य करता है। विभाग का सचिव समस्त सरकार का सचिव होता है, जिसका अर्थ है कि वह निष्पादक विभागाध्यक्ष के प्रस्तावों एव उपक्रमों को उनकी सपूर्णता के परिप्रेक्ष्य में देखता है। इस कार्य में समन्वय, एकता एव सामजस्य की प्रधानता होती है। जिन विशेषज्ञ विभागाध्यक्षों की बात की जाती है वे प्रशासनिक अध्यक्ष बन जाते हैं। वास्तव में विशेषज्ञ का सबध वस्तुओं और स्थितियों से अधिक होता है और मनुष्यों से कम। लोकतत्र में प्रशासन का सबध मनुष्यों से पहले होता है और वस्तुओं से बाद में। इनके अलावा क्षेत्रीय दबावों, झटकों तथा तनावों से दूर निर्णय लिया जाना अपने-आप में लाभप्रद होता है। सचिवालय ऐसे झटकों का शमन करता रहता है। लोकतत्रीय परिवेश में काम करने के लिए प्रेस, विधान सभा एव दलीय घात-प्रतिघातों आदि का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। इसके लिए पूरा समय दिया जाना चाहिए जो केवल मत्रालय स्थित सचिवों के लिये ही सभव है।

इन सुझावों को गभीर शोध की कसौटी पर कसा जाना चाहिए तथा व्यावहारिक निष्कर्ष निकाले जाने चाहिए। एक व्यापक सर्वेक्षण के पश्चात् कतिपय विभागों के लिए पदेन-सचिव विभागाध्यक्षों का सृजन किया जा सकता है। इसी प्रकार कुछ विभागों में बिना इस प्रकार का परिवर्तन किये कतिपय मामलों में विभागाध्यक्षों को सीधे मत्री से सपर्क स्थापित करने का अवसर दिया जा सकता है। एक अन्य उपाय यह हो सकता है कि सबधित विभागाध्यक्षों को जहा तक सभव एव व्यवहार्य हो, सचिवालय प्रागण में ही अवस्थित किया जाए। इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिये सचिवालय में कार्यों का पुनर्विनियोजन करना होगा जिसे ओ एण्ड एम विभाग की सहायता से सपन्न किया जा सकता है। एक अन्य सुझाव विभागाध्यक्षों द्वारा सचिवालय को पूरी पत्रावलिया आदि भेजे जाने की व्यवस्था करने से सबधित हो सकता है। साथ ही, जैसा कि राजस्थान में किया जाता है, तिमाही या छमाही बैठकें भी आयोजित की जा सकती हैं और प्रशासनतत्र पारस्परिक प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा प्रशासनिक समस्याओं का तत्कालिक समाधान ढूढ सकता है।

राजस्थान राज्य सरकार के ऊपर वर्णित तथा सैद्धांतिक क्रियात्मक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत तीनों विभागों के अध्ययन के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं--

1 राजस्थान राज्य के प्रशासन में विभागीय व्यवस्था मुख्य कार्यपाल के नियत्रण, निर्देशन तथा सचालन में कार्य करती है।
2 राजनीतिक अध्यक्ष जन-महत्वाकाक्षाओं का प्रतीक है और वह अपनी नीतियों तथा

कार्यक्रमों के लिये व्यक्तिगत एव सामूहिक रूप से प्रत्येक स्तर पर जन समर्थन की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है।

3. प्रत्येक राजनीतिक अध्यक्ष के पास परामर्श एव सहायता के लिए एक अनुभवी, प्रशिक्षित तथा योग्य सचिव है तथा ये दोनों मिलकर नीति निर्माण सबधित तथा अन्य महत्वपूर्ण विभागीय निर्णय लेते हैं।
4 गृह मत्रालय का स्वरूप और गतिविधिया इस बात का परिचय देती हैं कि बदलती हुई परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार सेवीवर्ग के दृष्टिकोण, प्रशिक्षण, क्षमताओं तथा स्तरों में परिवर्तन लाने के लिए गृह विभाग का कार्य क्षेत्र अधिक निश्चित एव स्पष्ट नहीं है।
5 वित्त विभाग का कार्य प्रक्रियात्मक है तथा उसका कार्य क्षेत्र सभी विभागों से सबधित है। सगठन की दृष्टि से यह विभाग एक विकासशील राज्य की प्रशासकीय आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है और न ही इसकी प्रक्रियाओं में अपेक्षित प्रयोग एव शोध हो सकी है।
6 कृषि-मत्रालय विभिन्न विभागों के साथ पारस्परिक सहयोग का प्रतीक है। राजस्थान राज्य में यह राजनीतिज्ञों, सामान्यज्ञ प्रशासकों तथा विशेषज्ञों की "सामूहिक एव सहयोगात्मक कार्य प्रणाली" तथा उसकी सफलता का एक मूर्त उदाहरण प्रस्तुत करता है।

राजस्थान सरकार के विभिन्न विभागों का यह उपर्युक्त अध्ययन प्रशासनिक सगठन विशालता एव जटिलता की ओर सकेत करता है। एक ओर जबकि राज्य सरकारें कल्याण राज्य के भार एव उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिये नये-नये विभाग अथवा निगमों और बोर्डों आदि का गठन कर रही है, वहा दूसरी ओर पुराने एव परपरावादी विभागों की कार्य सूची भी बढती जा रही है। विकास के सदर्भ में जितने भी नये विभाग अथवा कार्य बढते हैं उनके समन्वय का कार्य वित्त एव गृह विभागों पर नया बोझ डालता है। कृषि विभाग यद्यपि एक पुराना और परपरावादी विभाग है फिर भी गत दो दशकों में इस विभाग के साथ मिल कर कार्य करने वाले सह-विभागों तथा अधीनस्थ इकाइयों की सख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। सिचाई, पशुपालन, विकास, कृषि-विकास निगम, बीकानेर कृषि विश्वविद्यालय, दुर्गापुरा शोध-सस्थान आदि कितने ही प्रशासकीय अभिकरणों के साथ इस विभाग को अपनी नीतियों का तालमेल बिठाना पडता है। विकास के दबाव से समाज में जो तनाव, हिंसा और अपराधों की सख्या बढ रही है वह गृह विभाग की कार्य कुशलता के लिये एक चुनौती है। योजना मद से बाहर होने के कारण गृह विभाग को विकास प्रशासन का उदार अनुदान नहीं मिलता जबकि विकास की सारी समस्याओं की कीमत इस विभाग को चुकानी पड़ती है। प्रशासन का सारा विस्तार अन्ततोगत्वा वित्त विभाग के सगठन पर प्रभाव डालता है। वित्त सबधी परपरावादी कार्य करने वाला यह विभाग विकास प्रशासन और गैर-विकास

की गतिविधियों के बीच सामजस्य स्थापित करता है। फिर जनतत्र के बढते हुए दबावों के बीच सतुलित बजट बनाना भी इसकी जिम्मेदारी है। इस विभाग से यह अपेक्षा की जाती है कि यह राज्य की नीतियों की क्रियान्विति के लिये धन का प्रबध करे और अन्य विभागों पर नियत्रण, निरीक्षण एव निर्देशन स्थापित कर प्रशासनतत्र में समन्वित नीति का विकास करे। राजस्थान राज्य में गत वर्षों में प्रशासनिक सुधार नहीं के बराबर हुए हैं। यदा-कदा विभागीय समितियों तथा ओ एण्ड एम के माध्यम से नई परिस्थितियों में विभागीय सगठनों को भी प्रशिक्षित अवश्य किया गया है, किन्तु विभागीय पुनर्गठन के लिये कोई समग्र एव निश्चित रूप-रेखा सामने नहीं आ सकी है। हरिश्चन्द्र माथुर प्रतिवेदन द्वारा प्रस्तावित सुझाव भी आशिक रूप से लागू किये जाने के कारण वाछित परिणाम नहीं ला सके हैं। विगत वर्षों में राजस्थान का सामाजिक, औद्योगिक एव शैक्षणिक जीवन जिस तीव्र गति से बदला है उसे देखते हुए राजस्थान सरकार का प्रशासनतत्र केवल पुराना ही नहीं पड चुका है, अपितु प्रशासनिक समस्याओं के बोझ से लड़खड़ाता लगता है। राज्य सरकार के प्रमुख विभागों को पुनर्गठित करने के लिए नीचे कुछ सिद्धात प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनके द्वारा गृह वित्त एव कृषि आदि विभागों को अधिक कार्य कुशलता दी जा सकती है—

1 राजस्थान सरकार के सचिवालय में केन्द्रीय सचिवालय की भांति एक प्रशासकीय सुधार सभाग अथवा विभाग हो जो सभी विभागों के बढते हुए उत्तरदायित्वों, कठिनाइयों एव कार्य प्रणालियों का वैज्ञानिक अध्ययन कर विभागीय स्तर पर प्रशासनिक आवश्यकताओं को पहचान सके तथा उन्हें निरतरता के साथ एक व्यापक सदर्भ में देख सकें। उदाहरण के लिए यह विभाग अपनी शोध के आधार पर ऐसे प्रस्ताव बना सकता है कि सामाजिक परिवर्तन से बढने वाले अपराधों के कारण, पुलिस प्रशासन के विस्तार से गृह विभाग के दायित्वों पर क्या प्रभाव पड़ेंगे और कौन-सा प्रशासनिक सुधार इस दृष्टि से उपयुक्त होगा।

2 प्रशासनिक गतिविधियों के निरतरता से बढते रहने के कारण सभी विभागों में यह विचार स्वीकार किया जाना चाहिए कि उनकी कुछ गतिविधियां स्वशासी निगमों या अर्ध-सरकारी बोर्डों को सौंप दी जाए। ऐसा करने से विभागों का कार्यभार घटेगा और उनमें तथा अन्य अभिकरणों में कार्य-कुशलता आ सकेगी।

3 केन्द्र सरकार की भाति राज्य सरकार के स्तर पर भी अधीनस्थ कार्यालय तथा सलग्न कार्यालय स्थापित किये जाने चाहिए। ये कार्यालय जिला एव क्षेत्र स्तर पर अभी भी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनके बढते हुए महत्व को पहचाना जाए और प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से कुछ कार्य जो अधीनस्थ कार्यालयों द्वारा सपादित किये जाते हैं उन पर पर्यवेक्षण एव नियत्रण को सुदृढ कर नीति क्रियान्वयन में कुशलता लाई जाए। जो कार्यालय क्षेत्र में सलग्न कार्यालय माने जाए उन्हें प्रशासकीय स्वायत्तता दी जाए और उनमें तथा राजकीय विभागों की

गतिविधियों में समन्वय स्थापित किया जाए।

4 जयपुर सचिवालय के स्तर पर सभी विभागों में एक कार्यात्मक वर्गीकरण के आधार पर पदसोपान क्रम निर्धारित किया जाए और विभाग के भीतर तथा विभाग के मध्य समय-समय पर विभागीय समितियो के द्वारा प्रशासकीय कठिनाइयों को घटाया जाए।

5 विभागो की कार्य सूची जो ऐतिहासिक कारणों म सगतिपूर्ण नहीं लगती, फिर से मुख्य सचिव की एक स्थाई समिति द्वारा पुनर्निर्धारित की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए यातायात विभाग का कुछ भाग गृह विभाग में रखना असगतिपूर्ण लगता है। एक से कार्यों को एक कार्य समूह में व्यवस्थित कर एक विभाग को एक उपयुक्त इकाई बनाने की दिशा में प्रयत्न किये जाने चाहिए।

6 राज्य सरकार के स्तर पर विभाग चाहे कितने ही महत्वपूर्ण हों उन्हें आकार की दृष्टि से छोटे, सोद्देश्य एव कार्याभिमुख रखना आवश्यक है और इस दिशा में पहल स्वय विभागों की ओर से आनी चाहिए।

7 सभी विभागों में सलाहकार तथा शोधकर्त्ता स्टाफ अधिक होना चाहिए जिससे कि विभागाध्यक्ष एक निश्चित तथा विशेषज्ञ सूचना मूल्यांकन पा सके। ऐसे होने से विभाग केवल नीति क्रियान्विति पत्र न रहकर नीति निर्माण में मत्री को सही एवं उपयुक्त सलाह दे सकेगा जो सचिवालय स्तर पर एक विभाग का सबसे महत्वपूर्ण दायित्व है।

8 विभागों के आकार एव कार्य में परिवर्तन के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि विभागीय अधिकारियों के स्तर एव विशेष योग्यता की भी योजनाए बनाई जाए। अखिल भारतीय सामान्यज्ञ सेवा के होते हुए भी राज्य स्तर पर यह सभव है कि विभागीय उच्च अधिकारियों में विशेषज्ञता विकसित की जाए और उच्च स्तरीय पदों का जनशक्ति आयोजना द्वारा विभागों में समुचित वितरण के लिए कदम उठाया जाए।

उपरोक्त सामान्य सुझाव सभी राज्य स्तरीय विभागों में उनकी आवश्यकतानुसार सामान्य परिवर्तन के साथ विभागीय पुनर्गठन में सहायक हो सकते हैं। विभागीय पुनर्गठन आकार, कार्य, पदाधिकारी तथा प्रशासकीय प्रक्रियाओं में व्यापक परिवर्तन लाता है। राजकीय विभागों के सग इनको समीचीन एव सोद्देश्य बनाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक सदर्भ में प्रशासकीय आवश्यकताओं को पहचाना जाए तथा उद्देश्यों को ध्यान में रखकर जनतत्र समाजवाद एव कल्याणकारी राज्य के प्रशासनतत्र को कुशलता की दृष्टि से मूल्याकित किया जाए। स्वाभाविक है कि छोटे आकार के विभाग, सलाहकारी, अभिकरण, सरलीकृत प्रक्रियाए तथा विशेषज्ञ अधिकारी इस विभागीय पुनर्गठन अथवा सुधार योजना को उद्देश्यपरक बना सकते हैं।

## टिप्पणियां

1 उदाहरण के लिए मिनिस्ट्री आफ एक्सटर्नल अफेयर्स।
2 उदाहरण के लिए खाद्य मंत्रालय जिसमें कृषि सामुदायिक विकास सहकारिता तथा पंचायती राज आदि सम्मिलित हैं।
3 रूथना स्वामी *प्रिंसिपल्स एण्ड प्रैक्टिसेज आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन* इलाहाबाद 1956 पृ 222
4 गोरवाला ए डी *रिपोर्ट आन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन*, 1951
5 *दि ऑर्गेनाइजेशन आफ दि गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया* आई आई पी ए, सोमिया पब्लिकेशन्स बम्बई 1971 पृ 40-41
6 उपर्युक्त पृष्ठ 438 439
7 उपर्युक्त, पृष्ठ 440
8 उपर्युक्त पृष्ठ 441
9 गृह विभाग की स्थापना सर्वप्रथम ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में मई सन् 1843 में की गई थी। उस समय इस विभाग में अन्य तीन विभाग सम्मिलित थे–
(क) विदेश विभाग (ख) वित्त विभाग (ग) सैनिक विभाग।
10 *दि आर्गेनाइजेशन ऑफ दि गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया* आई आई पी ए सोमिया पब्लिकेशन्स बम्बई 1971 पृष्ठ 115
11 उपर्युक्त पृष्ठ 117
12 उपर्युक्त पृष्ठ 125-126
13 उपर्युक्त, पृष्ठ 130 131
14 उपर्युक्त पृष्ठ 91
15 उपर्युक्त पृष्ठ 93 98
16 उपर्युक्त पृष्ठ 98-103
17 उपर्युक्त, पृष्ठ 103-113
18 *दि ऑर्गेनाइजेशन ऑफ दि गवर्नमेंट आफ इंडिया* आई आई पी ए सोमिया पब्लिकेशन्स बम्बई, 1971 पृष्ठ 64
19 उपर्युक्त, पृष्ठ 85
20 उपर्युक्त, पृष्ठ 48
21 उपर्युक्त पृष्ठ 53
22 उपर्युक्त पृष्ठ 48 51
23 *रिपोर्ट ऑफ दि एडमिनिस्ट्रेटिव रिफोर्म्स कमेटी* गवर्नमेन्ट ऑफ राजस्थान, 1963 (हरिशचन्द्र माथुर समिति)
24 *रिपोर्ट ऑफ दि सेक्रेटेरियट रिऑर्गेनिजेशन कमेटी* गवर्नमेन्ट ऑफ राजस्थान जयपुर 1969
25 *रिपोर्ट ऑफ दि सेक्रेटेरियट प्रोसीजर्स कमेटी* गवर्नमेण्ट ऑफ राजस्थान जयपुर, 1971
26 *रिपोर्ट ऑफ दि एडमिनिस्ट्रेटिव रिफोर्म्स कमेटी*, पूर्वोक्त
27 *सेक्रेटेरियट मैन्युअल* गवर्नमेन्ट ऑफ राजस्थान, जयपुर, 1969
28 *रिपोर्ट ऑफ दि सेक्रेटेरियट प्रोसीजर्स कमेटी* पूर्वोक्त
29 *रिपोर्ट ऑफ दि सेक्रेटेरियट रिऑर्गेनिजेशन कमेटी*, पूर्वोक्त,
30 गृह विभाग, राजस्थान सरकार जयपुर का वार्षिक प्रशासनिक प्रतिवेदन, 1972

# 3

# राज्यों में संसदीय शासन प्रणाली

भारत के दीर्घकालीन इतिहास में 26 जनवरी, 1950 का दिवस स्वर्ण-अक्षरों में लिखा जायेगा। इस दिन भारत का वर्तमान संविधान कार्यान्वित हुआ था, जिसने संसार को एक नये गणराज्य के जन्म की सूचना दी थी। वास्तव में यह शताब्दियों की दासता के उपरात एक प्राचीन देश का पुनर्जन्म था।

15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्रता-सग्राम के समाप्त होने के साथ ही दो शताब्दियों के अंग्रेजी शासन का अत हुआ और राजनैतिक सत्ता भारतीयों को हस्तातरित की गई। किंतु स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही केवल मात्र लक्ष्य नहीं था। यह तो एक नये सघर्ष का प्रारम्भ था। यह सघर्ष था न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के आधार पर एक प्रजातंत्र की स्थापना करने का, यह सघर्ष था एक सपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र के रूप में जीवित रहने का। यद्यपि भारत में प्रजातन्त्रीय विचारों का विकास स्वतन्त्रता-सग्राम से ही प्रारम्भ हो जाता है, किंतु 1947 तक भारतीयों को शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का और अपनी पूर्ण उत्तरदाई सरकार बनाने का अवसर नहीं मिला था।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में भारतीयों ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिये सतत् सघर्ष किये और इसी काल में संवैधानिक विकास के लिये महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। उनमें से पहला 1909 का मार्ले-मिण्टो सुधार है जिसमें व्यवस्थापिकाओं का विस्तार करके प्रतिनिधि शासन का प्रारम्भ किया गया था, यद्यपि वह पर्याप्त सतोषजनक नहीं था। दूसरा प्रयास माटेग्यू द्वारा 1919 में प्रस्तावित किया जाने वाला विधेयक था। इसमें प्रांतीय विधानसभा का और अधिक विस्तार किया गया और प्रातों में आंशिक उत्तरदायित्व शुरू हुआ जिसे द्वैध शासन कहते हैं। ब्रिटिश सरकार के अनुसार द्वैध शासन भारतीयों को स्वायत्त शासन देने के पहले की सक्रमणकालीन अवस्था थी। उसके बाद 1935 अधिनियम में प्रातों व केंद्र में और अधिक स्वायत्त शासन के प्रयत्न किये गये इसमें एक सघ की भी व्यवस्था की गई थी। इन क्रमिक संवैधानिक विकासों और स्वतन्त्रता सघर्ष के बाद जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो उसके सामने अनुकूल शासन स्थापित करने की समस्या थी। ऐतिहासिक परपराओं और समय की माग को देखते हुए भारत में प्रजातंत्र की स्थापना

पर ही अधिक महत्व दिया गया। लेकिन इसके आदर्शों की प्राप्ति के लिये एक ऐसे संविधान की आवश्यकता सर्वोपरि थी, जो देश का आधारभूत विधान हो सके। अत सर्वप्रथम एक नवीन संविधान बनाने का कार्य किया गया। यह स्वाभाविक ही था कि ब्रिटेन के प्रभाव के कारण भारत में भी ससदीय शासन को अपनाया जाता। लेकिन भिन्न परिस्थितिया होने से उसमें कुछ परिवर्तन भी किये गये ताकि भविष्य में सविधान भौगोलिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक रूप से भारतीयों के अनुकूल हो सके।' भारतीय जनता के बहुसख्यक लोगों के राजनैतिक, आर्थिक एव सामाजिक आदर्शों तथा महत्त्वाकाक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला वर्तमान सविधान इन्हीं प्रयत्नों का सफल परिणाम है।

प्राचीन तथा मध्ययुगों में जब कि शासन निरकुश राजाओं के हाथ में होता था, राज्यों के संविधान नहीं हुआ करते थे। सरकार के कार्य और उसके विभिन्न विभागों की रचना शासक की इच्छा पर आश्रित थी, उसे यह अधिकार होता था कि वह शासन व्यवस्था को जिस प्रकार चाहे बदल दे। कानून निर्माण के कोई निश्चित नियम नहीं थे और न ही उन्हें लागू करने की निश्चित विधिया थीं। स्वतत्रता से पूर्व भारत की भी यही राजनैतिक अवस्था थी।

संविधान शब्द का प्रयोग प्रजातत्र की विशेषता है। जब से जनसाधारण ने शासन में भाग लेना प्रारम्भ किया, तब से उसके अधिकारों एव कर्त्तव्यों की व्याख्या करना आवश्यक हो गया। प्रजातन्त्र में शासन जनता के हाथ में होता है। प्रत्येक व्यक्ति शासक और शासित दोनों होता है। अत शासक-वर्ग स्थाई तथा निरकुश नहीं हो सकता। सरकार के विभिन्न अगों के सगठन और शासक-वर्ग के अधिकारों एव कर्त्तव्यों के सबध में निश्चित नियमों की आवश्यकता रहती है। साधारणत इस नियमावली को ही संविधान कहते हैं।

प्रत्येक राज्य को किसी-न किसी प्रकार की शासन व्यवस्था की आवश्यकता होती है, अन्यथा इसके अभाव में देश में अराजकता की-सी स्थिति उत्पन्न होने का निश्चित भय विद्यमान रहता है। यह शासन व्यवस्था ही सविधान के नाम से पुकारी जा सकती है। एक संविधान अनेक विधियों एव नियमावलियों का सग्रह होता है, जिनके द्वारा किसी राज्य की शासन व्यवस्था का सचालन किया जाता है। यह शासन के विभिन्न अगों सस्थाओं सरकार के विभिन्न क्षेत्रों, कार्यपालिका, विधानमडल तथा न्यायपालिका, केंद्रीय, क्षेत्रीय तथा स्थानीय सरकारों की व्याख्या करता है तथा उनके परस्पर सबध निर्धारित करता है।

भारत के संविधान निर्माताओं ने ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, फ्रास, कनाडा, आस्ट्रेलिया, आयरलैंड, इत्यादि राज्यों के सविधानों का अध्ययन करके विश्व का सबसे बडा सविधान तैयार किया जिसमें 251 पृष्ठ और 395 धाराए हैं। लेकिन भारत का सविधान ब्रिटेन की तरह एकात्मक न होकर सघात्मक है और अमेरिका की तरह अध्यक्षात्मक न होकर ससदात्मक है।

अन्य सघीय राज्यों की तरह भारत में भी केंद्रीय सरकार और भारतीय राज्यों के

परस्पर संबंध महत्त्वपूर्ण हैं। "संघीय प्रणाली में संघ तथा इकाइयों के बीच शक्ति का विभाजन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है क्योंकि इसके अंतर्गत दो पृथक् सरकारों का अस्तित्व रहता है जो कि शक्ति संविधान से ग्रहण करते हैं। इस प्रकार इन दोनों सरकारों का यह दायित्व हो जाता है कि वे अपने सीमित क्षेत्राधिकार में कार्य करें जिससे कि दूसरी सरकार को, प्रदत्त कार्य में व्यवधान उत्पन्न नहीं हो। इसके लिये सामान्यत दो विधायिकी सूचियां बनाई जाती हैं जिसके अंतर्गत संघ तथा राज्य सरकारों को दिये गये अधिकारों का उल्लेख रहता है।"[2] भारतीय संविधान में समवर्ती विषयों की सूची काफी लंबी है, इसमें संतुलन बनाये रखने के लिए केंद्र एवं राज्यों के बीच सहयोग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। "संघीय प्रथा, परिसंघ एवं एकात्मक प्रणाली से भिन्न एवं उनकी दया पर निर्भर होती है। तथा एकात्मक सरकार में राज्य सरकारें केंद्रीय सरकार की इच्छानुसार कार्य करती हैं, परंतु संघ में कोई किसी पर निर्भर नहीं है, प्रत्येक अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होता है तथा परस्पर हस्तक्षेप से मुक्त रहता है। यही संघीय सरकार का तत्त्व है।"[3] भारतीय गणराज्य में प्रांतों की स्थिति स्वतंत्र इकाई के रूप में नहीं है। यद्यपि संघ राज्य में शक्ति का विभाजन दो सरकारों में होता है, परंतु संघ राज्य की सफलता एवं शक्ति इस बात में निहित है कि दोनों केंद्र तथा राज्यों की सरकार में अधिक-से-अधिक सहयोग एवं समन्वय हो।[4] संघ और राज्य में अभी बहुत-से क्षेत्र में स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, जैसे राजनैतिक, प्रशासकीय, कानूनी, संवैधानिक इत्यादि। उदाहरणार्थ संविधान के सातवें परिशिष्ट में प्रथम सूची में 66वें क्रम में उच्च शिक्षा, शोधकार्य एवं वैज्ञानिक व टेक्निकल संस्थाओं में स्तर का निर्धारण और समन्वय का कार्य केंद्र को दिया गया है, जबकि दूसरी सूची के 11वें क्रम में शिक्षा को, जिसमें विश्वविद्यालयीन शिक्षा भी है, राज्य का विषय माना है। "गुजरात विश्वविद्यालय विरुद्ध श्री कृष्ण के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य सरकार के अधिकार के ऊपर उपरोक्त केंद्रीय अधिकार को मान्य ठहराया। इस संदर्भ में यह विवाद उत्पन्न हुआ कि शिक्षा को राज्य का विषय माना जाये या केंद्र का। लोकसभा में भी इस पर बहुत बहस हुई। सरकार ने सप्रू समिति के नाम से एक संसदीय समिति नियुक्त की जिसने 1964 में अपने प्रतिवेदन में कहा कि शिक्षा को राज्य सूची से समवर्ती सूची में स्थानांतरित कर देना चाहिये।"[5] संघात्मक राज्य में शासन शक्ति का विभाजन केंद्रीय सरकार और राज्य की सरकारों में कर दिया जाता है। "संघ में सत्ता का विभाजन केंद्र तथा विभिन्न इकाइयों में होता है। क्षेत्रीय सरकार केंद्र के अधीनस्थ नहीं, अपितु समानता के आधार पर होती है। यहां द्वैध प्रणाली होती है। दोनों सरकार एक ही शक्ति से अपने अधिकार प्राप्त करती हैं तथा परस्पर उनमें किसी विषय में हस्तक्षेप संभव नहीं है। प्रत्येक का कार्यक्षेत्र निर्धारित होता है।"[6] भारत का संघ राज्य विश्व के अन्य संघों की अपेक्षा अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। अभी तक आलोचकों द्वारा यह कहा जाता था कि भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक नहीं बल्कि मूलत एकात्मक या अर्धसंघात्मक है। किंतु वास्तविकता यह है कि

भारतीय संविधान अनिवार्यतः संघात्मक है, जिसमें विपुल मात्रा में एकात्मक प्रवृत्तियां विद्यमान हैं, जो कि 1947 के पूर्व पाई जाने वाली परिस्थितियों के कारण और उन दशाओं के कारण, जिनमें संविधान का निर्माण हुआ था, आवश्यक बन गई हैं। यह बात अवश्य है कि यह सैद्धांतिक संघवाद से कुछ भिन्न है। भारत का संविधान भी अन्य संविधानों की तरह परिस्थितियों की उपज है और संघवाद के कठोर सिद्धांतों से हटकर विश्व के संघीय संविधानों में इसने विशिष्टता प्राप्त कर ली है।'

भारतीय संघ की इकाइयों को राज्य कहा गया है। 1947 के बाद जिस संघ की स्थापना हुई उसमें 27 राज्य थे, लेकिन वे समान स्थिति के नहीं थे और न ही उनका संगठन संघीय पद्धति के अनुकूल था। इस व्यवस्था को 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956' और संविधान के सातवें संशोधन द्वारा परिवर्तित किया गया, जिसके अनुसार संघ में 14 राज्य और 6 केंद्र प्रशासित प्रदेश बने। राज्यों का यह पुनर्गठन विशेष रूप से भाषा के ऊपर आधारित था। इसमें सभी राज्य समान स्तर के माने गये और अ, ब, स श्रेणी का अंतर समाप्त कर दिया गया। 'विशाल जनसंख्या एवं क्षेत्र वाले देश में जहां कई समुदाय, जिनकी अपनी ऐतिहासिक, भाषाई एवं सांस्कृतिक परंपराएं हैं, संघीय व्यवस्था ही संतोषजनक है।'[4] 1967 में फिर भारत संघ की इकाइयों में परिवर्तन करना पड़ा जिसमें 17 राज्य और 10 केंद्र प्रशासित प्रदेश बनाये गये, जिनमें विभिन्न भाषाओं के प्रांत हैं। इसके बाद भी राज्यों में आगामी वर्षों में परिवर्तन होता रहा। 1972 तक इनकी परिवर्तित संख्या 21 तक हो गई थी।

अन्य संघीय संविधानों में केवल संघीय सरकार की शासन प्रणाली का उल्लेख किया जाता है और इकाइयों के अपने अलग-अलग संविधान होते हैं, लेकिन भारतीय संविधान की यह प्रमुख विशेषता है कि इसमें संघीय सरकार के साथ-साथ राज्यों की सरकारों का भी स्वरूप निश्चित कर दिया गया है और दोनों क्षेत्रों में शासन का स्वरूप समान है, जिसे हम संसदीय शासन कह सकते हैं। इस प्रकार शक्ति में ही नहीं बल्कि बनावट में भी भारत के प्रत्येक राज्य का शासन केंद्रीय सरकार के समान ही है।

## संसदीय शासन

ब्रिटेन की तरह भारत ने भी संसदीय शासन को अपनाया है। संविधान सभा में के.एम. मुंशी ने कहा था—"हमें यह महत्त्वपूर्ण बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि पिछले 100 वर्षों में भारत का जन-जीवन ब्रिटेन की संवैधानिक परंपराओं से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। हमारी संवैधानिक परंपराएं भी संसदीय शासन के अनुरूप हो गई हैं इसलिये इन संवैधानिक परंपराओं के विपरीत हम लोग क्यों जायें जो विगत 100 वर्षों में स्थापित की गई हैं?"[5] संसदीय और अध्यक्षात्मक शासन में से किसी एक को चुनने के लिये संविधान सभा के सदस्यों को प्रश्नावली भी दी गई थी। उनमें से अधिकांश के उत्तर संसदीय शासन के पक्ष में थे।[6] संसदीय शासन का प्रमुख आधार कार्यपालिका का स्वरूप

है। इसे उत्तरदाई सरकार, सभात्मक शासन, केबिनेट प्रणाली या प्रतिनिधि शासन भी कहते हैं। ब्रिटेन और भारत में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है।

ससदीय शासन वह व्यवस्था है जिसमें देश की कार्यपालिका विधानमडल के सदस्यों में से चुनी जाती है और वह उसी के प्रति उत्तरदाई रहती है। ससदीय शासन का अर्थ यह नहीं है कि इसमें ससद शासन करती है। इसका अर्थ है कि जिन मंत्रियों के हाथ में कार्यपालिका शक्ति होती है वे मत्री ससद के बहुमत दल का प्रतिनिधित्व करते हैं और उसके विश्वास व समर्थन के आधार पर कार्य करते हैं।''[11] इस प्रकार की व्यवस्था में जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की व्यवस्थापिका होती है। उसमें बहुमत दल का नेता प्रधानमत्री बनकर अपने मंत्रिमडल का निर्माण करता है। प्रत्येक मत्री को अलग-अलग विभाग का प्रबध सौंप दिया जाता है। सरकार की नीति का निर्धारण सपूर्ण मंत्रिमडल करता है और वह सयुक्त रूप से ससद के प्रति उत्तरदाइ होता है। प्रधानमत्री उनका नेता होता है और वह अपनी इच्छानुसार अपने मंत्रियों को हटा या रख सकता है। ससद जब चाहे तब अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत करके मंत्रिमडल को हटा सकती है। आधुनिक युग में ससद प्राय द्विसदनीय होती है। कहीं यह एक सदनीय भी होती है। प्राय निम्न सदन उच्च सदन से अधिक शक्तिशाली एव अधिकार सम्पन्न होता है, क्योंकि वह जनसाधारण द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है। इसी सदन के बहुमत को अपने पक्ष में करके मंत्रिमडल अपने पद पर कार्य कर सकता है। निम्न सदन में जिस दल का बहुमत रहता है, सरकार उसी दल के व्यक्तियों की एक सस्था है। निम्न सदन के माध्यम से जनता सरकार पर अपना नियत्रण रखती है और सरकार अपने बहुमत के द्वारा सदन पर नियत्रण रखती है।"[12] लेकिन यदि प्रधानमत्री राज्य प्रमुख से निम्न सदन के विघटन की प्रार्थना करता है और विघटन हो जाता है तो पुनर्निर्वाचन करवाये जाते हैं और फिर बहुमत के आधार पर सरकार बनती है।

भारत में इस प्रकार का ससदीय शासन केंद्र और राज्यों में लागू किया गया है, लेकिन ससदीय शासन का स्वरूप तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता जब तक इसके आधारभूत सिद्धात प्रजातत्र को स्पष्ट न किये जायें। वास्तव में एक प्रजातत्रीय राज्य में ही सफल ससदीय शासन सभव है।

प्रजातत्र आज के युग का बहुत ही लोकप्रिय तथा सर्वप्रचलित शब्द है। इसे सभ्यता के विकास की चरम परिणति कहा जा सकता है। विश्व के लगभग सभी उच्च विचारकों का मत है कि मनुष्यों के लिये इससे अधिक उत्तम और कोई शासन प्रणाली नहीं हो सकती। मानव मात्र की समानता के सिद्धात पर आधारित होने के कारण यह सामूहिक जनकल्याण का उदात्त आदर्श लेकर आगे बढ़ती है और युगों से चली आने वाली शासक तथा शासित वर्ग के बीच की दीवार को गिरा कर दोनों विरोधी वर्गों के बीच एक सुदर सामजस्य स्थापित करती है। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि शासक और शासितों के बीच

मध्यस्थ का कार्य करते हैं। "यह प्रतिनिधि अपने-अपने निर्वाचन क्षेत्र की आवश्यकता और इच्छा की पूर्ति कराते हैं, इसके साथ ही यह जनता को सरकार की नीतियों से अवगत कराते हैं।"[3]

राजनीति के क्षेत्र में प्रजातन्त्र का विकास एक ऐसा युगपरिवर्तनकारी विचार है, जो सामन्तशाही तथा एकतन्त्र को सदैव के लिये समाप्त करके मानव सभ्यता के इतिहास में एक प्रगतिशील कदम होने का प्रमाण देता है। इसी कारण यह आज के सभ्य समाज की परमप्रिय तथा मूल्यवान शासन प्रणाली है जिसे सुरक्षित रखने के लिये, विल्सन के शब्दों में, *मानवता ने प्रथम विश्व युद्ध लड़ा था।*

*प्रजातन्त्र का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। अनेक विद्वान इसे शासन, राज्य एवं* समाज के स्वरूप में, तो कुछ व्यक्ति साथ ही आध्यात्मिक विचारधारा के रूप में भी इसका प्रयोग करते हैं।[4] कुछ ऐसे विद्वान भी हैं जो सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रजातन्त्र में अंतर बताते हुए यह विचार प्रतिपादित करते हैं कि एक ही राज्य में यह तीनों तत्व भी हो सकते हैं। *शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रजातन्त्र का अर्थ होता है 'प्रजा का शासन'।* अर्थात् प्रजातन्त्र का मतलब वह शासन है जिसमें जनता के भाव में स्वयं प्रत्यक्ष रूप से या प्रतिनिधियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से शासन सत्ता रहे। ' [illegible] तन्त्र से हमारा तात्पर्य उस शासन प्रणाली से है, जिसमें प्रत्येक वयस्क नागरिक क [illegible] ने विचार प्रकट करने की समान रूप से स्वतन्त्रता हो।"[5]

किसी भी राज्य में प्रजातन्त्र के विकास के लिये कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का होना आवश्यक है जैसे-(1) समानता, (2) स्वतन्त्रता, (3) भ्रातृत्व, (4) न्याय व कानून की स्थापना (5) प्रतिनिधिपूर्ण सरकार, (6) वयस्क मताधिकार, (7) राजनैतिक चेतना, (8) बहुमत का शासन आदि।

प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में सरकारें प्रतिनिधिमूलक होती हैं। प्रतिनिधियों को एक निश्चित समय के बाद जनता द्वारा चुना जाता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता के आधार पर वयस्क मताधिकार प्रत्येक नागरिक को मिलता है जिससे अधिक-से-अधिक नागरिक शासन में भाग ले सकें। निर्वाचन प्रणाली का विस्तार, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और राजनैतिक दलों के संगठन पर ही प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त आधारित है।[6] वास्तव में प्रजातन्त्र का सिद्धान्त यह है कि बहुमत का निर्णय मान्य होना चाहिये। मतदाताओं का जिसे बहुमत मिले वह प्रतिनिधि चुना जाता है और व्यवस्थापिका का सदस्य बनता है और व्यवस्थापिका में भी बहुमत के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं। बहुमत के शासन को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिये वैसी सामाजिक परिस्थितियों का होना भी आवश्यक है। जनता में कम से-कम इतनी राजनैतिक चेतना होनी चाहिये कि *वे अपने दायित्वों को समझ सकें क्योंकि प्रजातन्त्र में सत्ता का मूल स्रोत जनता ही है।*

भारत में भी प्रजातन्त्र के इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर संविधान का निर्माण किया गया।

उसे मुख्य रूप से प्रजातत्रीय गणराज्य बनाया गया। सविधान की प्रस्तावना द्वारा भारत को 'सपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य' घोषित किया गया है।

## संसदीय प्रजातंत्र की स्थापना

भारत में एक ऐसा शासन स्थापित किया गया है जो स्वरूप में और यथार्थ में सर्वसाधारण का शासन हो, सर्वसाधारण के लाभ के लिये शासन हो और सर्वसाधारण के द्वारा शासन हो। संविधान की प्रस्तावना ही इन शब्दों के साथ प्रारम्भ होती है–"हम भारत के लोग भारत को एक सपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये ।"" स्पष्ट है कि प्रस्तावना में यह जोर देकर कहा है कि भारतीय जनता ही अंतिम रूप से सपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न है और सविधान की स्थापना ही जनता या सर्वसाधारण के अधिकार के आधार पर की गई है। इस प्रकार सपूर्ण राजनैतिक शक्ति का स्रोत जनता ही है।

स्वतत्रता के आगमन के समय ही यह स्पष्ट हो चुका था कि भारत का नया राज्य प्रजातत्रीय प्रणाली के अनुरूप होगा। भारत के जो एक शताब्दी पूर्व के नेता थे वे उदार प्रजातत्र में विश्वास रखते थे और बीसवीं शताब्दी के नेता समाजवादी प्रजातत्र में विश्वास रखते थे। श्री नेहरु के अनुसार–"समाजवाद केवल एक आर्थिक सिद्धांत ही नहीं है बल्कि यह इतना व्यापक सिद्धात है जो हमेशा मेरे दिल और दिमाग पर छाया रहता है।'" इसमें कोई सदेह नहीं कि भारत में ससदीय प्रजातत्र इसलिये भी अपनाया गया क्योंकि भारत का ब्रिटेन से काफी निकट सपर्क रह चुका था, जहां कि शताब्दियों से प्रजातत्र का श्रेष्ठ उदाहरण देखने को मिला है। ब्रिटेन की ससद (लोकसभा) वहा के सफल प्रजातत्र का मूर्तरूप है जो कि शताब्दियों के क्रमिक विकास का परिणाम है।"

ब्रिटिश भारत में संसदीय प्रजातत्र को स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया था। प्रारम्भ में ब्रिटिश विचारकों का मत था कि स्वतत्र भारत में ससदीय प्रजातत्र सफल नहीं हो सकता। उस समय एशिया के कई राज्यों ने ससदीय प्रजातत्र अपनाया था, लेकिन वे उसे स्थिर नहीं रख सके थे। भारत के दो पडोसी राज्य बर्मा और पाकिस्तान ने घोषित कर दिया था कि यह पद्धति उनकी परिस्थिति और आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है। पाकिस्तान ने उसके बदले में 'बेसिक डेमोक्रेसी' और इडोनेशिया ने 'गाइडेड डेमोक्रेसी' को अपनाया। यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट है कि अफ्रीका व एशिया महाद्वीप में व्यापक रूप से राजनैतिक परिवर्तन की प्रक्रिया जारी थी।" ऐसे में ससदीय प्रजातत्र अपना कर भारत ने उसका सफल प्रयोग करके दिखाया। जब एशियाई राज्यों में ससदीय प्रजातत्र धराशायी हो रहा था, तब भारत में उसे और अधिक दृढ बनाने के लिये प्रयास किये जा रहे थे। दूसरी ओर चीन में सर्वथा विपरीत पद्धति को अपनाया गया है। जैसा कि चेस्टर बाउल्स ने लिखा है–"अमेरिका और रूस नहीं बल्कि भारत और चीन एशिया की आत्मा के लिये लड रहे हैं।" वास्तव में भारत में ससदीय प्रजातत्र की सफलता या असफलता पर एशिया का भविष्य निर्भर करता है।" सगठन की दृष्टि से भारत एक सघ राज्य है, जैसा कि अमेरिका

है, लेकिन अमेरिका का प्रजातंत्र अध्यक्षात्मक है जबकि भारत का प्रजातंत्र संसदीय है। कारण स्पष्ट है कि स्वतंत्र भारत के संसदीय प्रजातंत्र के क्षेत्र में ब्रिटिश काल से ही संसदीय शासन के बीज बोये जा चुके थे। उस काल का शासन संसदीय शासन का ही एक सीमित रूप था। जिसमें गवर्नर-जनरल और गवर्नर को अत्यधिक अधिकार मिले हुए थे। संविधान सभा में कुछ सदस्य संसदीय शासन के विरुद्ध थे। एक सदस्य ने कहा था—"इस संविधान में गर्व करने लायक बात क्या है?" दूसरे ने कहा था—"यदि आप भारत के संविधान को देखेंगे तो उसमें कुछ भारतीयता मिलना बहुत मुश्किल है। अंग्रेज तो यहां से चले गये लेकिन मुझे दुःख है कि हमारे देशवासी अपने पूर्व स्वामी की प्रणाली को नहीं छोड़ सके हैं।"[12] लेकिन काफी लंबी बहस के बाद संविधान सभा ने संसदीय शासन को ही भारत के लिये पसंद किया।

28 मार्च, 1957 को प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु ने लोकसभा में कहा था—"हम लोगों ने जान-बूझकर संसदीय प्रजातंत्र को चुना है, न केवल इसलिये कि इसके कुछ लाभ भी हैं बल्कि इसलिये क्योंकि यह हमारी प्राचीन परंपरा के अनुकूल है, साथ ही नई परिस्थिति और नये वातावरण के अनुरूप यह अपने आपको बना सकती है। हम यह देख चुके हैं कि इसने कई देशों में विशेषकर ब्रिटेन में काफी सफलता पाई है। इसलिये हमें इसमें उत्पन्न दोषों को दूर करके इसे सफल बनाना है।"[13]

भारत के संविधान में सरकार के तीनों अंगों में से संसद की सर्वोच्चता को स्वीकार किया गया है। संगठन संघात्मक रखा गया है यद्यपि आत्मा से उसे एकात्मक बनाया गया है और उसके लिये 'फेडरेशन' शब्द का उपयोग न करके 'यूनियन' शब्द का प्रयोग किया गया है। कार्यपालिका पूर्णतः संसद के प्रति उत्तरदाई बनाई गई है। राष्ट्रपति को शासन का सर्वोच्च अध्यक्ष स्वीकार किया गया है, किंतु उसे संसद का स्वामी न बना कर एक प्रकार से संसद और उसके मंत्रिमंडल का अनुगामी बना दिया गया है। इस प्रकार संविधान ने प्रस्थापित किया है कि राज्य की शक्ति किसी व्यक्ति विशेष में केंद्रित न होकर जनता के प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता में ही निहित होगी।

संसदीय प्रजातंत्र में उत्तरदायित्व के कारण कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका और निर्वाचकों का नियंत्रण रहता है। इसकी सफलता के लिये केबिनेट, व्यवस्थापिका और निर्वाचकों में उचित संबंध व संतुलन की आवश्यकता है जो कि कानून, अभिसमय और संविधान के द्वारा स्थापित किया जाता है। भारत में केंद्र और राज्यों में संसदीय प्रजातंत्र ब्रिटेन के अनुरूप ही है। श्री निवासन के शब्दों में—"ब्रिटिश केबिनेट की तरह केंद्र व राज्यों की कार्यपालिका सामूहिक उत्तरदायित्व पर आधारित है। इसमें जनता कार्यपालिका पर निरंतर प्रभाव रख सकती है। इस प्रकार भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उत्तरदायित्व को देखते हुए केंद्र और राज्यों में संसदीय शासन को ही अपनाया गया है।"[14]

लेकिन ब्रिटेन में संसदीय शासन की स्थापना वहां की तात्कालिक परिस्थिति,

आवश्यकता, ऐतिहासिक परपरा एव अभिसमय के आधार पर हुई और भारत में संविधान की कुछ धाराओं के अतर्गत इसका प्रारम्भ किया गया, अर्थात् हमारे यहा ससदीय शासन का आधार सवैधानिक विधि है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि यहा अभिसमयों के लिये कोई स्थान नहीं है। भारतीय ससद की कार्यप्रणाली में यह स्पष्ट निर्देश है कि जहा भारत का संविधान या राजनैतिक परपराए मौन हों, वहा ब्रिटेन की परपराओं को स्वीकार किया जाये। श्री पटेल के शब्दों में–"हमारा संविधान ब्रिटिश संविधान के अधिक निकट है और ससद की कार्यप्रणाली भी ब्रिटिश ससद के अनुरूप है। अमेरिका के संविधान पर भी बहुत विचार करने के बाद हम लोगों ने ब्रिटिश केबिनेट प्रणाली को ही अधिक पसद किया और ब्रिटेन में जैसे अभिसमय व कार्यप्रणाली है उसी को अपनाया।"[25]

गत वर्षों के शासन व मंत्रियों द्वारा अनेक बार त्यागपत्र दिलाया तब जाकर ससद के प्रति उत्तरदायित्व के सम्मान की रक्षा की गई है। विरोधी पक्ष को निर्भीक आलोचना की छूट मिली है। भारतीय प्रजातत्र ने और भी अनेक स्वस्थ परपराओं को जन्म दिया है। यह सब भारतीय प्रजातत्र की व्यावहारिक प्रौढता को प्रदर्शित करने वाला है। भारत में ससदीय प्रजातत्र का विकास कुछ अभिसमयों पर भी निर्भर है, विशेषकर जिन अभिसमयों पर सविधान मौन है। उदाहरण के लिये भारत का राष्ट्रपति मंत्रिमडल की सलाह मानने के लिये बाध्य है कि नहीं–इस विषय पर संविधान में स्पष्ट कुछ भी नहीं कहा गया है और अभिसमयों के आधार पर ही निर्णय करना पडता है।

भारतीय सविधान की धाराओं का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि इसमें ससदीय प्रजातत्र की सभी विशेषताए हैं। ससदीय शासन की परिभाषा से स्पष्ट है कि इसमें दो प्रकार की कार्यपालिका होगी। प्रथम नाममात्र की और दूसरी वास्तविक। धारा 74(1), धारा 53(1) की पूरक है, क्योंकि इसमें मंत्रिमडल की व्यवस्था राष्ट्रपति को सलाह व सहायता के लिये की गई है, लेकिन धारा 75(3) के अनुसार मंत्रिमडल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदाई होगा। मंत्रिमडल के सदस्यों को केंद्रीय ससद के किसी भी सदन का सदस्य होना आवश्यक है। अपने कार्य व नीतियों के लिये ससद के प्रति उत्तरदायित्व का अर्थ यह है कि यदि लोकसभा बहुमत से मंत्रिमडल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत कर दे तो मंत्रिमडल को त्यागपत्र देना होगा। इस प्रकार मंत्रिमडल में ही सरकार का उत्तरदायित्व, सक्षमता और कुशलता निहित है।

इस ससदीय शासन को प्रजातत्र की स्थापना के बिना पूर्ण नहीं बनाया जा सकता। धारा 75(1) में बताया गया है कि राष्ट्रपति प्रधानमत्री की नियुक्ति करेगा और प्रधानमत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा। लेकिन राष्ट्रपति के द्वारा प्रधानमत्री की नियुक्ति औपचारिक होती है, क्योंकि राष्ट्रपति उसी व्यक्ति की नियुक्ति प्रधानमत्री के रूप में करेगा जो लोकसभा में बहुमत दल का नेता हो। इस प्रकार ससदीय शासन में राष्ट्रपति की नियुक्ति करने की शक्तिया पर्याप्त सीमित हैं। यहा तक कि केबिनेट के निर्माण में राष्ट्रपति,

प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध, किसी भी मंत्री को नियुक्त नहीं कर सकता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो प्रधानमंत्री विरोध में त्यागपत्र दे सकता है और फिर राष्ट्रपति के सामने संविधान के अनुसार दूसरा प्रधानमंत्री नियुक्त करने की समस्या उत्पन्न हो जायेगी।

इससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान है, वास्तविक शक्तियां मंत्रियों के पास हैं जिनकी पदावधि लोकसभा में बहुमत के विश्वास पर निर्भर है और इस लोकसभा का निर्माण प्रजातंत्रीय पद्धति के अनुसार साधारण निर्वाचन के द्वारा होता है। इसी सदन के पास कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और वित्त पर नियंत्रण की शक्तियां हैं।

*भारतीय संविधान निर्माता एक ऐसी शासन व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जो स्थाई* हो और साथ ही उत्तरदाई भी हो। इसलिये उन्होंने ऐसी शासन व्यवस्था स्थापित की, जिसकी नीति की परीक्षा दिन-प्रतिदिन होती रहे, न कि पर्याप्त समय के बाद हो, जैसा कि अमेरिका में होता है। भारतीय संविधान निर्माता इस बात को नहीं भूले कि अमेरिकन शासन व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में संपर्क नहीं है। अमेरिकन शासन व्यवस्था में नीति संबंधी सामंजस्य और उत्तरदायित्व का प्राय: इतना अभाव रहा है कि बार-बार कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच सामंजस्य स्थापित करने के सुझाव बताये जाते हैं और फिर भी इस दिशा में वांछित सुधार नहीं हुआ है। लगभग 150 वर्षों की पराधीनता के बाद स्वतंत्र होने पर भारत इस प्रकार का संकट मोल लेने को तैयार नहीं था। *भारत को एक ऐसी शासन व्यवस्था की आवश्यकता थी जो न केवल सर्वसाधारण की* आवश्यकताओं के प्रति जागरूक हो वरन् सर्वसाधारण के प्रति उत्तरदाई भी हो ताकि राष्ट्रीय विकास की नीतियों और योजनाओं पर ठीक प्रकार से कार्य किया जा सके और शासन के विभिन्न अंगों तथा विभागों में तनिक भी विरोध या संघर्ष की अवस्था उत्पन्न न हो। इसीलिये भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारत के लिये संसदीय शासन प्रणाली ही चुनी। इस प्रणाली को चुनने में इस तथ्य ने भी सहायता दी कि भारत को संसदीय शासन का पर्याप्त ज्ञान था। 1937 से ही भारतीय प्रांतों में संसदीय शासन के अनुसार शासन चलता *आ रहा था, चाहे वह कुछ दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण ही क्यों न हो।*

संसदीय शासन प्रणाली के अनुरूप भारत में निष्पक्ष निर्वाचनों की व्यवस्था है। निर्वाचन निष्पक्ष हो, यह निश्चित करने के लिये एक स्वतंत्र निर्वाचन आयोग नियुक्त है। "निर्वाचन के समय मतों की गोपनीयता सुरक्षित रखी गई है। यद्यपि भारत में अशिक्षितों की अधिकता के कारण प्रारम्भ में कुछ समस्याएं भी उत्पन्न हुई थीं लेकिन धीरे-धीरे वे समस्याएं दूर की जा सकती हैं।"[26] भारत में एक ऐसा शासन स्थापित किया गया है जिसमें प्रत्येक नागरिक को अधिकारयुक्त पद प्राप्त करने की सुविधा है। राजनैतिक अधिकार का अर्थ केवल यही नहीं है कि उसे मतदान करने *अथवा प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है, बल्कि उसे यह भी अधिकार है कि वह कोई भी पद प्राप्त कर सकता है और उसके लिये चुना जा सकता* है। आधुनिक भारत के इतिहास में संविधान ने उन सभी वयस्क नागरिकों को यह अधिकार

दिया है जो 18 वर्ष के हो गये हैं। जन्म, धन, जाति अथवा लिगभेद के आधार पर भेदभाव न करने की व्यवस्था रखी गई है। ससदीय शासन तथा वयस्क मताधिकार के द्वारा सरकार जनता और उसके प्रतिनिधियों के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदाई रहती है।

भारत में ससदीय प्रजातत्र का इतिहास यद्यपि प्रगतिशील रहा है, किन्तु फिर भी यह पश्चिम की देन है और दुर्भाग्यवश इसे भारतीयता के अनुकूल नहीं ढाला गया है। ससदीय प्रजातत्र को व्यावहारिक रूप दिये जाने पर इसकी कुछ विचित्र विशेषताए स्पष्ट दिखाई देती हैं जो कि नहीं दिखाई देनी चाहिये थीं। वे विशेषताए इस प्रकार हैं"—

**1. असंगठित विरोधी दल**—पश्चिम के दो प्रमुख प्रजातत्रीय देश अमेरिका और ब्रिटेन के उदाहरण को सामने रखने पर यह स्पष्ट अनुभव होता है कि स्वस्थ प्रजातत्र के लिये एक-दो सक्षम और सुदृढ विरोधी दलों का होना अनिवार्य है, जो अकुशल सत्तारूढ दल को पराजित करके उसका स्थान ग्रहण कर सकें अथवा उसे लोककल्याण के प्रति निरतर सचेत रहने और ससदीय मर्यादाओं व उत्तरदायित्व के नियत्रण में रहने को बाध्य कर सकें। अनेक अनुभवों ने इन दोनों देशों में समस्त विरोधी दलों को एक शक्तिशाली विरोधी दल में इसीलिये सगठित होने को बाध्य कर दिया। यह विरोधी दल अपने सम्मुख एक निश्चित राष्ट्रीय कार्यक्रम और स्पष्ट नीति रखकर चलता है और उसकी भी अपनी एक छाया मत्रिपरिषद् होती है। सत्तारूढ और विरोधी दलों के प्रतिस्पर्धी कार्यक्रमों के बीच जनता को एक कार्यक्रम चुनना होता है और मतदान करते समय मतदाताओं को विश्वास रहता है कि वह विशिष्ट दल अपने द्वारा प्रचारित कार्यक्रम को पूरा करने में सक्षम है। दुर्भाग्य से स्वतत्रता के इतने वर्षों बाद भी एक भी ऐसा दल नहीं है जो सत्तारूढ दल का मुकाबला करने में सक्षम हो, जिसके पास ठोस नीति हो और स्पष्ट कार्यक्रम हो। भारत में असगठित विरोधी दल का यह अभाव स्वस्थ लोकतत्र की जडें खोखली कर रहा है। केवल कुछ राज्यों में ही सक्षम विरोधी दल हैं, लेकिन केंद्र में इसका नितात अभाव ही है।

**2. पर्याप्त राजनैतिक चेतना का अभाव**—भारतीय जनता की राजनैतिक चेतना अभी भी पूर्ण रूप से जागृत नहीं हो पाई है और लोगों की शक्ति व गद्दी की पूजा की प्राचीन मनोवृत्ति अभी भी कायम है। जनता शासकों का अनाचार और उनकी कमिया भी इसीलिये सहन करती है कि वे लोग शासक हैं, शक्ति सम्पन्न हैं और उनकी नाराजगी उन्हें कष्ट में डाल देगी। प्रजातत्र के लिये यह मनोवृत्ति बडी खतरनाक है। इस सबध में जे.एस. मिल का कहना है—"जनता को अपनी स्वतत्रता किसी भी देवता के चरणों में समर्पित नहीं करनी चाहिए।"[20] इसी प्रकार श्री एच.वी. कामथ का कथन भी सत्य है कि—"भक्ति धर्म के क्षेत्र में आत्मा के लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकती है, पर राजनीति में तो निश्चित रूप से यह भ्रष्टाचार और निरकुशता की पक्की सड़क है।"[21]

**3. लोकप्रशासन और भ्रष्टाचार**—प्रशासकीय अधिकारियों का महत्त्व ब्रिटिश शासन काल में बहुत अधिक था और इनके द्वारा ब्रिटिश सरकार केंद्र और प्रांतों पर नियत्रण रख

सकती थी। देश की स्वाधीनता के बाद भी इन अधिकारियों का महत्त्व बना रहा। इन अधिकारियों से यह अपेक्षा है कि वे प्रशासन का उच्च स्तर बनाये रखें तथा दृढ़ता से अपना निष्पक्ष मत मंत्रियों को प्रदान करें। परन्तु आजकल स्थिति यह है कि कोई भी अधिकारी मंत्रियों को अप्रसन्न करने की जिम्मेदारी लेना नहीं चाहता।" यह निर्विवाद सत्य है कि कोई भी प्रजातंत्र तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक जनमत शासकों पर कड़ी निगाह न रखे और शासक जनता के प्रति उत्तरदायित्व निभाना न सीख जायें। भारत में आज प्रशासकीय भ्रष्टाचार अपनी सीमा लाघ चुका है और शासकों की मनोवृत्ति जनता के प्रति निरकुश होने की है। सरकार के उच्च पदाधिकारी और देश के ईमानदार नेताओं के लिये लोक प्रशासन में व्याप्त यह भ्रष्टाचार एक गभीर चिंता का विषय बन चुका है, ग्रीन के शब्दों में यह 'सामाजिक नैतिकता का अभाव' है। जो प्रजातत्र के लिये महाघातक है। अत इस बात की पूर्ण आवश्यकता है कि यथाशीघ्र देश में उच्च राजनैतिक प्रशिक्षण का प्रसार किया जाये, जनता को उसके अधिकारों व कर्त्तव्यों का भान कराया जाये और भ्रष्ट प्रशासकीय अधिकारियों को कठोर दण्ड दिए जायें।

**4. आर्थिक चुनौती**–भारत का प्रजातंत्र वित्तीय राहु से ग्रसित हो सकता है। श्री राजगोपालाचारी के शब्दों में–"पचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये जो धन बाहर से आया है, उसकी एवज में कम-से-कम एक शताब्दी के लिये हम विदेशियों के हाथ गिरवी हो गये हैं।" बिना आर्थिक सम्पन्नता के किसी भी प्रजातंत्र का भविष्य सुरक्षित नहीं होता। भारतीय प्रजातंत्र के लिये प्रशासकीय अक्षमता से उत्पन्न यह आर्थिक सकट एक गभीर चुनौती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि भारत में वर्तमान संसदीय प्रजातंत्र को सफल बनाना है, तो इसकी बुराइयों को मिटाने के लिये तुरत ठोस कदम उठाने होंगे और इसके मूल में जो गभीर त्रुटियां हैं उनकी खोज करके उनका उपचार करना होगा।

भारत में संसदीय शासन की इन्हीं बुराइयों को देखकर कई विचारकों ने भारत में *अध्यक्षात्मक शासन की भी सिफारिश की थी। उनका कहना था कि इससे पहले कि एशिया* के अन्य राज्यों की तरह भारत में संसदीय प्रजातंत्र असफल हो जाये, भारत मे अध्यक्षात्मक शासन लागू कर देना चाहिये। श्री अनिल गुहा ने अपने लेख 'भारत में संसदीय शासन का भविष्य' में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।" लेख इस प्रकार है–"वास्तव में संसदीय शासन उसे कहते हैं जहा नीति निर्माण कार्य में संसद सबसे कम भाग लेती है। *उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में संसद नीति निर्माण करने की अपेक्षा अनुमोदन एव आलोचना करने* वाली संस्था रह गई है और नीति निर्धारण कार्य केबिनेट करती है। केबिनेट में भी प्रधानमंत्री प्राय इस कार्य को करता है। मंत्रिगण व्यक्तिगत एव सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदाई रहते हैं। लेकिन साथ ही इसका यह भी अर्थ हुआ कि मंत्रिमंडल और प्रधानमंत्री संसद में सदैव बहुमत की शक्ति अपनी ओर रखने में समर्थ रह सकें। इसके

लिए ससदीय शासन की माग है कि सुदृढ एव अनुशासनबद्ध दल का मंत्रिमडल और प्रधानमत्री हों। प्रजातन्त्र में एक ही दल की तानाशाही से बचाव के लिये एक स अधिक या दो एसे दलों की आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार ससदीय शासन या जिसे केंबिनेट शासन भी कह सकते है इसकी दो आधारभूत आवश्यकताए है–

(1) अनुशासनबद्ध राजनैतिक दल जो दो हों तो अधिक उचित रहेगा।

(2) दल में ऐसा नेतृत्व हो जो ससद में अपने दल के सदस्यों पर नियत्रण रख सके।

ब्रिटेन में भी जब दो राजनैतिक दल सुदृढ रूप से सगठित हो गये थे तभी राजा और रानी को उनके आगे झुककर शक्ति समर्पण करना पडा। स्पष्ट है कि भारत में इन दोनों ही बातों का अभाव है। सपूर्ण भारत में एसे समान सुदृढ शक्तिशाली दो दल दिखाई नहीं देंगे। काग्रेस में थोडी-बहुत यह बात पाई जा सकती है, किन्तु अन्य दलों की स्थिति इससे भी खराब है। ऐसा कोई दूसरा दल नहीं है जिसके सभी राज्यों की विधानसभाओं में सदस्य हों या लोकसभा के चुनाव में जिसने हर निर्वाचन क्षेत्र से अपने उम्मीदवार खडे किये हों। और जब सुदृढ राजनैतिक दल ही नहीं है, तो शक्तिशाली नेतृत्व का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

इन तथ्यों के अतिरिक्त हमारे ससदीय शासन में सबसे बडी समस्या अस्थायित्व की है। चौथे निर्वाचन के बाद लगभग सपूर्ण उत्तर भारत राष्ट्रपति शासन के आगोश में जा रहा था। वह दिन भी आ सकता है जबकि पूरा देश ही केंद्रीय सरकार के अधीन हो जाए। यदि राज्यों में सवैधानिक तत्र असफल हुआ तो अपने-आप ही वहा केंद्र का शासन स्थापित हो जायेगा। लेकिन यह भी सोचना आवश्यक है कि यदि केंद्र में ऐसा हो तो क्या होगा।

ससदीय शासन में स्थायित्व का अर्थ है कि सभी विधायक केबिनेट का नेतृत्व स्वीकार करें और केबिनेट भी इस योग्य हो कि बहुमत का समर्थन प्राप्त करके उन्हें अपने अनुसार कर सके। इसमें राजनैतिक दलों का दायित्व महत्त्वपूर्ण है। ससदीय शासन में कुछ विधायक ही केबिनेट के सदस्य बन जाते हैं और अन्य विधायकों को अपने अनुसार चलाते हैं। इसी कारण इसमें प्रत्येक विधायक मत्री बनने के लिये उत्सुक रहता है। शक्ति प्राप्त करने की यह लालसा प्रत्येक विधायक में स्वाभाविक ही है। दल के अनुशासन को बनाये रखने के लिये कुछ लोगों को अन्य लोगों का अनुसरण करना पडता है।

अधिकाश राज्यों में सरकारों के पतन का यही कारण है कि कुछ विधायक कार्यपालिका के सदस्य बनने की उत्सुकता में दल-बदल कर जाते हैं। जब इस प्रवृत्ति पर कोई नियत्रण नहीं रहेगा तो ससदीय शासन अपने-आप ही अव्यवस्थित हो जायेगा। सभी नये स्वतत्र राज्य जैसे पाकिस्तान, बर्मा, मिश्र इत्यादि में ससदीय शासन असफल रहा है। ब्रिटेन के अतिरिक्त केवल कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में ही ससदीय शासन अभी तक सतोषप्रद रहा है। एशिया में स्वेज से लेकर सैगोन तक ससदीय शासन का लगातार पतन हुआ है

और किसी-न-किसी रूप में अधिनायकतन्त्र वहां स्थापित हुआ है। तो क्या हम भी धीरज रख के अपने देश में संसदीय शासन की असफलता और तानाशाही का प्रादुर्भाव देखें? लेकिन संसदीय शासन का स्थान केवल तानाशाही ही ले सके ऐसा भी नहीं है। प्रजातन्त्र की रक्षा असंसदीय शासन में भी हो सकती है, अर्थात् अध्यक्षात्मक शासन की स्थापना करके।

इससे शासन में स्थायित्व भी हो सकेगा, क्योंकि राष्ट्रपति और राज्यपाल निश्चित *अवधि के लिये चुने जायेंगे और स्वयं निर्णय लेकर शासन की नीति निर्धारित कर सकेंगे।* इससे बहुदल पद्धति पर भी नियन्त्रण लग सकेगा। वही दल जीवित रह सकेंगे जिनमें अखिल भारतीय स्तर पर अपने उम्मीदवार को जिताने की क्षमता हो।

जब विधायकों को कार्यपालिका का सदस्य बनने का मौका ही नहीं मिलेगा तो वे मंत्रिपद के लालच में दल-बदल भी नहीं करेंगे, क्योंकि अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में शक्ति का पृथक्करण कर दिया जाता है।

लेकिन इसके विपरीत भारत में कुछ लोग संसदीय शासन के प्रति आशावान भी हैं। यह बात श्री भारत भूषण गुप्ता के लेख 'भारत में संसदीय शासन' से प्रकट होती है।[12] लेख इस प्रकार है—"संविधान का निर्माण करते समय संसदीय शासन और अध्यक्षात्मक शासन पर पर्याप्त बहस हुई थी। अंत में यही निर्णय हुआ कि केंद्र और राज्यों में संसदीय शासन की ही स्थापना की जाये। केंद्र में एक राष्ट्रपति होगा, जिसको सलाह एवं सहायता के लिये प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिमंडल होगा। यह माना गया कि मंत्रिमंडल की सलाह से ही राष्ट्रपति कार्य करेगा। मंत्रिमंडल को लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदाई बनाया गया। इसी प्रकार की व्यवस्था राज्यों में भी की गई। राज्यपाल राज्य का अध्यक्ष रहेगा। वह कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थों के द्वारा करेगा। यहां भी राज्यपाल को सलाह देने के लिए मुख्यमंत्री और मंत्रिमंडल की व्यवस्था की गई, जो राज्य विधानसभा के प्रति उत्तरदाई होंगे।

*स्वतन्त्रता के बाद से केंद्र में काफी समय कांग्रेस का ही प्रशासन चलता रहा है और निर्वाचनों में उसे स्पष्ट बहुमत मिला है, लेकिन राज्यों की स्थिति इससे भिन्न है। अनेक* राज्यों में कई बार कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल सका है, लेकिन फिर भी इसकी स्थिति *अन्य दलों से अच्छी रही है।*

भारत को संसदीय शासन के व्यवहार में कार्यान्वित करने में कई समस्यायें सामने आई हैं। प्रथम तो केंद्र एवं राज्यों के संबंधों को नये दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भी समय-समय पर गैर-कांग्रेसी राज्यों से केंद्र के साथ सहयोग की मांग की थी। इसी के साथ-साथ राज्यपाल की नियुक्ति में भी सावधानी की आवश्यकता है। राष्ट्रपति को गृहमंत्री और राज्य केबिनेट की सलाह से राज्यपाल की नियुक्ति करनी चाहिये।

दूसरी समस्या मंत्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व की है, जो कि संसदीय शासन का मूलतत्त्व है। मंत्रिगण न केवल अपने निर्वाचन-क्षेत्र के प्रतिनिधि हैं, बल्कि वे विधानमंडल

के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदाई भी हैं और इसके लिये उन्हें मंत्रिमंडल में संगठन और एकता से काम करना होगा। किंतु गैर-कांग्रेसी और कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में भी आंतरिक विरोधाभास और फूट अधिक है। इससे दल में और विधानसभा में उनकी शक्ति क्षीण होने की अधिक संभावना रहती है।

तीसरी समस्या दल-बदल करने वालों से उत्पन्न हुई है। चौथे निर्वाचन से पूर्व यह नाम मात्र की थी, किंतु अब इसका प्रयोग बहुत अधिक बढ़ गया है। इससे संसदीय शासन की स्वस्थ परंपरा विकसित नहीं होने पाती। दल-बदल से शासन में अस्थायित्व और भ्रष्टाचार भी उत्पन्न हो जाता है।

भारत के संसदीय शासन की चौथी समस्या विधायकों के अशिष्ट व्यवहार की है। सदन में कार्यवाही के समय उनमें उचित अनुशासन एवं शिष्टता दृष्टिगोचर नहीं होती।

इन समस्याओं के होने पर भी भारत में संसदीय शासन की जड़ें अत्यंत गहरी हैं। यह ऐसी पद्धति है जिसके साथ हमें ब्रिटिश शासन के समय से ही बांध दिया गया था। समस्या के घबराकर यह कहना जल्दबाजी होगी कि भारत में संसदीय शासन असफल रहा है, बल्कि इन समस्याओं को सुलझाकर हम भारत में संसदीय शासन को और अधिक प्रगतिशील बना सकते हैं।"

## भारत संघ में राज्यों का गठन

भारतीय संविधान के अनुसार भारत विभिन्न राज्यों का अविच्छिन्न संघ है। इसे संविधान में 'फेडरेशन' नहीं बल्कि 'यूनियन' कहा गया है। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में–"भारत एक यूनियन है, क्योंकि यह अविच्छिन्न है। यद्यपि जनता और देश को प्रशासन की सुविधा के लिये विभिन्न इकाइयों में बांटा जा सकता है, परंतु संपूर्ण देश एक ही है। इसके निवासी एक राष्ट्र के सदस्य हैं और वे एक ही स्रोत से प्राप्त सत्ता के अधीन रहते हैं।"[31]

संघात्मक शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए भारत का संविधान पूर्ण रूप से लिखित है और यहां साधारण कानून और संवैधानिक कानून में अंतर स्थापित किया गया है। संविधान में संघ सरकार और राज्य-सरकारों की शक्ति का वर्णन है। यह दो सरकारों के अस्तित्व को मान्यता देता है जिनकी अपनी-अपनी व्यवस्थापिका और कार्यपालिका है। शक्ति-वितरण की व्यवस्था भारतीय संविधान में विश्व के किसी भी अन्य संघीय संविधान की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और निश्चित है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व देश ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों में विभक्त था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत भूखंड के सभी प्रदेशों को भारत संघ में अनिवार्य रूप से मिला दिया गया। प्रारम्भ में भारत संघ की इकाइयां क, ख, ग, घ इन चार भागों में बंटी हुई थीं। क वर्ग वाले राज्यों में स्वतंत्रतापूर्व के गवर्नर के अधीन प्रांत थे। ख वर्ग में देशी राजाओं के शासित राज्य थे। ग वर्ग में वे छोटे-छोटे प्रदेश थे जो या तो पहले चीफ

कमिश्नर के प्रांत थे या देशी राजाओं के अधीन थे। घ वर्ग में अण्डमान और निकोबार को रखा गया। इन इकाइयों में शासन व्यवस्था भी भिन्न थी। वास्तव में इनकी रचना तो देश की ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम था। ऐतिहासिक और राजनैतिक कारणों से भारत के संविधान में भारत संघ की सभी इकाइयों का स्वरूप एक-सा न रहा। इकाइयों का यह संगठन अपने-आप में पूर्ण नहीं था। उस समय संविधान निर्माताओं के सामने अन्य कई गंभीर समस्याएं थी। इस कारण काम चलाने के लिये इन इकाइयों का गठन कर दिया गया। लेकिन जैसे ही देश में स्थायित्व की स्थापना हुई वैसे ही राज्यों के पुनर्गठन की समस्या जागृत होने लगी। सन् 1945-46 के चुनाव घोषणापत्र में कांग्रेस ने अपना मत दोहराया था कि भाषा और संस्कृति के आधार पर प्रांतों का निर्माण किया जायेगा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत भारत के दक्षिणी प्रदेशों में भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग जोर पकड़ने लगी। अंत में कई बार पुनर्गठन करके अब भारत संघ में दो प्रकार की इकाइयां रखी गई हैं–

(1) वे राज्य जो भारत संघ की प्राथमिक इकाइयां हैं,

(2) वे क्षेत्र जिनका शासन केंद्र के द्वारा हो।[24]

संघ के सभी राज्यों में केंद्र की तरह संसदीय शासन की व्यवस्था भारतीय संविधान के द्वारा की गई है। राज्यों के पृथक् संविधान नहीं हैं।

## मध्यप्रदेश में संसदीय शासन का रूप

मध्यप्रदेश भारत के बीच में स्थित संघ की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। 1956 के पुनर्गठन के पश्चात् इसका वर्तमान स्वरूप निश्चित हुआ है। इससे पहले यह मध्यभारत और मध्यप्रदेश के रूप में विभक्त था।

मध्यप्रदेश की सीमाएं राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़ और गुजरात से मिली हुई हैं।

1981 में हुई जनगणना के अनुसार मध्यप्रदेश की जनसंख्या 5,21,31,717 है। राज्य की शासकीय भाषा हिन्दी घोषित की गई है, वैसे हिन्दी की अतिरिक्त बोलने वाली अन्य प्रमुख भाषाएं ये हैं–उर्दू, मराठी, राजस्थानी, गुजराती, सिंधी।[25] प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से संपूर्ण राज्य को दस कमिश्नर के विभागों में बांट दिया गया है, जो इस प्रकार हैं–(1) भोपाल, (2) बिलासपुर, (3) ग्वालियर, (4) इंदौर, (5) जबलपुर, (6) रायपुर, (7) रीवा, (8) उज्जैन, (9) सागर, (10) होशंगाबाद।

राज्य की राजधानी भोपाल है। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश में पंचायतें भी स्थापित की गई हैं। ग्रामीण स्तर पर ग्राम पंचायतें, उप-खण्डीय स्तर पर जनपद पंचायतें और जिला स्तर पर जिला पंचायतें बनाई गई हैं।

खनिज पदार्थों की दृष्टि से मध्यप्रदेश भारत के प्रमुख खनिज उत्पादक राज्यों में से एक है। यद्यपि राज्य का अधिकांश भाग पिछड़ा हुआ है फिर भी इसे विकसित करने के

प्रयास तीव्रता से किये जा रहे हैं। अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे भी यहां स्थापित किये जा रहे हैं और शिक्षा के स्तर को उठाने का प्रयास भी किया जा रहा है।

मोटे तौर पर कहा जाये तो राज्यों में भी शासन का स्वरूप वही है जो केंद्र में है। संविधान के निर्माता केंद्र और राज्य दोनों में ही संसदीय शासन स्थापित करने को उत्सुक थे। वे चाहते थे कि किसी भी राज्य का अध्यक्ष अर्थात् राज्यपाल केवल संवैधानिक शासक हो, जैसा कि केंद्र में राष्ट्रपति है। यह राज्यपाल उस मंत्रिमंडल की सलाह से कार्य करे जिसका कि राज्य विधानसभा में बहुमत हो।

मध्यप्रदेश में भी संविधान के अनुसार इसी प्रकार का शासन स्थापित किया गया है। इसे व्यावहारिक रूप देने के लिये प्रांतीय विधानसभा की रचना की गई है। यद्यपि 1956 के संविधान संशोधन विधेयक और 1956 के विधान परिषद् अधिनियम के स्वीकृत होने के बाद यहां भी द्विसदनीय विधानमंडल की व्यवस्था की गई है, लेकिन किन्हीं कारणों से द्वितीय सदन की रचना नहीं हो पाई। इस प्रकार मध्यप्रदेश में एक सदनीय विधानमंडल ही है। संविधान के अनुसार प्रत्येक राज्य की विधानसभा में उस राज्य की जनसंख्या के अनुसार अधिक-से-अधिक 500 और कम-से-कम 60 सदस्य होंगे। ये सदस्य प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र से वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। प्रत्येक जनगणना के पश्चात् राज्य की विधानसभा में सीटों की संख्या और राज्य के प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों का विभाजन नये सिरे से आयोजित किया जाता है। संविधान की धारा 332 के अनुसार विधानसभा में अनुसूचित जाति और जनजातियों के लिये उनकी जनसंख्या के आधार पर सीटों के आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

लोकसभा तथा राज्य विधानसभा, दोनों के निर्वाचनों के लिये एक ही मतदाता-सूची का प्रयोग किया जाता है। राज्य के प्रत्येक नागरिक को, जिसकी आयु 18 वर्ष से कम न हो, मतदाता बनने का अधिकार है, किन्तु शर्त यह है कि वह गैर-निवास, मस्तिष्क-विकार, अपराध या भ्रष्ट या अवैध आचरण की अयोग्यताओं से मुक्त हो, जो कि संविधान द्वारा या संसद द्वारा कानून से निश्चित की गई हो।

विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है। इसके बाद दुबारा निर्वाचन होते हैं। जिस समय संकटकाल हो उस समय इसकी अवधि एक बार में एक वर्ष के लिए बढाई जा सकती है। इसकी गणपूर्ति कुल सदस्य-संख्या का 1/10 भाग है जो कार्यवाई शुरू करने के लिये आवश्यक है। विधानसभा की बैठक वर्ष में कम-से-कम दो बार होती है। इन दो सत्रों के बीच 6 महीने से अधिक का व्यवधान नहीं होना चाहिये। राज्यपाल विधानसभा का सत्रावसान कर सकता है या 5 वर्ष से पहले इसे भंग भी कर सकता है।

संसदीय शासन प्रणाली के अनुसार राज्य का समस्त शासन इसी विधानसभा द्वारा नियंत्रित एवं निर्मित होता है। इसे विस्तृत रूप से कानून निर्माण की शक्तियां प्राप्त हैं। राज्य सूची के समस्त विषय और समवर्ती सूची पर भी कानून बनाने का इसे अधिकार

है। राज्य के वित्त या कोष पर भी विधानसभा का नियंत्रण है। वह किसी भी माग को *स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकती है या उसकी राशि को घटा सकती है। विधानसभा की* स्वीकृति के बिना राज्य में कोई कर नहीं लगाया जा सकता। विधानसभा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना है। यद्यपि मुख्यमंत्री और मंत्रिमंडल के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल करता है, किंतु उसका यह कार्य औपचारिक होता है। विधानसभा में बहुमत दल का नेता मुख्यमंत्री होगा और वह अपनी इच्छा से विधानसभा में से ही अपने मंत्रिमंडल का निर्माण करेगा।

संसदीय शासन में मंत्रिमंडल को सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदाई होना आवश्यक है। सभी मंत्री आवश्यक रूप में विधानसभा के सदस्य होते हैं और उसके अधिवेशन में भाग लेते हैं। विधानसभा सार्वजनिक प्रशासन के किसी भी विषय के बारे में प्रश्न और अनुपूरक प्रश्न पूछ सकती है। वह सार्वजनिक महत्त्व के विषयों पर सरकार को सुझाव देते हुए प्रस्ताव प्रस्तुत और स्वीकृत कर सकती है। विधानसभा मंत्रिमंडल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत कर सकती है, जिसके फलस्वरूप मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देना पड़ता है।"

यद्यपि मध्यप्रदेश के संक्षिप्त राजनैतिक जीवन के इतिहास में प्रत्यक्ष रूप से अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत होने की स्थिति नहीं आई, लेकिन ऐसी स्थिति आ चुकी है जबकि *मंत्रिमंडल को बहुमत का विश्वास न होने पर त्यागपत्र देना पड़ा था।* लेकिन ये परिस्थितियां अधिकतर विधायकों के दल बदलने के कारण उत्पन्न हुई थीं। प्रथम तीन निर्वाचनों में सरकार में स्थायित्व रहा। लेकिन 1967 के चौथे निर्वाचन के बाद से यह स्थायित्व समाप्त हो गया। 1967 के बाद जो विधानसभा बनाई गई थी, उसमें विभिन्न राजनैतिक दलों की स्थिति इस प्रकार थी—

| | |
|---|---|
| कांग्रेस | 123 |
| जनसंघ | 65 |
| प्रजातंत्र रक्षक दल | 53 |
| क्रांतिकारी विधायक दल | 33 |
| संयुक्त समाजवादी दल | 9 |
| प्रजा समाजवादी दल | 9 |
| निर्दलीय | 1 |
| साम्यवादी दल | 1 |
| मनोनीत | 1 |
| रिक्त स्थान | 1 |
| कुल संख्या | *296+1 अध्यक्ष = 297* |

चतुर्थ निर्वाचन के बाद मध्यप्रदेश विधानसभा में बहुमत दल के आधार पर पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार बनाई गई। लेकिन स्पष्ट बहुमत होने पर भी यह सरकार स्थाई नहीं रह सकी। दल की आन्तरिक फूट के कारण सत्तारूढ़ दल के करीब तीन दर्जन लोगों ने दल बदल कर लिया और इसका पता तब चला जब कि शिक्षा विभाग के बजट पर मतदान होना था। जब प. मिश्र का बहुमत नहीं रहा, तो उन्होंने राज्यपाल से विधानसभा स्थगित करा दी। उसके बाद विरोधी दल द्वारा सूची प्राप्त होने पर राज्यपाल को स्पष्ट हो गया कि प. मिश्र को अब विधानसभा का विश्वास नहीं रहा। ऐसे में प. मिश्र ने घोषित किया कि राज्यपाल को राज्य विधानसभा भंग करके पुनर्निर्वाचन करवाने की सलाह देंगे। उस समय केंद्र और राज्य में बहुत विवाद हुआ कि राज्यपाल को मुख्यमंत्री की यह सलाह अस्वीकृत करने का अधिकार है या नहीं। क्योंकि केंद्र सरकार भी विधानसभा भंग कराने के पक्ष में नहीं थी इस कारण प. मिश्र को त्यागपत्र देना पड़ा और गोविन्द नारायण सिंह मुख्यमंत्री बने। इस प्रकार संयुक्त विधायक दल सत्तारूढ़ दल के रूप में स्थापित हो गया। लेकिन दल बदल की प्रवृत्ति के कारण यह सरकार भी स्थाई नहीं हो सकी और मार्च 1969 में श्री गोविन्द नारायण सिंह ने त्यागपत्र दे दिया और अपने साथियों सहित पुनः कांग्रेस में मिल गये। उनके स्थान पर संविद की ओर से राजा नरेशचन्द्रसिंह मुख्यमंत्री बनाये गये, लेकिन एक सप्ताह में इन्हें भी त्यागपत्र देना पड़ा क्योंकि संविद के घटक अब संयुक्त रूप से काम नहीं कर पा रहे थे और उनका विघटन हो रहा था।" कांग्रेस का विधानसभा में पुनः बहुमत स्थापित हो गया और श्यामाचरण शुक्ल ने मुख्यमंत्री का पद संभाला जो जनवरी 1972 तक मुख्यमंत्री बने रहे। इनके त्यागपत्र देने पर श्री प्रकाशचन्द्र सेठी मुख्यमंत्री के पद पर लाये गये, जो कि उस समय केंद्रीय मंत्रिमंडल के मंत्री थे।

मध्यप्रदेश में संसदीय शासन को देखने से स्पष्ट है कि प्रथम तीन निर्वाचनों में कांग्रेस का ही मंत्रिमंडल बना, लेकिन चौथे चुनाव के बाद विधायकों के दल बदल करने के कारण सरकार का स्थायित्व पहले जैसा दृढ़ नहीं रहा था और इसी कारण इस क्षेत्र में राज्यपाल को कई बार अपने विवेक से भी कार्य करना पड़ा है। लेकिन पाचवें निर्वाचन में फिर कांग्रेस को भारी बहुमत मिला था और दलीय अनुशासन को भी कठोर किया गया था इसलिये उम्मीद यह थी कि राज्य में स्थाई सरकार बन सकेगी।

चौथे और पाचवें चुनाव के बीच की अवधि में मध्यप्रदेश ने पाच मंत्रिमण्डल देखे। 1969 के वर्ष में पहली जनवरी से मार्च के अन्त तक मध्यप्रदेश सरकार के संबंध में अभूतपूर्व अनिश्चितता बनी रही। पहली नवम्बर 1968 को तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री गोविन्द नारायण सिंह ने अपने 20 मंत्रियों के त्यागपत्र स्वीकार कर लिये थे और दो महीने तक उन मंत्रियों के स्थान पर कोई भी नया मंत्री नियुक्त नहीं हुआ। उनमें से एक श्री जी. आर. अनन्त संयुक्त विधायक दल छोड़कर कांग्रेस में सम्मिलित हो गये। संविद के घटकों में कुछ मंत्रियों को हटाने के प्रश्न पर जो विवाद उठ खड़ा हुआ उसी के कारण दो महीने तक मंत्रिमंडल

का निर्माण नहीं हो सका। पहली जनवरी 1969 को राज्यपाल श्री के. सी. रेड्डी ने 17 मंत्रियों को शपथ दिलाई। इनमें से 15 पुराने और दो नये थे। इस प्रकार मंत्रिमडल में 36 के स्थान पर 32 सदस्य रह गये। इस बीच विधानसभा में भी काफी सरगर्मी रही। राज्यपाल ने 21 फरवरी को मध्यप्रदेश विधानसभा में अपना अभिभाषण देकर बजट का आरम्भ किया, परन्तु उनके भाषण से पहले ही सयुक्त समाजवादी दल के एक सदस्य श्री कल्याणमल जैन ने सदन में एक हिंदी समाचार पत्र की वह प्रति जला दी जिसमें, राज्यपाल का अंग्रेजी में भेजा गया एक सदेश छापा गया था। पाच सदस्यों ने सभात्याग भी किया। दूसरे दिन सदन में इस काण्ड की भर्त्सना हुई और श्री कल्याणमल जैन, ससोपा के नेता और मुख्यमत्री ने इस घटना के लिये सदन से और सदन ने राज्यपाल से क्षमायाचना की।

तत्कालीन वित्तमत्री श्री प्रधान ने 1969-70 का बजट 21 फरवरी को पेश किया। इस बजट में 3,000 करोड का घाटा दिखाया। श्री गोविन्द नारायण सिंह ने मुख्यमत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। 13 मार्च को विधानसभा के अध्यक्ष ने विधानसभा इस आधार पर स्थगित कर दी कि मंत्रिमडल ने त्यागपत्र दे दिया है। दूसरे दिन राज्यपाल ने मुख्यमत्री की सलाह पर विधानसभा का सत्रावसान कर दिया। राज्यपाल के इस आदेश की ससद के दोनों सदनों में चर्चा हुई। उसी दिन सायकाल श्री नरेशचद्र सिंह को मुख्यमत्री पद की शपथ दिलाई गई। उन्होंने 20 मार्च को ही विधानसभा की बैठक पुन बुलाई, किंतु एक सप्ताह बाद बैठक होने से पहले ही श्री नरेशचद्र सिंह ने भी त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि सविद के 36 सदस्यों ने दल को छोड दिया था और वह अपना बहुमत कायम नहीं रख सके थे। विधानसभा की बैठक पुन स्थगित कर दी गई। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमत्री श्री गोविन्द नारायण सिंह अपने 19 साथियों सहित कांग्रेस में मिल गये और 22 सदस्यों का, जो पहले सविद में थे, एक प्रगतिशील विधायक दल बन गया।

श्री नरेशचद्र सिंह के त्यागपत्र के बाद कांग्रेस दल के नेता को राज्यपाल ने सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। उस समय तक श्री द्वारका प्रसाद मिश्र दल के नेता थे। परन्तु मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय के जबलपुर खण्डपीठ ने कसडोल निर्वाचन-क्षेत्र से 1963 में हुए उपनिर्वाचन में श्री मिश्र के निर्वाचन को भ्रष्ट प्रक्रिया का दोष बताकर अवैध घोषित कर दिया। इस निर्णय के पश्चात् श्री मिश्र नेता पद से हट गये और श्री श्यामाचरण शुक्ल दल के नेता निर्वाचित हुए। प्रारम्भ में इन्होंने एक अन्य मत्री श्री कुंजीलाल दुबे के साथ दो सदस्यों का मंत्रिमडल बनाया। बाद में श्री शुक्ल के नेतृत्व में बने मंत्रिमडल में 40 सदस्य हो गये थे। 23 जून, 1969 को जब मध्यप्रदेश विधानसभा का बजट अधिवेशन आरम्भ हुआ, उस समय विधानसभा सचिवालय के अनुसार 297 सदस्यीय विधानसभा में कांग्रेस को 169 स्थान प्राप्त थे। जनवरी 1972 तक श्री शुक्ल के नेतृत्व में सरकार ने कार्य किया। किंतु दल में आतरिक विरोध होने के कारण और केंद्रीय नेताओं के दबाव से इन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और श्री प्रकाशचद्र सेठी ने मुख्यमत्री का कार्यभार सभाला।

मार्च 1972 को विधानसभा के आम चुनाव में कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता मिली और राज्यपाल श्री सत्यनारायण सिंहा ने श्री सेठी को ही दुबारा मंत्रिमंडल बनाने के लिये आमंत्रित किया। पाचवें आम चुनाव के बाद मध्यप्रदेश विधानसभा में विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार थी—

| | |
|---|---|
| कांग्रेस | 220 |
| जनसघ | 48 |
| निर्दलीय | 18 |
| समाजवादी दल | 7 |
| साम्यवादी दल | 3 |
| मनोनीत | 1 |
| कुल सख्या | 297 |

आम चुनाव के नतीजे आने पर म प्र में 1957 के बाद पहली बार कांग्रेस को विधानसभा में दो-तिहाई का स्पष्ट बहुमत मिला। 23 दिसम्बर, 1975 को श्री सेठी के केंद्रीय मंत्रिमंडल में शामिल हो जाने के कारण श्री शुक्ल ने पुन मुख्यमंत्री पद सभाला।

25 जून, 1975 को श्रीमती गाधी द्वारा देश में आतरिक आपातकाल की घोषणा हुई। विरोधी दल जेल में बद थे, इसलिये राज्य की राजनीति में जनवरी 1977 तक कोई विशेष घटना नहीं घटी।

मार्च 1977 में केंद्र में जनता दल की भारी विजय का प्रभाव राज्यों पर पडना स्वाभाविक ही था। इस समय म.प्र कांग्रेस में दल-बदी तथा दलगत राजनीति ने विध्वसक भूमिका निभाई।

1 मई, 1977 को उपराष्ट्रपति श्री जत्ती द्वारा 9 राज्यों की विधानसभा भग करते ही दल-बदल का दौर आरम्भ हो गया। म.प्र में जनता दल भारी बहुमत से जीता और उसे दो-तिहाई स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। लेकिन केंद्र की राजनीति में नये मोड के कारण सितम्बर 1979 में म.प्र में फिर भारी दल-बदल हुआ। जनवरी 1980 में सातवें लोकसभा चुनाव में इंदिरा गाधी फिर सत्ता में आई। म.प्र में विधानसभा के चुनाव में कांग्रेस (इ) की जीत हुई और श्री अर्जुनसिंह मुख्यमंत्री बने।

मध्यप्रदेश के चारों कोनों में अलग-अलग दलों और प्रभावशाली व्यक्तियों का स्वामित्व और गढ है। यहा क्षेत्रवाद का काफी प्रभाव है। जिस क्षेत्र का मुख्यमंत्री बनता है उस क्षेत्र के विधायक उसके साथ हो जाते हैं अथवा मुख्यमंत्री अपने क्षेत्र के विधायकों को महत्त्व प्रदान करते हैं। म.प्र में गुटों की राजनीति भी है। हर दल के गुटों के अदर भी गुट बने हुए हैं। जातिवाद का भी म.प्र. की राजनीति में वर्चस्व रहा है। मुख्यमंत्रियों को सत्तारूढ कराने में इसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मुख्यमंत्रियों के सबध में प्राय ब्राह्मणवाद और जैनवाद

का बोलबाला रहा है। इन सबके अतिरिक्त प्रदेश की राजनीति में सत्ता का मोह, आपसी फूट व मतभेद, अवसरवादिता आदि संकीर्णता भी समय-समय पर दिखाई देती रही है।

## राज्य कार्यपालिका का संगठन

भारत में राज्यों के शासन की वही रूपरेखा है जो केंद्रीय शासन की है। यदि हम केंद्रीय शासन की रूपरेखा को ध्यान में रखें, तो राज्य शासन का विश्लेषण उतना ही आसान हो जायेगा। जिस प्रकार केंद्र की कार्यपालिका का प्रधान राष्ट्रपति है, वैसे ही राज्यों की कार्यपालिका का प्रधान राज्यपाल है। राष्ट्रपति के समान राज्यपाल भी मंत्रिमंडल की सहायता और सलाह से अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करता है। राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्ति का राज्यपाल में होना यह स्पष्ट कर देता है कि राज्यपाल को राज्य में वही संवैधानिक स्थान प्राप्त है जो केंद्र में राष्ट्रपति को प्राप्त है। इस प्रकार राज्यों में भी संसदीय शासन ही स्थापित किया गया है।

भारत संघ के राज्यों में कार्यपालिका की शक्तियां मुख्य रूप से तीन पदों में निहित हैं—

(1) राज्यपाल,

(2) मंत्रिमंडल,

(3) महाधिवक्ता।

इन तीनों में से राज्यपाल नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान है और मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यपालिका है, जिसमें राज्य का मुख्यमंत्री भी सम्मिलित है। राज्यपाल और मुख्यमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिमंडल का प्रमुख कार्य कानून-निर्माण, प्रशासन एवं सुव्यवस्था से संबंधित है, जबकि महाधिवक्ता का काम राज्य सरकार को विधि संबंधी प्रश्नों पर परामर्श देना है।

### राज्यपाल

राज्य के अधिकार क्षेत्र में राज्य सरकार केंद्र सरकार की प्रमाणित प्रतिलिपि है। यथार्थ में इससे राज्य सरकारों को अपने कार्यक्षेत्र के प्रत्येक विभाग में केंद्र सरकार से उदाहरण और प्रेरणा सुलभता से प्राप्त होती है। राज्य सरकार की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित है और उसी के नाम से राज्य में समस्त कानून व आदेश प्रसारित किये जाते हैं। सैद्धांतिक रूप से यदि हम देखें तो प्रतीत होगा कि 1935 के भारत सरकार अधिनियम में राज्यपाल को जो शक्तियां दी गई थीं, लगभग वैसी ही स्वतंत्र भारत में राज्यपाल को दी गई हैं। राज्य का अध्यक्ष होने के साथ-साथ पहले की तरह अब भी वह केंद्रीय सरकार के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करता है। पहले उसकी नियुक्ति केंद्र के प्रधान गवर्नर-जनरल की सलाह से सम्राट के द्वारा की जाती थी और अब भी केंद्र के प्रधान राष्ट्रपति के द्वारा इसकी नियुक्ति की जाती है। अवधि भी पहले के समान है और पहले भी अधिकांश राज्यपाल सिविल सेवा के रिटायर्ड लोगों में से होते थे। यदि शक्तियां देखें तो वह भी

संविधान में उसी तरह से लिखी हैं जैसे कि 1935 के अधिनियम में थीं।

लेकिन उपरोक्त समानता से यह नहीं समझना चाहिये कि 1935 के राज्यपाल की तरह स्वतंत्र भारत का राज्यपाल भी स्वेच्छाचारी और निरंकुश है। व्यावहारिक रूप में दोनों काल के राज्यपालों की स्थिति में बहुत अधिक अंतर है। और वह अंतर है, अनुत्तरदायित्व और उत्तरदायित्व का, परतंत्रता और स्वतंत्रता का। पहले राज्यपाल ब्रिटिश शासकों के प्रतिनिधि होते थे जो भारतीयों को अपने अधीन बनाये रखना चाहते थे। प्रांतों में स्वायत्त शासन देने पर भी राज्यपाल को इतने विशेष दायित्व दिये गये और आरक्षण व सुरक्षण की व्यवस्था की गई जिसके कारण स्वायत्तता भारतीयों की न होकर राज्यपाल की हो गई थी और उसी के हाथ में प्रांतीय शासन की समस्त वास्तविक शक्तियां एकत्रित हो गई थीं। लेकिन अब भारत में प्रजातंत्र स्थापित हो गया है, शासक और शासितों का भेद समाप्त हो गया है और भारतीयों के ही हाथ में समस्त सत्ता है। राज्यों में पूर्ण स्वायत्तता या पूर्ण उत्तरदाई सरकार सही अर्थों में स्थापित की गई है, जिसे हम संसदीय शासन भी कह सकते है। समस्त शक्तियां राज्यपाल को दी जाने पर भी वह उनका उपयोग स्वयं नहीं कर सकता है और संवैधानिक शासक के रूप में केवल उसके नाम से समस्त कार्य किये जाते हैं। राज्य की समस्त सत्ता का राज्यपाल में निहित होना यह स्पष्ट कर देता है कि राज्यपाल का राज्य में वही स्थान है जो केंद्र में राष्ट्रपति का है। दोनों की योग्यताएं, पदावधि और कुछ सीमा तक कार्यक्षेत्र भी समान है। लेकिन जहां एक ओर राष्ट्रपति निर्वाचित होता है वहां दूसरी ओर राज्यपाल की नियुक्ति की जाती है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति के लिये यह आवश्यक है कि वह हर विषय में वह अपने मंत्रिमंडल की सलाह के अनुसार ही कार्य करे। उसे स्व-विवेक से कार्य करने की छूट नहीं दी गई है। इसके विपरीत राज्यपालों को संविधान द्वारा अधिकार दिये गये हैं कि वे अपने स्व-विवेकी कार्यों को अपनी इच्छा से कर सकते हैं, इसमें मंत्रियों के परामर्श की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार केंद्र और राज्यों में समान शासन व्यवस्था होने पर भी दोनों के कार्यपालिका-अध्यक्षों की स्थिति बिल्कुल समान नहीं है। राज्यपाल का संबंध राज्य सरकार और केंद्र सरकार दोनों से रहता है और दोनों के बीच वह मध्यस्थ का कार्य करता है, किंतु यदि राज्य सरकार के परामर्श और केंद्र सरकार के आदेशों में विरोधाभास हो, तो शायद उसे केंद्र सरकार के आदेशों का ही पालन करना पड़ता है, क्योंकि अंततः वह केंद्र सरकार के प्रति उत्तरदाई होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि राज्य कार्यपालिका के संगठन में राज्यपाल का पद स्थाई है। वह राज्य कार्यपालिका का अध्यक्ष है, लेकिन वास्तविक कार्यकर्त्ता नहीं है, बल्कि राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष है।

### *मंत्रिमंडल*

राज्यों के मंत्रिमंडलों का स्वरूप प्रायः वैसा ही है, जैसा कि केंद्रीय मंत्रिमंडल का है।

संसदीय शासन प्रणाली के कारण राज्यों के राज्यपाल संवैधानिक शासक हैं और वास्तविक शक्ति मंत्रिमंडल के हाथ में है।

वास्तव में मंत्रिमंडल का निर्माण ब्रिटेन का अनुसरण और संवैधानिक विकास का परिणाम था। 1919 के अधिनियम द्वारा सर्वप्रथम भारतीयों के मंत्रिमंडल का निर्माण किया गया था और उनके हाथों में हस्तांतरित विषयों का शासन सौंपा गया था। यह मंत्रिमंडल भी प्रांतीय विधानसभा के प्रति उत्तरदाई होते थे। इसके बाद 1935 के अधिनियम में मंत्रिमंडल की शक्तियों में और अधिक विस्तार किया गया और प्रांतीय प्रशासन के समस्त कार्यों पर उसका अधिकार हो गया। जब भारत स्वतंत्र हुआ तो इसी ढंग के मंत्रिमंडल का निर्माण और कार्यप्रणाली अधिक उचित प्रतीत हुई क्योंकि इसमें कार्यपालिका के उत्तरदायित्व को प्रमुखता मिलती है, जिससे शासन में लोकप्रियता और कुशलता स्थापित होती है। ब्रिटेन में जो केबिनेट प्रणाली है, उसी के समान भारत के केंद्र और राज्यों में भी केबिनेट प्रणाली है।

संविधान के अनुसार शासन-कार्य में सहायता और परामर्श देने के लिये राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा मुख्यमंत्री की सलाह से वह अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। यह व्यवस्था केंद्र के ही समान है। संवैधानिक शब्दों में मुख्यमंत्री और मंत्रिमंडल के सदस्य राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त ही पदासीन रह सकते हैं। किंतु साथ ही संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार मंत्रिमंडल राज्य विधानसभा के प्रति उत्तरदाई है। मुख्यमंत्री विधानसभा के बहुमत दल का नेता होता है और वह तथा उसका मंत्रिमंडल तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक कि विधानसभा में उनका स्पष्ट बहुमत हो। इस प्रकार व्यावहारिक स्थिति यह है कि राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त का तात्पर्य अतत विधान सभा के प्रसाद पर्यन्त से ही है।

केंद्र और राज्यों के मंत्रिमंडल की स्थिति और संगठन समान होने पर भी इनमें कुछ अंतर है। पहला अंतर तो यही है कि राज्य के मंत्रिमंडल को यह अधिकार नहीं होता कि वह राज्यपाल को उसके सभी कर्त्तव्यों के बारे में सलाह और सहायता दे सके, जबकि केंद्रीय मंत्रिमंडल के बारे में यह माना जाता है कि वह राष्ट्रपति को उसके सभी कार्यों के संबंध में सलाह और सहायता देगा। इसके अतिरिक्त बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के मंत्रिमंडलों में जनजातियों या आदिवासियों के कल्याण के लिये एक मंत्री अवश्य होना चाहिये, लेकिन केंद्रीय मंत्रिमंडल को ऐसा कोई विशेष कर्तव्य नहीं सौंपा गया है।

वास्तव में केंद्र और राज्य दोनों में, मंत्रिमंडल सामूहिक उत्तरदायित्व के आधार पर स्थापित हैं और अपने क्षेत्र की व्यवस्थापिकाओं के बहुमत पर कार्य करते हैं। वास्तविक कार्यपालिका संबंधी शक्तियां इसी मंत्रिमंडल के हाथों में हैं। नीति निर्माण और विभागों के माध्यम से ये राज्य के शासन पर अपना नियंत्रण रखते हैं।

### महाधिवक्ता

जिस प्रकार केंद्र का विधि परामर्शदाता महान्यायवादी है उसी प्रकार राज्य का विधि

परामर्शदाता महाधिवक्ता कहलाता है। प्रत्येक सरकार को कानूनी अधिकारियों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। कानूनी अधिकारी अत्यधिक योग्य होने हैं। वे विभिन्न विधेयकों का प्रारूप तैयार करते हैं और सभी विषयों के बारे में कानूनी सलाह देते हैं। यद्यपि इस पद पर आसीन होने वाला व्यक्ति प्रख्यात कानूनी विशेषज्ञ होता है और साधारणतः कार्यशील राजनीतिज्ञ नहीं होता है फिर भी इस पद को मंत्रिपद के समान राजनैतिक पद समझा जाता है, किन्तु यह महाधिवक्ता मंत्रिमंडल का या विधानसभा का सदस्य नहीं होता।

राज्य के महाधिवक्ता की नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा होती है और वह राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहता है। संविधान की धारा 165(1) में कहा गया है—"राज्यपाल ऐसे व्यक्ति को, जिसमें उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यता हो राज्य का महाधिवक्ता नियुक्त कर सकता है।"[1]

यह धारा संविधान की धारा 76 के अनुरूप है जो केंद्र के महान्यायवादी के पद से संबंधित है। इसका तात्पर्य यह है कि इस पद की उपलब्धियां राज्यपाल द्वारा निर्धारित की जाती हैं और जो व्यक्ति उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद की योग्यता रखता है, उसे राज्य का महाधिवक्ता बनाया जा सकता है। इस प्रकार महाधिवक्ता के लिये इन योग्यताओं का होना आवश्यक है—

(1) भारत का नागरिक हो।
(2) राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय में 10 वर्ष तक वकालत की हो या 10 वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो।

संविधान की धारा 177 के अनुसार राज्य का महाधिवक्ता राज्य विधानसभा के अधिवेशन में भाग लेने और वाद-विवाद करने तथा सदन की समिति का सदस्य बनने का अधिकारी है, लेकिन सदन के मतदान में वह भाग नहीं ले सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि वह विधानसभा का सदस्य नहीं होगा, किन्तु फिर भी आवश्यकता पड़ने पर वह उसके अधिवेशनों में भाग ल सकता है और राज्य सरकार उसकी सहायता कर सकती है। अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के संबंध में उसे राज्य के सभी न्यायालयों में सुने जाने का अधिकार है।

महाधिवक्ता को वेतन और भत्ते आदि वे ही मिलते हैं जो राज्यपाल उसके लिये निर्धारित करे। राज्य सरकार जिन विषयों पर उससे परामर्श मागे, उसे देनी होती है, लेकिन राज्य सरकार उसे पूर्णरूप से मानने के लिये बाध्य नहीं है। फिर भी नैतिक रूप से वह उसके दिये गये परामर्श का सम्मान करती है। इसके अतिरिक्त उसे वे सब कार्य भी करने होते हैं जो कि उसे संविधान अथवा राज्य के अन्य कानूनों द्वारा सौंपे गये हों। उसके लिये यह उचित है कि वह प्रसिद्ध कानून-विशेषज्ञ हो जिससे कि वह अपने कर्तव्यों और दायित्वों को अच्छी तरह पूरा कर सके।

## टिप्पणियां

1 A B Lal (ed ) —'The Indian Parliament' (Allahabad, 1956), p 1

2 G K Maharana— Indian Journal of Political Science (April June 1964) p 29
3 S P Iyyer— Federalism and Social Change p 3
4 D D Basu— Commentary on the Constitution of India (II Vol III ed ) p 229
5 M P Jain— Journal of Indian Law Institute Part VI (1964) p 357
6 M C J Kagzi— The Constitution of India p 14
7 बी ए शर्मा— संघवाद और संघात्मक शासन (1953) पृष्ठ 359
8 K Santhanam— Union States Relation in India p 1
9 V Venkata Rao— Parliamentary Democracy in Asia (Delhi 1959) p 37
10 B N Rou— India s Constitution in the Making (Madras 1960) p 16
11 C Ilbert and C Carr— Parliament' (III ed Oxford University Press London 1960) p 96
12 Ivor Jennings— Cabinet Government (III ed London 1959) p 20
13 Ivor Jennings— Parliamentary Democracy Parliament (II ed London 1957) p 520
14 Hearnshaw— Democracy at the Crossway' (Chapter 7) p 10
15 Stafford Cripps— Democracy Up to Date' (II ed London 1944) p 21
16 Ivor Jennings— Cabinet Government (III ed London 1959), p 14
17 एम वी पायली —'भारत का संविधान द्वि स, 1967 पृ 20
18 Jawaharlal Nehru—'Toward Freedom' The Autobiography of Jawaharlal Nehru (New York, 1942) p 401
19 Barnett Cocks (ed )— The Law Privileges Proceedings and Usage of *Parliament (18th ed London 1971) p 3*
20 S S More— Remodelling of Democracy for Afro Asian Nations (Bombay 1962) p 60
21 M G Gupta— Parliamentary Democracy in India' The Indian Parliament Editor A B Lall, (Allahabad 1959) p 239
22 V Venkata Rao— Parliamentary Democracy in Asia (Delhi 1959) p 36
23 V M Dean—'New Patterns of Democracy in India p 67
24 Shrinivasan N —'Democratic Government in India' (1954), p 144
25 H M Patel— Cabinet Government in India Studies in Indian Democracy , Edited by S P Aiyar and R Shrinivasan (Bombay 1961) p 197
26 V Venkata Rao—'Parliamentary Democracy in Asia (1959 Delhi) p 42
27 Norman D Palmer— The Indian Political System' p 62
28 *Ibid* p 28
29 एम पी राय—'भारतीय राजनीति एव शासन' 1970, पृ 142
30 K Santhanam— Union State Relations in India p 26
31 Anil R Guha—'Prospects of Parliamentary form of Government in India 'Careers Digest' (November 1968)
32 Bharat Bhushan Gupta— Working of Parliamentary Government in India' 'Current Events' February 1968
33 Dr Ambedkar Chairman of Drafting Committee 'Seminar', November *1968* Published from New Delhi
34 Myron Weiner—'State Politics in India' (University Press 1968), p 22
35 Sushil Kumar— Panorama of State Politics , 'State Politics in India Iqbal Narain (ed ) (Meerut, 1967) p 59
36 *K V Rao—'Parliamentary Democracy of India , p 126*
37 सुभाष कश्यप— दल बदल और राज्यों की राजनीति 1970', पृ 123
38 K M Munshi—'Indian Constitutional Documents p 54

# 4

# राज्यपाल

## राज्य-कार्यपालिका के प्रधान के रूप में

सघ के समान भारत के राज्यों में भी ससदीय शासन की स्थापना की गई है। सघात्मक एव समदीय प्रणाली होने के कारण राज्यपाल को दोहरे दायित्व का निर्वाह करना होता है। एक तो वह सघ सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है, दूसरे राज्य के समदीय शासन में सवैधानिक अध्यक्ष के रूप में भी वह काम करता है। वास्तव में राज्यों में कार्यपालिका के मुख्य अग राज्यपाल और उसका मंत्रिमडल है। राज्यपाल राज्य का कार्यपालिका प्रधान है और वास्तविक कार्यपालिका मंत्रिमडल है। भारतीय संविधान की धाराए 153 से 160 राज्यपाल के पद से सबधित हैं। धारा 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल होगा। 1956 में संविधान के सातवें सशोधन में इस धारा में सशोधन किया गया था जिसके अनुसार एक व्यक्ति एक से अधिक राज्य का राज्यपाल बनाया जा सकता है। इसका प्रयोग सबसे पहले 1961 में किया गया जब आसाम में से नागालैंड पृथक् राज्य बनाया गया था और आसाम के राज्यपाल एम.एम श्रीनागेश को नागालैंड का भी राज्यपाल बनाया गया। पहले संविधान में राज्य-प्रमुख शब्द का भी प्रयोग किया गया था लेकिन सातवें सशोधन के बाद राज्य-प्रमुख शब्द हटा दिया।

संविधान की धारा 154 के अनुसार राज्य की कार्यपालिका-शक्तिया राज्यपाल को सौंपी गई हैं जिनका प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वय या अपने अधीन अधिकारियों के द्वारा करता है। राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार संविधान के प्रावधानों के अधीन उन सभी तक विस्तृत है, जिनके विषय में राज्य के विधानमडल को कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है।[1] इस प्रकार सविधान के द्वारा राज्य की कार्यपालिका की समस्त शक्तियों का प्रयोग राज्यपाल स्वय करेगा। राज्य की कार्यपालिका-शक्तिया भी अत्यन विस्तृत हैं। संविधान की धारा 162 राज्य की कार्यपालिका-शक्तियों के विस्तार से सबधित है। इस शक्ति का विस्तार उन विषयों तक है जिन पर राज्य की विधानसभाए कानून बनाती हैं। राज्य की विधानसभाए राज्य सूची और समवर्ती सूची पर कानून बना सकती हैं, लेकिन समवर्ती सूची पर बनाये गये कानून का केंद्रीय कानून के कानून से विरोध हो तो उस

विषय से राज्य-कार्यपालिका की शक्तिया स्थगित हो जायेंगी। यद्यपि राज्य विधान सभा अपनी इच्छा से केंद्रीय सरकार के कार्यों को अपने हाथ में नहीं ले सकती, लेकिन संविधान की धारा 258(2) के *अनुसार केंद्रीय ससद राज्य विधानसभा को ऐसे विषयों पर कानून* बनाने का अधिकार दे सकती है जिन पर कानून बनाने का अधिकार पहले से विधानसभा को न हो। जब इन विषयों पर विधान सभा कानून बनायेगी तब उसको कार्यान्वित करने का अधिकार स्वत ही राज्य-कार्यपालिका को प्राप्त हो जायेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य-कार्यपालिका के क्षेत्र का विस्तार सुनिश्चित रूप से वहा तक है जहा तक राज्य विधानसभा को कानून बनाने का अधिकार है। लेकिन कार्यपालिका की शक्तिया केवल यहीं तक नहीं हैं। वास्तव में व्यवस्थापिका और न्यायपालिका की शक्तियों के बाद जो शक्तिया राज्य शासन के क्षेत्र में बचती हैं वे ही कार्यपालिका की शक्तिया मानी जाती हैं। साधारणत कार्यपालिका की शक्तिया नीति बनाने और उसे कार्य रूप में परिणित करने से सबधित हैं। जो कानून बने हैं उसे कार्यान्वित कराना कानून व व्यवस्था बनाये रखना, आर्थिक और सामाजिक कल्याण को सरक्षण देना, राज्य-प्रशासन *की देखभाल व नियत्रण रखना यही कार्यपालिका से सबधित कार्य हैं। सविधान के द्वारा* ये सभी शक्तिया राज्यपाल को दी गई है जिनका प्रयोग वह स्वय या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करेगा। 'अधीनस्थ अधिकारियों' से तात्पर्य मत्रियों से है, क्योंकि भारतीय दण्ड सहिता की धारा 21 के अनुसार सरकारी कर्मचारियों की श्रेणी में वे भी सम्मिलित हैं।[2] संविधान में भी स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था की गई है कि राज्यपाल को उसके सभी कार्यों को करने में, विवेकगत कार्यों को छोडकर, मत्रिमडल सलाह और सहायता देगा।

इससे यह स्पष्ट है कि राज्यपाल ही राज्य की कार्यपालिका का प्रधान है, लेकिन वह मत्रिमडल की सलाह और सहायता से अपनी कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग करता है। *राज्य की समस्त कार्यपालिका-शक्तियों का राज्यपाल में निहित होना यह स्पष्ट कर देता* है कि राज्यपाल का राज्य में वही सवैधानिक स्थान है जो सघ में राष्ट्रपति को प्राप्त है। जिस प्रकार सघ में ससदीय शासन प्रणाली स्थापित की गई है वैसी ही राज्य में भी है। इसके अनुसार वास्तविक कार्यपालिका के साथ-साथ एक नाममात्र की कार्यपालिका भी होनी आवश्यक है, जिसमें स्थायित्व, मार्गदर्शन, अनुभव और निष्पक्षता के गुण हों। राज्यों में राज्यपाल ऐसे ही कार्यपालिका-प्रधान के रूप में है। संविधान के द्वारा राज्यों की ससदीय शासन प्रणाली में राज्यपाल का पद सवैधानिक प्रभु के समान है। यह पद ब्रिटिश शासन में सम्राट के पद के समान अथवा भारत के सघ शासन में राष्ट्रपति के पद के समान है।[3]

## नियुक्ति

*सविधान के अनुसार राज्यपाल* सघ सरकार का मनोनीत व्यक्ति होता है। उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमत्री और मत्रिमडल के परामर्श से करता है।[4] सामान्यत एक राज्य का एक ही राज्यपाल होता है किंतु यदि आवश्यक हो तो एक ही व्यक्ति को एक से अधिक

राज्य का भी राज्यपाल बनाया जा सकता है। यह एक परंपरा बन गई है कि साधारणत राज्यपाल उस राज्य से बाहर के राज्य का निवासी होना चाहिये, जिसका कि वह राज्यपाल बनता है। अब तक इसका एकमात्र अपवाद डॉ एच सी मुखर्जी थे, जिन्हें पश्चिम बगाल का राज्यपाल नियुक्त किया गया था वे उसी राज्य के निवासी भी थे।

संविधान सभा में इस प्रश्न पर पर्याप्त मतभेद था कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाए, या निर्वाचन द्वारा, प्रारम्भ में संविधान निर्माताओं ने निश्चय किया था कि प्रत्येक राज्य का राज्यपाल निर्वाचित होगा। यह निश्चय उनकी इस धारणा के अनुकूल था कि प्रत्येक राज्य को सघ की इकाई होने के नाते अधिक से अधिक स्वायत्तशामी बनना चाहिये। इस विषय में वे सयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों के राज्यपाल की स्थिति से बहुत प्रभावित थे, जिसका निर्वाचन उस राज्य की जनता के द्वारा किया जाता है। अमेरिका के प्रत्येक राज्य का राज्यपाल उस राज्य की जनता द्वारा निर्वाचित होता था। प्रत्येक दल अपने-अपने प्रत्याशी को मनोनीत करके राज्यपाल के निर्वाचन में भाग लेते हैं।' भारत के सविधान निर्माताओं ने राज्यपाल के निर्वाचन व्यवस्था के तीन विकल्प बताये–

(1) राज्यपाल का निर्वाचन राज्य की वयस्क जनता के द्वारा हो,

(2) राज्य विधान सभा राज्यपाल का निर्वाचन करे या,

(3) राज्य की विधानसभा राष्ट्रपति को राज्यपालों के नाम की एक सूची दे और उसमें से किसी एक को राष्ट्रपति राज्यपाल नियुक्त कर दे।

जुलाई 1947 की संविधान सभा की प्रातीय संविधान समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया था कि राज्यपाल उस राज्य के नागरिकों द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हों और बाद में उनका पुनर्निर्वाचन भी हो सकता है। लेकिन जब मई 1949 में अंतिम रूप से इस विषय पर वाद-विवाद हो रहा था, तब संविधान सभा के अधिकाश सदस्यों का विचार-परिवर्तन हो चुका था और निर्वाचन की अपेक्षा उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति को अधिक उचित समझा। उस सभा में जवाहरलाल नेहरु ने कहा–"इस अवधि में हमें काफी कटु अनुभव प्राप्त हो चुके हैं–और हमने यह विचार किया है कि इसमें परिवर्तन करना आवश्यक है।'"

संविधान सभा ने अपने पूर्व निर्णय को बदल कर राष्ट्रपति के द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति के पक्ष में अपना निर्णय दिया। उसके कई कारण हैं'–

(1) यह राज्य सरकार पर केंद्र सरकार के नियत्रण में सहायक होगा, जो कि सपूर्ण भारत की एकता के लिये आवश्यक है। राज्यपाल की नियुक्ति जब राष्ट्रपति द्वारा होगी तो केंद्र और राज्यों को और अधिक निकट आने का अवसर प्राप्त होगा।

(2) ससदीय शासन व्यवस्था में राज्यपाल का निर्वाचन उपयुक्त नहीं हो सकता। यदि राज्यपाल सीधे जनता द्वारा निर्वाचित होगा तो वह अपने पद में निहित शक्तियों का स्वय प्रयोग करेगा और सवैधानिक राज्याध्यक्ष के रूप में न रहकर राज्य सरकार का मुखिया

ही बन जायेगा।

(3) यदि राज्यपाल का जनता द्वारा निर्वाचन होगा तो राज्यपाल और मंत्रिमडल में परस्पर स्पर्धा उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि मंत्रियों का निर्वाचन भी जनता द्वारा ही होता है। *अमेरिका की तरह राज्यपाल के निर्वाचन की व्यवस्था सविधान ने नहीं की है।* क्योंकि यदि राज्यपाल और मुख्यमत्री दोनों ही जनता से निर्वाचित होते तो जनता के प्रतिनिधि के रूप में किसी भी विषय में अपना आत्मसमर्पण नहीं करते ऐसी स्थिति में राज्य प्रशासन में गतिरोध उत्पन्न हो सकता था।'

(4) राज्य विधानसभा द्वारा भी राज्यपाल का निर्वाचन उचित नहीं है क्योंकि *राज्यपाल का निर्वाचन करने में विधानसभा के जो दल सहायक होंगे, उनके हाथों राज्यपाल* का कठपुतली मात्र बन जाना बहुत सभव है। उसका निर्वाचन स्थायी भी नहीं होता, इसलिये पुनर्निर्वाचिन की आकाक्षा में विधानमण्डलीय बहुसख्यक दलों को प्रसन्न रखने की चेष्टा करना उसके लिये स्वाभाविक ही होगा।

(5) राज्यपाल को यदि राजनैतिक दलबदी से अलग और निष्पक्ष रखना है तो उसकी *नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ही ठीक है। उसी राज्य का निवासी यदि राज्यपाल के रूप में* निर्वाचित होगा तो वह स्थानीय राजनीति एव दलबदी से अलग नहीं रह सकता है।

(6) राज्यपाल के निर्वाचन की व्यवस्था भारत की केंद्रीकृत सघीय व्यवस्था के अनुकूल नहीं होगी। यदि राज्यपाल राज्य का प्रतिनिधि होगा तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य की जनता से अपनी सत्ता प्राप्त करेगा। यदि सघ और राज्य में किसी प्रकार का *विवाद उत्पन्न हो तो ऐसा राज्यपाल सघ सरकार का आज्ञाकारी सेवक, अथवा सघ सरकार* का कार्य करने के लिये एक सुलभ उपकरण सिद्ध नहीं होगा। इसके विपरीत ऐसा राज्यपाल निश्चय ही अपने राज्य में सघ सरकार के अधिकारों की वृद्धि को रोकने का प्रयास करेगा। यदि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी, तो राज्यों पर सघ सरकार का नियत्रण रह सकता है।

(7) *यद्यपि भारत में भी अमेरिका की तरह सघात्मक व्यवस्था है* जिसमें राज्यों का अधिकार क्षेत्र सविधान के द्वारा अलग कर दिया गया है, किंतु भारत और अमेरिका की शासन प्रणाली में बहुत अतर है। अमेरिका में शक्ति पृथक्करण के आधार पर सघ व राज्यों में अध्यक्षात्मक शासन है, जिसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को अलग रखा जाता है। वहा निर्वाचित राज्यपाल राज्य के वास्तविक अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। किंतु भारत के सघ व राज्यों में ससदीय शासन है, जो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के घनिष्ठ सबध पर आधारित है। उत्तरदाई मंत्रिमडल, जो कि वास्तविक कार्यपालिका है और निर्वाचित भी है, इसके साथ राज्यपाल के निर्वाचित होने में कोई तथ्य नहीं है।

(8) भारत के सविधान में सकटकालीन व्यवस्था भी रखी गई है, जिसकी घोषणा के साथ राज्य शासन पर केंद्र सरकार का नियत्रण अधिक दृढ हो जाता है और सघीय शासन

व्यवस्था प्राय लुप्त हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति द्वारा अर्थात् सघ सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपाल ही इस एकात्मकता के उपयुक्त हो सकता है, जो कि सघ सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राष्ट्रपति के आदेशानुसार कार्य करे।

(9) यदि राज्यपाल को केवल नाममात्र का ही अध्यक्ष रहना है, तो उसके लिये निर्वाचन की खर्चीली प्रक्रिया में से गुजरने का कोई तुक ही नहीं है। अधिक उचित यह होगा कि उसकी नियुक्ति सीधे राष्ट्रपति द्वारा कर दी जाए।

(10) प्रारम्भ में संविधान निर्माता एक अशक्त सघ तथा शक्तिशाली राज्यों के पक्ष में थे। किन्तु धीरे-धीरे उनका यह विचार शक्तिशाली सघ और अशक्त राज्यों के पक्ष में परिवर्तित हो गया। संविधान के आधारभूत ढाचे में इस परिवर्तन के कई कारण हैं। देश का विभाजन तथा उसके कारण उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याए, खाद्य सकट, सपूर्ण देश के लिये आर्थिक तथा सामाजिक सुधार की योजना, प्रांतीयता का विकास तथा प्रांतीय मंत्रिमण्डलों के अस्थायित्व की सभावना इसके मुख्य कारण थे। देश की अभिनव स्वतत्रता की रक्षा तथा देश के आयोजित एव सफल विकास के लिये केंद्रीय सत्ता का शक्तिशाली होकर राज्यों का मार्ग निर्देशन करना आवश्यक समझा गया। इस प्रकार की व्यवस्था के लिये निर्वाचित राज्यपाल के स्थान पर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत एवं नियुक्त राज्यपाल अधिक वाछनीय था।

(11) राष्ट्रपति की तरह राज्यपाल भी सवैधानिक अध्यक्ष की स्थिति में कार्य करेगा। यदि राज्य की राजनैतिक स्थिति स्थायी है और मंत्रिमडल का विधानसभा में स्पष्ट बहुमत है तो राज्यपाल के कार्य में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की सभावना नहीं है। किन्तु राज्य में सवैधानिक शासन के असफल होने पर राज्यपाल की स्थिति में बहुत परिवर्तन आ जाता है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल को सघीय कार्यपालिका के आदेशानुसार राज्य का कार्य सचालन करने की आवश्यकता होती है। एक निर्वाचित राज्यपाल की अपेक्षा नियुक्त राज्यपाल ही इस कार्य को अधिक अच्छी तरह कर सकेगा, जिस पर सघ सरकार को भी विश्वास रहेगा।

इन सब तथ्यों के आधार पर संविधान सभा ने यही निश्चित किया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी। संविधान सभा इस विषय में कनाडा के संविधान से विशेष रूप से प्रभावित हुई है, जहा कि केंद्र अत्यत शक्तिशाली है। कनाडा का गवर्नर-जनरल वहा के प्रांतों के राज्यपालों की नियुक्ति करता है और वे उसके अनुग्रह काल तक ही पदासीन रहते हैं। कनाडा की सघीय व्यवस्था के सचालन में इस उपबध से कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई, वरन् अनेक अवसरों पर यह लाभप्रद ही सिद्ध हुई है। अलादी कृष्णास्वामी अय्यर के शब्दों में–"समरूपता की प्राप्ति के लिये, अच्छे कार्य सचालन के लिये, राज्यपाल तथा मंत्रिमडल के सबधों को दृढ़ एव उपयोगी बनाने के लिये यही अच्छा है कि हम कनाडा के संविधान के अनुरूप ही व्यवस्था करें।"*

वर्तमान समय में भी हम देखें, तो कई बार राज्यपाल को निर्वाचित कराने की माग

को दोहराया गया है। जो लोग राज्यपाल के निर्वाचन के पक्ष में हैं उनके तर्क इस प्र
हैं"—

(1) राज्य से बाहर का मनोनीत राज्यपाल उस राज्य की स्थानीय परिस्थिति
आवश्यकता की उपेक्षा करेगा और जिस जनता के बारे में वह कुछ नहीं जानता है उ
अधिकतम भलाई के लिये भी वह कुछ नहीं कर पायेगा।

(2) जिस केंद्र की बहुमत दल सरकार ने राज्यपाल को मनोनीत किया है, यदि उ
विरोधी दल की सरकार राज्य में स्थापित हो तो उससे केंद्र और राज्य में एकता बढ़ने
स्थान पर और अधिक विरोध उत्पन्न हो जायेगा। वास्तव में अब इस तर्क के तथ्य स
आ रहे हैं। जब तक केंद्र और राज्य में एक ही दल का बहुमत था, तब तक मनो
राज्यपाल से दोनों के सपर्क और निकट के बने हैं, लेकिन आवश्यक नहीं है कि ऐसी स्थि
सदा ही बनी रहे। उदाहरण के लिये पश्चिम बगाल में राज्य सरकार तथा तत्कार
राज्यपाल श्री धर्मवीर में कभी भी वांछित सहयोग स्थापित नहीं हो पाया था। राज्यों
इससे यह अनुभव हो सकता है कि राज्यपाल को नियुक्त करके केंद्र उनकी स्वतत्रता
सीमित करना चाहता है।

(3) यह कहा जाता है कि निर्वाचित राज्यपाल निष्पक्ष नहीं रह पायेगा और दल
से अलग नहीं रहेगा लेकिन राष्ट्रपति प्रधानमत्री की सलाह से जिस राज्यपाल को नियु
करेगा वह अवश्य ही केंद्रीय सरकार के दल का विश्वसनीय व्यक्ति होगा और इस प्र
से नियुक्त किया गया राज्यपाल भी निष्पक्ष और दलबदी से अलग नहीं रह सकता

(4) राज्य के कार्यपालिका अध्यक्ष राज्यपाल को अपनी ही इच्छा से नियुक्त क
का अधिकार प्रधानमत्री और राष्ट्रपति को नहीं होना चाहिये, बल्कि राज्यपाल को उसी रा
द्वारा निर्वाचित होना चाहिये, जिस राज्य का उसे अध्यक्ष बनाना है।

(5) राज्यपाल का निर्वाचन न करवा कर उसकी नियुक्ति करना सर्वथा अप्रजातां
है।

किंतु यदि निर्वाचन एव राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति दोनों के पक्ष-विपक्ष में तुलना क
तो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति ही अधिक उचित प्रक्रिया है। विधानसभा द्वारा राज्यपालों
नाम की सूची प्रस्तावित करने की प्रक्रिया में भी लाभ की अपेक्षा हानि अधिक थी। क
सरकार के लिये उन तीन-चार लोगों में से किसी एक का नाम, राज्य में किसी को
अप्रसन्न किये बिना, चुना लेना बडा कठिन काम होता। विधान सभा के राजनैतिक द
द्वारा नाम निर्धारित करने से राज्यपाल का पद भी राजनैतिक हो जाता। राज्यपाल त
स्थानीय राजनीति और दलबदी से दूर रह सकता है, तटस्थ व निष्पक्ष बन सकता है, अ
सघ को राज्य से जोडने की कडी का काम कर सकता है, जबकि उसकी नियुक्ति क
सरकार द्वारा हो।

राज्यपाल की नियुक्ति के सबध में पिछले वर्षों में यह स्वस्थ परपरा बन गई है।

राज्यपाल न केवल केंद्रीय सरकार का मनोनीत व्यक्ति होगा बल्कि वह सबंधित राज्य द्वारा भी मान्य व्यक्ति होगा। इस उद्देश्य से केंद्रीय सरकार नये राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सबंधित राज्य के मत्रिमडल से परामर्श करती है और ऐसे व्यक्ति को मनोनीत किया जाता है जो उस राज्य के अध्यक्ष के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन अच्छी तरह कर सके, जा मत्रियों का योग्य परामर्शदाता बनकर राज्य की राजनैतिक समस्याओं के समाधान में सहायक हो सके।"

इस प्रकार नियुक्ति की जो पद्धति संविधान निर्माताओं द्वारा अपनाई गई, वह प्रारम्भ में सोची गई विविध पद्धतियों से कहीं उत्तम है।

एक और परपरा भी स्थापित हो चुकी है जिसने राज्यपाल को राजनीति एव दलबदी से अलग रखने में काफी सहायता की है। इसके अनुसार जिस व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त किया जाता है वह प्राय किसी अन्य राज्य का निवासी होता है, और इसलिये वह उस राज्य की दलबदियों से अलग रहता है। यह परपरा वास्तव में लाभप्रद सिद्ध हुई है, क्योंकि इससे राज्यपाल स्थानीय राजनीति से अलग रहता है, साथ ही राज्य की समस्याओं तथा राज्य एव सघ के सबधों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का निष्पक्ष एव अनासक्त भाव से विश्लेषण कर सकता है।

विगत वर्षों से राज्यपाल के पद को देखने से स्पष्ट है कि इस पद पर विशेष योग्य, विस्तृत अनुभव वाले, जो दलबदी से अलग तटस्थ भाव लेकर आगे बढ़े हैं और राज्याध्यक्ष के रूप में महत्वाकांक्षी न हों, ऐसे व्यक्ति नियुक्त हुए हैं। अब तक जितने भी राज्यपाल नियुक्त हुए हैं उनमें से कई महिलाएं भी थीं। इनके अतिरिक्त भूतपूर्व मुख्यमत्री, भूतपूर्व केंद्र मत्री, भूतपूर्व राजनीतिज्ञ, कुशल शिक्षा शास्त्री, इंजीनियर, उच्च प्रशासकीय अधिकारी, लोकसभा का स्पीकर, उद्योग क्षेत्र में कुशल व्यक्ति, भूतपूर्व विदेशी राजदूत और सेवा-निवृत्त सैनिक जनरल इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में से राज्यपाल नियुक्त किये जा चुके हैं। इनमें से कुछ राज्यपाल ऐसे हैं जो दो राज्यों में इस पद पर रहे। राज्यपालों में अधिकाश ऐसे थे, जो 70 वर्ष से अधिक आयु वाले थे। राज्यपाल के पद के लिये कई बार आलोचना भी की जाती है कि यह पद या तो वृद्ध कांग्रेसियों को लाभ पहुचाने के लिये, या निर्वाचन-क्षेत्र से चुनाव में हारे हुए लोगों को लाभ पहुचाने के लिये है। राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में संविधान में कुछ भी नहीं कहा गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि जितने भी राज्यपाल राज्यों में नियुक्त हुए थे अतत केंद्रीय सत्तारूढ दल के कृपापात्र रहे। सन् 1967 के आम चुनाव से पूर्व केंद्र तथा राज्यों में कांग्रेस का एकाधिकार रहा। इसलिये राज्यपाल की नियुक्ति में कोई व्यवधान ही उत्पन्न नहीं हुआ। दलीय अनुशासन के नाम से कांग्रेस हाई कमाण्ड एव केंद्रीय सरकार के निर्देशनों का राज्य की कांग्रेस सरकारों ने अक्षरश पालन किया। ऐसे व्यक्ति भी राज्यपाल नियुक्त किये गये जो चुनाव में पराजित हो गये थे या जिनकी वजह से राज्य में राजनैतिक स्थिति विवाद का विषय बन गई थी।[12] वैसे जनजीवन के हर

क्षेत्र में से राज्यपाल नियुक्त किये जा सकते हैं। लोकसभा के स्पीकर को राज्यपाल बनाने की व्यवस्था का भी स्वागत किया गया, लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि किसी के भी राजनैतिक जीवन का चरम विकास स्पीकर बनने पर होता है और इसके बाद स्पीकर को अन्य पद ग्रहण नहीं करना चाहिये। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अधिकाश राज्यपाल अपनी विशिष्ट योग्यता, अनुभव, चारित्रिक उच्चता एव उच्च स्थिति के कारण ही नियुक्त किये गये हैं।

1967 में राज्यपालों का जो सम्मेलन दिल्ली में हुआ, उसमें राज्यपाल की नियुक्ति पर भी चर्चा की गई। यह प्रश्न भी खासतौर पर इसलिये पैदा हो गया कि कुछ मुख्यमत्री राज्यपाल की नियुक्ति में केंद्र का षड्यत्र देखने लगे थे। यदि एक ओर बगाल में एक अराजनैतिक अर्थात् नागरिक सेवा से सम्बद्ध आई सी एस राज्यपाल धर्मवीर की नियुक्ति पर रोष प्रकट किया गया, तो दूसरी ओर राजनीति के एक व्यक्ति नित्यानद कानूनगो के बिहार का राज्यपाल नियुक्त होने पर नाराजगी प्रकट की गई। बिहार के मुख्यमत्री महामायाप्रसाद सिंह का कहना था कि नियुक्ति के पहले केंद्र द्वारा सबधित राज्य में परामर्श करने की परपरा रही है।" बिहार राज्य राज्यपाल के पद पर श्री कानूनगो की नियुक्ति के पक्ष में नहीं था, लेकिन केंद्र ने उसकी इच्छा पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने कहा कि सन् 1947 में बिहार के मुख्यमत्री श्री कृष्ण सिंह ने जयरामदास दौलतराम के राज्यपाल के रूप में नियुक्ति पर असहमति जाहिर की थी और उनकी बात मान ली गई थी। वास्तविकता यह है कि राज्यपाल की नियुक्ति में सबंधित राज्य से सलाह लेने की कोई कानूनी बाध्यता नहीं है, लेकिन यदि पिछले वर्षों में राज्यों से इस तरह की सलाह ली गई तो सिर्फ इसलिये कि यह एक शिष्टता थी। उसमें यह उद्देश्य भी छिपा हुआ था कि सहमति प्राप्त राज्यपाल राज्य-विशेष में अपने दायित्वों का पालन करने में सुविधा का अनुभव करेगा। सही अर्थों में प्रश्न उस राज्य-विशेष की सहमति का नहीं है। यदि केंद्र और राज्यों में भिन्न राजनैतिक दलों की सरकारें हुईं, तो बहुधा राज्यपाल को नियुक्त करने में दोनों की राय एक नहीं हो पायेगी। संविधान के अनुसार केंद्रीय सरकार मुख्यमत्री की इच्छा न होने पर भी किसी व्यक्ति-विशेष को उस राज्य का राज्यपाल नियुक्त करने में समर्थ है। वास्तव में गृहमत्री को यह सिद्धात बना लेना चाहिये कि राज्यपाल की नियुक्ति में योग्यता प्रमुख तत्त्व रहे न कि राजनीति। राज्यपाल की नियुक्ति में यदि व्यक्ति-विशेष और राजनीति से अधिक महत्त्व योग्यता, परिपक्वता, निष्पक्षता और प्रशासकीय अनुभव को दिया जाये तो केंद्र और राज्य में तनाव के कम अवसर उत्पन्न होंगे।

राज्यपाल राष्ट्रपति का प्रतिनिधि होता है और उस रूप में वह किसी भी तरह की राजनीति से पृथक् रहता है। लेकिन उसकी नियुक्ति के विषय में पिछले कुछ वर्षों में जिस तरह की नीति का परिचय दिया गया, उसका परिणाम यह हुआ कि सत्तारूढ दल के अर्थात् काग्रेस के ऐसे लोग भी इस पद पर आसीन हुए, जो या तो चुनाव में किन्हीं कारणों से

पराजित हो गये, या उनके कारण से राज्य की राजनीतिक स्थिति विवाद का विषय बन गई थी। ऐसे लोगों को राज्यपाल के पद पर नियुक्त करने का परिणाम यह हुआ कि, क्योंकि वे पहले से ही राजनीति से सम्बद्ध व्यक्ति थे इसलिये, राज्यपाल के दायित्वों का पालन करने में जाने-अनजाने उनके पूर्वाग्रह सामने आ गये और उनसे कई समस्याएं उत्पन्न हो गईं।[14]

जब तक केंद्र में कांग्रेस का बहुमत है तब तक वह राज्यपाल की नियुक्ति में अपनी इच्छा से नाम चुन सकती है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि सदैव इसी प्रकार की स्थिति रहे। यह कांग्रेस के ही हित में है कि अपने अनुकूल दिनों में वह राज्यपाल को मनोनीत करने में स्वच्छ परंपरा को विकसित करे। राज्यपाल के पद के संबंध में स्वस्थ परंपराएं विकसित करने में न केवल राज्यपाल के पद की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और जनता का उसमें विश्वास उत्पन्न होगा, बल्कि इससे केंद्र सरकार की भी प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

हमारा संविधान राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में केवल राष्ट्रपति को ही अधिकार देकर संघात्मक सिद्धांत से पृथक् है, राज्यों को इस विषय में कोई भी अधिकार नहीं दिये गये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में कोई भी राज्य का राज्यपाल विधानमंडल द्वारा महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा या उस राज्य के लोकमत द्वारा, जिनमें कि ऐसा उपबंध किया गया है, अपने पद से हटाया जा सकता है। भारत में राष्ट्रपति को हटाने के विषय में भी महाभियोग की प्रक्रिया को अपनाया गया है। लेकिन भारत में राज्यों के राज्यपालों को हटाने का अधिकार राज्य के विधानमंडल, मंत्रिमंडल अथवा लोकमत को नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति के द्वारा ही राज्यपाल को पद से हटाया जा सकता है। इस प्रकार राज्यपाल की नियुक्ति और पदच्युति के विषय में भारत अन्य संघीय राज्यों से पृथक् है।

श्री नेहरु ने भी राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति पर अपने विचार-व्यक्त करते हुए कहा था कि यदि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तो केंद्र और राज्यों में एकरसता स्थापित होने की संभावना अधिक बढ़ जायेगी। उन्होंने कहा कि हम लोग इस बात का प्रयास कर रहे हैं कि जिन तत्त्वों से पृथकता की भावना बढ़े या उत्तेजित हो, उनका उन्मूलन कर दें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हम लोगों ने निश्चय किया है कि जातिवाद और गुटबंदी को रोकने का प्रयास करेंगे। इसीलिये हमने प्रथम सांप्रदायिक निर्वाचनों को समाप्त कर दिया है।[15] इसके अतिरिक्त अभी हमें बहुत-सी ऐसी चीजों का उपचार करना है जो पृथकता की भावनाओं को उत्तेजित करती हैं। इनका उपचार केवल कानून और न्यायालयों से नहीं हो सकता बल्कि हृदय और मस्तिष्क पर प्रभाव डालने से हो सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ आचरण और परिपाटियां भी इस भावना को जागृत और दबाने में योग देती हैं। उन्होंने यह भी कहा कि यदि राज्यपाल की नियुक्ति निर्वाचन के द्वारा होगी, तो राज्यों में केंद्र के स्वतंत्र रूप में काम करने की अधिक प्रवृत्ति होगी। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपाल केंद्र और राज्य के बीच संयोजक व्यक्ति होगा।

उपरोक्त बातों से यदि हम ऐसा निष्कर्ष निकालें कि राज्यपाल के पद पर बिना दलों का विचार किये एक अनुभवी, दूरदर्शी, संकट के समय उचित निर्णय लेने वाले और केंद्र व राज्य सरकार दोनों को स्वीकार्य व्यक्ति की नियुक्ति होनी चाहिये, तो अनुचित न हो। यदि वर्तमान प्रवृत्ति अर्थात् निर्वाचन में हारे हुए कांग्रेसियों की, या जिनकी कहीं भी खपत नहीं है उनकी या अवकाश-प्राप्त भारतीय सेवाओं के सदस्यों को नियुक्त करने की प्रवृत्ति चलती रही, तो यह देश के लिये हितकारक नहीं होगी, क्योंकि जैसे-जैसे समय बीतता जायेगा, देश के सामने अनेक प्रकार की समस्याएं आती जायेंगी और दूरदर्शी व योग्य व्यक्ति ही उन समस्याओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं न कि राजनीति के तलछट या कचरा लोग।

## निर्धारित योग्यताएं

संविधान के द्वारा राज्य के कार्यपालिका अध्यक्ष राज्यपाल की लगभग वही योग्यताएं निर्धारित की गई हैं जो संघ के कार्यपालिका अध्यक्ष राष्ट्रपति की हैं। जैसे राष्ट्रपति के लिये भारत का नागरिक होना और कम से कम 35 वर्ष की आयु होना आवश्यक है, उसी प्रकार संविधान की धारा 157 के अनुसार ऐसा कोई भी व्यक्ति राज्यपाल के रूप में नियुक्ति का पात्र नहीं है जो भारत का नागरिक न हो और जिसकी आयु 35 वर्ष की पूरी न हो चुकी हो।"

संविधान के द्वारा राज्यपाल के पद के लिये कुछ शर्तें भी बताई गई हैं, उनके पूरा होने पर ही किसी व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जा सकता है। संक्षेप में राज्यपाल बनने के लिये निम्नलिखित योग्यताएं होनी चाहिये–

(1) वह भारत का नागरिक हो–संपूर्ण भारत के किसी भी भाग में रहने वाले व्यक्ति को जो भारत का नागरिक हो, किसी भी राज्य का राज्यपाल बनाया जा सकता है। अमेरिका के राज्यों के राज्यपाल की तरह भारत में आवश्यक नहीं है कि वह उसी राज्य का निवासी हो जिस राज्य का राज्यपाल उसे बनाना हो। साधारणत भारत में यह परंपरा विकसित हो चुकी है कि किसी व्यक्ति को जिस राज्य का राज्यपाल बनाया जावे, वह उस राज्य का निवासी न होकर किसी अन्य राज्य का निवासी हो।

(2) उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो–राज्यपाल राज्य का कार्यपालिका अध्यक्ष होता है और उसका पद अत्यंत सम्मान व प्रतिष्ठा का होता है। इस पद पर अनुभवी एवं परिपक्व व्यक्ति ही उचित प्रकार से अपने कर्तव्य का निर्वाह कर सकता है। संविधान के अनुसार राज्यपाल के लिये कम से कम 35 वर्ष की आयु होनी चाहिये। अभी तक जो भी राज्यपाल नियुक्त किये गये हैं उनमें से अधिकांश की आयु 60 से लेकर 70 वर्ष रही है।

(3) वह भारत संघ और उसके अंतर्गत किसी राज्य के व्यवस्थापन विभाग के किसी भी सदन का सदस्य न हो–इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति एक ही समय में राज्यपाल और संसद के दोनों सदनों में से किसी एक का अथवा राज्यों के विधानमंडल के किसी सदन

का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो ससद या विधानमडल का सदस्य हो, राज्यपाल नियुक्त कर दिया जाये तो ससद या विधानमडल में उसका स्थान उसी दिन से रिक्त हो जायेगा, जिस दिन से वह राज्यपाल का पद ग्रहण करेगा।"

(4) राज्यपाल किसी लाभ के पद पर नहीं रह सकता–यह भी आवश्यक है कि राज्यपाल भारत सघ सरकार अथवा उसके अतर्गत किसी राज्य सरकार के अधीन ऐसा पद ग्रहण न किये हो, जिससे उसे वेतन मिलता हो या अन्य कोई आर्थिक लाभ होता हो। स्थायी कर्मचारियों के राज्यपाल नियुक्त हो जाने पर कोई प्रतिवध नहीं है, लेकिन राज्यपाल बनने के बाद उन्हें अपना कर्मचारी पद छोडना पडेगा। पजाब के प्रथम राज्यपाल श्री चदूलाल त्रिवेदी ऐसे ही स्थायी सरकारी कर्मचारियों में से नियुक्त किये गये थे।

इन सामान्य योग्यताओं के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि राज्यपाल पद के प्रत्याशी में चरित्र व मस्तिष्क की योग्यता हो, क्योंकि राज्यपाल का पद राज्य का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण पद है जिसे साधारण योग्यता वाले व्यक्ति को नहीं सौंपा जा सकता। भारत विभिन्न भाषा व सस्कृति से पूर्ण राज्यों का एक सघ है और चूंकि राज्यपाल को अनेक औपचारिक कार्य भी करने पड़ते हैं, इसलिये उसके लिये यह वाछनीय है कि वह उस राज्य की सस्कृति से परिचित हो और उस राज्य के निवासियों के अनुरूप अपने आपको ढाल सके। राज्यपाल को अनेक ऐसे अवसर आ सकते हैं जब कि उसे अपने विवेक से तुरत निर्णय लेना पडे इसलिये उसके लिये बुद्धि की सजगता भी अनिवार्य है जिससे वह तत्काल निर्णय लेने में भी सविधान का उल्लघन न करे।

चूंकि राज्यपाल राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किया जाता है, इसलिये भारत सरकार की दृष्टि में जो व्यक्ति योग्य हो और सविधान की शर्तों को पूरा करते हों, उन्हें जीवन के किसी भी क्षेत्र में से लिया जा सकता है। उदाहरण के लिये, अभी तक जो राज्यपाल नियुक्त किये गये वे विभिन्न क्षेत्रों के थे। केंद्र के भूतपूर्व मत्री, राज्यों के भूतपूर्व मुख्यमत्री, सर्वोच्च न्यायालय के रिटायर्ड मुख्य न्यायाधीश, निर्वाचन में हारे हुए उम्मीदवार, शिक्षा-शास्त्री, व्यापारी, रिटायर्ड उच्च प्रशासकीय अधिकारी, रिटायर्ड उच्च सैनिक अधिकारी, किसी को भी राष्ट्रपति राज्यपाल बना सकता है। राज्यपाल को जो कार्य करने हैं उनके लिये केवल सवैधानिक योग्यताए ही पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि साथ ही ऐसा व्यक्ति चाहिये जो राज्य के लोगों और केंद्र के प्रशासकों के हृदयों में सम्मानपूर्ण स्थान रखता हो। चौथे चुनाव के बाद गैर-काग्रेसी सरकारें तो बनी थीं, लेकिन गैर-काग्रेसी राज्यपाल नहीं बने।

## कार्यकाल

राष्ट्रपति के कार्यकाल की तरह राज्यपाल का कार्यकाल भी 5 वर्ष का है। कोई भी राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त और इच्छापर्यन्त ही अपने पद पर रह सकता है। 5 वर्ष से पूर्व भी वह किसी भी समय पद पर से हटाया जा सकता है या राष्ट्रपति को अपने हस्ताक्षर के साथ त्यागपत्र देकर भी राज्यपाल अपने पद से अलग हो सकता है। पाच वर्ष

की अवधि समाप्त होने पर भी राज्यपाल तब तक पद पर रहता है जब तक राष्ट्रपति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर नियुक्त न कर दिया जाए और वह पद ग्रहण न कर ले। राष्ट्रपति राज्यपाल के कार्यकाल को बढ़ा भी सकता है और ऐसा प्राय हुआ भी है।

इस प्रकार यद्यपि संविधान ने राज्यपाल का कार्यकाल 5 वर्ष का रखा है किंतु इस विषय में वह वास्तव में राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही रहता है। ऐसा कितनी ही बार हुआ है जबकि राज्यपाल का कार्यकाल बढ़ा दिया गया है, कम कर दिया गया है या उसे फिर से पुनर्स्थापित कर दिया गया है। यह भी आवश्यक नहीं है कि एक राज्यपाल उसी राज्य में 5 वर्ष तक कार्य करे। यदि आवश्यक हो तो उसे दूसरे राज्य में भी स्थानान्तरित किया जा सकता है। श्री भीमसेन सच्चर उड़ीसा में राज्यपाल के पद पर अगस्त 1956 से मई 1957 तक केवल 10 महीने रहे और उसके बाद उन्हें आंध्र प्रदेश के राज्यपाल के पद पर भेज दिया गया। यह भी आवश्यक नहीं है कि केवल पाच वर्ष तक ही एक राज्यपाल उस राज्य में रहे। वह पाच वर्ष से अधिक समय तक भी उसी राज्य में राज्यपाल के पद पर रह सकता है। उदाहरण के लिए, पद्मजा नायडू पश्चिम बगाल के राज्यपाल के पद पर और श्री पाटस्कर तथा उनके बाद श्री रेड्डी मध्यप्रदेश के राज्यपाल के पद पर 5 वर्ष से भी अधिक समय तक रहे।

राज्यपाल के कार्यकाल को निश्चित करने में कई बार राष्ट्रपति की इच्छा के साथ-साथ उस राज्य की सरकार की इच्छा अथवा राजनैतिक परिस्थितिया भी प्रभावकारी रहती हैं। जैसे पश्चिम बगाल की सरकार की इच्छा के कारण ही श्रीमती पद्मजा नायडू की अवधि बढ़ाई गई थी। पजाब के भूतपूर्व राज्यपाल श्री गाडगिल की अवधि भी राजनैतिक कारणों से बढ़ाई गई थी। इसी प्रकार यू पी के भूतपूर्व राज्यपाल श्री गिरि का स्थानातरण केरल और केरल के भूतपूर्व राज्यपाल श्री राव का स्थानातरण यू पी में करने के पीछे भी यही तत्त्व काम कर रहे थे। राजनैतिक परिस्थितियों के कारण ही पश्चिम बगाल में श्री धर्मवीर को राज्यपाल बनाये रखने की केंद्र सरकार की इच्छा होने पर भी राज्य सरकार की माग और विरोध के कारण राज्यपाल पद पर श्री धर्मवीर को बनाये रखना दूभर हो गया था।

यदि किसी राज्य के राज्यपाल का पद किसी कारण से 5 वर्ष से पूर्व रिक्त हो जाता है, तो संविधान की धारा 160 के अतर्गत यह व्यवस्था की गई है कि किसी आकस्मिकता में किसी राज्य के राज्यपाल के कार्यों के निर्वहन के लिये अथवा किसी राज्यपाल की अनुपस्थिति में उसके कार्यों के निर्वहन के लिये राष्ट्रपति जैसा उचित समझे वैसी व्यवस्था कर सकेगा। राज्यों में उप-राज्यपाल का पद आवश्यक नहीं होने के कारण स्थापित नहीं किया गया।

## वेतन एवं भत्ता

संविधान के अनुसार राज्यपाल को वे सभी सुविधाए, वेतन और भत्ते पाने का

अधिकार है जो समद द्वारा निर्धारित किये गये हों। इसके अतिरिक्त राज्यपाल को वे भत्ते और विशेषाधिकार भी प्राप्त होंगे जो संविधान के लागू होने के तुरत पहले प्रान्तों के राज्यपाल को प्राप्त थे। मासिक वेतन के अतिरिक्त राज्यपाल को अनेक प्रकार के भत्ते और नि:शुल्क सजा-सजाया राजभवन रहने के लिये मिलता है। उदाहरण के लिये 1950 में उत्तरप्रदेश के राज्यपाल को वेतन के अतिरिक्त अगरक्षकों, निवासगृह, यात्रा और अन्य भत्तों के रूप में क्रमश 90 हजार, 35 हजार, 1 लाख 6 हजार और 30 हजार रुपये वार्षिक प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त राज्यपाल को अपने कार्यकाल में बिना किराये का सरकारी रेलवे सैलून, हवाई जहाज, मोटर कार इत्यादि प्रयोग करने की सभी सुविधाएं प्राप्त हैं।

संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि राज्यपाल के कार्यकाल में उसके वेतन, भत्ते तथा अन्य उपलब्धियों में कमी नहीं की जा सकती। यह सब राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय है, अत विधानमण्डल में इस पर मतदान नहीं लिया जा सकता। संविधान के लागू होने के पूर्व विभिन्न प्रान्तों के राज्यपालों के वेतन अत्यधिक और असमान थे, किन्तु अब प्रत्येक राज्यपाल को समान वेतन एव विशेष सुविधाएं दी जाती हैं और सभी के पद की स्थिति को समान समझा गया है। यह ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल को राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के सम्मुख, या उसकी अनुपस्थिति में उच्च न्यायालय के समय उपलब्ध वरिष्ठतम् न्यायाधीश के सम्मुख शपथ ग्रहण करनी पड़ती है और निष्ठापूर्वक प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह अपनी पूरी योग्यता से संविधान तथा विधि का परिरक्षण, सरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा। संविधान की धारा 159 के अनुसार राज्यपाल को इन शब्दों में शपथ ग्रहण करनी पड़ेगी—"मैं, क, ख, ईश्वर के नाम पर शपथ लेता हूं। सत्य निष्ठा के साथ प्रण करता हू कि मैं निष्ठापूर्वक (राज्य का नाम) के राज्यपाल के पद पर कार्य करूगा (या राज्यपाल के कृत्यों का निर्वाह करूगा) और अपनी भरसक योग्यता द्वारा संविधान तथा कानून का परिरक्षण, रक्षा और बचाव करूगा और मैं (राज्य का नाम) के लोगों की सेवा और कल्याण में लगा रहूगा।"[14]

## विशेषाधिकार

संविधान के अतर्गत राज्यपाल को भी राष्ट्रपति के समान कुछ विशेषाधिकार और उन्मुक्तिया प्राप्त हैं। वास्तव में संविधान के द्वारा उसे ये विशेषाधिकार इसलिये दिये गये हैं ताकि बिना किसी हस्तक्षेप के वह अपना कर्त्तव्य पालन निश्चिन्त होके कर सके। संविधान की धारा 361 के अनुसार राज्यपाल अपने पद की शक्तियों और कर्तव्यों का प्रयोग और पालन करने के लिये, या अपनी इन शक्तियों और कर्तव्यों का पालन करते हुए किये गये किसी कार्य के लिये किसी न्यायालय के सम्मुख उत्तरदाई नहीं है।

इसका अर्थ यह है कि अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वह जो भी कार्य करता है, उसके लिये उसे किसी न्यायालय के सामने जवाबदेही नहीं करनी होगी। किसी राज्य के राज्यपाल के कार्यों के विरुद्ध उसकी पदावधि में किसी न्यायालय में दण्डविधि के

अनुसार कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती और न ऐसी कोई कार्यवाही चालू ही रख सकते हैं। राज्यपाल के पद काल में उसके विरुद्ध उस राज्य के न्यायालय में कोई फौजदारी दावा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। राज्यपाल के नाम से किये जाने वाले सरकारी कार्यों के लिये कोई भी व्यक्ति सरकार के विरुद्ध मुकदमा चला सकता है, पर व्यक्तिगत रूप से राज्यपाल के विरुद्ध नहीं। यदि किसी व्यक्ति को राज्यपाल के विरुद्ध ऐसा दीवानी मुकदमा दायर करना हो, जिसका सबध किसी ऐसे कार्य के साथ हो जो उसने राज्यपाल का पद ग्रहण करने के बाद किया हो, या पद ग्रहण करने के पूर्व किया हो, तो उसे दो महीने का नोटिस राज्यपाल को देना चाहिये और इस नोटिस में मामले का पूरा विवरण भी दिया जाना चाहिये अर्थात् उसमें उस दावे का स्वरूप, उस दावे का कारण, उस दावे को करना चाहने वाले पक्ष का नाम और मागा गया अनुतोष (राहत) बताया गया हो। इस नोटिस को देने के उपरात ही राज्यपाल के विरुद्ध कोई व्यक्तिगत मामला दीवानी अदालत में पेश किया जा सकता है।

इस प्रकार राज्यपाल को, जब तक वह अपने पद पर है, कानून से अलग माना गया है। अपने पद पर कार्य करते हुए वह व्यक्तिगत रूप से किसी भी न्यायालय के प्रति जिम्मेदार नहीं है, बल्कि सरकार के एक अग के रूप में वह कार्य करता है। राज्यपाल की तरह भारत के राष्ट्रपति को भी न्यायिक क्षेत्र में यह विशेष सुविधाए दी गई हैं। सविधान के द्वारा राज्यपाल और राष्ट्रपति को यह सरक्षण दिया गया है ताकि उनके पद की प्रतिष्ठा बनी रहे और वे उचित प्रकार से अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकें। किसी भी राज्याध्यक्ष को इस प्रकार की उन्मुक्तिया परम आवश्यक हैं।

राज्यपाल के पद के सगठन को देखने से स्पष्ट है कि राज्यपाल राज्य कार्यपालिका का प्रधान है। राज्य के सभी कार्य उसी के नाम से किये जाते हैं, साथ ही वह केंद्र सरकार का प्रतिनिधि भी होता है और राष्ट्रपति द्वारा उसकी नियुक्ति 5 वर्ष के लिये की जाती है यद्यपि वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपने पद पर रहता है। उसे वे सभी सुविधाए दी गई हैं जो कि ब्रिटिशकालीन गवर्नर को प्राप्त थीं और जो उसे उसके पद की शान-शौकत को बनाये रखने में सहायक हो सकती थीं। वस्तुत सघ सरकार द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति की व्यवस्था के द्वारा भारत में ब्रिटिशकालीन परपरा को ही जारी रखा गया है। राज्यपाल राज्य का सवैधानिक शासक अवश्य है किंतु लोकतत्रात्मक शासन में कार्यपालिका प्रधान को जिस तरह लोकमत का प्रतीक होना चाहिये वैसे भारत के राज्यों के राज्यपाल नहीं है। राज्यपाल के पद पर वे व्यक्ति भी नियुक्त किये जा सकते हैं, जिनका सार्वजनिक जीवन से कोई सबध नहीं रहा हो, और सर्वसाधारण जनता ने जिसका नाम तक न सुना हो। अनेक राज्यपाल ऐसे भी नियुक्त किये जाते हैं जिनका सबधित राज्य की जनता से कोई सपर्क या सबध नहीं होता। इस व्यवस्था का कभी-कभी यह परिणाम होता है कि राज्यपाल का राज्य के सार्वजनिक जीवन से विशेष सबध नहीं हो पाता और उसका पद जनता में

सार्वजनिक उत्साह उत्पन्न नहीं कर सकता।

यह तर्क ठीक है कि केंद्र सरकार द्वारा राज्यपाल को नियुक्त करने में केंद्र और राज्यों में परस्पर निकटता बढ़ती है और केंद्र का राज्यों पर नियंत्रण रहता है, राष्ट्रीयता की भावना विकसित होती है। किंतु यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिये कि भारत के शासन का ढाचा एकात्मक न होकर सघात्मक है। संविधान के द्वारा यद्यपि यह यथार्थ रूप में सघ न होकर केंद्रीभूत सघ है जिसमें एकात्मक तत्त्व भी हैं किंतु यह एकात्मकता के तत्त्व विगत वर्षों तक इसीलिये दृष्टिगोचर होते रहे, क्योंकि यह केंद्र और राज्यों में राजनैतिक दल की एकात्मकता थी। जब तक केंद्र के साथ-साथ राज्यों में भी काग्रेस की सरकार रही तब तक राज्यपाल केंद्र के प्रतिनिधि के रूप में शांतिपूर्वक कार्य करते रहे। लेकिन चौथे आम चुनाव के बाद परिस्थिति काफी बदल गई है। कई राज्यों में केंद्र विरोधी सरकारें स्थापित हो गई थीं जो केंद्र का अकुश सहने को तैयार नहीं है। राज्यों में केंद्र से पृथक् अस्तित्व बनाने की जो प्रवृत्ति विकसित हो रही है, उसका कदाचित् राज्यपाल के पद पर भी काफी प्रभाव पड़ेगा। हो सकता है कि भारत यथार्थ अर्थों में सघ बन जाए और अमेरिका की तरह राज्यों के राज्यपाल भी भविष्य में केंद्र द्वारा मनोनीत न होकर राज्यों की जनता या विधानसभा द्वारा निर्वाचित होने लगें।

## टिप्पणियां

1 Article 154(1) "The Executive power of the State shall be vested in the Governor and shall be exercised by him either directly or through officers subordinate to him in accordance with this Constitution
(2) Nothing in this Article shall—
(a) be deemed to transfer to the Governor any functions conferred by any existing law on way any other authority, or
(b) prevent Parliament or the Legislature of the State from conferring by law functions on any authority subordinate to the Governor" 'The Constitution of India' (1963)
2 According to the case of Shivbahadur V State of V P (1953) 'S C R' 1188 (1210)
3 K M Munshi, speaking on 31st May 1949 disclosed " this question was discussed in the joint sitting of the Union Constitution Committee and the Provincial Constitution Committee ultimately the general opinion veered round in favour of the British model both in the Centre and in the Provinces " *Dr V N Shukla—'The Constitution of India' (1964)*, p 226
4 Article 155—"The Governor of the State shall be appointed by the President by warrant under his hand and seal " 'The Constitution of India' (1963)
5 James Bryce—'Modern Democracies' (Vol II, London, 1929), p 87
6 Jawaharlal Nehru in Constitution Assembly on May 1949, 'CAD' (Vol VIII), p 354
7 P Singh—'Governors office in Independent India' (1st ed Deoghar, 1968)
8 M R Palande—'Introduction to the Indian Constitution', p 387

9 M V Pylee— Constitutional Government in India (1967) p 27
10 P Singh— Governor's Office in Independent India' (1st ed Deoghar 1968)
11 Prime Minister Nehru told at a press conference on July 24 1952— 'There is no constitutional provision in regard to the appointment of Governors This is done in consultation and concurrence with the State Governments Sometimes I have had to send two three four and five names to the State Government They came back and I had to look for another Dayal— The Constitution of India (VI ed , 1967) p 47
12 'साप्ताहिक दिनमान', 19-11-1967, पृ 14
13 C C Desia— Choice of Governors—need for a new trad tion', 'Times of India' (August 11, 1967)
14 C N Chittaranjan— How to Choose a Governor' 'Mainstream' (April 8 1967)
15 'लोकतंत्र समीक्षा अप्रैल-जून 1969, पृ 75-76
16 Article 157— 'No person shall be eligible for appointment as Governor unless he is a citizen of India and has completed the age of thirty five years ' 'The Constitution of India' (1963)
17 Article 158(1)—"The Governor shall not be a member of either House of Parliament or of a House of the Legislature of any State specified in the First Schedule and if a member of either House of Parliament or of a House of the Legislature of any such State shall be appointed Governor he shall be deemed to have vacated his seat in that House on the date on which he enters upon his office as Governor" 'The Constitution of India' (1963)
18 Article 159— I A B do swear in the name of God/solemnly affirm that I will faithfully execute the office of Governor (or discharge the functions of the Governor) of (name of the State) and will to the best of my ability preserve protect and defend the Constitution and the law and that I will devote myself to the service and well being of the people of (name of the State) ' The Constitution of India' (1963)

# 5

# राज्यपाल की शक्तियां

## संविधान के अनुसार शक्तियां

संविधान के द्वारा राज्यों के राज्यपालों को बहुत विस्तृत शक्तियां दी गई हैं। वह राज्य का कार्यपालिका प्रधान होता है और इस नाते उसे कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, वित्तीय और स्वविवेक की अनेक शक्तियां दी गई हैं।[1] वास्तव में यदि हम संविधान की धाराओं को देखें तो स्पष्ट होगा कि 1935 के अधिनियम ने राज्यपाल को जो शक्तियां दी थीं, लगभग वैसी ही शक्तियां भारत के संविधान ने भी राज्यपाल को दी हैं। राज्यपाल की शक्तियां संविधान सभा के सदस्यों को सचमुच ही चौंकानेवाली प्रतीत हुई हैं। वस्तुत संविधान सभा के सदस्यों के सामने 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अधीन राज्यपाल की मूर्ति थी जो साम्राज्यवादी अत्याचार का प्रतीक था। इसलिये उन्होंने जब देखा कि वही 1935 के अधिनियम की भाषा नये संविधान की धाराओं में भी दुहराई जाने लगी, तो वे नये संविधान के अधीन राज्यपाल के कार्यभाग के बारे में भी शंकित हो उठे। लेकिन उनका मत मिथ्या और शकाए निराधार थीं। 1935 का अधिनियम पूर्णत उत्तरदाई शासन की स्थापना नहीं करता था। वह वस्तुत और विधित ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अभिकर्ता था। राज्यपाल एक विदेशी सत्ता का प्रतिनिधि होने के नाते सत्तावाद का साकार रूप था। वास्तव में एक ऐसी पूर्णत उत्तरदाई शासन प्रणाली के अधीन जो यथासभव अधिकतम लोकप्रिय आधार पर स्थापित हुई है, आधुनिक भारत के राज्यपाल को अग्रेजों के काल के राज्यपाल के बराबर समझना अतिशयोक्तिपूर्ण है।

इस विषय पर एक मुकदमे में कलकत्ता के उच्च न्यायालय ने कहा था—"वर्तमान संविधान के अधीन राज्यपाल अपने मंत्रियों की सलाह पर ही चल सकता है, उसके सिवा अन्य किसी प्रकार नहीं। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अधीन स्थिति भिन्न थी वर्तमान संविधान में अपने विवेक के अनुसार या अपनी व्यक्तिगत हैसियत से कार्य करने की शक्ति उससे ले ली गई है और राज्यपाल को अपने मंत्रियों की सलाह से ही कार्य करना होगा।"[2] हमारा शासन ससदीय प्रकार का है। यह ठीक है कि संविधान में बिल्कुल स्पष्ट रूप में नहीं कहा गया है कि राज्यपाल को सदा अपने मंत्रियों की सलाह माननी ही होगी।

परंतु संसदीय शासन प्रणाली से यह अनिवार्य है कि राज्यपाल अपने मंत्रियों की बात मानकर चले। क्योंकि जिम्मेदारी मंत्रियों के सिर रहती है, अत स्वाभाविक है कि अधिकार भी उन्हीं के हाथ में रहे। हमारे संविधान-निर्माताओं का इरादा था कि राज्यपाल केवल अलंकारिक अध्यक्ष रहे। इसलिये उन्होंने उसे जनता द्वारा निर्वाचित न रखकर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत रखना अधिक पसंद किया। डॉक्टर अम्बेडकर ने स्वीकार किया था कि राज्यपाल की शक्तियां अत्यंत सीमित और नाममात्र की होंगी और उसकी स्थिति अलंकारिक होगी।[1] वास्तव में राज्यपाल का संबंध राज्य और केंद्र दोनों से ही रहता है। एक ओर तो राज्यपाल और उसके मंत्रिमंडल के बीच संबंध होते हैं और दूसरी ओर राज्यपाल तथा राष्ट्रपति के बीच भी संबंध होते हैं। राज्य के मंत्रिगण सर्वसाधारण के प्रतिनिधि होते हैं, अत उनकी सलाह को मानना राज्यपाल के लिये आवश्यक है। दूसरी ओर राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है जो केंद्र कार्यपालिका का प्रधान है। अत राज्यपाल को राष्ट्रपति के आदेशों की अवहेलना करने का भी साहस नहीं होता। वास्तव में यह कहना होगा कि किसी भी संघीय व्यवस्था वाले देश में वैधानिक प्रधान के कर्त्तव्यों की प्रकृति भारतीय राज्यपाल के कर्त्तव्यों जैसी नहीं होती है।

बेजहाट ने जैसा कि कार्यपालिका अध्यक्ष का कार्य बताया है—मंत्रिमंडल को परामर्श देना, प्रोत्साहन देना और चेतावनी देना, उसी प्रकार राज्य का अध्यक्ष होने के नाते राज्यपाल को यह अधिकार है कि उससे परामर्श किया जाए, उसे प्रोत्साहन देने और चेतावनी देने का अधिकार है। बम्बई राज्य के भूतपूर्व मुख्यमंत्री स्वर्गीय श्री बी.जी. खेर के शब्दों में—"इस बात के बावजूद कि हम जो संविधान बना रहे हैं, उसमें राज्यपाल को बहुत कम शक्ति दी गई है, राज्यपाल यदि अच्छा राज्यपाल हो तो वह काफी भलाई कर सकता है और यदि वह बुरा राज्यपाल हो तो काफी शरारत भी कर सकता है।"[4]

श्री डी.डी. बसु का भी मत यही है। उनके शब्दों में—"राज्यपाल केवल कठपुतली बनकर नहीं रहेगा। यदि राज्यपाल सक्रिय और अच्छा राज्यपाल हो तो, वह सत्तारूढ़ दल के विरोधियों से संपर्क बनाकर उन्हें बहुत-से कानूनों से सहमत करा सकता है और प्रशासन को सामान्यत निर्विघ्न रूप से चला सकता है।"[5]

वास्तव में संविधान के उपबंधों का आलोचनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि राज्यपाल न तो कठपुतली है और न रबर की मोहर ही। इसके विपरीत वह एक महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी है, जिसे राज्य के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करना होता है।[6] राज्यपाल की शक्तियों की विवेचना से स्पष्ट होगा कि राज्यपाल को पर्याप्त अधिकार दिये गये हैं और कई अवसर पर वह अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की भी स्थिति में होगा।

## कार्यपालिका से संबंधित शक्तियां

संक्षेप में कहा जाये तो किसी राज्य के राज्यपाल की शक्तियां राष्ट्रपति की शक्तियों

के समान ही हैं, इतना अंतर अवश्य है कि राज्यपाल को कोई वैदेशिक, सैनिक या संकटकालीन शक्तियां प्राप्त नहीं हैं। इस अंतर को हम छोड़कर कह सकते हैं कि राज्यपाल राष्ट्रपति का संक्षिप्तिकरण है, अर्थात् राष्ट्रपति की तरह वह भी कार्यपालिका-अध्यक्ष है। संविधान के अनुसार राज्य की कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल में निहित है। धारा 154 के अनुसार अपनी शक्ति का प्रयोग राज्यपाल या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा। धारा 166 के उपबंधों के अनुसार राज्य में सरकार की समस्त कार्यपालिका संबंधी कार्यवाही राज्यपाल के नाम से की जायेगी। राज्यपाल के नाम से दिये गये तथा निष्पादित आदेशों आदि का प्रमाणीकरण उसी रीति से किया जाता है जो राज्यपाल द्वारा बनाये जाने वाले नियमों में उल्लेखित हों। इस प्रकार के प्रमाणीकृत आदेशों या लिखित मान्यता पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं हो सकती कि वह राज्यपाल द्वारा दिये गये या निष्पादित आदेश नहीं हैं।'

संविधान की धारा 166(1) केवल यह स्पष्ट करती है कि किस ढंग से आदेश दिया जायेगा। जहां कि सरकार का कोई आदेश, 'राज्यपाल के नाम से किया गया' अभिव्यक्त किया जाता है और सरकार के अतिरिक्त सचिव द्वारा प्रमाणित किया जाता है, जैसा कि धारा 166(2) द्वारा स्पष्ट किया गया है, तो उस आदेश या लिखित की मान्यता इस आधार पर प्रश्नास्पद नहीं की जा सकती कि वह राज्यपाल द्वारा किया गया या निष्पादित आदेश नहीं है।' यह भी मान लिया जाये कि वह आदेश राज्यपाल के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रवर्तित नहीं हुआ था, बल्कि धारा 154 के अधीन, उसकी ओर से, उसके द्वारा प्राधिकृत किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किया गया था, तब भी वह राज्यपाल, अपने नाम से की गई, अपने अधीनस्थों की कार्यवाही के लिये उत्तरदाई होगा।'

राज्यपाल के कार्यपालिका संबंधी अधिकार और कार्य उन विषयों तक सीमित हैं जिनका परिगणन संविधान की सातवीं अनुसूची में, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची में किया गया है। संघ सूची के अंतर्गत विषयों के संबंध में उसे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है और समवर्ती सूची के विषय में भी उसके अधिकार संघ सरकार की कार्यपालिका के अधीन हैं। जिन विषयों में राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि अपने स्वविवेक से कार्य करे, उन्हें छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों के निर्वहन में सहायता व परामर्श के लिये एक मंत्रिमंडल की व्यवस्था है। इस मंत्रिमंडल ने राज्यपाल को कोई सलाह दी है अथवा नहीं और यदि दी है तो क्या दी है, इस बात की जांच किसी न्यायालय में नहीं हो सकती।

संक्षेप में राज्यपाल की कार्यपालिका-शक्तियां इस प्रकार हैं—

*(1) कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग करना*—वह राज्य की कार्यपालिका का अध्यक्ष है। राज्य की शक्तियों का विस्तार राज्य सूची में सम्मिलित सभी विषयों तक है। समवर्ती सूची में दिये गये विषयों का प्रबंध भी साधारणत राज्य द्वारा ही होता है, परंतु इन विषयों में राज्य की शक्ति संघ की कार्यपालिका-शक्ति

के अधीन होती है।

(2) *कानूनों को कार्यान्वित करवाना*—राज्य विधानसभा जिन विषयों पर भी कानून बनाती है उसे कार्यान्वित करवाने का अधिकार राज्यपाल को स्वत ही प्राप्त हो जाता है।

(3) *अपने नाम से समस्त कार्य करवाना*—राज्य-शासन-क्षेत्र से सबंधित जितने भी कार्य, चाहे शासन के किसी भी पदाधिकारी के द्वारा किये जायें, लेकिन वे समस्त कार्य राज्यपाल के नाम से ही किये जाते हैं।

(4) *मुख्य मंत्री एवं मंत्रियों की नियुक्ति*—राज्यपाल विधानसभा में से बहुमत के आधार पर मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है और मुख्यमंत्री की सलाह से मंत्रिमडल के अन्य मंत्रियों को भी नियुक्त करता है।

(5) *शासन-सचालन के लिये नियम बनाना*—राज्यपाल राज्य के शासन को अधिक सुचारू रूप से चलाने के लिये नियम बनाता है।[10] इन नियमों के द्वारा वह राज्य प्रशासन को सक्रिय रूप देता है और इन नियमों के द्वारा राज्य सरकार के कार्यों का मंत्रियों में बटवारा किया जाता है।

(6) *नियुक्ति करने का अधिकार*—राज्यपाल के द्वारा राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों, जिलाधीशों तथा राज्य के अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। व्यावहारिक रूप में यह सब नियुक्तिया राज्यपाल मुख्यमत्री और मंत्रिमडल के परामर्श के अनुसार करता है।

(7) *राज्य के लोक सेवा आयोग के कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति, उनकी नौकरी की* शर्तों का निर्धारण और उनके कार्य के सबध में नियम आदि बनाने का भी *राज्यपाल को अधिकार है।*

(8) राज्य के व्यवस्थापन विभाग तथा उच्च न्यायालय के कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति *तथा नौकरी की शर्तों के निर्धारण* के सबध में भी राज्यपाल को अधिकार प्रदान किये गये हैं।

(9) राज्य के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति यद्यपि राज्यपाल स्वय नहीं करता, किंतु राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय सबंधित राज्य के राज्यपाल की सलाह ले लेता है।

(10) राज्यपाल राज्य के महाधिवक्ता को नियुक्त करता है जो आवश्यकता होने पर राज्य सरकार को कानूनी सलाह देता है।

(11) राज्यपाल को मुख्यमत्री से राज्य-कार्यों की शासन सबधी जानकारी मागने का अधिकार है और मुख्यमत्री का भी यह कर्त्तव्य है कि वह राज्यपाल को अपने मंत्रिमडल के सब निश्चयों की जानकारी देता रहे।

(12) राज्यपाल मुख्यमत्री से यह भी माग कर सकता है कि किसी एक मत्री द्वारा

किये गये निश्चय को मंत्रिमंडल के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया जाये।

(13) बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा राज्य के राज्यपालों का यह एक विशेष कर्त्तव्य है कि वे आदिम जाति के कल्याण संबंधी कार्यों के लिये एक मंत्री नियुक्त करें। आसाम राज्य में तो राज्यपाल को आदिम जाति क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में कुछ विशेष शक्तियां संविधान की छठी अनुसूची के अनुसार प्राप्त हैं।

(14) आंध्र प्रदेश तथा पंजाब में बनाई गई क्षेत्रीय समितियों को सौंपे गये क्षेत्र में साधारणतः इन समितियों द्वारा दी गई सलाह को सरकार स्वीकार कर लेती है। किंतु यदि कभी इनमें मतभेद हो जाये तो वह मामला राज्यपाल के पास भेजा जाता है और उसका निश्चय अंतिम तथा बाध्यकारी होता है।

(15) राज्यपाल को अपने मंत्रियों को परामर्श, प्रोत्साहन और चेतावनी देने का अधिकार है। यद्यपि वह वास्तविक कार्यपालिका नहीं है फिर भी वह कार्यपालिका पर अपना पर्याप्त प्रभाव रख सकता है।

(16) यदि किसी समय राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चल सकता तो राज्यपाल का कर्त्तव्य है कि वह इसकी सूचना राष्ट्रपति को दे और यदि राष्ट्रपति इस सूचना के आधार पर संविधान में विफलता के आधार पर संकटकालीन घोषणा कर दे तो राज्यपाल को केंद्र के प्रबंधक के रूप में शासन चलाने के लिये कहा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल संघीय सरकार के आदेशों तथा परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार अपने विवेक से कार्य करता है।[11] संविधान का यह उपबंध 1935 के भारत सरकार अधिनियम की धारा 93 के समान है, जिसके अनुसार जब यह आशंका हो कि संविधान के अनुसार प्रशासन नहीं चल सकता तो राज्यपाल एक घोषणा द्वारा शासन अपने हाथ में ले सकता था। ऐसी स्थिति में प्रांतों का उत्तरदाई शासन समाप्त समझा जाता था और राज्यपाल संपूर्ण प्रशासन संभाल लेता था जिसके लिये वह गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदाई होता था।

भारतीय संविधान में राज्यपाल की कार्यपालिका संबंधी शक्तियों को देखने से स्पष्ट है कि उसे राज्य शासन के क्षेत्र में और प्रशासन के क्षेत्र में विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं।[12]

## व्यवस्थापिका से संबंधित शक्तियां

भारत में केंद्र और राज्यों में संसदीय शासन प्रणाली स्थापित की गई है। इसके अनुसार यद्यपि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का घनिष्ठ संबंध होता है, लेकिन साथ ही कार्यपालिका भी दो होती हैं–एक तो संवैधानिक कार्यपालिका और दूसरी वास्तविक कार्यपालिका। वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमंडल का विधानसभा से घनिष्ठ संबंध होता है। मंत्री उसी के सदस्य होते हैं, बैठक में और कार्यवाही में सक्रिय भाग लेते हैं। लेकिन राज्यपाल संवैधानिक कार्यपालिका के रूप में राज्य में कार्य करता है जो कि यद्यपि विधानसभा का

सदस्य नहीं होता और न उसके कार्यों में सक्रिय भाग लेता है फिर भी वह विधानसभा का अभिन्न अंग है।

राज्यपाल राज्य की विधानसभा का उसी प्रकार एक अंग है जिस प्रकार राष्ट्रपति संसद का अंग है। राज्यपाल के व्यवस्थापिका से संबंधित कार्य इस प्रकार हैं–

*(1) व्यवस्थापिका को आमंत्रित, स्थगित और भंग करना*–राज्यपाल को अधिकार है कि वह राज्य विधानमंडल के एक सदन को या दोनों सदनों को (यदि राज्य में द्विसदनीय विधानमंडल हो) आमंत्रित कर सकता है।[13] उसे यह भी अधिकार है कि वह किसी भी समय और किसी भी स्थान पर विधानमंडल के सत्र को आमंत्रित कर सकता है, किंतु शर्त यह है कि विधानमंडल के पिछले अधिवेशन की अंतिम बैठक और अगले अधिवेशन की प्रथम बैठक के बीच 6 महीने से अधिक का अंतर नहीं होना चाहिये। *राज्यपाल विधानमंडल को या उसके एक सदन को स्थगित कर सकता है और* वह विधानसभा को विघटित करके पुनर्निर्वाचन भी करा सकता है।[14]

*(2) विधानमंडल में भाषण देना*–राज्यपाल सामान्य निर्वाचन के बाद पहले सत्र के शुरू में या प्रति वर्ष नया सत्र शुरू होने पर किसी भी एक सदन में, या दोनों सदनों में संयुक्त अधिवेशन में भाषण दे सकता है।[15]

*(3) विधान परिषद् के सदस्यों को मनोनीत करना*–जिन राज्यों के विधानमंडलों में दो सदन हैं, वहां उच्च सदन विधान परिषद् के 1/6 सदस्यों को राज्यपाल ऐसे क्षेत्र में से मनोनीत कर सकता है जो कला, साहित्य, विज्ञान, समाज-सेवा आदि में उच्च स्थान प्राप्त कर चुके हों।

*(4) विधानसभा में एंग्लो-इण्डियन को मनोनीत करना*–यदि राज्यपाल ऐसा समझे कि निर्वाचन के द्वारा विधानसभा में एंग्लो-इण्डियन लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है, तो वह उन्हें भी विधानसभा में मनोनीत कर सकता है।

*(5) विधानमंडल के सदस्य की अयोग्यता का निर्णय करना*–राज्यपाल को निर्वाचन आयोग के परामर्श से दोनों में से किसी भी सदन के किसी भी सदस्य की अयोग्यता से संबंधित प्रश्नों का निर्णय करने का अधिकार है। यदि वह सदस्यता के योग्य न हो, तो निर्वाचन आयोग के परामर्श से राज्यपाल उसे अपदस्थ कर सकता है।

*(6) सामयिक अध्यक्षों की नियुक्ति करना*–जब तक विधानसभा और विधान परिषद् अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तथा सभापति का चुनाव नहीं कर लेतीं, तब तक राज्यपाल ही उनके लिये सामयिक अध्यक्षों की नियुक्ति करता है।

*(7) विधेयक को स्वीकृत या अस्वीकृत करना*–विधानमंडल के सदन या

सदनों द्वारा स्वीकृत किया गया कोई विधेयक तब तक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता जब तक कि उसे राज्यपाल की स्वीकृति प्राप्त न हो जाये। धन-विधेयक के अतिरिक्त अन्य विधेयकों को राज्यपाल अस्वीकृत कर सकता है किन्तु यदि विधानमडल द्वारा वह विधेयक दूसरी बार स्वीकृत कर दिया जाये तो राज्यपाल को उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति अनिवार्यत देनी पड़ती है।

(8) *विधेयक को पुनर्विचार के लिये विधानसभा में भेजना*–धन-विधेयक के अतिरिक्त अन्य विधेयकों को यदि राज्यपाल स्वीकृत नहीं करता है तो उसे अधिकार है कि वह उन विधेयकों को अपनी सिफारिशों के साथ राज्य-विधानमडल के पास पुनर्विचार के लिये लौटा दे। इस प्रकार लौटाये गये विधेयकों पर विधानमडल को 6 महीने के अदर-अदर विचार करना होता है। किन्तु यदि विधानमडल ने कोई सशोधन करके या बिना सशोधन के, उस विधेयक को पुन स्वीकृत कर दिया, तो राज्यपाल को भी अपनी स्वीकृति देनी पड़ेगी।

(9) *विधेयक को राष्ट्रपति के पास भेजना*–कुछ विधेयकों को राज्यपाल राष्ट्रपति के पास विचार करने के लिये भी भेज सकता है। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह उन पर अपनी स्वीकृति प्रदान करे अथवा नहीं करे। कुछ विशेष प्रकार के विधेयक ऐसे हैं जिन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजा जाना अनिवार्य है। यदि राज्यपाल की सम्मति में किसी विधेयक के स्वीकृत हो जाने से उच्च न्यायालय की शक्ति व स्थिति में कमी हो जाने की सभावना हो, तो उसके लिये आवश्यक है कि वह ऐसे विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ अवश्य ही प्रेषित करे। इसके अतिरिक्त तीन प्रकार के विषय ऐसे हैं जिनसे सबंधित विधेयकों को अनिवार्यत राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजना होता है–

(अ) जिन विधेयकों का प्रयोजन व्यक्तिगत सम्पत्ति को राज्य द्वारा बाधित रूप मे हस्तगत करना हो।

(ब) जिन विधेयकों का सबध ऐसी वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाने के साथ हो जिन्हें केंद्रीय ससद ने आवश्यक वस्तु घोषित कर दिया हो।

(स) ऐसी नदियों और नदी घाटियों के जल-वितरण, विद्युत-शक्ति के उत्पादन और विद्युत-शक्ति के वितरण पर कर लगाना जिन विधेयकों का प्रयोजन हो, और जिनका सबध केवल एक राज्य से न होकर अनेक राज्यों के साथ हो।

(10) *विधानमंडल में विचाराधीन विधेयक पर संदेश भेजना*–यद्यपि राज्यपाल विधानमडल का सदस्य नहीं होता और विधेयक के निर्माण काल में भाग नहीं लेता, लेकिन यदि किसी विशेष विधेयक पर उसे अपना विचार प्रकट करना है और विधेयक उस प्रकार से बनवाना है, तो वह विधानमडल

में संदेश भिजवा सकता है। यदि राज्यपाल अनुभवी और निष्पक्ष हुआ तो विधानमंडल प्राय उसके विचार के अनुसार विधेयक बना देता है।

(11) *अध्यादेश जारी करना*–व्यवस्थापिका से संबधित राज्यपाल का एक महत्त्वपूर्ण अधिकार अध्यादेश जारी करना है। शासन एवं व्यवस्था के संबध में विधानमंडलों द्वारा बनाये गये नियमों को कानून कहते हैं और राज्यपाल द्वारा दिये गये आदेशों को अध्यादेश कहते हैं। राज्यपाल द्वारा जारी किये गये आदेशों का वही प्रभाव होता है जो राज्य विधानमंडलों द्वारा निर्मित कानूनों का रहता है। जिस समय राज्य विधानमंडल का अधिवेशन नहीं हो रहा हो और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए जिसमें तत्काल ही कार्य करने की आवश्यकता हो, तो राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह उन विषयों के संबध में अध्यादेश जारी करे, जिन पर कानून बनाने का अधिकार राज्य विधानमंडल को प्राप्त है। बाद में जब राज्य विधानमंडल का सत्र प्रारम्भ हो, तब इन अध्यादेशों को विधानमंडल के सामने प्रस्तुत किया जाता है। ये अध्यादेश अधिवेशन शुरू होने के 6 सप्ताह बाद तक ही लागू रहते हैं। 6 सप्ताह की अवधि के पूर्ण होने के पहले विधानमंडल इन्हें रद्द कर सकता है। और यदि विधानमंडल इन्हें स्वीकृति दे दे तो ये अध्यादेश कानून के रूप में परिवर्तित होकर आगे भी प्रभावपूर्ण रहते हैं। चूंकि विधानमंडल के सदन या सदनों के दो अधिवेशनों के बीच 6 महीने से अधिक का अंतर नहीं होना चाहिये, अतः राज्यपाल द्वारा जारी किये गये अध्यादेश अधिक से अधिक 6 महीने और 6 सप्ताह तक ही लागू रह सकते हैं, इससे अधिक नहीं।

राज्यपाल को तीन विषयों के संबध में राष्ट्रपति की अनुमति लिये बिना अध्यादेश जारी करने का अधिकार नहीं है।" वे विषय इस प्रकार हैं–

(1) वे विषय जिनके संबध में विधानमंडल में विधेयक प्रस्तुत करने के लिये राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है, जैसे व्यापार की स्वतंत्रता को नियमित करने वाला विधेयक।

(2) ऐसे विषय पर अध्यादेश, जिन पर किसी विधेयक के विधानमंडल द्वारा स्वीकृत होने पर राज्यपाल उसे राष्ट्रपति के पास भेजना आवश्यक समझता हो।

(3) जिस विषय पर अध्यादेश जारी किया गया है, यदि विधानमंडल उस पर कोई विधेयक स्वीकार करता और संविधान के अनुसार वह तब स्वीकृत समझा जाता जब कि राष्ट्रपति की स्वीकृति उसके लिये प्राप्त हो जाती। उदाहरणार्थ व्यक्तिगत सम्पत्ति को राज्य द्वारा बाधित रूप से हस्तगत करने के प्रयोजन से प्रस्तुत किये गये विधेयक।

राज्यपाल के व्यवस्थापिका से संबंधित कार्यों को देखने से स्पष्ट है कि वे काफी विस्तृत

हैं। उनमें कुछ कार्य तो औपचारिक हैं और कुछ कार्य वास्तविक रूप से प्रभावपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये राज्यपाल को विधेयक स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार है। राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रभु है और संसदीय शासन के अनुरूप ब्रिटिश राजा या भारत के राष्ट्रपति की तरह सामान्यत उसे उन विधेयकों को स्वीकृत कर देना चाहिये जिन्हें राज्य के लोकप्रिय और उत्तरदाई प्रतिनिधियों ने बनाया है। अनुभव से ज्ञात हुआ है कि राष्ट्रपति की तरह राज्यपाल को केवल नाममात्र की स्वीकृति नहीं देनी पड़ती, बल्कि कई बार उसे विवेक से भी काम लेना पड़ता है और विचार करना होता है कि वह विधेयक राष्ट्रपति के पास भेजना है अथवा नहीं। उदाहरण के लिये मध्यप्रदेश विधानसभा ने जुलाई 1962 में भूमि कर से संबंधित एक विधेयक स्वीकृत किया था, लेकिन विरोधी दल इसके बहुत तीव्र विरोध में थे और सरकारी पक्ष के भी कई सदस्यों ने इस विधेयक की आलोचना की थी। उस समय विरोधी दल के नेता राज्यपाल से मिले और उन्होंने कहा कि विधेयक को स्वीकृत करने का राज्यपाल का अधिकार मात्र औपचारिक नहीं है और राज्यपाल को वह विधेयक रोक लेना चाहिये। क्योंकि वह विधेयक बहुत हंगामे, सदस्यों के बहिर्गमन और कटु आलोचना के साथ स्वीकृत हुआ था, इसलिये तत्कालीन राज्यपाल श्री पाटस्कर ने उसे स्वीकृत करना उचित नहीं समझा। तुरत दिल्ली जाकर उन्होंने योजना आयोग और केन्द्रीय मंत्री श्री नंदा, श्री शास्त्री और प्रधानमंत्री श्री नेहरु से मंत्रणा की। बहुत विचार करके अंत में अगले वर्ष अर्थात् 14 मई, 1963 को उस विधेयक को राज्यपाल की स्वीकृति प्राप्त हुई।

इससे यह स्पष्ट है कि राज्यपाल आंख बंद करके विधानमंडल के बनाये विधेयकों पर स्वीकृति देने को बाध्य नहीं है। संविधान ने भी राज्यपाल की स्वीकृति के लिये निश्चित समय का बंधन नहीं लगाया है। उसमें केवल यही लिखा है कि राज्यपाल 'जितनी जल्दी संभव हो सके', विधेयक पर अपनी स्वीकृति देगा। इन अस्पष्ट शब्दों के कारण राज्यपाल यदि चाहे तो स्वीकृति देने में अनिश्चित काल भी लगा सकते हैं, लेकिन उसके लिये उचित कारण भी होना चाहिये।" लेकिन इस तरह की परंपरा से एक भारी हानि भी हो सकती है। संयोग से मध्यप्रदेश और केंद्र में उस समय कांग्रेस की ही सरकार थी, इस कारण केंद्र और राज्य में भी किसी प्रकार का गत्यवरोध नहीं हो पाया। किंतु यदि राज्य में विरोधी दल की सरकार होती, तो राज्यपाल के इस कार्य से, अर्थात् मंत्रिमंडल द्वारा राज्य में बहुमत दल द्वारा बनाये गये विधेयक को स्वीकृत न करके केंद्रीय नेताओं से परामर्श करना और मंत्रिमंडल के निर्णय पर अविश्वास करने से, हो सकता था कि राज्यपाल और मंत्रिमंडल के संबंधों के साथ-साथ राज्य और केंद्र के भी संबंध बिगड़ते, क्योंकि इसमें राज्यपाल ने संवैधानिक प्रभु के समान कार्य न करके राज्य के प्रतिनिधियों की इच्छा का विरोध करने की चेष्टा की थी। किन्तु मध्यप्रदेश के राज्यपाल के इस कार्य से कम से कम विरोधी दल की उत्तेजना शांत हो गई थी और राज्य सरकार को भी यह अनुभव हो गया था कि केवल

बहुमत के आधार पर उसे हर प्रकार के कानून नहीं बनाने चाहिये।'

इसी प्रकार राज्यपाल की व्यवस्थापिका से संबंधित शक्तियों में संविधान की धारा 174 के अनुसार राज्यपाल को विधानमंडल का सत्र आमंत्रित करने का अधिकार है। मार्च 1968 में पंजाब राज्य में राजनैतिक घटनाओं के कारण राज्यपाल के इस अधिकार की काफी विवेचना हुई। संविधान के मर्मज्ञों ने भी अपने विचार प्रकट किये और बाद में सर्वोच्च न्यायालय और विधिशास्त्रियों ने भी विधानसभा को आमंत्रित करने का राज्यपाल का अधिकार ऐसा बताया जिस पर कोई शंका प्रकट नहीं की जा सकती।

राजधानी से विशेष रिपोर्ट में यह घटना इस प्रकार प्रकाशित की गई थी—चौथे चुनाव के बाद से संविधान की दुनिया में एक नया संकट उत्पन्न हुआ है। हर तीसरे या चौथे महीने किसी न किसी राज्य की विधानसभा का अध्यक्ष या उस प्रदेश का मुख्यमंत्री विधानसभा का चलना असंभव कर देता है, या विधानसभा स्थगित कर दी जाती है। पंजाब विधानसभा के अध्यक्ष जोगिंदरसिंह मान ने विधानसभा को दो महीने के लिये स्थगित कर संविधान के लिये नई चुनौतियां पैदा कर दी हैं। किसी दूसरे मौके पर उनके इस निर्णय से उतनी उलझनें पैदा नहीं होतीं लेकिन उन्होंने विधानसभा को मार्च में स्थगित किया और अगर इस महीने विधानसभा राज्य का बजट पास नहीं करती तो राज्य का सारा काम ठप्प हो जाता।"

केंद्र अपने ही बजट से जूझ रहा था कि दूसरे के बजट का सवाल उसके सिर पर आ पड़ा। गृहमंत्री ने विधि मंत्रालय से पूछा कि मार्च में ही विधानसभा को बुलाने के लिये क्या रास्ता हो सकता है। विधि मंत्रालय ने गृह मंत्रालय को लिखा कि राज्यपाल संविधान की धारा 213 के अनुसार विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है और उसका तत्काल सत्रावसान कर सकता है। इस धारा के अनुसार राज्यपाल को एक अध्यादेश जारी करना होगा। धारा 213 में कहा गया है कि—"यदि किसी राज्य की विधानसभा या विधान परिषद् का अधिवेशन जारी न हो और यदि राज्यपाल की यह धारणा हो कि तत्काल कार्यवाही के लिये आवश्यक परिस्थिति मौजूद हैं, तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है।'"

पंजाब विधानसभा के गतिरोध को लेकर लोकसभा और राज्यसभा के गलियारों और संसद के केंद्रीय कक्ष में, जहां कि सारी कानूनी उलझनें उलझती और सुलझती हैं, हलचल और बेचैनी थी। विधिमंत्री श्री गोविन्द मेनन ने पंजाब के प्रश्न को लेकर एक प्रेस सम्मेलन बुलवाया जिसमें उन्होंने यह घोषणा की कि राज्यपाल को वित्तीय मामलों पर विचार करने के लिये विधानसभा को अध्यादेश जारी करके आमंत्रित करने का अधिकार है। और इस अधिकार के प्रयोग से बुलाई गई विधानसभा तब तक स्थगित नहीं की जा सकती जब तक कि वित्तीय मामले निपट न जायें। उन्होंने यह भी बताया कि अध्यादेश के फलस्वरूप विधानसभा के अध्यक्ष सदन को दुबारा स्थगित करने की स्थिति में नहीं रहेंगे और अगर उन्होंने सदन के स्थगन की घोषणा की तो यह घोषणा गैर-कानूनी और रद्द मानी जायेगी।

वैसी हालत में उपाध्यक्ष या कोई और सदन की अध्यक्षता करेगा।

विधिमंत्री ने बताया कि पजाब विधानसभा के अध्यक्ष ने जो सवैधानिक सकट पैदा किया है, उससे निपटने के लिये धारा 256 के प्रावधानों को लागू करना आवश्यक नहीं है। धारा 256 में कहा गया है कि–"अगर राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल की इस रिपोर्ट से सतुष्ट है कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि राज्य सरकार का संविधान के अनुसार कार्य करना असभव हो गया है तो वह उस राज्य का शासन अपने हाथ में ले सकते हैं और यह घोषणा कर सकते हैं कि राज्य विधानसभा के अधिकारों का प्रयोग ससद करेगी।"

अध्यक्ष को सदन स्थगित करने का अधिकार अवश्य है, परतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसका कोई सवैधानिक हल ही नहीं है। धारा 174 के अतर्गत, राज्यपाल को सत्र की बैठक बुलाने का अधिकार है। भले ही किसी निश्चित अवधि के लिये सदन को स्थगित किया गया हो तथा राज्यपाल यदि इस प्रकार का अध्यादेश जारी करता है, जिसके अनुसार वित्तीय कार्यवाही का सचालन करना है, तो उस अध्यादेश के अतर्गत आने वाली बात धारा 208 के अतर्गत बनाये गये कानूनों के ऊपर मान्य होगी तथा राज्यपाल को धारा 213 के अतर्गत अध्यादेश जारी करने का अधिकार है।" कुछ विधानसभा के अध्यक्षों और मुख्यमत्री ने जो सवैधानिक सकट पैदा किया उससे अक्सर चुप रहने वाले विधिमंत्री गोविन्द मेनन उत्तेजित थे। उन्होंने कहा कि यह मानना बिल्कुल गलत है कि संविधान असहाय है और ऐसी हालत में वह कुछ नहीं कर सकता है। अगर विधानसभा के अध्यक्ष को संविधान से कुछ विशिष्ट अधिकार प्राप्त हुए हैं तो उसी संविधान से राज्यपाल को भी कुछ और अधिकार प्राप्त हुए हैं। उन्होंने इस सबध में संविधान की धारा 174 का उल्लेख किया। धारा 174 के अतर्गत राज्यपाल को विधानसभा को बुलाने और भग करने का अधिकार देते हुए कहा गया है कि "राज्यपाल नियत समय और तिथि पर, जिसे निश्चित करने का अधिकार उसे है, विधानसभा या विधान परिषद् या दोनों का अधिवेशन समय-सयम पर बुला सकता है–यह जरूर है कि अगले अधिवेशन और पिछले अधिवेशन के बीच 6 महीने से अधिक व्यवधान नहीं होना चाहिये।"

धारा 174 के भाग 2 में कहा गया है कि "राज्यपाल समय-सयम पर (अ) दोनों या दोनों में से किसी एक सदन का सत्रावसान कर सकता है। (ब) विधानसभा भग कर सकता है।"

पजाब विधानसभा के स्थगन के बाद राजधानी में प्रदेश के नेताओं की गतिविधिया बढ गई थीं और बढ गया उन्हीं के साथ-साथ केंद्रीय सरकार का सिर दर्द भी। केंद्रीय सरकार को उसके विधि विशेषज्ञों ने सुझाव दिया कि राष्ट्रपति शासन लागू किये बिना वह पजाब के सवैधानिक सकट का चक्रव्यूह भेद सकती है। केंद्रीय विधि मत्रालय के प्रवक्ताओं का कहना है कि राज्यपाल को इस बात का अधिकार है कि भले ही अध्यक्ष ने सदन को

स्थगित किया हो, वह मुख्यमंत्री की सलाह से इसका अधिवेशन बुला सकता है, या इसे भंग कर सकता है। इन विधि विशेषज्ञों का कहना है कि एक बार अगर राज्यपाल ने सदन का अधिवेशन बुला लिया, तो फिर अध्यक्ष के निर्णय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। उनकी दृष्टि में विधानसभा की बैठक बुलाने का जो अधिकार भारतीय संविधान के अंतर्गत राज्यपाल को प्राप्त है, उस पर अध्यक्ष के निर्णय का अंकुश नहीं लगाया जा सकता। अगर अध्यक्ष मान ने अपने निर्णय पर पुनर्विचार किया और विधानसभा का अधिवेशन फिर बुला लिया तो संवैधानिक संकट सहज में ही समाप्त हो जाता, लेकिन अगर उन्होंने पश्चिम बंगाल विधानसभा के अध्यक्ष के पदचिह्नों पर चलना पसंद किया, तो इन विशेषज्ञों का कहना है कि केंद्र संविधान की धारा 256(ब) के अंतर्गत विधानसभा को स्थगित कर सकता है। विधानसभा के इस स्थगन का मंत्रिमंडल पर कोई असर नहीं पड़ेगा, क्योंकि उसका अस्तित्व फिर भी बना रहेगा। पंजाब का संवैधानिक संकट बंगाल के संवैधानिक संकट से इस दृष्टि से भी भिन्न बताया जाता है कि जहां बंगाल विधानसभा के अध्यक्ष श्री विजय बनर्जी ने डॉ. प्रफुल्लचंद्र घोष की सरकार को गैर-कानूनी घोषित किया था, वहां अध्यक्ष मान ने पंजाब के मुख्यमंत्री लक्ष्मणसिंह गिल की सरकार को कानूनी और संवैधानिक माना है। अगर किसी कारणवश संविधान की धारा 256(ब) के अंतर्गत कार्यवाही कर पाना संभव न हुआ तो संसद में ऐसा प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकता है जिसके द्वारा विधानसभा के प्रक्रिया संबंधी नियमों के आवश्यक सुधार करके राज्यपाल को तत्कालीन अध्यक्ष को पदच्युत करने और नये अध्यक्ष की अस्थायी नियुक्ति का अधिकार दिया जा सके। इन दोनों ही तरीकों से अध्यक्ष की मर्यादा कहीं न कहीं प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिये कुछ गैर-सरकारी विधि विशेषज्ञों का कहना था कि जहां तक संभव हो, इस संवैधानिक संकट का मानवीय समाधान निकाला जाना चाहिये, जिससे लोकतंत्र की स्थापनाओं और परंपरा को बल मिले। अध्यक्ष की मर्यादा को मर्यादित करने की कोशिश में इस तथ्य को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिये कि वह जनता द्वारा निर्वाचित सभा का अध्यक्ष है और राज्यपाल का हस्तक्षेप अंततः प्रशासन का हस्तक्षेप कहलायेगा।

इस समस्या को सुलझाने के लिये पंजाब के राज्यपाल श्री पावटे ने धारा 174-2-अ के अंतर्गत सत्रावसान संबंधी अधिसूचना जारी कर सदन को स्थगित कर दिया।[23] राज्य सरकार ने राज्यपाल को ऐसा ही कदम उठाने की सलाह दी थी, जब कि विरोधियों ने विधानसभा भंग करके मध्यावधि चुनाव कराने की मांग की थी।[24] विचार-विमर्श के बाद राज्यपाल डॉ० डी.सी. पावटे ने विधानसभा के बजट अधिवेशन का सत्रावसान करके उसे फिर बुलाया। राज्यपाल के साथ अपनी एक मुलाकात का हवाला देते हुए मुख्यमंत्री श्री लक्ष्मणसिंह गिल ने राज्यपाल को 18 मार्च से पुनः अधिवेशन बुलाने की सलाह दी। संयुक्त मोर्चे के नेताओं ने राज्यपाल के इस निर्णय को अलोकतांत्रिक, असंवैधानिक और अवैध बताते हुए एक प्रस्ताव पास किया, लेकिन उसे राज्यपाल के अधिकारों पर कोई

विशेष प्रभाव नहीं पडा। सदन का सत्रावसान करके राज्यपाल डॉ पावटे ने एक अध्यादेश जारी किया और अध्यक्ष के अधिकारों पर कुछ अकुश लगा दिया। इस अध्यादेश के अनुसार अध्यक्ष तब तक सदन की बैठक स्थगित नहीं कर सकता, जब तक बजट पास नहीं हो जाता। राज्यपाल ने कहा कि इस तरह का अध्यादेश जारी करना इसलिये जरूरी हो गया था ताकि सदन का कार्यक्रम सुचारु रूप से चल सके। इसके साथ ही विधानसभा को यह भी आदेश दे दिया गया कि अगर अध्यक्ष अब सदन स्थगित करता है तो सदन उपाध्यक्ष या सभापति तालिका में से किसी सभापति को पीठासीन अधिकारी के आसन पर बैठा कर सदन का कार्य चलाकर बजट पास करा सकती है। भारत में पहली बार संविधान की धारा 209 का प्रयोग कर राज्यपाल को इस तरह के अधिकारों का प्रयोग करने की छूट दी गई।

राज्यपाल के बुलाने पर जब 19 मार्च को विधानसभा का अधिवेशन हुआ तो विधानसभा के भीतर और बाहर समान रूप से तनावपूर्ण वातावरण था। अध्यक्ष ने राज्यपाल द्वारा जारी किया गया अध्यादेश सदन में पढकर सुनाया। सरदार गुरनामसिंह ने राज्यपाल के द्वारा सदन का सत्रावसान करने और बाद में पुन समवेत करने के आदेशों को चुनौती दी। मुख्यमत्री श्री गिल ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि सत्रावसान के आदेश 11 मार्च को और अधिवेशन को पुन बुलाने के आदेश दो दिन बाद जारी किये गये थे। राज्यपाल के आदेश को न तो सदन ही और न ही अध्यक्ष चुनौती दे सकते हैं। इन आदेशों की अवैधता केवल सदन के बहुमत द्वारा सिद्ध की जा सकती है। राज्यपाल के आदेश की सवैधानिक वैधता और अवैधता के पक्ष और विपक्ष में 3 घटे की बहस के बाद अध्यक्ष ने कहा कि सदन का 18 मार्च से सत्रावसान माना जायेगा। अध्यक्ष श्री मान ने निर्णय दिया कि सत्रावसान तथा विधानसभा की बैठक बुलाने सबधी राज्यपाल डॉ पावटे का निर्णय गैर-कानूनी और असवैधानिक है। उन्होंने कहा कि दो माह के लिये सदन की बैठक स्थगित करने का उनका 7 मार्च का निर्णय अब भी कायम है।[13] 14 मार्च को राज्यपाल द्वारा सदन को पुन समवेत करने का आदेश अवैध और गैर-कानूनी बताते हुए उन्होंने कहा कि नियम 105 के अतर्गत अध्यक्ष द्वारा स्थगित सदन का सत्रावसान करने का राज्यपाल को कोई अधिकार नहीं है।

लेकिन अध्यक्ष के जाने के बाद और विरोधियों के बहुत विरोध और शोर के बावजूद भी राज्यपाल के अध्यादेशानुसार उपाध्यक्ष बलदेवसिंह ने अध्यक्ष का पद सभाला। विधायकों में मारपीट हुई, प्रतिपक्षी सदन छोड कर चले गये और 15 मिनिट में विनियोग विधेयक स्वीकृत हो गये। 5 अप्रैल तक सदन स्थगित करने के साथ सत्तारूढ दल ने अध्यक्ष मान को हटाने के बारे में प्रस्ताव भी स्वीकृत कर लिया। पजाब के सवैधानिक सकट पर वक्तव्य देते हुए केंद्रीय गृहमत्री श्री चव्हाण ने ससद में मत प्रकट किया कि "राज्यपाल द्वारा विधानसभा का सत्रावसान तथा बाद में अध्यादेश जारी करना बिल्कुल सविधान सम्मत कार्य

है। अध्यक्ष द्वारा अपनाये गये बाधक रुख को देखते हुए इसका उद्देश्य बजट पास करने का अवसर देना था।" श्री भूपेश गुप्त ने इसका तीव्र विरोध करते हुए कहा कि "अध्यक्ष का यह अधिकार उपाध्यक्ष नहीं ले सकता, विशेष रूप से इस स्थिति में जब कि अध्यक्ष स्वयं ही उस कार्य की आलोचना कर रहा हो।'[24] विपक्ष के अन्य सदस्यों ने भी पंजाब की घटना को लोकतंत्र की हत्या बतलाया एवं राष्ट्रपति शासन लागू करने की अपील की। यद्यपि गृहमंत्री ने इस बात का खण्डन किया कि पंजाब के राज्यपाल ने केंद्र के आदेश पर अध्यादेश निकाला है।[25]

इसी संदर्भ में एक बात और ध्यान देने की है कि पंजाब के इस गत्यवरोध का संवैधानिक स्वरूप भले ही कुछ हो, इसके पीछे राजनैतिक तत्त्व विशेष हावी रहे। पंजाब विधानसभा एवं केंद्रीय संसद के समस्त विरोधी दल यह चाहते थे कि इस समस्या का हल राष्ट्रपति शासन के रूप में किया जाये, जैसा कि पश्चिम बंगाल एवं अन्य स्थानों पर हुआ, परंतु केंद्रीय सरकार ने गिल मंत्रिमंडल का अप्रत्यक्ष समर्थन करते हुए राज्यपाल की कार्यवाही को सर्वथा उपयुक्त एवं न्यायसंगत बतलाया।[26] पंजाब की इन संवैधानिक घटनाओं से स्पष्ट है कि राज्यपाल को साधारण व विशेष परिस्थितियों में विधानसभा बुलाने का वास्तविक अधिकार है और इसमें वह अपने अध्यादेश जारी करने के अधिकार का प्रयोग कर सकता है।

## वित्तीय शक्तियां

1935 के भारत सरकार अधिनियम में राज्यपाल को जैसी वित्तीय शक्तियां प्राप्त थीं कुछ वैसी ही वित्तीय शक्तियां 1950 के संविधान के अंतर्गत भी राज्यपाल को दी गई हैं। यद्यपि शब्द प्रायः वही हैं किंतु स्वरूप बदल गया है। वित्त के संबंध में राज्यपाल को उसी प्रकार शक्तियां और उत्तरदायित्व प्राप्त हैं जैसे भारत के राष्ट्रपति को हैं। वास्तव में राज्य के वित्त के ऊपर राज्यपाल का उतना नियंत्रण नहीं है जितना मंत्रिमंडल का है।

यह माना जाता है कि राज्य का धन जनता का धन है, अतः उस पर जनता के प्रतिनिधियों का ही नियंत्रण होना चाहिये। राज्य शासन में राज्यपाल की वित्तीय शक्तियां इस प्रकार हैं—

(1) कोई भी वित्तीय विधेयक राज्यपाल की सिफारिश के बिना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

(2) राज्यपाल की सिफारिश के बिना वित्त विधेयकों में ऐसे संशोधन भी प्रस्तावित नहीं किये जा सकते जिनका वित्तीय विषयों पर प्रभाव पड़ता हो। किंतु यदि किसी संशोधन अथवा विधेयक द्वारा किसी कर में कमी चाहिये, तो उस स्थिति में राज्यपाल की सिफारिश की आवश्यकता नहीं है।

(3) आकस्मिक निधि राज्यपाल के हाथ में रहती है। वह किसी ऐसे व्यय को, जिसकी कल्पना पहले से न हो, पूरा करने के लिये आकस्मिक निधि से धनराशि प्रदान

कर सकता है, यदि विधानसभा में उस पर अभी तक विचार नहीं हुआ हो।

(4) राज्यपाल ही प्रत्येक वित्तीय वर्ष में सदन के समक्ष बजट प्रस्तुत करवाता है। राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस बात का प्रबंध करे कि राज्य का वार्षिक वित्तीय विवरण अर्थात् बजट विधानमंडल के सदन या सदनों के सम्मुख रखा जाये और उनके द्वारा स्वीकृत किया जाये।

(5) अनुदान के लिये कोई भी माग राज्यपाल की सिफारिश से ही की जा सकती है, उसके बिना नहीं।

(6) संविधान की धारा 205 के अनुसार राज्यपाल को राज्य के विधानमंडल से अनुपूरक, अतिरिक्त या आधिक्य अनुदान मागने की शक्ति प्राप्त है।

(7) राज्य की संचित निधि के संबंध में सुरक्षा के लिये नियम बनाने का भी राज्यपाल को अधिकार है।

राज्यपाल की वित्तीय शक्तियों में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि राज्यपाल विधानमंडल द्वारा स्वीकृत वित्तीय विधेयकों को, अन्य विधेयकों के समान, लौटाने की शक्ति नहीं रखता। विधानमंडल द्वारा स्वीकृत वित्त विधेयकों पर राज्यपाल को पहली बार में अपनी स्वीकृति देनी पडती है। इससे स्पष्ट है कि एक बजट के विधानसभा द्वारा स्वीकृत होने के बाद राज्यपाल न तो उसे अस्वीकृत कर सकता है और न ही पुनर्विचार के लिये वापस भेज सकता है। केवल बजट बनाने से पूर्व उसकी स्वीकृति आवश्यक है। उसका यह दायित्व समझा गया है कि वह राज्य विधानसभा में बजट प्रस्तुत एवं स्वीकृत करवाने का प्रबंध करे और यदि ऐसा किन्हीं परिस्थितियों के कारण नहीं हो पा रहा है तो राज्यपाल अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग कर सकता है, क्योंकि बजट के द्वारा ही सरकार को आय और व्यय का वैधानिक अधिकार मिलता है। उसकी स्वीकृति न होने से राज्य सरकार का प्रशासनिक कार्य एक दिन भी नहीं चल सकता है। मार्च 1968 में पंजाब के राज्यपाल श्री पावटे को इसी कारण पंजाब विधानसभा को अध्यादेश जारी करके बुलाना पड़ा था और उसमें बजट प्रस्तुत करवा कर उसे स्वीकृत करवाना पडा था। यद्यपि बाद में पंजाब के उच्च न्यायालय में उस बजट को और विधानसभा के अधिवेशन को अवैधानिक घोषित किया था, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध विधानसभा बुलाकर बजट स्वीकृत कराने की अनुमति दे दी थी। 'साप्ताहिक दिनमान' में इसका विवरण इस प्रकार दिया गया था—

"पिछले दिनों जब उच्च न्यायालय ने पंजाब विधानसभा के बजट को अवैध और असंवैधानिक करार देकर राज्य में अस्थिरता की स्थिति पैदा कर दी थी, तब लोकसभा में भी इस प्रश्न ने काफी सदस्यों को इस विषय पर गंभीरता से सोचने के लिये मजबूर कर दिया था। सदन में दो तरह की राय थीं—एक वर्ग चाहता था कि पंजाब में तुरंत राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाये, तो दूसरा वर्ग राज्य विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर

मामला सुलझाना चाहता था। उच्च न्यायालय के निर्णय से राज्य और केंद्रीय नेताओं की सिट्टी-पिट्टी भूल गई थी क्योंकि जिस प्रकार के संविधान के अनुच्छेदों की राजनैतिक रूप से व्याख्या की कल्पना कर रहे थे, उस पर उच्च न्यायालय ने रोक लगाकर उन्हें यह चेतावनी दे दी कि संविधान की व्याख्या करना अतिशय नाजुक बात है। मुख्यमंत्री गिल भी उस दिन काफी परेशान थे। इस संवैधानिक संकट की शुरुआत 7 मार्च को हुई जब विधानसभा अध्यक्ष मान ने दो माह के लिये सदन को स्थगित कर दिया। केंद्रीय नेताओं से सलाह करने के बाद गिल को यह सलाह दी गई कि राज्यपाल इस आशय का एक अध्यादेश जारी करें कि जब तक वित्तीय विधेयक पास नहीं हो जाते, तब तक अध्यक्ष सदन को स्थगित नहीं कर सकते। तब शायद केंद्रीय नेता और विधि विशेषज्ञ भीतर ही भीतर यह बखूबी जानते थे कि संवैधानिक दृष्टि से दुरुस्त होते हुए भी नैतिक दृष्टि से ठीक नहीं है। फिर भी राज्यपाल ने संविधान के अनुच्छेद 209 के अंतर्गत बहुत-से अधिकार अपने हाथ में ले लिये और इस तरह अध्यक्ष मान द्वारा शुरू किये गये संवैधानिक संकट को आगे बढ़ाने में ही योगदान दिया।

मुख्य न्यायाधीश ने कहा कि पंजाब विनियोग विधेयक संख्या 1 और 2 (1968-69 का पंजाब बजट) संविधान की धाराओं के प्रतिकूल है। सर्वमत के निर्णय में यह भी कहा गया था कि राज्यपाल द्वारा पंजाब विधानमंडल (वित्तीय कार्य के नियमन करने संबंधी प्रक्रिया) को दिये गये अध्यादेश भी संविधान की धाराओं के प्रतिकूल हैं। सभी न्यायाधीश इस बात पर एक एकमत थे कि विधानसभा द्वारा पास किये गये दोनों विनियोग विधेयक संविधान के प्रतिकूल हैं। लेकिन जहां तक अध्यादेश की संवैधानिकता का सवाल है, उसे मुख्य न्यायाधीश ने संविधान के अनुकूल बताया। अन्य न्यायाधीशों ने इस विषय में मुख्य न्यायाधीश से अपनी सहमति प्रकट की। मुख्य न्यायाधीश ने 18 मार्च, 1968 को अध्यक्ष द्वारा विधानसभा के स्थगन को संवैधानिक माना। उन्होंने यह भी माना कि जब अध्यक्ष विधानसभा स्थगित करके चले गये थे, तो उसके बाद जो भी कार्य हुआ वह कानूनी नहीं है। मुख्य न्यायाधीश के निष्कर्षों से अपनी सहमति प्रकट करते हुए न्यायाधीश कपूर ने अपने निर्णय में लिखा है कि संविधान के अनुच्छेद 213 के अंतर्गत राज्यपाल को जो अधिकार प्राप्त हैं, उनकी सीमा को लांघ कर उन्होंने संविधान के साथ धोखा किया है।

न्यायाधीश डी.के. महाजन ने मुख्य न्यायाधीश से इस बात पर जो सहमति प्रकट की कि विनियोग विधेयक असंवैधानिक रूप से पास कराया गया है, लेकिन इस बात से असहमत रहे कि राज्यपाल द्वारा अध्यादेश जारी करना वैध है। उन्होंने कहा कि "यह बात सही है कि राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है और उस अध्यादेश में उतना ही दम होता है जितना कि विधानसभा द्वारा पास किये गये कानून में। लेकिन राज्यपाल अपने इन अधिकारों का उन्हीं परिस्थितियों में प्रयोग कर सकता है जब विधानसभा का अधिवेशन न हो रहा हो और जहां विधान परिषद् हो वहां दोनों सदन अधिवेशन में न हों।

लेकिन सदन का सत्रावसान करके राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 213 के अंतर्गत अधिकारों का प्रयोग करना असवैधानिक होगा।" लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सर्वोच्च न्यायालय ने इसके विरुद्ध अंतरिम रोधादेश के जरिये विधानसभा का अधिवेशन बुलाने की अनुमति दे दी थी जिससे राज्य का बजट स्वीकृत किया जा सके। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के वित्त का प्रबंध करवाना राज्यपाल का दायित्व है।

## न्यायिक शक्तियां

राज्यपाल को राष्ट्रपति के समान ही कुछ न्यायिक शक्तियां भी प्राप्त हैं। उसे अधिकार है कि वह राज्य की कार्यपालिका शक्ति के विस्तार के अंतर्गत दण्ड पाये हुए व्यक्तियों के दण्ड को कम कर दे, स्थगित कर दे और या पूर्णतया क्षमा कर दे। किंतु जिन अपराधों का संबंध संघ सरकार के अधिकार क्षेत्र के साथ हो, उनके विषय में राज्यपाल को कोई अधिकार नहीं है।[7] भारत का नवीन संविधान बनने से पहले भारत में क्षमादान का कानून उसी प्रकार था जिस प्रकार ब्रिटेन के सम्प्रभु को प्राप्त था। वास्तव में क्षमादान करना किसी भी कार्यपालिका-प्रधान का परमाधिकार समझा जाता है। 1935 के भारत सरकार अधिनियम की धारा 295 में भी क्षमादान का अधिकार बताया गया है। इसी प्रकार 1898 के दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 401, 402 व 426 में इसका उल्लेख किया गया है। यहां तक कि जब नया संविधान लागू हुआ, तब भी 1898 के दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 401 और 426 उसी प्रकार से मान ली गई। भारतीय संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को धारा 72 और राज्यपाल को धारा 161 के अनुसार क्षमादान का अधिकार दिया गया है। राष्ट्रपति और राज्यपाल की न्यायिक शक्तियों को देखने से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति का क्षेत्र वहां तक है, जहां तक संघ कार्यपालिका का अधिकार क्षेत्र है और राज्यपाल का उन विषयों तक है जहां तक राज्य कार्यपालिका का अधिकार क्षेत्र है। कार्यपालिका की शक्तियां व्यवस्थापिका की शक्तियों तक रहती हैं। दूसरे शब्दों में संघीय संसद ने अनुसूची सात की पहली सूची में दिये गये जिन विषयों पर कानून बनाये हैं उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को राष्ट्रपति क्षमा कर सकता है और राज्य विधानमंडल ने अनुसूची सात की दूसरी सूची में दिये गये विषयों पर जो कानून बनाये हैं, उनके विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों की सजा को राज्यपाल कम, स्थगित अथवा समाप्त कर सकता है। समवर्ती सूची पर दोनों को समान अधिकार है। लेकिन फिर भी न्यायिक शक्तियों के क्षेत्र में राष्ट्रपति की शक्तियां राज्यपाल से कहीं अधिक हैं। समवर्ती विषयों पर बनाये गये कानून के प्रति अपराध करने पर क्षमादान का राष्ट्रपति का अधिकार राज्यपाल के अधिकार से प्रमुखता प्राप्त करेगा। इसके अतिरिक्त धारा 72(1)(अ) के अनुसार सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध भी राष्ट्रपति क्षमादान कर सकता है जब कि राज्यपाल नहीं कर सकता है। मृत्युदण्ड को क्षमा करना, स्थगित करना, रोकना या दण्ड का स्वरूप बदलने का अधिकार राज्यपाल और राष्ट्रपति दोनों को है।

दण्ड देने का कार्य न्यायपालिका का और उसे क्षमा करने का कार्य कार्यपालिका का समझा जाता है। समय-समय पर न्यायालयों में क्षमादान की जो समीक्षा हुई उससे स्पष्ट है कि दोनों का क्षेत्र अलग है और इसमें विरोधाभास नहीं समझना चाहिये। उदाहरण के लिये शरदचद्र रामा का केस है। शरदचद्र रामा को आसाम के उच्च न्यायालय ने 3 वर्ष की कैद की सजा दी थी, लेकिन आसाम सरकार की सलाह से राज्यपाल ने उसकी सजा को कम करके 16 महीने की कर दी थी, क्योंकि लोक-प्रतिनिधित्व कानून के अनुसार दो वर्ष से अधिक सजा भुगतने वाला, उम्मीदवार के रूप में खडा नहीं हो सकता। इस पर यह विवाद उत्पन्न हुआ कि जब न्यायालय ने शरदचद्र को 3 वर्ष की सजा दे दी थी, तो उसे कम करना राज्यपाल के लिये क्या उचित था? अत में यह निष्कर्ष निकाला गया कि न्यायालय का कार्य दण्ड देने का है और उसे कार्यान्वित करना कार्यपालिका का कार्य है। यदि कार्यपालिका-प्रधान उचित समझे तो अपने दायित्व पर उसे क्षमादान भी दे सकता है।[14]

इसी प्रकार के बम्बई के राज्यपाल ने कमाडर नानावती के मामले में दण्ड को स्थगित करने की शक्ति का प्रयोग किया था। यद्यपि इस बात को लेकर कार्यपालिका और न्यायपालिका के मध्य बहुत विवाद उत्पन्न हुआ, फिर भी बम्बई के उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि सर्वोच्च न्यायालय में अपील की अनुमति के लिये दिये गये कमाडर नानावती के आवेदन का निर्णय होने तक बम्बई सरकार द्वारा नानावती की आजीवन कारावास की सजा को स्थगित करना न तो असवैधानिक था और न ही कानून के विरुद्ध था। के एम नानावती, जो नौविधि के अधीन था, हत्या के लिये एक साधारण फौजी अदालत द्वारा दोषी ठहराया गया और उसे आजीवन कारावास की सजा दी गई। फैसला सुना दिये जाने के बाद अभियुक्त ने सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने की आज्ञा के लिये आवेदन दिया। उस समय वह नौसैनिक हिरासत में था। अभी उसे गिरफ्तार करने के लिये वारट लागू नहीं किया गया था कि राज्यपाल ने संविधान की धारा 161 के अनुसार एक आदेश जारी किया जिसमें उस दण्ड को इस शर्त के अधीन स्थगित कर दिया गया कि अभियुक्त सर्वोच्च न्यायालय में अपील के निपटारे तक नौसैनिक हिरासत में रहेगा, जेल में नहीं रहेगा। प्रश्न यह था कि अभी जब सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय भी नहीं दिया तो क्या राज्यपाल को क्षमादान की शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार था? सर्वोच्च न्यायालय ने बताया कि यदि धारा 161 के अधीन राज्यपाल की शक्तियां उस समय भी लागू हो सकती हैं, जब कि वह मामला सर्वोच्च न्यायालय के हाथ में है, तो कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक ही क्षेत्र में और एक ही समय में कार्य करना पडेगा। वास्तव में कार्यपालिका की यह शक्ति वहा सीमित हो जाती है जहा धारा 142 के अनुसार कोई मामला सर्वोच्च न्यायालय में अभी विचाराधीन ही है। इसलिये क्षमा प्रदान करने का परमाधिकार और न्यायालय के क्षेत्र में कोई सघर्ष नहीं है।

जब अभियुक्त ने सर्वोच्च न्यायालय में अपील का केवल आवेदन ही किया हो तब राज्यपाल क्षमादान का प्रयोग कर सकता है, लेकिन जब सर्वोच्च न्यायालय उस आवेदन को स्वीकार करके यह मामला अपने हाथ में ले लेगा तब राज्यपाल दण्ड को स्थगित करने का आदेश नहीं दे सकता। कमांडर नानावती के मामले में राज्यपाल ने इस आधार पर सजा स्थगित करने का आदेश दिया था कि अभियुक्त सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने का इरादा रखता था। यह आदेश तब तक लागू रह सकता है जब तक कि सर्वोच्च न्यायालय उसका आवेदन स्वीकार करके अपील करने की विशेष आज्ञा न दे दे। लेकिन राज्यपाल द्वारा सजा स्थगित करने के कार्य का सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र पर प्रभाव नहीं होगा और यह नहीं समझना चाहिये कि क्योंकि राज्यपाल ने सजा स्थगित कर दी है इसलिये सर्वोच्च न्यायालय मुकदमा नहीं सुन सकता। राज्यपाल का यह आदेश तभी तक लागू रहेगा जब तक मामला सर्वोच्च न्यायालय के हाथ में नहीं है। इसलिये कमांडर नानावती की सजा को स्थगित करने का अधिकार संविधान के विरुद्ध नहीं था।"

इससे स्पष्ट है कि राज्यपाल को दण्ड कम करने, स्थगित करने, समाप्त करने या उसके स्वरूप को बदलने का परमाधिकार है लेकिन जिस समय कोई मुकदमा सर्वोच्च न्यायालय में विचाराधीन रहता है, उस समय राज्यपाल के पास क्षमायाचना नहीं की जा सकती और न ही उस समय राज्यपाल क्षमादान का अधिकारी होगा। जब न्यायालय के द्वारा दण्ड का निर्धारण करके निर्णय सुना दिया जायेगा तभी उसके लिये राज्यपाल के पास क्षमायाचना की जा सकती है। राज्यपाल के द्वारा दिये गये क्षमादान के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती है। लेकिन क्षमादान की शक्ति का प्रयोग ऐसी परिस्थिति में नहीं करना चाहिये जो उसे अवैध, अनैतिक या असंभव बना दें।

## विवेकगत शक्तियां

भारत में केंद्र के समान ही राज्यों की शासन व्यवस्था भी संसदीय है। यद्यपि बाहर से यही लगता है कि जिस प्रकार का संसदीय शासन केंद्र में है वैसा ही संसदीय शासन राज्यों में भी है। किंतु भारत के राष्ट्रपति और राज्यों के राज्यपाल की शक्तियों में स्पष्ट रूप से भिन्नता है और यह भिन्नता स्वविवेक की शक्तियों की है। संविधान की धारा 163(1) में उपबंधित किया गया है कि "जिन बातों में संविधान द्वारा या संविधान के अधीन, राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों का निर्वहन करने में सहायता और परामर्श देने के लिये मंत्रिपरिषद् होगी।'[39] स्पष्ट है कि यद्यपि संविधान द्वारा राष्ट्रपति को किसी भी प्रकार के कार्यों के निर्वहन में स्वविवेक की छूट नहीं दी गई है किन्तु इसके विपरीत राज्यपाल को यह अधिकार दिये गये हैं कि वे अपने स्वविवेकी कार्यों के निर्वहन में विवेक से कार्य ले सकते हैं। इस प्रकार के निर्णय करने में यह आवश्यक नहीं समझा गया है कि राज्यपाल अपने मंत्रियों से परामर्श ले अथवा उनके परामर्श के अनुसार आचरण करे। संविधान में

प्रयुक्त वाक्यांश 'स्व विवेक से' 1935 के भारत सरकार अधिनियम का स्मरण कराता है जिसमें भी यह वाक्यांश प्रयुक्त किया गया था। लेकिन जहां 1935 के अधिनियम के अंतर्गत प्रांतीय राज्यपाल के स्वविवेकी अधिकार क्षेत्र की स्पष्ट सीमाएं निर्धारित की गई थीं वहां भारतीय संविधान में ऐसा नहीं किया गया है। संविधान द्वारा राज्यपाल की विवेकगत शक्तियां परिभाषित नहीं की गई हैं। केवल एक स्थल पर यह संकेत मिलता है कि राज्यपाल, राष्ट्रपति के पूर्वानुमोदन से कुछ आदिम-जाति क्षेत्रों का प्रशासन स्वविवेक से करेगा। यह प्रश्न उत्पन्न होने पर कि राज्यपाल की स्वविवेक की शक्तियां कौन-कौन सी हैं, संविधान सभा में डॉ अम्बेडकर ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया था—"वास्तव में संविधान में केवल दो ही स्थानों पर उन कार्यों का उल्लेख मिलता है जिन्हें राज्यपाल अपने स्वविवेक के अंतर्गत करेगा और वह आसाम के राज्यपाल के लिये छठी अनुसूची के भाग 9(2) और 18 में लिखा हुआ है।'"[1] किंतु इसके साथ-साथ भारतीय संविधान में राज्यपाल को यह अधिकार दिये गये हैं कि वह इस संबंध में निर्णय कर सकता है कि किसी विषय का वह स्वविवेक से निर्णय करे। उस विषय में स्वविवेक से लिया गया उसका निर्णय अंतिम होगा।[2]

वास्तव में राज्यपाल का व्यक्तित्व दोहरा है। कुछ बातों में संविधान द्वारा राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह स्वविवेक से कार्य करे। यह बातें मंत्रिमंडल की सहायता और सलाह के अंतर्गत नहीं आतीं। यदि मंत्रिमंडल और राज्यपाल के बीच यह विवाद और प्रश्न उठे कि अमुक विषय राज्यपाल का स्वविवेक से किये जाने वाले कार्यों में है अथवा नहीं, तो राज्यपाल का स्वविवेक से किया जाने वाला निर्णय अंतिम होगा और राज्यपाल द्वारा की गई किसी बात की मान्यता पर इस कारण से कोई आपत्ति नहीं की जायेगी कि उसे स्वविवेक से कार्य करना चाहिये अथवा नहीं। संवैधानिक उपबंधों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल केवल कठपुतलीमात्र नहीं है। वह ऐसा कार्याधिकारी है जिसे राज्य के प्रशासनिक कार्यों में महत्त्वपूर्ण भाग लेना पड़ता है और मौका पड़ने पर स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग तथा विशेष उत्तरदायित्वों का पालन करना पड़ता है। यद्यपि राज्यपाल को संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से निर्देशित नहीं किया गया है कि वह स्वविवेक के अंतर्गत कौन से कार्य करेगा, फिर भी कुछ कार्य ऐसे हैं जिनके विषय में वह अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की स्थिति में होगा। वे कार्य इस प्रकार हैं—

(1) मुख्यमंत्री की नियुक्ति—राज्यपाल के द्वारा मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है। न्यायिक निर्णय द्वारा भी इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल अपने स्वतंत्र निर्णय से करेगा।[3] संसदीय शासन के अनुसार भारत में एक स्थापित परंपरा है कि निर्वाचन के तुरंत बाद बहुमत प्राप्त दल एक नेता चुन लेता है और उस नेता को राज्यपाल मुख्यमंत्री पद संभालने के लिए आमंत्रित करता है। जब तक विधानसभा में स्पष्ट बहुमत है तब तक राज्यपाल को मुख्यमंत्री नियुक्त करने में अपने विवेक से कार्य करने की

आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे बहुमत दल के नेता को ही मुख्यमंत्री बनाना होगा। किंतु हो सकता है कि राज्यों में सदा ऐसी सुखद स्थिति न रह पाये, अर्थात् किसी भी एक दल को स्पष्ट बहुमत न मिले तब मुख्यमंत्री के चुनाव में राज्यपाल स्वविवेक से कार्य लेगा। वास्तव में मद्रास और त्रावकोर-कोचीन में 1952 के प्रथम निर्वाचन के बाद और केरल तथा उडीसा में 1957 के द्वितीय सामान्य निर्वाचन के बाद ऐसा ही हुआ था। ऐसी दशा में आवश्यक बहुमत बनाने और सरकार बनाने के लिए विभिन्न दलों का आपस में मिलना स्वाभाविक है। सामान्यत इस प्रकार के सम्मिलन के पीछे सगठन का कोई बल नहीं होगा। वे दल केवल सत्ता हथियाने के लिए अधिक उत्सुक रहते हैं। ऐसी स्थिति में राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। उसे शात मन से सारी स्थिति को समझना होता है और यह निर्णय करना होता है कि सयुक्त मंत्रिमडल का नेता किसको माना जाये।

भारत में क्योंकि द्विदल पद्धति विकसित नहीं हो पाई है जो कि ससदीय शासन को सफलतापूर्वक चलाने में सहायक सिद्ध हो सकती थी, इसके विपरीत यहा बहुदल पद्धति है जहा अनेक दल निर्वाचन में भाग लेते हैं और स्पष्ट बहुमत किसी को भी नहीं मिल पाता है, इसलिए ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री किसको बनाया जाये, इसका निर्णय राज्यपाल स्वविवेक से करेगा।

**(2) मंत्रिमंडल को पदच्युत करना**—भारत के संविधान में यह उपबंध है कि "मंत्रिगण राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पदासीन रहेंगे।" इस उपबंध के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए डॉ अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया था कि—"मुझे इस बात में रचमात्र भी सदेह नहीं है कि संविधान का तात्पर्य यह है कि मंत्रिमडल तब तक पदासीन रहेगा जब तक कि उसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। 'प्रसाद पर्यन्त' का अर्थ यह है कि यह प्रसाद अथवा प्रसन्नता मंत्रिमडल का विधानसभा का विश्वास खो देने के बाद नहीं रहेगा और इस परिस्थिति में यह अनुमान है कि राज्यपाल अपनी प्रसन्नता का प्रयोग मंत्रिमडल को पदच्युत करने के लिए करेगा।"[14]

भारत के ससदीय प्रजातंत्र में जो एक दोषपूर्ण परपरा तेजी से विकसित हो रही है वह है दल बदलने की परपरा। कई बार सत्तारूढ दल में फूट पड जाती है और उसके सदस्यों का एक गुट विरोधी दल में जा मिलता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में मंत्रिमडल को आवश्यक बहुमत का समर्थन नहीं रहेगा। लेकिन फिर भी वह सत्ता को अपने हाथ में रखने को उत्सुक रहता है, इसलिए वह स्वय को आने वाले अविश्वास के प्रस्ताव से बचाने के लिए राज्यपाल को विधानसभा का सत्रावसान कर देने की सलाह देता है। इसी बीच विरोधी दल भी राज्यपाल के पास यह अनुरोध लेकर पहुच सकता है कि वह मंत्रिमडल को पदच्युत कर दे, क्योंकि मंत्रिमडल को बहुमत का विश्वास नहीं रहा है और विरोधी दल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करें। इस प्रकार एक चक्कर में डाल देने वाला राजनैतिक सकट उपस्थित हो जाता है। यह एक ऐसा मामला है जिसमें राज्यपाल से अपने

विवेक का प्रयोग करने की आशा की जाती है। यद्यपि सामान्यत वह किसी मंत्रिमंडल को, यदि उसे बहुमत का विश्वास प्राप्त है, पदच्युत नहीं करेगा। परन्तु यदि वह मंत्रिमंडल राष्ट्रीय सुरक्षा या एकता के लिए हानिकारक गतिविधियों में लगा हो, तो प्रशासन की शुद्धता के लिए और उस मंत्रिमंडल द्वारा फैलाये गये भ्रष्टाचार के उन्मूलन के लिए राज्यपाल राष्ट्रपति से परामर्श लेकर अपनी विवेकगत शक्तियों का प्रयोग करके उसे पदच्युत कर सकता है।

श्री एम.वी. पायली के शब्दों में—"यद्यपि ये सामान्य परिस्थितियां नहीं हैं, फिर भी एक ऐसे देश में, जहां लोकतन्त्रीय संस्थाएं अभी विकास की ही दिशा में हैं, और देश के कुछ भागों में प्रादेशिक, भाषागत तथा अन्य विघटनकारी निष्ठाएं अब भी जोर पकड़े हुए हैं, इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं की संभावना कठिन नहीं है। और मौके पर उपस्थित राज्यपाल ही एक ऐसा व्यक्ति है जो सारी स्थिति को भाप सकता है और उचित कार्यवाही, जिसमें मंत्रिमंडल को पदच्युत करना भी सम्मिलित है, कर सकता है।"[25]

(3) **विधानसभा को विघटित करना**—इसमें संदेह नहीं है कि सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल विधानसभा को उसका नियत कार्यकाल पूरा होने के पहले भंग नहीं कर सकता। फिर भी संसदीय शासन प्रणाली में राजनैतिक अस्थायित्व की स्थिति को समाप्त करने के लिए निर्वाचन मंडल की इच्छा को जानने के लिए इस प्रकार का विघटन संभव है। भारतीय संविधान में संसद भंग करने का अधिकार राष्ट्रपति को धारा 85(2)(ब) के अनुसार है और राज्य विधानसभा को राज्यपाल द्वारा भंग करने का अधिकार धारा 174(2)(ब) के अंतर्गत दिया गया है।

इस विषय पर ब्रिटेन में संविधान के व्यावहारिक स्वरूप का अनुसरण किया जा सकता है, जहां कि संसद को भंग करने का अधिकार क्राउन का एक विशेषाधिकार है। 19वीं शताब्दी में यह एक विवादास्पद प्रश्न था कि क्या संवैधानिक रूप से संप्रभु को प्रधानमंत्री की संसद भंग करने की सलाह स्वीकार कर लेनी चाहिये? उस समय महारानी विक्टोरिया और उसके मंत्रियों में पत्रव्यवहार से यह स्पष्ट किया गया था कि कुछ विशेष परिस्थितियों में संसद भंग करने की सलाह को अस्वीकृत करने का रानी का संवैधानिक अधिकार है। लेकिन अभी तक का इतिहास देखने से पता चलेगा कि ब्रिटेन में संप्रभु ने संसद भंग करने की सलाह को अस्वीकृत नहीं किया। इस विषय पर ब्रिटेन में दो मत हैं। एक पक्ष का मत है कि संप्रभु अपने विवेक से संसद भंग करने का आदेश न देकर विरोधी दल को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित कर सकता है। इसके विपरीत दूसरे पक्ष का विचार है कि संप्रभु को अपने विवेक से निर्णय लेने का अधिकार नहीं है और उसे संसद भंग करने का आदेश देना ही चाहिये।

प्रो. लास्की ने भी इसका समर्थन किया कि राजा इस विषय में अपने विवेक से कार्य नहीं कर सकता। उसके अनुसार जनता से संबंधित राजा के कार्य जनमत के अनुरूप, और जनता के प्रतीक के रूप में मंत्रिमंडल जो सलाह दे, वैसे होने चाहिये।[26] यदि वह स्वतंत्र

रूप से निर्णय लेता तो दलबदी में फस जायेगा और तटस्थ व निष्पक्ष सवैधानिक प्रभु नहीं रह पायेगा।

इसके विपरीत कीथ का विचार था कि अपनी जनता की भलाई के लिये राजा को ससद भग करने के विषय में स्वविवेक का अधिकार होना चाहिये।" वह प्रधानमत्री की संसद भग करने की सलाह को मान सकता है और अपने मंत्रियों को त्यागपत्र देने के लिये कह सकता है और यदि वे ऐसा नहीं करते तो स्वय उन्हें पदच्युत कर सकता है। जेनिंग्स ने भी बताया कि भले ही रानी प्रधानमत्री की सलाह को अस्वीकृत नहीं कर सकती, लेकिन संविधान को स्वाभाविक रूप से चलाने के लिए और प्रजातत्र की रक्षा के लिए वह अपने विवेक से निर्णय कर सकती है। वह लिखता है कि–"रानी का काम यह देखना है कि स्वाभाविक रूप से सवैधानिक कार्य होते रहें। वह किसी भी ऐसी सलाह को मानने से इकार कर सकती है जो सवैधानिक प्रजातत्र के विरुद्ध हो।"

कार्यपालिका प्रधान को ही व्यवस्थापिका भग करने का अधिकार है। भारत के राज्यों में *यह शक्ति राज्यपाल में निहित है। हो सकता है कि मंत्रिमडल उसे विधानसभा भग करने* की या न करने की सलाह दे। इस विषय में भी राज्यपाल को उस राज्य के हित में अपने विवेक के अनुसार कार्य करने का पूरा अधिकार है। उदाहरण के लिये 1955 में त्रावकोर-कोचीन में एक पराजित मंत्रिमडल ने राज्यपाल को विधानसभा भग करने की सलाह दी थी, किंतु राज्यपाल ने उस सलाह को नहीं माना। इसी प्रकार 1967 में मध्यप्रदेश के बहुमत खोये हुए मुख्यमत्री ने भी राज्यपाल को विधानमडल भग करने की सलाह दी थी किन्तु राज्यपाल ने ऐसा आदेश नहीं दिया था। यह स्पष्ट है कि विधानसभा को राज्यपाल अपने विवेक के अनुसार ही भग कर सकता है। राज्यपाल समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में इस बात की पुष्टि की है कि विधानसभा में बहुमत खोये हुए मंत्रिमडल की विधानसभा भग करने की सलाह राज्यपाल पर बधनकारी नहीं है।"

**(4) राष्ट्रपति को संकटकालीन घोषणा की सलाह देना**–जिस स्थिति में राज्य के मामलों में राष्ट्रपति का हस्तक्षेप और उस राज्य में सकटकाल को लागू करना आवश्यक हो–इस बात का निर्णय करना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है जो कि राज्यपाल को सौंपा गया है। हो सकता है कि उस राज्य की सरकार उसे यह सलाह देना न चाहे कि वह राष्ट्रपति से उस राज्य में सकटकालीन घोषणा के लिये सिफारिश करे। डॉ अम्बेडकर के शब्दों में–"इस प्रकार की रिपोर्ट मंत्रिमडल की सलाह के अतर्गत प्रस्तुत नहीं की जा सकती क्योंकि इससे राज्य में सवैधानिक शासन को स्थगित कर दिया जायेगा। स्वाभाविक है कि कोई भी मंत्रिमडल राज्यपाल को इस प्रकार की सलाह देने के पक्ष में नहीं होगा जिससे उसके शासन की ही समाप्ति हो जाये।"" ऐसी स्थिति में यदि राज्यपाल राष्ट्रपति को उस राज्य में सवैधानिक तत्र के भग हो जाने की रिपोर्ट भेजता है, तो स्पष्ट ही वह स्वविवेक की शक्ति के अनुसार ही ऐसा करता है। प्रारम्भ में पजाब, पेप्सू, आध्र, त्रावकोर

को कोई भी जानकारी मागने की शक्ति इसलिये देना चाहते हैं कि जिससे वह अच्छे और शुद्ध प्रशासन के विषय में अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सके।"[3]

राज्यपाल जिस समय मुख्यमंत्री से राज्य शासन से संबंधित कोई सूचना मांगता है, तब वह सूचना देना मुख्यमंत्री के लिये आवश्यक होता है।

**(7) विधेयक को पुनर्विचार के लिये लौटा देना**–विधानमंडल जो विधेयक स्वीकृत करता है, उस पर राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। एक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में प्रतिनिधियों ने बहुमत से जो विधेयक पारित किया है, उसे राज्यपाल को स्वीकृत कर देना चाहिये। लेकिन राज्यपाल यदि अपने विवेक से यह निर्णय करे कि वह विधेयक देश व राज्य के हित में नहीं है, तो उसमें संशोधन का सुझाव देकर विधानमंडल के पास पुनर्विचार के लिय लौटा सकता है।

**(8) विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजना**–कुछ विषय ऐसे निर्धारित कर दिये गये हैं कि यदि उन पर राज्य विधानमंडल कानून बनाता है तो राज्यपाल उस विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रख सकता है। कोई भी विधेयक उस निश्चित विषय से संबंधित है अथवा नहीं—इसका निर्णय अपने विवेक से करता है और उसका निर्णय अंतिम होता है।

**(9) अध्यादेश के लिये राष्ट्रपति का अनुदेश मांगना**–जब विधानमंडल का अधिवेशन नहीं हो रहा हो और तत्काल किसी आदेश की आवश्यकता है तो राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है, जो कि कानून के समान ही प्रभावकारी रहता है। यद्यपि कई अध्यादेश राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह से जारी करता है, लेकिन किसी विशेष अध्यादेश को जारी करने से पूर्व वह राष्ट्रपति से अनुदेश की याचना कर सकता है और राष्ट्रपति के आदेश के अनुसार कार्य कर सकता है।

**(10) आसाम के राज्यपाल की स्वविवेक की शक्तियां**–संविधान के द्वारा आसाम राज्य के राज्यपाल को स्पष्ट रूप से वे विषय बता दिये गये हैं जिसमें वह मुख्यमंत्री की सलाह के अनुसार कार्य करने को बाध्य नहीं होगा बल्कि अपने विवेक से निर्णय लेकर उन कार्यों को करेगा। आसाम के राज्यपाल के स्वविवेक के क्षेत्र में ये विषय आते हैं–आदिम जाति क्षेत्रों की कुछ प्रशासनिक समस्याओं का हल करना, उसमें राज्य तथा स्वायत्तशासी जिलों की जिला परिषदों के खनिज स्वामित्व संबंधी विवादों का निर्णय करना।

(11) सन् 1975 में संविधान में अड़तीसवां संशोधन किया गया, जिसके अनुसार भारतीय संघ में सिक्किम का विलय कर बाईसवें नवीन राज्य का उदय हुआ। इस नवीन संविधान संशोधन के माध्यम से अनुच्छेद 371(1) के अनुसार भारतीय संघ के अन्य राज्यों के राज्यपालों की तुलना में सिक्किम के राज्यपाल को कुछ और 'विशिष्ट उत्तरदायित्व एवं शक्तियां' प्रदान की गई हैं। प्रतिपक्ष के नेताओं द्वारा 'विशिष्ट उत्तरदायित्व एवं शक्तियों' पर आपत्ति का उत्तर देते हुए श्री वाई.बी. चव्हाण ने बताया कि सिक्किम हमारे देश का

सीमावर्ती राज्य है इसलिये राष्ट्रीय सुरक्षा की उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

इसके अतिरिक्त 1956 में राज्यों के पुनर्गठन से और संविधान में एक नया अनुच्छेद 371 जोड दिये जाने से राष्ट्रपति को यह अधिकार मिल गया है कि वह पजाब, आंध्रप्रदेश और महाराष्ट्र में राज्यपालों के किसी भी विशेष उत्तरदायित्व के लिये व्यवस्था कर सके। इससे राज्यपाल की विवेकगत शक्तियों का क्षेत्र और भी अधिक बढ जाता है। संविधान की धारा 239 के अनुसार किसी राज्य का राज्यपाल केंद्र शासित प्रदेश का प्रशासक भी नियुक्त किया जा सकता है, और उस केंद्र शासित प्रदेश के प्रशासन में राज्यपाल उस राज्य के मंत्रिमडल की सलाह से कार्य नहीं करेगा, क्योंकि राज्य मंत्रिमडल को केंद्र शासित प्रदेश में शासन करने का अधिकार किसी भी तरह नहीं है।" राष्ट्रपति के 4 नवम्बर, 1957 के आदेश से राज्यपाल की स्थिति और भी सुदृढ हो गई है। इसके अनुसार पजाब की प्रादेशिक समिति और मत्रिमडल में किसी विषय पर मतभेद हो तो वह विषय मुख्यमत्री के द्वारा राज्यपाल को भेजा जायेगा और उस पर राज्यपाल का निर्णय अंतिम होगा। मंत्रिमडल उसे मानने के लिये बाध्य होगा और उसी के अनुसार कार्यवाही की जायेगी।"

राज्यपाल के उक्त स्वविवेक की शक्तियों और उसके विशेष उत्तरदायित्व के सबध में यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि राज्यपाल के यह स्वविवेक के कार्य निरपेक्ष हैं। यह नहीं भूलना चाहिये कि निरपेक्ष स्वविवेक निरकुशता का प्रतीक है, अत ससदीय शासन व्यवस्था में इसका कोई स्थान नहीं हो सकता है। एक प्रजातत्रात्मक संविधान राज्यपाल को किसी भी परिस्थिति में निरकुश सत्ता प्रदान नहीं कर सकता। भारतीय संविधान, जो कि स्पष्टत एक आदर्श लोकतत्रात्मक संविधान है और भारत में ससदीय शासन व्यवस्था की स्थापना करता है, इस बात को सुनिश्चित रूप से स्थापित कर देता है कि राज्यपाल किसी भी परिस्थिति में एक निरकुश सत्ताधारी के रूप में आचरण नहीं कर सकता। राज्यपाल के स्वविवेक के कार्यों से एक बात स्पष्ट है कि राज्यपाल इन कार्यों को मंत्रिमडल की सलाह के बिना ही करेगा। लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि मत्रिमडल की सलाह के विरुद्ध राज्यपाल द्वारा कार्य करने पर विरोध स्वरूप मंत्रिमडल अपने पद से त्यागपत्र दे दे और विकल्प में राज्यपाल दूसरा मत्रिमडल न बना सके। ऐसी स्थिति में या तो राज्यपाल मंत्रिमडल की सलाह मान लेगा या उग्र मतभेद होने, तो वह विधानसभा भी भग कर सकता है। यदि पुनर्निर्वाचन में किसी अन्य दल को बहुमत मिलता है तो उसका अर्थ होगा कि राज्यपाल का कार्य उचित था। किंतु यदि सयोग से फिर पहले वाले दल को ही बहुमत मिलता है और वही मंत्रिमडल बनता है तो राज्यपाल के सामने मंत्रिमडल की सलाह मानने के सिवा कोई रास्ता नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में यह माना जायेगा कि राज्यपाल के स्वविवेक द्वारा किये गये कार्य को जनता की सहमति नहीं मिली।

यह भी प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जब राज्य के शासन की वास्तविक शक्तियां मंत्रिमडल के पास हैं तो मंत्रिमडल की इच्छा के विपरीत राज्यपाल को स्वविवेक की शक्तियां

क्यों दी गई? इसका उत्तर यह हो सकता है कि सामान्य परिस्थितियों में तो राज्यपाल मंत्रिमडल की सलाह से ही कार्य करेगा किंतु जब संविधान के प्रति निष्ठा, कानून और व्यवस्था या राज्यपाल का पद ग्रहण करते समय ली गई शपथ की सुरक्षा का प्रश्न उत्पन्न होगा तो राज्यपाल स्वविवेक से कार्य कर सकता है।" यद्यपि राज्य मंत्रिमडल अथवा राज्य विधानमडल राज्यपाल पर कोई ठोस रोक नहीं लगा सकते किंतु राष्ट्रपति के पास राज्यपाल को नियंत्रित करने की महत्त्वपूर्ण और निर्णायक शक्ति है। राज्यपाल अपने स्वविवेक के प्रयोग में एकदम स्वतत्र नहीं है। एक महत्वाकांक्षी तथा विरोधी आचरण वाले राज्यपाल का राष्ट्रपति विरोध कर सकता है और उचित समझने पर वह उसे पदच्युत भी कर सकता है। अंतिम विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य अथवा असामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल अपने स्वविवेक के अधिकार के प्रयोग में स्वतत्र नहीं है। अपने सामान्य कार्यों में यदि वह मंत्रिमडल की सलाह नहीं मानेगा तो राजनैतिक परिस्थिति ऐसी करवट लेगी जिसमें उसकी पदच्युति अवश्यम्भावी है। असामान्य परिस्थितियों में उसे कुछ वास्तविक सत्ता प्राप्त होती है। किंतु असामान्य परिस्थितियों में जैसे युद्ध अथवा आतंरिक अशांति या राज्य में सवैधानिकतत्र की विफलता आदि में राज्यपाल राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करेगा और स्वय अपना स्वामी तब भी नहीं हो पायेगा।

## कुलाधिपति के रूप में कार्य

यद्यपि संविधान में यह प्रावधान नहीं है किंतु फिर भी लगभग सभी राज्यों की व्यवस्थापिका ने यह सवैधानिक व्यवस्था की है कि राज्यपाल राज्य में, केंद्रीय विश्वविद्यालयों को छोडकर, अन्य सभी विश्वविद्यालयों का पदेन कुलाधिपति बनाया जायेगा। राज्यपालों को विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति बनाने की यह व्यवस्था ब्रिटिश शासन काल से ही चली आ रही है। उस समय अंग्रेजों ने अपने राज्यपालों को विश्वविद्यालय का कुलाधिपति इसलिये बनाया था कि वे वहा ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा कर सकें। वर्तमान समय में राज्यपाल कुलाधिपति के रूप में विश्वविद्यालय और सरकार के बीच मध्यस्थता का कार्य करता है।

कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल की शक्तियों की व्याख्या विधानमडल के द्वारा कानून बनाकर की गई है। उसके अनुसार राज्यपाल को विश्वविद्यालय के प्रशासन का सचालन करना होता है। विश्वविद्यालय में उपाधि-वितरण के अवसर पर वह कार्यक्रम और समारोह का सचालन करता है। कुछ विश्वविद्यालयों में वह केवल स्वर्ण पदक का वितरण करता है और कुछ में उपाधियों का भी। वह विश्वविद्यालय की सीनेट का अध्यक्ष होता है और उसके अध्यादेश और विधान को स्वीकृति देता है। विश्वविद्यालय की सस्थाओं, जैसे सीनेट, सिण्डीकेट के निर्वाचन, सदस्यों के कार्यकाल आदि के सबध में उसका निर्णय अंतिम होता है। विश्वविद्यालय के किसी भी मामले से सबंधित फाइल को वह देख सकता है।

उसे विश्वविद्यालय के भवन, अध्यापन कार्य, साज-सामान सहित किसी भी मामले का निरीक्षण करने का अधिकार है। यदि वह आवश्यक समझे तो सीनेट और सिण्डीकेट

में कुछ सदस्यों को मनोनीत भी कर सकता है।[19]

कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल का व्यक्तित्व दोहरा होता है। वह राज्य कार्यपालिका का प्रधान है और विश्वविद्यालय का सर्वोच्च अधिकारी भी। राज्यपाल के शासकीय कार्य और कुलाधिपति के कार्यों में थोड़ा-सा अंतर है। एक बात तो यह है कि कुलाधिपति विश्वविद्यालय का अधिकारी है और उसे विश्वविद्यालय कानून के अनुसार कार्य करना पड़ता है। राज्यपाल को कुलाधिपति के रूप में कार्य करते समय अपने मंत्रिमंडल की सलाह लेनी चाहिये कि नहीं इस पर विभिन्न मत हैं। राज्यपाल समिति ने अपनी रिपोर्ट में सुझाव दिया कि राज्यपाल को कुलाधिपति के कार्य मंत्रिमंडल की सलाह के अनुसार करने चाहिये।[20]

कुछ लोगों का यह भी आरोप है कि सरकार और विश्वविद्यालय के हितों में संघर्ष होने पर राज्यपाल सरकार के हितों को प्रधानता देता है और निष्पक्ष रूप से कार्य नहीं कर पाता।[21] राज्यपाल के कारण विश्वविद्यालय की स्वायत्तता भी नष्ट होती है क्योंकि उसके माध्यम से शासन विश्वविद्यालय के मामलों में हस्तक्षेप करता है। लेकिन यह आरोप पूर्णरूप से सही नहीं है, क्योंकि कुछ राज्यपालों ने राज्य सरकार से स्वतंत्र और सक्रिय रूप में विश्वविद्यालय के कुलाधिपति का कार्य किया है। बल्कि इसके साथ ही उन्होंने शासन के हस्तक्षेप से विश्वविद्यालय का बचाव भी किया है। उदाहरण के लिये बिहार के तत्कालीन राज्यपाल श्री आयंगर ने राज्य के मंत्री और उपमंत्री से विश्वविद्यालय की सिंडीकेट और महाविद्यालय की प्रशासिका से त्यागपत्र दिलाये थे।[22] एक कुलाधिपति के रूप में उन्होंने राज्य शासन से पृथक् रूप में कार्य करने का प्रयास किया था। इस बात की पुष्टि बिहार के शिक्षा मंत्री श्री सत्येन्द्र नारायण सिंह के द्वारा विधानसभा में की गई थी कि वहां राज्यपाल ने कुलाधिपति के रूप में प्रशंसनीय ढंग से कार्य किया था।

मध्यप्रदेश में विभिन्न अधिनियमों से शासित होने वाले विभिन्न विश्वविद्यालयों के प्रशासन में एकरूपता एवं समरूपता लाने के लिये 1973 में मध्यप्रदेश विधानसभा द्वारा मध्यप्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया।[23] इस अधिनियम के अंतर्गत मध्यप्रदेश का राज्यपाल कुलाधिपति के रूप में ज्यादा स्पष्ट और सुलझी हुई समान भूमिका को निभा सकेगा। इसमें कुलाधिपति होने के नाते राज्यपाल को अनेक शक्तियों से विभूषित किया गया।

कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल की भूमिका के विषय में एक विचार यह है कि राज्यपाल पदेन कुलाधिपति होता है। कुलाधिपति के रूप में वह राज्य के कार्यपालिका प्रधान का कार्य नहीं करता है इसलिये विश्वविद्यालयीन प्रश्नों के संदर्भ में वह अपने मंत्रिमंडल का परामर्श मानने के लिये बाध्य नहीं है।[25] इस विषय में भारत के महान्यायवादी ने भी अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि कुलाधिपति विश्वविद्यालयीन मामलों में अपने स्वविवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय से कार्यवाही कर सकता है।[26]

स्पष्ट है कि कुलाधिपति की नियुक्ति तथा विश्वविद्यालय के अन्य विषयों के संदर्भ में राज्यपाल अपने स्वविवेक से कार्य करने के लिये स्वतंत्र है परंतु व्यावहारिक दृष्टि से वह

अपने मंत्रिमंडल के परामर्श से कार्य करता है। विश्वविद्यालय क्षेत्रों में यह भी अनुभव किया जाता है कि विश्वविद्यालय में विभिन्न समितियों में मनोनयन के समय राज्यपाल को कुलपति से परामर्श करना चाहिये क्योंकि विश्वविद्यालय के सुशासन के लिये अतन कुलपति ही उत्तरदाई है।"

बदलती हुई परिस्थितियों में राज्यपाल को कुलाधिपति के रूप में अपन ज्ञान एव अनुभव के आधार पर बडी दक्षता से यथार्थ भूमिका का निर्वाह करना चाहिय ताकि वह प्रदेश में उच्च शिक्षा के विकास, विस्तार का सही सरक्षक सिद्ध हो सके। विश्वविद्यालयीन प्रशासन में वह एक सार्थक भूमिका निभा सकता है।

## अन्य कार्य

इसके अतिरिक्त राज्यपाल को और भी विविध प्रकार के कार्य करने पडते हैं। वह राज्य लोक सेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उसे समीक्षा के लिये मंत्रिमडल के पास भेजता है। मंत्रिमडल की समीक्षा प्राप्त होने पर वह दोनों प्रलेखों को विधानसभा के अध्यक्ष के पास भेज देता है। अध्यक्ष उन्हें विधानमडल के पास पेश करता है। राज्य के आय-व्यय के बारे में महालेखपाल के प्रतिवेदन को भी राज्यपाल इसी प्रकार निपटाता है। राज्यपाल के कार्यों को देखने से स्पष्ट है कि उसकी भूमिका द्विमुखी है। उससे न केवल केंद्र को ही लाभ है किन्तु यदि राज्य चाहे तो वे भी लाभ उठा सकते हैं। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और उसे राष्ट्रपति की आख और कान कहा जाता है। इससे तात्पर्य यह है कि राज्यपाल से आशा की जाती है कि वह केंद्र को राज्य सबधी सूचनाए देता रहे जिससे केंद्र किसी आकस्मिक घटना या आवश्यकता के लिये तैयार रहे। भारतीय सघ के अतर्गत राज्यपाल को केंद्र और राज्यों में एकरसता स्थापित करनी है।

यदि हम संविधान की धारा 160 पर ध्यान दें तो देखेंगे कि राज्यपाल केंद्र और राज्य के सबधों को सुविधाजनक रखने में एक महत्त्वपूर्ण काम कर सकता है। धारा 160 में लिखा है कि इस संविधान में–"उपबध न की हुई किसी आकस्मिकता में राज्य के राज्यपाल के कार्यों के निर्वाह के लिये राष्ट्रपति जैसा उचित समझे वैसा उपबध बना सकेगा।""[4] इसका अर्थ यह हुआ कि यदि राष्ट्रपति चाहे तो राज्यपाल की शक्ति के अधिकार क्षेत्र का विस्तार कर सकता है। अपने कार्य व शक्तियों के आधार पर राज्यपाल दोनों प्रकार के कार्य कर सकता है। केंद्र और राज्य के सबधों के लिये यह सहृदय मध्यस्थ का भी काम कर सकता है और सतापक या कष्टदायक भी हो सकता है। वह किस प्रकार का कार्य करेगा, उसकी इच्छा पर निर्भर है। कोई भी काम देश और जनता के हित में कैसे होता है, वह संविधान की धाराओं पर इतना निर्भर नहीं है जितना इस बात पर निर्भर है कि उन धाराओं को कार्यान्वित करने वाले व्यक्ति कैसे हैं। राज्यपाल ऐसी परिस्थितियों में, जैसी कि पश्चिम बगाल में उत्पन्न हो गई थीं, अपने कृत्यों द्वारा केंद्र और राज्य के सबधों में सुविधा और असुविधा उत्पन्न करने में बडा भारी भागीदार हो सकता है।

## टिप्पणियां

1 Amarnath Vidyalankar— The Governor s Powers' *Indian Express* (26 August 1967)

2 सुनील कुमार बोस बनाम पश्चिम बंगाल के मुख्य सचिव के मुकदमे में कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय का अंश। डॉ दयाल– भारत का संविधान (छठा संस्करण, 1967) पृ 160

3 M V Pylee— The Governor and the Constitution *Economic and Political Weekly* (5 August 1967)

4 संविधान सभा के वाद विवाद' (खण्ड 8) पृष्ठ 434

5 श्री डी डी बसु– भारत के संविधान की समीक्षा (चौथा संस्करण 1969) पृष्ठ 147

6 C K Narayanswami— Powers of the Governor *Bharat Jyoti* (7 January 1968)

7 श्यामधन बनाम राज्य ए आई आर 1952 उड़ीसा 202 उजागर सिंह बनाम पंजाब ए आई आर 1952 सु को 350

8 Article 166(2)— Orders and other instruments made and executed in the name *of the Governor shall be authenticated in such manner as may be specified in* rules to be made by the Governor and the validity of an order or instrument *which is so authenticated shall not be called in question on the ground that it is* not an order or instrument made or executed by the Governor

9 बिहार बनाम रानी सोनावती कुमारी ए आई आर ' 1951 सु को 22

10 Article 166(3)— The Governor shall make rules for the more convenient transaction of the business of the Government of the State and for the allocation among Ministers of the said business in so far as it is not business with respect to which the Governor is by or under this constitution required to act in his discretion Constitution of India (1963)

11 Ansari— Governor and his powers Searchlight (21 January 1968)

12 H R Pardivala— The Governor and the Constitution Thought (16 Dec 1967)

13 Article 174(1)— The Governor shall from time to time summon the House or each House of the Legislature of the State to meet at such time and place as he *thinks fit but six months shall not intervene between its last sitting in one* session and the date appointed for its first sitting in the next sitting *Constitution of India (1963)*

14 Article 174(2)— The Governor may from time to time—
(a) prorogue the House or either House
(b) dissolve the Legislative Assembly Constitution of India (1963)

15 Article 176(1)— At the commencement of the first session after each general election to the Legislative Assembly and at the commencement of the first session of each year the Governor shall address the Legislative Assembly or in the case of a State having a legislative council both Houses assembled together and inform the legislature of the causes of its summons Constitution of India *(1963)*

16 Satyapal Dang— Powers of Governors under the Constitution' *Patriot* (14 *Dec 1967)*

17 Sarjoo Prasad— The Governor Powers' *Free Press Journal* (1 Dec, 1967)

18 J C *Anand— Punjab Politics A survey* State Politics in India Iqbal Narain (ed ) Meerut (1967) p 217

19 Article 213(1)—' If at any time, except when the Legislative Assembly of a

*State is in session or where there is a Legislative Council in a State except* when both Houses of the Legislature are in session, the Governor is satisfied that circumstances exist which render it necessary for him to take immediate action he may promulgate such ordinances as the circumstance appear to him to require " Constitution of India' (1963)

20 'The Times of India', (Bombay Wednesday 13 March 1968)
21 'हितवाद' (भोपाल 14 मार्च, 1968)
22 'नई दुनिया' (इंदौर, 13 मार्च, 1968)
23 वही, (इंदौर, 19 मार्च, 1968)
24 'हिन्दुस्तान' (नई दिल्ली, 22 मार्च, 1968)
25 वही, (नई दिल्ली 17 मार्च, 1968)
26 वही, (नई दिल्ली, 22 मार्च, 1968)
27 Article 161—"The Governor of a State shall have the power to great pardons, reprieves, respites or remissions of punishment or to suspend, remit or commute *the sentence of any person convicted to any offence against any law relating to* a matter to which the executive power of the State extends "'Constituon of India' (1963)
28 (1961) 2 'S C R At pp 137 38
29 *H M Seervai—'Constitutional Law of India', p 61*
30 Article 163(1)—"There shall be a council of Ministers with the Chief Minister at the head to aid and advise the Governor in the exercise of his functions, except in so far as he is by or under this constitution required to exercise his *functions or any of them in his discretion ' 'Constitution of India' (1963)*
31 The Role of Governors', Report of the Committee of Governors' (1971, Presidents Secretariat, New Delhi) p 12
32 Article 163(2)—"If any question arises whether any matter is or is not a matter *as respects which the Governor is by or under this Contitution required to act in* his discretion, the decision of the Governor in his discretion shall be final, and the validity of anything done by the Governor shall not be called in question on the ground that he ought or ought not to have acted in his discretion " 'Constitution of India' (1963)
33 In Mahabir Prasad Sharma *vs* Prafulla Chandra Ghose and others, the Calcutta High Court held—"The Governor in making the appointment of the Chief Minister under Article 164(1) of the Constitution acts in his sole discretion The exercise of this discretion by the Governor cannot be called in question in writ proceedings in High Court "'AIR 1969, Calcutta, 198'
34 A G Noorani—'Covernor's powers to dismiss a ministry', 'Indian Express' (1 Dec , 1967)
35 *M V Pylee—'Constitutional Government in India', 1967, p 47*
36 "The king's public acts must be of an automatic character, he must, in public view, accept the advice of his Ministers ' H J Laski—'Parliamentary Government in England' (1930) p 430
37 A B Keith— *The King and the Imperial Crown (1936) p 140*
38 W I Jennings— Cabinet Government (1959), pp 411 412
39 The Role of Governors Report of the Committee of Governors', (1971) President's Secretariat New Delhi) p 60
40 *Ibid, p 15*
41 Article 167(c)— It shall be the duty of the Chief Minister of each State, if the

Governor so requires to submit for the consideration of the Council of Ministers any matter on which a decision has been taken by a Minister but which has not been considered by the Council Constitution of India (1963)

42 Constitutional Assembly Debates (Chapter 8) p 541

43 *Ibid* p 541

44 दि हिन्दुस्तान टाइम्स नई दिल्ली 25 अप्रैल 1975

45 The Role of Governors Report of the Committee of Governors (1971 President s Secretariat New Delhi) p 18

46 4 नवम्बर 1957 के आदेश की दूसरी अनुसूची का नियम 9-क

47 The Role of Governors Report of the Committee of Governors (1971 President s Secretariat New Delhi) p 20

48 Robert L Gaudine— The Indian University (Bombay Popular Prakashan 1955) p 58

49 Governor s Role as Chancellor— we have no doubt that it would be advisable *for him to consult his Chief Minister and the Ministers concerned in the more* important administrative matters specially such as may throw a burden on the finances of the State—the fact has to be born in mind that while the Governor is immune from suit and it is not open to anyone to question whether any or if so what advice was tendered to him the Chancellor does not enjoy similar immunity and is liable to be dragged into court and question It is therefore incumbent on the Ministers and even more necessary for the Chancellor to *weigh the advice most carefully particularly on matters or procedures which* may be or become justiciable The ultimate decision should in such case rest *with the Chancellor There is even otherwise advantage in this as being or* expected to be above party the Chancellor s decision is less likely to be interpreted as motivated by considerations of local politics or patronage In any event it would be the decision of an officer of the University not of any authority outside it Report of the Committee of Governors (1971 President s Secretariate New Delhi) p 69

50 Report of the University Education Commission (Vol II Part I Manager of *Publications Government of India (1951) p 146*

51 Purushottam Singh— Governor's Office in Independent India (I ed 1968) p 213

52 यह अधिनियम मध्यप्रदेश राजपत्र (असाधारण) दिनांक 4 मई 1973 को प्रकाशित शिक्षा विभाग की विज्ञप्ति क्र 940/73/3 मई 1973 को अपर्तित था और दिनांक 5 मई 1973 को प्रभावशाली हुआ।

53 *Purushottam Singh op cit p* 199

54 Proceedings of the Vice Chancellor s Conference Ministry of Education Govt of India, 1961 p 20

55 Haridwar Rai and Rup Narayan Jha—'The Governor s Chancellor Vol XXXII April June 1971 No 2

56 Article 160— The President may make such provision as he thinks fit for the discharge of the functions of the Governor of a State in any contingency not *provided for in this chapter* Constitution of India (1963)

# 6

# मंत्रिमंडल

व्यावहारिक प्रजातत्र को ब्रिटेन की सबसे बडी देन मंत्रिमडलीय व्यवस्था है। यद्यपि ब्रिटेन में यह व्यवस्था परिस्थिति व आवश्यकता के कारण विकसित हुई और धीरे-धीरे अभिसमय के रूप में इसने ब्रिटिश शासन व्यवस्था में अपना स्थान दृढ बना लिया, तथापि बाद में इस शासन-व्यवस्था के ऐसे गुण प्रकट हुए कि अधिकाश राज्यों ने उसी प्रणाली को अपना लिया। ब्रिटिश शासन पद्धति में मंत्रिमडल ही मुख्य केंद्र बिंदु है। यदि ब्रिटेन में कोई संविधान निर्मात्री सभा ब्रिटेन के संविधान को लिखित रूप देना चाहे तो वह मंत्रिमडल को सर्वोपरि स्थान देगी।[1] भारत भी एक ऐसा ही राज्य है। स्वतत्रता से पूर्व सवैधानिक विकास द्वारा ब्रिटिश शासकों ने मंत्रिमडलीय व्यवस्था की नींव डाल दी थी। और इस कारण जब नवीन संविधान बनाया गया तो उसके गुणों को देखते हुए उसे ही अपनाना अधिक उचित समझा गया।

यह शासन की वह व्यवस्था है जिसके अतर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सबध रखते है और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदाई होती है। इसमें कार्यपालिका-शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न होकर मंत्रिमडल या केबिनेट नामक एक समिति में निहित होती है। इसलिये इसे मंत्रिमडलात्मक शासन पद्धति या केबिनेट शासन भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त इस शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदाई होती है। इसलिये इसे उत्तरदाई शासन भी कहा जाता है। वास्तव में किसी भी राज्य का राजनैतिक जीवन वहा की कार्यपालिका के स्वरूप पर निर्भर रहता है। ससदीय शासन में कार्यपालिका के दोहरे कार्य और दोहरे उत्तरदायित्व रहते हैं।[2]

इसमें शासन का प्रधान नाममात्र का प्रधान होता है और शासन के वास्तविक प्रधान के रूप में मत्रिमडल के द्वारा कार्य किया जाता है। लोकप्रिय या निम्न सदन में जिस राजनैतिक दल को बहुमत प्राप्त हो, राज्य के प्रधान द्वारा उस राजनैतिक दल के नेता को प्रधानमत्री पद ग्रहण करने के लिये आमंत्रित किया जाता है। मंत्रिमडल को सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धात के आधार पर कार्य करना होता है। इसलिये प्रधानमत्री साधारणत अपने ही राजनैतिक दल में से मंत्रिमडल का निर्माण करता है। साधारणत मंत्रिमडल के

सदस्यों के लिये व्यवस्थापिका का सदस्य होना आवश्यक रहता है, किंतु प्रधानमंत्री किसी ऐसे व्यक्ति को भी मंत्रिमंडल में ले सकता है जो व्यवस्थापिका का सदस्य न हो, किंतु कुछ निश्चित समय में उसे व्यवस्थापिका का सदस्य बनना आवश्यक होता है। मंत्रिमंडल के सदस्यों को व्यवस्थापिका में उपस्थित होकर अपना दृष्टिकोण व्यक्त करने का अधिकार होता है। *व्यवस्थापिका मंत्रिमंडल पर प्रश्न पूछने और आलोचना करने आदि कार्यों द्वारा नियंत्रण* रखती है। विशेष परिस्थितियों में व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत करके मंत्रिमंडल को उसके स्थान से हटा सकती है। मंत्रिमंडल को भी यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह राज्य के प्रधान को व्यवस्थापिका के विघटन की सिफारिश करे।

मंत्रिमंडलीय व्यवस्था की सफलता के लिये सबसे प्रमुख बात यह है कि व्यवस्थापिका में निश्चित राजनैतिक दल होने चाहिये और मंत्रिमंडल का निर्माण उस दल द्वारा होना चाहिये जो व्यवस्थापिका में बहुसंख्यक हो अथवा अधिकांश सदस्यों का समर्थन पा सकता हो। मंत्रिमंडल के अधिकांश सदस्य बहुसंख्यक दल से अथवा उस दल से लिये जाने चाहिये जिसको शासन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने और सत्ता की बागडोर संभालने के लिये कहा गया है। इससे शासन में एक संगठित नीति का बना रहना सुलभ होता है। परंतु यदि निम्न सदन में दो या अधिक दल हैं और किसी का भी स्पष्ट बहुमत नहीं है, तो प्रभावशाली दल के नेता को सरकार बनाने के लिये कहा जाता है। वह अपने सहयोगियों को अपने दल से और आवश्यकता होने पर अन्य दल से भी चुन सकता है और निम्न सदन में किसी अन्य दल *अथवा दलों की सहायता पर निर्भर रहकर शासन का उत्तरदायित्व ग्रहण कर सकता है,* अथवा वह एक संयुक्त मंत्रिमंडल भी बना सकता है। एक संयुक्त मंत्रिमंडल की नीति में स्वभावत संयुक्त दल की रचना करने वाले दलों के सिद्धांतों में समझौता शामिल होता है और इसका अर्थ है एक निर्बल मंत्रिमंडल, जिसके बहुधा भंग हो जाने का भय रहता है।

*भारत में इस तरह की मंत्रिमंडलीय व्यवस्था यद्यपि संविधान के द्वारा स्थापित की गई* है तथापि यदि हम भारत के ब्रिटिशकालीन इतिहास को देखेंगे, तो स्पष्ट होगा कि भारत में भी इस पद्धति का क्रमिक विकास हुआ है। जब ब्रिटेन का भारत में आधिपत्य स्थापित हो गया था तब भारत में तेजी से परिवर्तन शुरू हो गया था। कानून और व्यवस्था की स्थापना, शिक्षा का प्रसार, सामाजिक सुधार, औद्योगिक विस्तार इत्यादि के कारण भारत में राजनैतिक एकता विकसित हुई। पहली बार विशाल भारत एक प्रशासन के अधीन हुआ, जिसने कि भारत में मंत्रिमंडलीय व्यवस्था का प्रारम्भ किया। संक्षेप में यदि हम उन क्रमिक घटनाओं की विवेचना करें तो सबसे पहले सन् 1773 का रेग्यूलेटिंग एक्ट था, जिसे ब्रिटिश संसद ने बनाया था। इसके द्वारा बंगाल के राज्यपाल को ब्रिटिश भारत पर शासन करने के लिये गवर्नर-जनरल बना दिया गया और उसके कार्यों में सहायता के लिये चार सदस्यों को एक परिषद् बनाई गई। इन्हें सब निर्णय बहुमत से करने होते थे। गवर्नर-जनरल समम‍त की स्थिति में अपना निर्णायक मत देता था। लेकिन जब इस परिषद् के सदस्यों

ने एक महत्त्वपूर्ण विषय पर गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स का विरोध किया, तो एक अवरोध उत्पन्न हो गया। इसका सुधार सन् 1786 में किया गया। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया कि विशेष परिस्थितियों में स्वय के उत्तरदायित्व पर वह परिषद् की इच्छा के विरुद्ध भी कार्य कर सकता है। सन् 1833 के चार्टर एक्ट से कार्यपालिका परिषद् की स्थिति में थोडा सुधार किया गया।

सन् 1857 की क्रांति के बाद ईस्ट इण्डिया कपनी की समाप्ति हुई और भारत पर प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश ससद का प्रभुत्व स्थापित हो गया। भारत के शासन के लिये एक भारतमत्री, परिषद् सहित नियुक्त किया गया। गवर्नर-जनरल को भारतमत्री के अधीन रखा गया। भारतीय परिषद् अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल की परिषद् की शक्तिया बढाई गईं। इसी अधिनियम के द्वारा सदस्यों को पद-वितरण की व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व कार्यपालिका परिषद् के सदस्यों में कार्य-विभाजन नहीं था। किसी भी सदस्य को विशेष विभाग नहीं सौंपा जाता था। सन् 1874 में 6 सदस्यीय परिषद् में एक भारतीय डॉ० ए बी रुद्रा को लोकसेवा विभाग सौंपा गया था।

कार्यपालिका परिषद् का स्वरूप निश्चित करने में सन् 1909 का अधिनियम भी महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा केंद्रीय व्यवस्थापिका के सगठन एव स्थिति को विस्तृत रूप दिया गया और गवर्नर-जनरल की परिषद् में भी भारतीय सदस्य रखे गये।

सन् 1909 के अधिनियम के बाद विकास का अगला कदम सन् 1919 का भारत सरकार अधिनियम है। इसके द्वारा केंद्रीय और प्रांतों का विषय क्षेत्र अलग कर दिया गया और केंद्र में द्विसदनीय व्यवस्थापिका बनाई गई। गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका परिषद् में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया, लेकिन प्रातीय क्षेत्र में कार्यपालिका परिषद् में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। प्रात में द्वैध शासन प्रारम्भ किया गया और कार्यपालिका व प्रातीय विषयों के दो भाग किये गये। गवर्नर के सभासदों को रक्षित विषय जो कि महत्त्वपूर्ण थे, दिये गये और मंत्रियों को हस्तातरित विषय जो कम महत्त्व के थे, दिये गये। प्रातीय विधानसभाओं का भी विस्तार किया गया। प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था हुई और आधी कार्यपालिका अर्थात् मंत्रियों को विधानसभा के प्रति उत्तरदाई बनाया गया। इस प्रकार पहली बार उत्तरदायित्व के सिद्धात का प्रारम्भ हुआ, यद्यपि वह पूर्ण नहीं, आंशिक था। लेकिन अपने अतर्विरोधों के कारण यह द्वैध शासन सफल नहीं हो पाया था।' भारतीय मंत्रियों को शीघ्र ही यह अनुभव हो गया था कि वास्तविक शक्ति उनके हाथों में नहीं है।

सन् 1935 के अधिनियम के अनुसार प्रातीय स्वायत्तता के द्वारा ही मंत्रियों को कुछ शक्तिया प्राप्त हुई थीं। इसमें प्रान्तों का शासन मंत्रियों को सौंपा गया था। लेकिन यह प्रणाली भी सन् 1939 तक ही चल पाई, क्योंकि कांग्रेस मंत्रिमडलों ने इस आधार पर त्यागपत्र दे दिया था कि भारत सरकार ने बिना भारतीयों की इच्छा जाने द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत को सम्मिलित कर लिया था। केंद्रीय क्षेत्र में गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका परिषद्

सन् 1947 तक मंत्रिमंडलीय व्यवस्था के अनुरूप नहीं हो पाई थी। परिषद् भारतीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदाई नहीं थी। किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर उसके सदस्य स्वय निर्णय लेने को स्वतत्र नहीं थे। कई गवर्नर-जनरलों ने परिषद् की इच्छा के विरुद्ध भी कार्य किया था। यद्यपि केंद्रीय परिषद् ने कभी भी एक केबिनेट की तरह कार्य नहीं किया और केंद्रीय व्यवस्थापिका को भी सीमित शक्तियां ही प्राप्त थीं, तथापि स्वतत्र होने तक भारतीयों को केबिनेट प्रणाली का अच्छी तरह परिचय और अनुभव मिल चुका था। यद्यपि ब्रिटिश शासकों ने पर्याप्त कूटनीति और दमन से भी कार्य लिया था, तथापि सवैधानिक क्षेत्र में वे काफी उदार और विकासशील सिद्ध हुए।[1] एशिया के दूसरे राज्यों के विपरीत यदि भारत में आज सुदृढ प्रजातत्र है, तो उसका कारण यही है कि ससदीय शासन या केबिनेट शासन की मशीनरी और सस्थाओं का अनुभव भारतीयों को ब्रिटिशकाल में मिला था। और इसी कारण इसके आधार पर भारत के संविधान में ससदीय शासन को ही अपनाया गया है।

## मत्रिमंडल का संगठन एवं स्वरूप

भारत एक सघात्मक राज्य है। इसमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि भारत सघ के कुछ राज्य क्षेत्रफल और जनसख्या में यूरोप के कुछ स्वतत्र राज्यों से भी बड़े हैं, जैसे उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, आध्रप्रदेश। भारत सघ के सभी राज्य संविधान द्वारा बताये गये विषयों के क्षेत्र में पूर्ण स्वायत्त हैं केवल देश के विकास व सुरक्षा की दृष्टि से इन पर कुछ बधन लगाये गये हैं। केंद्र और राज्यों में मत्रिमडल का गठन एक समान है। राज्यों में राज्यपाल सवैधानिक प्रधान है। उसके कार्यों में सलाह व सहायता के लिये मंत्रिमडल का निर्माण किया गया है जो कि व्यवहार में वास्तविक कार्यपालिका है। केंद्र और राज्यों में भारतीय संविधान के अनुच्छेद भी उत्तरदाई शासन के सिध्दात का प्रतिपादन करते हैं, किंतु सवैधानिक उपबध पूर्ण स्पष्ट और स्थिर नहीं हैं। ब्रिटेन में मंत्रिमडलीय शासन-प्रणाली कुछ स्थापित प्रथाओं और अभिसमयों पर आधारित है। भारत में भी मत्रिमडलीय शासन को कार्यान्वित करने में अभिसमय और परपराओं के लिये स्थान है ताकि शासन व्यवस्था लचीली बनी रहे और परिस्थिति के अनुरूप स्वरूप धारण कर सके। साधारणतः मत्रिमडलीय शासन का सार मंत्रिमडल के सामूहिक उत्तरदायित्व में निहित है। एक ही राजनैतिक दल उन्हें एक सूत्र में बाधे रहता है। लास्की के शब्दों में—"मत्रिमडल के सामूहिक उत्तरदायित्व का रहस्य सामान्यत दल-प्रणाली में निहित रहता है। दलीय प्रभाव के कारण ही उसमें उद्देश्य की एकता आती है और वही उस आधार का निर्माण करता है, जिस पर उद्देश्य की एकता टिक सकती है। दल के कारण ही समान विचारों और उद्देश्य वाले ऐसे व्यक्ति मत्रिमडल में सम्मिलित होते हैं जो प्रस्तुत समस्याओं पर समान दृष्टिकोण से विचार करते हैं।"[1]

मंत्रिमडलीय एकता और एकरूपता तभी अधिक बनी रह सकती है जब राज्यों में दो ही राजनैतिक दल हों। ऐसी स्थिति में दो में एक दल को स्पष्ट बहुमत मिल जाता है और स्पष्ट बहुमत प्राप्त दल में से बने मत्रिमडल में एकता विशेष रूप से विद्यमान रहती है।

अनेक दलों से बने मंत्रिमडल में इस प्रकार की स्वाभाविक एकता नहीं रह पाती, क्योंकि मंत्रियों के विभिन्न राजनैतिक स्वार्थ टकराते रहते हैं। दुर्भाग्य से भारत में द्विदल पद्धति का उचित ढग से विकास नहीं हो पाया और यहा बहुदल पद्धति ही पाई जाती है। इस कारण कई राज्य ऐसे भी हैं जहा किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाता और सयुक्त मंत्रिमडल बनाने पडते हैं जिनमें एकता और स्थायित्व कम ही रहता है।

## मंत्रिमंडल का निर्माण

मंत्रिमडल आजकल शासन की प्रेरणात्मक शक्ति है। एक मंत्रिमडल के पदच्युत होते ही तुरत दूसरा बना दिया जाता है। राज्यों में मंत्रिमडल का निर्माण उसी प्रकार से होता है, जैसे कि केंद्र में होता है। दोनों में संविधान के उपबध एक से हैं, केवल स्वविवेक का थोडा-सा अतर है। संविधान के अनुसार राज्यपाल पहले मुख्यमत्री की नियुक्ति करता है और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमत्री की सलाह से करता है।[1] सविधान में राज्यपाल द्वारा मुख्यमत्री को चुनने में कोई विशेष बधन नहीं है यहा तक कि वह ऐसे व्यक्ति को भी मुख्यमत्री बना सकता है जो विधानमडल का सदस्य तक नहीं है। उसे केवल इन नियमों का पालन करना होगा—

(1) यदि विधानमडल के बाहर के व्यक्ति को उसने मत्री अथवा मुख्यमत्री नियुक्त किया है, तो 6 महीने के अदर उन्हें विधानमडल के किसी भी सदन का सदस्य बनना होगा।[2]

(2) किसी भी मत्री अथवा मुख्यमत्री के लिये आवश्यक नहीं है कि वह निम्न सदन का ही सदस्य रहे। वह राज्यपाल के मनोनीत करने पर विधानपरिषद् का भी सदस्य बन सकता है।

(3) मुख्यमत्री नियुक्त करने में राज्यपाल के ऊपर यह भी बधन नहीं है कि वह अनिर्वाचित सदस्य को मुख्यमत्री न बनाये।

(4) राज्यपाल के द्वारा मुख्यमत्री और मत्री नियुक्त करने पर केवल सवैधानिक बधन यही है कि यदि मंत्रिमडल को विधानसभा का बहुमत का विश्वास प्राप्त नहीं है तो मंत्रिमडल को हटना होगा।

(5) मुख्यमत्री और मंत्रियों की नियुक्ति में न्यायालय किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते।

मंत्रिमडल के सदस्य को, पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल उससे उसके पद की गोपनीयता की शपथ दिलवाता है। इस शपथ की रूपरेखा संविधान की तीसरी अनुसूची में दी गई है।[3] समदीय शासन के अनुरूप यह आवश्यक है कि मत्री विधानमडल के किसी सदन के सदस्य हों। यद्यपि संविधान ने राज्यपाल के द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति पर प्रतिबध नहीं लगाये हैं, तथापि राज्यपाल द्वारा मुख्यमत्री तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वास्तव में एक औपचारिक कार्यवाही है। वह उसकी नियुक्ति के विषय में मनमानी नहीं कर सकता।

उसे विधानसभा के बहुमत दल के नेता को मुख्यमंत्री नियुक्त करना पड़ता है और फिर मुख्यमंत्री द्वारा प्रस्तावित व्यक्तियों को मंत्री-पद देना पड़ता है। व्यावहारिक दृष्टि से राज्यपाल मुख्यमंत्री की इच्छा के विरुद्ध न किसी व्यक्ति को मंत्रिमंडल में सम्मिलित कर सकता है और न ही किसी व्यक्ति को मंत्री-पद से हटा सकता है। इस प्रकार मंत्रिमंडल के निर्माण संबंधी वास्तविक शक्तियां मुख्यमंत्री के पास हैं। व्यावहारिक रूप से उसे भी अपने साथी मंत्रियों को चुनते समय इन बातों का ध्यान रखना पड़ता है—

(1) उसके मंत्रिमंडल में योग्य, अनुभवी और कुशल मंत्री सम्मिलित हों।
(2) अधिकांश मंत्री उसके ही दल के हों।
(3) सब क्षेत्रीय हितों की संतुष्टि हो जाए।
(4) महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्गों को भी प्रतिनिधित्व मिले।
(5) यदि द्विसदनीय विधानमंडल हो तो कुछ उच्च सदन के और अधिकांश निम्न सदन के सदस्य लिये जायें।

मंत्रियों के चयन से संबंधित अनेक प्रतिबंधों के अंतर्गत मुख्यमंत्री मंत्रियों का चयन करता है। वह दल के प्रभावशाली सदस्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। पुराने साथी, जो मंत्री रह चुके हों और फिर मंत्री-पद चाहते हों, उनका भी ध्यान उसे कुछ रखना पड़ता है। किंतु फिर भी मंत्रिमंडल के गठन में वह अपनी बहुत कुछ चला देता है, यद्यपि मंत्रिमंडल बनाने का काम वास्तव में बड़ा नाजुक है। कई अवसर ऐसे भी उपस्थित हो जाते हैं, जब राज्यपाल को मुख्यमंत्री के चुनाव में स्वतंत्रता मिल जाती है। ऐसा एक अवसर तो तब आता है जब विधानसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं होता है। उस समय राज्यपाल किसी भी दल के नेता को मंत्रिमंडल बनाने के लिये आमंत्रित कर सकता है, बशर्ते उसे यह संतोष हो कि वह व्यक्ति मंत्रिमंडल का निर्माण कर सकेगा।[1] दूसरा अवसर तब मिलता है जब मुख्यमंत्री स्वयं त्यागपत्र दे देता है और उसका दल कोई नया नेता नहीं चुन पाता। इस अवस्था में राज्यपाल किसी प्रभावशाली व्यक्ति को मंत्रिमंडल-निर्माण के लिये आमंत्रित कर सकता है।

**मन्त्रिमंडल की सदस्य-संख्या**—मंत्रिमंडल में मंत्रियों की सदस्य-संख्या निश्चित नहीं रहती है। मुख्यमंत्री ही यह निश्चित करता है कि वह अपने मंत्रिमंडल में कितने मंत्री रखे। समय की आवश्यकता के अनुसार वही मंत्रियों की संख्या निर्धारित करता है। इस विषय में संवैधानिक उपबंध तो केवल यह है कि बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में एक मंत्री आदिम जातियों के कल्याण एवं हितों को देखे और वही साथ-साथ अनुसूचित जातियों तथा पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण का भी कार्यभार वहन करे। बहुधा मंत्रियों की संख्या को निर्धारित करते हुए मुख्यमंत्री यह ध्यान रखता है कि विधानसभा के बहुमत-प्राप्त दल के अंतर्गत सब गुटों को मंत्रिमंडल में समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान कर दिया जाये। इस कारण अनेक बार मंत्रियों की संख्या आवश्यकता से भी अधिक नियत कर दी जाती है। कई बार

मंत्रिमंडल के स्थायित्व के लिये और अपने समर्थकों को सतुष्ट करने के लिये भी मंत्रिमडल का विस्तार करना पडता है। जून 1969 में मध्यप्रदेश में श्री शुक्ल ने अपने मंत्रिमडल में 40 मत्री रखे थे। उनके बाद होने वाले मुख्यमत्री श्री सेठी ने घोषणा की थी कि वे अपने मंत्रिमडल में 29 से अधिक सदस्य नहीं रखेंगे।

## मंत्रिमंडल की स्थिति

मंत्रिमडल राज्य-शासन-व्यवस्था का हृदय और उसका महत्त्वपूर्ण केंद्र है। यह शासन की वास्तविक सर्वोच्च नियत्रक शक्ति है। इसे ही वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है, जिसका अभिप्राय यह है कि शासन की वे शक्तिया जिनका औपचारिक उपभोग राज्यपाल करता है, सही अर्थ में मंत्रिमडल द्वारा प्रयुक्त होती हैं। चूंकि मंत्रिमडल के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित विधानसभा के सदस्य होते हैं, अत मंत्रिमडल अपनी शक्तियों का प्रयोग जनता के प्रतिनिधि के रूप में भी करता है। दूसरे शब्दो में मत्रिमडल सपूर्ण शासन-व्यवस्था को लोकतत्रात्मक आधार प्रदान करता है। मंत्रिमडल पर ही समस्त राजकीय कार्यों का उत्तरदायित्व रहता है। मंत्रिमडल का महत्त्व इसलिये भी है कि उसके माध्यम से *राजनैतिक प्रभु और कानूनी प्रभु के बीच सामजस्य स्थापित हो जाता है।* भारत में राज्यों में राजनैतिक प्रभुता वहा की जनता में निहित है और कानूनी प्रभुता राज्यपाल में। राजनैतिक प्रभुता की साकार अभिव्यक्ति जनता द्वारा निर्वाचित विधानसभा है और उसी से मंत्रिमडल का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में मंत्रिमडल जनता की प्रतिनिधि समिति है और यही राज्यपाल को परामर्श देती है और उसे जनता की इच्छा से अवगत कराती है। इस प्रकार मंत्रिमडल कानूनी प्रभु के आदेशों और राजनैतिक प्रभु की इच्छाओं में इतना *सामजस्य उत्पन्न कर देता है कि कानूनी प्रभु के आदेश राजनैतिक प्रभु की इच्छा के ही* प्रतिरूप बन जाते हैं। इसीलिये प्रसिद्ध राजनीतिवेत्ता बेजहाट ने मंत्रिमडल को एक हाइफन *और बकसुआ कहा था जो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को एक साथ बाध देता है।*

मंत्रिमडल एक और दृष्टि से भी अपना अनुपम महत्त्व रखता है। इसकी शक्तिया विस्तृत हैं और कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। यह न केवल राज्यपाल में निहित कार्यपालिका शक्तियों का सपादन करता है, बल्कि व्यवस्थापन का भी अधिकाश कार्य व्यवस्थापिका के कार्यक्रम का निर्धारण उसे ही करना होता है।[10] यह राज्य की सभी समस्याओं पर विचार और नीति-निर्धारण करता है।[11] विधानसभा में जब तक बहुमत का नेतृत्व उसके हाथ में रहता है, तब तक वह चाहे जिस विधि को स्वीकृत करा सकता है और जिस विधि का विरोध करता है उसे स्वीकृत नहीं होने देता है। शासन के जितने अधिकार, शक्तिया तथा कर्त्तव्य हैं, उन सबका प्रयोग राज्यपाल के नाम से मंत्रिमडल ही करता है। कानूनी अथवा सैद्धांतिक ढग से मंत्रिमडल वह परामर्शदात्री समिति मात्र है जिसका कोई प्रशासनिक कार्यों में राज्यपाल को सहायता और परामर्श देना है, किंतु व्यावहारिक रूप में वह वास्तविक *कार्यपालिका है।* वैयक्तिक और सामूहिक, दोनों रूपों में सरकार का नित्य प्रति का कार्य

मन्त्रिगण ही करते हैं।

वास्तव में मंत्रिमंडल की स्थिति का सही मूल्यांकन तभी किया जा सकता है, जबकि विधानसभा के साथ उसके संबंधों पर कानूनी अथवा संवैधानिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टिकोण से अलग-अलग विचार किया जाये। मंत्रिमंडल विधानसभा से बहुत छोटा निकाय है और इसमें वे सदस्य होते हैं जो विधानसभा में बैठते हैं।[17] कानूनी दृष्टिकोण से मंत्रिमंडल की स्थिति विधानसभा की अधीन समिति के समान है, जिस पर विधानसभा को निरीक्षण और नियंत्रण के पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। मंत्रिमंडल पूर्णतः विधानसभा के अधीन है। विधानसभा स्वामिनी है तो मंत्रिमंडल सेवक मात्र। कानूनी दृष्टि से मंत्रिमंडल विधानसभा के प्रति उत्तरदाई है। यह विधानसभा की ही एक समिति है और तभी तक अपने पद पर स्थित है जब तक इसको विधानसभा का समर्थन प्राप्त रहे। समर्थन न मिलने पर मंत्रिमंडल को अपदस्थ होना पड़ता है और दूसरा अन्य दल या कई दल मिलकर मंत्रिमंडल का निर्माण करते हैं। विधानसभा कई साधनों से मंत्रिमंडल पर नियंत्रण करती है जैसे प्रश्न पूछना, मंत्रिमंडल की नीति की आलोचना या अस्वीकृति, कटौती प्रस्ताव, कार्यस्थगन प्रस्ताव, निंदा प्रस्ताव और अविश्वास प्रस्ताव इत्यादि। किंतु व्यावहारिक रूप में मंत्रिमंडल विधानसभा का नियंत्रणकर्ता बन गया है। शासन के तीनों प्रमुख क्षेत्रों में अर्थात् व्यवस्थापन, कार्यपालन और वित्तीय क्षेत्रों में व्यावहारिक दृष्टि से मंत्रिमंडल की ही प्रधानता है।

## व्यवस्थापन क्षेत्र में विधानसभा और मंत्रिमंडल

व्यवस्थापन क्षेत्र में व्यावहारिक स्थिति यह है कि जो भी प्रमुख कानून पारित किये जाते हैं उनका प्रारूप मंत्रिमंडल द्वारा ही तैयार किया जाता है। उनमें संशोधन भी केवल तभी हो पाते हैं, जब वे मंत्रिमंडल को मान्य होते हैं। मंत्रिमंडल के सदस्य विधानसभा में बहुमत दल के नेता होते हैं, अतः विधानसभा मंत्रिमंडल की इच्छानुसार विधेयकों को स्वीकृति प्रदान कर देती है। मंत्रिमंडल जो कि बहुमत दल के प्रमुख नेताओं का ही मंडल मात्र है, अपने दल के सदस्यों को अपने नियंत्रण में रखता है, उनके समर्थन पर भरोसा कर सकता है और इस भरोसे के आधार पर अपनी नीति व कार्यों के लिये विधानसभा की स्वीकृति प्राप्त कर सकने में पूर्ण निश्चय और विश्वास रखता है। मंत्रिमंडल की इच्छा के विरुद्ध विरोधी पक्ष का, किसी भी प्रस्ताव को पास करा लेना या समाप्त कर देना बहुत कठिन है।

## कार्यपालन क्षेत्र में मंत्रिमंडल और विधानसभा

कार्यपालन क्षेत्र में भी व्यावहारिक रूप से विधानसभा की अपेक्षा मंत्रिमंडल की ही स्थिति उच्चतर है। नीति-निर्धारण का वास्तविक कार्य मंत्रिमंडल ही करता है और वही अपने बहुमत के बल पर उसे विधानसभा से स्वीकृत कराता है। बहुमत का विश्वासपात्र मंत्रिमंडल, विधानसभा का मनमाना प्रयोग कर सकता है, यहां तक कि वह विधानसभा का

कार्यक्रम और उसकी कार्यपद्धति को भी निर्धारित करता है। मंत्रिमडल ही यह निर्णय करता है कि विधानसभा का अधिवेशन कब होगा, उसके क्या कार्यक्रम होंगे और विधानसभा के सत्र का अवसान और विघटन कब होगा। इसके अतिरिक्त विधानसभा का अधिकाश समय भी मंत्रिमडल ले लेता है।

यदि विधानसभा अविश्वास प्रस्ताव द्वारा या किसी अन्य साधन से मत्रिमडल की जीवन-लीला समाप्त कर सकती है तो मंत्रिमडल को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वह विधानसभा का विघटन कराके उसके सदस्यों को पुन निर्वाचकों की दया का भिखारी बना दे।

## वित्तीय क्षेत्र में विधानसभा और मंत्रिमंडल

किसी भी राज्य में प्रशासन एव सरकार की नीतियों को कार्य रूप में परिणत करने के लिये वित्तीय प्रबध अत्यत आवश्यक है।[13] इस क्षेत्र में भी यथार्थ प्रभुता मंत्रिमडल की ही है। यद्यपि बजट विधानसभा द्वारा ही पारित होता है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से मंत्रिमडल ही बजट तैयार करता है, उसे पारित करवाता है और उसे कार्यान्वित करता है। राज्य की सपूर्ण आर्थिक नीति का सचालन मंत्रिमडल द्वारा किया जाता है। मंत्रिमडल ही राज्य के आय-व्यय का निश्चय करता है। विधानसभा वित्त विधेयकों की आलोचना कर सकती है, किन्तु वह मद का खर्चा नहीं बढा सकती और न कोई नया कर जोड सकती है। वह नये करों का सुझाव भी नहीं दे सकती, केवल प्रस्तावित करों में कमी कर सकती है, लेकिन वह भी एडी-चोटी का जोर लगा कर ही, क्योंकि विधानसभा में बहुमत मंत्रिमडल का समर्थक होता है। व्यवहार में मंत्रिमडल ही विधानसभा का स्वामी बन गया है। किंतु यह स्थिति तभी तक रह सकती है जब तक कि मंत्रिमडल को विधानसभा में बहुमत का दृढ समर्थन प्राप्त हो। उसके बाद भले ही विरोधी दल मंत्रिमडल की खुलकर आलोचना करता रहे, किंतु मंत्रिमडल यह भली प्रकार जानता है कि जब तक विधानसभा में उसका बहुमत है, तब तक उसके प्रस्ताव स्वीकृत होते रहेंगे। आज मंत्रिमडल ही शासन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी बातों का निर्णय करता है और विधानसभा का कार्य उसके निर्णयों को केवल स्वीकृति प्रदान करना है।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि मंत्रिमडल विधानसभा से शक्तिशाली अवश्य है, परतु अधिनायकवादी नहीं है। मंत्रिमडल बहुमत के मद में चूर होकर विरोधी दल या जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि किसी भी क्षण बहुमत उसके विरुद्ध हो सकता है जिससे उसे अपदस्थ होना पड सकता है अथवा आगामी निर्वाचन में जनता ही उसे मत न देकर अप्रसन्नता प्रकट कर सकती है। इस प्रकार प्रजातत्र में जनता और उसके प्रतिनिधियों को अपने विश्वास और समर्थन में बनाकर ही मंत्रिमडल अपना जीवन बना सकता है।[14]

## मंत्रिमंडल के कार्य एवं शक्तियां

मंत्रिमडल की बैठक एकात में होती है और उसकी कार्यवाही पूर्णत गुप्त रखी जाती

है। इसके सदस्य न केवल गोपनीयता के लिये शपथ-बद्ध होते हैं, वरन् मंत्रिमंडल तथा राज्य के गुप्त पत्रों को प्रकाशित करना भी दडनीय है। यदि कोई मत्री त्यागपत्र देते समय, त्यागपत्र के कारणों पर प्रकाश डालना चाहे, तब भी उसे अनुमति प्राप्त करनी पड़ती है। मंत्रिमडल की बैठक की अध्यक्षता मुख्यमत्री करता है। मंत्रिमडल की बैठक बुलाना मुख्यमत्री की इच्छा पर रहता है। कोई भी मत्री बैठक बुलाने के लिये प्रार्थना कर सकता है, पर मुख्यमत्री ऐसी प्रार्थना को मानने या न मानने में बिल्कुल स्वतत्र रहता है। बैठकों के होने का समय व दिन मुख्यमत्री ही निश्चित करता है। पर मंत्रिमडल की बैठक में क्या कार्यवाही होगी, इसका ब्यौरा नहीं दिया जाता, यद्यपि सब मत्री जानते हैं कि किन विषयों पर विचार किया जायेगा। मंत्रिमडल की बैठकों में शासन सबधी मामलों पर विचार होता है।

मंत्रिमडल की बैठक के लिये गणपूर्ति की कोई सख्या निश्चित नहीं है। मुख्यमत्री या कोई मत्री अस्वस्थ होने पर अनुपस्थित रह सकते हैं। अनुपस्थित मत्री चाहे तो किसी विचाराधीन विषय पर अपना मत मुख्यमंत्री को पत्र के रूप में भेज सकता है। जब मुख्यमत्री अनुपस्थित रहता है, तो अध्यक्ष का काम वह मत्री करता है जो पुराना राजनीतिज्ञ हो या किसी दूसरे प्रकार से प्रभावशाली हो। जब बैठक होती है तो मंत्रियों के बैठने का कोई निश्चित क्रम नहीं होता पर प्रभावशाली मत्री मुख्यमत्री के पास बैठते हैं।

मंत्रिमडल सब महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करता है। प्रत्येक मत्री अपने विभाग के विषयों को मंत्रिमडल के विचारार्थ प्रस्तुत करता है, क्योंकि सारा मंत्रिमडल शासन की नीति को निश्चित करता है। जो विषय मंत्रिमडल के सम्मुख रखे जाते हैं वे साधारणत तत्कालीन राजनैतिक घटनाओं से सबध रखते हैं। मंत्रिमडल के सदस्य छोटी-छोटी बातों पर ध्यान न देकर अपनी बुद्धि व ध्यान उन बातों को सुलझाने पर केंद्रित करते हैं, जो उनके सामने अधिक महत्त्व रखती हैं। बजट और राज्यपाल का भाषण महत्त्वपूर्ण विषयों में गिने जाते हैं।

मंत्रिमडल के निर्णय किसी लेख्य में नहीं लिखे जाते, हा, निर्णयों की टिप्पणिया बना ली जाती हैं जो राज्यपाल को परामर्श देने के लिये, आगे आने वाले दूसरे मंत्रिमडल को सूचना के लिये और गलती व भ्रांति का निवारण करने के लिये काम देती हैं। केवल मुख्यमत्री ही टिप्पणिया लिख सकता है क्योंकि उसे अपने व अपने साथी मंत्रियों के विचार राज्यपाल को बताने में इसकी आवश्यकता रहती है। निर्णय प्राय बहुमत के द्वारा होता है पर मुख्यमत्री के विचारों को बड़ा महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि वही एक ऐसा व्यक्ति है जो शासन-नीति का निर्देशन करता है।

मंत्रिमडल प्रशासकीय, विधायी आदि विभिन्न कार्यों से इतना बोझिल रहता है कि उसके लिये सपूर्ण कार्यों को स्वय निपटाना सभव नहीं होता। मंत्रिमडल की बैठक प्राय सप्ताह में एक बार एक या दो घटों के लिये होती है। इसके अतिरिक्त मंत्रिमडल में इतने सदस्य होते हैं कि उचित विचार-विमर्श नहीं हो पाता। साथ ही मंत्रिमडल के सदस्य विभागीय अध्यक्ष

भी होते है, अत अपने विभागीय कार्यों से ही उन्हें अवकाश नहीं मिल पाता। अत मंत्रिमडल के पास इतना समय नहीं होता कि वह शासन की बारीकियों पर ध्यान दे सकें। फलस्वरूप मंत्रिमडलीय समितियों का विकास हुआ जिसके दो लाभ हैं–

(1) ये समितिया विचार-विनिमय के उपरात प्रत्येक प्रश्न पर अपना प्रतिवेदन देती हैं, जिस पर मंत्रिमडल अपने निर्णय करता है।[15] समितियों में प्रत्येक प्रश्न पर कुछ न कुछ निर्णय या समझौता कर लिया जाता है।

(2) अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण विषयों पर समितिया उन कार्यों को निपटाती हैं जिनके लिये मंत्रिमडल उन्हें आदेश देता है। इस तरह समितिया उन प्रश्नों का निर्णय कर डालती हैं, जिन पर यदि वे न करती तो मंत्रिमडल को अपना बहुमूल्य समय देना पडता।[16] ये मंत्रिमडलीय समितिया दो प्रकार की होती हैं–

(क) स्थायी समिति,

(ख) तदर्थ समिति।

स्थायी समितियों के अतर्गत वित्तीय, प्रशासकीय सगठन, विधानसभा की तथा विधि विधायक समितियों की गणना होती है। तदर्थ समितियों का निर्माण समयानुसार तब किया जाता है जब आवश्यक और नवीन समस्याए उपस्थित हो जाती हैं, जिनके बारे में निर्णय करने से पूर्व मंत्रिमडल विशेष जानकारी चाहता है। मंत्रिमडलीय समितिया आवश्यकता होने पर, समस्याओं के विशेष अध्ययन हेतु अपनी उपसमितिया भी बना सकती हैं।

भारतीय शासन में मंत्रिमडल समदीय प्रणाली की धुरी है। यही वास्तविक कार्यपालिका है जिसे प्रशासनिक, वित्तीय और विधायी क्षेत्र में विशाल तथा महत्त्वपूर्ण शक्तिया प्राप्त हैं। कार्यों और अधिकारों की दृष्टि से मंत्रिमडल सर्वोच्च नियत्रक शक्ति है। कानूनी अथवा सैद्धांतिक दृष्टि से मंत्रिमडल एक परामर्शदायी समिति मात्र है जिसका कार्य प्रशासनिक कार्यों में राज्यपाल को सहायता और परामर्श देना है किंतु व्यावहारिक रूप से उसने वास्तविक कार्यपालिका का रूप धारण कर लिया है। मंत्रिमडल के प्रमुख कार्य और शक्तिया तीन प्रकार की हैं–

**(1) कार्यपालिका संबंधी कार्य एवं शक्ति**–मंत्रिमडल मूल रूप से शासन की वास्तविक कार्यपालिका शक्ति है। कार्यपालिका के क्षेत्र में मंत्रिमडल के तीन प्रमुख कार्य हैं–

(अ) विधानसभा में उपस्थित की जाने वाली नीति का अंतिम निर्धारण।

(ब) विधानसभा द्वारा निर्धारित नीति के अनुरूप कार्यपालिका का सर्वोच्च नियत्रण।

(स) राज्य के विभिन्न विभागों के अधिकारियों की सीमा का निर्धारण करना और उनमें सदा सामजस्य बनाये रखना।

मंत्रिमडल सपूर्ण राज्य के सुप्रबध के लिये उत्तरदाई है। यह एक विचारशील और नीति-निर्णायक निकाय है, जो राज्य की समस्याओं पर विचार-विनिमय करता है। मंत्रिमडल विधानसभा तथा सारे राज्य के सामने एक नीति प्रस्तुत करता है और यही उस सामूहिक

उत्तरदायित्व का सार है, जिसकी आज्ञा संविधान ने दी है। मंत्रिमंडल द्वारा नीति-निर्धारण करने के बाद संबंधित विभाग उस निर्धारित नीति को या तो प्रवर्तित विधि के अनुसार कार्यान्वित करते हैं या विधानसभा को तदर्थ नया विधेयक प्रस्तावित करते हैं। मंत्रिमंडल ही वह कड़ी है जो शासन के कार्यपालिका अंग को व्यवस्थापिका से जोड़ती है। अपने निर्णयों को वैधानिक रूप देने के लिये वह प्रशासनिक विधियों और विधानसभा की विधियों के निर्माण का मार्ग चुनता है। मंत्रिमंडल ही विधानसभा को कार्यवाही करने के लिये आदेश देता है और जब तक विधानसभा में बहुमत मंत्रिमंडल के प्रति निष्ठावान होता है तब तक मंत्रिमंडल अपनी इच्छित नीति को विधान मंडल से स्वीकृत करा लेता है। मंत्रिमंडल का परंपरागत कार्य विधानसभा द्वारा पारित कानूनों या विधियों को कार्यान्वित करना और प्रशासन का संचालन करना है। मंत्रीगण विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं। वे अपने विभागों का संचालन और उनके कार्यों की देखभाल करते हैं।" संपूर्ण मंत्रालय को मंत्रिमंडल के आदेशों का पालन करना पड़ता है और उसके द्वारा निर्धारित नीतियों व निर्णयों को कार्यान्वित करना होता है।

मंत्रिमंडल सरकार की नीति को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से विभिन्न विभागों को एक सूत्र में बांधता है और देखता है कि उनके कार्यों में अंतर्विरोध न हो, वे एक-दूसरे के कार्यक्षेत्र का अतिक्रमण न करें और सभी के कार्यों में समन्वय रहे। राजनैतिक स्तर पर बड़े-बड़े पदाधिकारियों का चयन भी मंत्रिमंडल ही करता है। राज्यपाल केवल उन्हें औपचारिक रूप से नियुक्त कर देता है।

मंत्रिमंडल को प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण जो अधिकार मिल गये हैं उससे भी उसकी कार्यपालिका शक्ति में वृद्धि हो गई है। वर्तमान में व्यवस्थापन कार्य न केवल बहुत बढ़ गया है बल्कि बहुत कुछ प्राविधिक भी हो गया है। विधानसभा प्राय विधियों को, केवल रूपरेखा बनाकर पारित कर देती है। उस रूपरेखा को ही मंत्रिमंडल अथवा संबंधित विभागों के अध्यक्ष विस्तृत करते हैं और वे ही नियम-विनियम बनाकर उन विधियों को कार्यान्वित करते हैं। क्योंकि इन नियम-विनियमों का निर्माण विधानसभा द्वारा प्रदत्त अधिकार के अंतर्गत होता है, अत उनकी मान्यता वैसी ही होती है जैसी कि विधानसभा द्वारा निर्मित कानूनों की।"

विधानसभा में प्रशासन से संबंधित प्रश्न पूछे जाते है और मंत्रिमंडल व शासन के विविध विभागों की आलोचना की जाती है। 'सदन का कोई भी सदस्य किसी भी मंत्री से उसके सार्वजनिक या प्रशासकीय कार्यों से संबंधित प्रश्न पूछ सकता है।'" इन सबका उत्तर मंत्रिमंडल को ही देना पड़ता है। उसे प्रशासन को उन दोषों से भी मुक्त करना पड़ता है जिनके कारण सरकार की आलोचना होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मंत्रिमंडल का कार्यपालिका संबंधी क्षेत्र अत्यंत व्यापक है फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जो मंत्रिमंडल के अधिकार क्षेत्र से बाहर हैं और जिन पर मंत्रिमंडल

में विधिवत् कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। उदाहरण के लिये राज्यपाल के विवेकगत कार्य हैं। लेकिन मंत्रिमंडल की व्यापक शक्तियों के आगे ये प्रतिबंध नगण्य ही हैं।

**(2) व्यवस्थापिका संबंधी कार्य एवं शक्तियां**–कानून बनाने के संबंध में समस्त शक्तियां व्यवस्थापिका को ही प्राप्त हैं, किन्तु इस संबंध में विधानसभा पर मंत्रिमंडल नियंत्रण रखता है। मंत्रिमंडल कानून निर्माण का आरम्भ करता है और हर कदम पर कानून का स्वरूप निर्धारित और नियंत्रित करता है। क्योंकि मंत्रीगण आवश्यक रूप से विधानसभा के सदस्य होते हैं, उसमें उनका बहुमत रहता है और वे उसके अधिवेशन में भाग लेते हैं, इस कारण वे सारे कार्यों की जिम्मेदारी अपने कंधों पर ले लेते हैं। मंत्रिमंडल विधेयक के रूप में *विधानसभा के सामने कानून निर्माण का कार्यक्रम रखने का निर्णय करता है*, उसके सदस्य अधिकतर विधेयक को प्रस्तावित करते हैं और उसका उस समय तक पिष्टपेषण करते है, जब तक कि यह कानून का रूप धारण न कर ले। इस प्रकार विधेयक पेश करना, उसकी व्याख्या करना और उसे पास कराना मंत्रिमंडल का ही कार्य है। यद्यपि विधानसभा के वे सदस्य, जो मंत्री नहीं हैं, विधेयक पेश कर सकते हैं किंतु लगभग 80 प्रतिशत और महत्त्वपूर्ण विधेयक मंत्रियों द्वारा ही पेश किये जाते हैं। जिस विधेयक को मंत्रिमंडल का समर्थन प्राप्त नहीं होता, उसके कानून बनने की संभावना बहुत ही कम रहती है। वास्तव में मंत्रिमंडल ने विधानसभा पर अपने बहुमत के कारण इतना प्रभाव स्थापित कर लिया है कि विधानसभा की स्थिति मंत्रिमंडल के निर्णयों का अनुसमर्थन करने वाली संस्था की रह गई है।

दलीय पद्धति के कारण कानून-निर्माण में सहायता मिलती है। क्योंकि मंत्रिमंडल के दल का बहुमत सदन में रहता है इसलिये वे कानून शीघ्र बन जाते हैं, जिन्हें मंत्रिमंडल चाहता है। कुछ लोगों का विचार है कि दलीय पद्धति के कारण सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपनी इच्छानुसार सदन में कार्य नहीं कर सकते। किंतु यह विचार व्यावहारिक नहीं है। यदि सभी सदस्य किसी भी दल के न हों तो कानून-निर्माण में काफी बाधा उत्पन्न हो सकती है क्योंकि दलीय नियंत्रण और निर्देशन के अभाव में प्रत्येक सदस्य अपनी अलग-अलग राय रखेगा और बहुमत से कोई भी कार्य नहीं हो पायेगा।"

इसके अतिरिक्त मंत्रिमंडल को यह निश्चय करने का अधिकार है कि कब विधानसभा *की बैठक बुलाई जाये, कब इसका सत्रावसान किया जावे और कब विघटन किया जाये।* उस भाषण को भी मंत्रिमंडल ही तैयार करता है, जिसे राज्यपाल विधानसभा का उद्घाटन करते समय देता है और जिसमें आगामी सत्र के लिये शासन की सामान्य नीति व उसके कार्यक्रम आदि का सांकेतिक विवरण होता है। विधानसभा के कार्यक्रम का निर्णय भी मंत्रिमंडल ही करता है। वास्तव में इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि राज्य के संपूर्ण व्यवस्थापन का कार्य मंत्रिमंडल ही विधानसभा की स्वीकृति से करता है।

**(3) वित्तीय कार्य**–मंत्रिमंडल को राजकीय वित्त पर विशेष नियंत्रण प्राप्त हैं।

मन्त्रिमंडल ही राज्य पर व्यय होने वाली समस्त धनराशि के लिये और उस व्यय को पूरा करने का आवश्यक राजस्व एकत्र करने के लिये उत्तरदाई है। मंत्रिमंडल ही आगामी वर्ष के लिये बजट तैयार करके विधानसभा में पेश करता है। यद्यपि यह काम मुख्यतः वित्तमंत्री का है, किंतु बजट को अंतिम रूप देने के लिये मंत्रिमंडल की स्वीकृति आवश्यक है। मंत्रीगण अपने-अपने विभागों की वित्तीय आवश्यकताओं का ब्यौरा तैयार करके वित्तमंत्री को भेजते हैं जो उन्हें मंत्रिमंडल के परामर्श से अंतिम रूप देता है। जब बजट विधानसभा में प्रस्तुत कर दिया जाता है तो प्रत्येक मंत्री को अपने-अपने विभाग से संबंधित वित्तीय आवश्यकताओं और कर प्रस्तावों को समझाना पड़ता है तथा तत्संबंधी प्रश्नों का उत्तर भी देना पड़ता है। विधानसभा में बजट प्रस्तावों की आलोचना का उत्तर देना पड़ता है और विधायकों के कटौती प्रस्तावों से सरकारी पक्ष की रक्षा करना मंत्रिमंडल का ही कार्य है। मंत्रिमंडल बजट को विधानसभा में उपस्थित करने के बाद भी उसमें आवश्यक परिवर्तन ला सकता है। इसी प्रकार के वित्त विधेयक राज्यपाल की सिफारिश पर निम्न सदन विधानसभा में ही प्रस्तुत किए जाते हैं।

सरकार के उत्तरदायित्व पर ऋण लेने की व्यवस्था भी मंत्रिमंडल ही करता है। यह निर्णय करने का अधिकार भी मंत्रिमंडल को ही है कि कौन-सा व्यय संचित निधि और कौन-सा व्यय आकस्मिक निधि में से लिया जायेगा। मंत्रिमंडल की शक्तियों और कार्यों से स्पष्ट है कि इसके अधिकार कार्यपालन, व्यवस्थापन और वित्तीय, सभी क्षेत्रों में व्याप्त हैं। प्रदत्त व्यवस्थापन के प्रचलन के कारण तो इसकी शक्तियों का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है। बहुमत दल के आधार पर खड़े होने के कारण इसकी शक्ति अत्यधिक है और यही राज्य का वास्तविक शासक है। व्यावहारिक दृष्टि से मंत्रिमंडल का पद महान और सम्मानजनक बनाने में मंत्रियों की योग्यता और दृढ़ चरित्र का भी कम हाथ नहीं रहता। यदि मंत्रीगण ईमानदार और दृढ़ चरित्र के नहीं हैं तो उनका पद अधिक स्थायी नहीं रह सकता। उनमें आंतरिक फूट पड़ जायेगी। विधानसभा में उनके दल वाले भी उनके विरुद्ध षड्यंत्र कर सकते हैं और जनसाधारण की दृष्टि में भी वे गिर सकते हैं। जनता में, अपने दल में तथा विधानसभा में आदर और प्रभाव उत्पन्न करने के लिये मंत्रियों को साधारण स्तर से ऊंचा होना चाहिये। उन्हें व्यवहार के कुछ नियमों के अनुसार कार्य करना चाहिये उदाहरणार्थ—

(1) मंत्रियों को किसी ऐसे लेन-देन में शामिल नहीं होना चाहिये जिससे उनके निजी हितों का उनके सार्वजनिक कर्त्तव्यों से कुछ भी संघर्ष हो।

(2) किसी भी मंत्री के लिये किसी भी परिस्थिति में सरकारी समाचारों को अपने या अपने मित्रों के निजी लाभ के लिये प्रयोग करना भी उचित नहीं है।

(3) किसी भी मंत्री को किसी ऐसी योजना की सहायता करने या किसी ऐसे ठेके को आगे बढ़ाने के लिये अपने सरकारी पद का प्रयोग नहीं करना चाहिये जिसमें

कि उसका कोई गुप्त हित हो।

(4) किसी भी मंत्री को राज्य से किसी भी प्रकार के ठेके आदि लेने का प्रयत्न करने वाले व्यक्तियों से किसी प्रकार की भेंट आदि स्वीकार नहीं करनी चाहिये।

(5) मंत्रियों को इस प्रकार के सट्टेबाजी के कामों में रुपया लगाने से बचना चाहिये जिसमें वे अपने पद के कारण अथवा अपनी गुप्त जानकारी के कारण बाजार के उतार-चढ़ाव को जानने में अन्य लोगों से अच्छी स्थिति में हों।

यदि दैनिक जीवन में मंत्रीगण इन कर्त्तव्यों का उल्लंघन करते है तो इससे सरकार की बदनामी होती है। वास्तव में प्रजातंत्रीय राज्य के मंत्रियों को अपनी शक्तियों का प्रयोग और भी सावधानी के साथ करना चाहिये और जनहित का उद्देश्य लेकर कार्य करना चाहिए।

## मुख्यमंत्री

राज्य के मंत्रिमंडल में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान मुख्यमंत्री का है। जिस प्रकार केंद्रीय मंत्रिमंडल में प्रधानमंत्री की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है उसी प्रकार की स्थिति राज्य मंत्रिमंडल में मुख्यमंत्री की होती है। भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री के पद का स्पष्ट उल्लेख है। इस पद का अधिकारी ही शासन का मुख्य अधिकारी है। जैसा कि जैनिंग्स ने भी प्रधानमंत्री के बारे में लिखा है कि "ब्रिटिश शासन पद्धति में मंत्रिमंडल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है और मंत्रिमंडल में प्रधानमंत्री का पद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।"[10] संविधान के अनुसार मंत्रीगण राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदों पर रहते हैं जबकि वास्तविक रूप में वे प्रधानमंत्री के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदों पर रहते हैं। इस संबंध में डॉ. अम्बेडकर ने भी कहा था कि यदि प्रधानमंत्री चाहेगा तभी कोई व्यक्ति मंत्रिमंडल का सदस्य बना रह सकता है, अन्यथा नहीं। जब सभी मंत्री अपनी नियुक्ति और विमुक्ति के संबंध में प्रधानमंत्री के होंगे तभी मंत्रिमंडल के सामूहिक उत्तरदायित्व के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है।

यही स्थिति राज्यों के मुख्यमंत्री की भी है। मुख्यमंत्री के पद का संविधान में स्पष्ट उल्लेख है। उसे अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये व्यापक शक्तियां दी गई हैं। वह *मंत्रिमंडल का प्रधान है। यद्यपि कहने को तो अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल करता है*, किन्तु व्यावहारिक रूप में मुख्यमंत्री द्वारा नाम-निर्देशित व्यक्ति ही राज्यपाल द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। निःसंदेह मुख्यमंत्री राज्य का एक अत्यंत प्रभावशाली पदाधिकारी है, जिसे *सरकार और विधानसभा में विशेष स्थान प्राप्त है।*

संविधान के अनुसार राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करेगा। किंतु संविधान इस संबंध में सर्वथा मौन है कि राज्यपाल को मुख्यमंत्री की नियुक्ति किस प्रकार करनी चाहिये। संविधान में यह भी नहीं कहा गया है कि मुख्यमंत्री आवश्यक रूप से निम्न सदन का सदस्य हो अथवा विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य हो। यदि संविधान के शब्दों का पालन किया जाये तो मुख्यमंत्री वह व्यक्ति भी बन सकता है जो विधानमंडल के किसी भी सदन

का सदस्य नहीं हो। और कई राज्यों में वैसा हुआ भी है, जबकि राजनैतिक दलबदी के कारण राज्य से बाहर का व्यक्ति, जो उस राज्य के विधानमडल का सदस्य भी नहीं है, मुख्यमत्री बनाया गया है। लेकिन फिर भी साधारणत मुख्यमत्री की नियुक्ति के सबध में सुस्थापित नियम यह है कि आम चुनाव के बाद राज्यपाल विधानसभा के बहुमत प्राप्त दल के नेता को निमत्रण दे और उसे मुख्यमत्री नियुक्त करे। क्योंकि सविधान के अनुसार मंत्रिमडल को विधानसभा के प्रति ही उत्तरदाई होना है इसलिये उचित यही है कि मुख्यमत्री भी विधानसभा में से लिया जाये। हा, यदि विधानसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो तो राज्यपाल मुख्यमत्री के चुनाव में स्वविवेक से काम ले सकता है। वह किसी भी ऐसे सदस्य को आमंत्रित कर सकता है जो विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सके और मंत्रिमडल का निर्माण कर सके।[12] राज्यपाल द्वारा मुख्यमत्री की नियुक्ति वास्तव में एक औपचारिक कार्यवाही है, क्योंकि जिस व्यक्ति को विधानसभा का समर्थन प्राप्त होता है उसे राज्यपाल को मुख्यमत्री नियुक्त करना ही पडता है। कुछ दशाओं में उसे स्वविवेक से काम लेने का अवसर मिल सकता है। वे दशाए इस प्रकार हैं—

(1) जब विधानसभा में दो से अधिक दल हों और उनमें से किसी को भी आधे से अधिक मत अर्थात् स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, इस स्थिति में राज्यपाल का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे व्यक्ति को पद-भार सभालने के लिये आमत्रित करे जो विधानसभा का बहुमत अपनी सरकार के लिये प्राप्त करने में सफल हो।

(2) जब बहुमत दल का नेता स्पष्ट न हो। यह स्थिति तब उत्पन्न हो सकती है जब मुख्यमत्री अचानक त्यागपत्र दे दे या उसकी मृत्यु हो जाये और आतरिक द्वन्द्व के कारण दल अपना नेता चुनने में असमर्थ हो।

(3) जब विधानसभा में दलीय स्थिति के कारण एक मिश्रित मंत्रिमडल का बनाया जाना आवश्यक हो, किंतु मुख्यमत्री के सबध में विभिन्न दलों में मतैक्य न हो। क्योंकि राज्य कार्यपालिका में मुख्यमत्री का पद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और ससदीय शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदाई रहती है, इसलिये मुख्यमत्री को राज्यपाल मनोनीत करे, इससे अच्छा इस परपरा को विकसित करना होगा कि चुनाव के बाद विधानसभा का बहुमत दल या विभिन्न दल निर्वाचित सदस्यों में से अपना नेता चुन लें। इस परपरा से राज्यपाल को भी मुख्यमत्री की नियुक्ति करने में आसानी रहेगी। यदि बहुत ही विशेष परिस्थितियों में ऐसा व्यक्ति नेता बनाया जाये जो विधानसभा का निर्वाचित सदस्य नहीं है और राज्यपाल उसे मुख्यमत्री के रूप में नियुक्त करता है तो उसे जल्दी से जल्दी विधानसभा का निर्वाचित सदस्य बनना चाहिये और यदि वह चुनाव में हार जाता है तो तुरत मुख्यमत्री का पद छोडना चाहिये।[13]

यद्यपि नियम से मुख्यमंत्री पद के लिये कोई निश्चित योग्यता नहीं है फिर भी व्यावहारिक रूप से उसके लिये कुछ योग्यताओं और व्यक्तिगत गुणों का होना आवश्यक है। वैसे तो संवैधानिक प्रथाओं ने ही यह आवश्यक बना दिया है कि मुख्यमंत्री विधानसभा का सदस्य हो, विधानसभा के बहुमत दल का नेता हो अथवा विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त करने में समर्थ हो।[24] इसके साथ ही उसे विभिन्न व्यक्तिगत गुणों का धनी होना चाहिये। बहुधा एक दीर्घ अनुभव और संघर्ष के बाद ही मुख्यमंत्री के पद तक पहुंचने की कोई आशा कर सकता है। स्पष्ट है कि मुख्यमंत्री में एक अच्छे वक्ता के गुण होने चाहिये जो अपने राज्य की जनता को प्रभावित कर सके और उनमें लोकप्रिय बन सके। साथ ही उसमें ऐसी तर्कबुद्धि भी हो जो विरोधियों की आलोचना का खंडन करके उनका सामना कर सके।

## मुख्यमंत्री के कार्य तथा शक्तियां

मुख्यमंत्री के हाथ में ही राज्य शासन का संपूर्ण दायित्व है। उसके हाथ में व्यापक शक्तियां हैं, उसके कर्त्तव्य कठिन हैं और उसके अधिकार महान् हैं। मुख्यमंत्री की व्यापक शक्तियां, अधिकार व कर्त्तव्य इस प्रकार हैं–

**(1) मंत्रिमंडल का निर्माण**–मुख्यमंत्री ही मंत्रिमंडल के निर्माण, जीवन तथा मरण का केंद्र स्थल है और उसका प्रभावशाली संचालन उसी पर निर्भर करता है। मुख्यमंत्री पद की बागडोर संभालने के बाद उसका पहला कर्त्तव्य होता है, मंत्रिमंडल का निर्माण करना। *इसके लिये वह सदस्यों की सूची तैयार करता है, जिसे राज्यपाल विधिवत् स्वीकार कर* लेता है। वास्तव में राज्यपाल द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति करना केवल एक औपचारिकता मात्र है। कौन व्यक्ति मंत्रिमंडल में लिया जायेगा, कौन किस पद पर नियुक्त किया जायेगा, इसका निर्णय मुख्यमंत्री ही करता है। इस निर्णय में दलीय एकता व सुदृढ़ता, राज्यपाल की इच्छा, संवैधानिक अभिसमय, राजनैतिक स्थिति आदि अनेक तत्त्व प्रभावशाली होते हैं, परंतु अंतिम निश्चय करना मुख्यमंत्री का ही अधिकार है। यदि वह किसी व्यक्ति को मंत्रिमंडल में सम्मिलित करना चाहता है तो राज्यपाल रोक नहीं सकता है, और यदि वह किसी व्यक्ति को सम्मिलित करना नहीं चाहता, तो राज्यपाल उसे विवश नहीं कर सकता है। फिर भी मंत्रियों के चयन में मुख्यमंत्री मनमानी नहीं कर पाता है। उसे यह देखना पड़ता है कि उसके दल के प्रमुख सदस्य मंत्रिमंडल में आ जायें, क्योंकि ऐसा न होने पर दल के अंदर फूट पड़ सकती है और उसकी स्वयं की स्थिति कमजोर हो सकती है। कभी-कभी तो उसे ऐसे व्यक्तियों को भी मंत्रिमंडल में रखना पड़ता है, जिन्हें वह नहीं चाहता है, लेकिन क्योंकि उन्हें नहीं रखने से शासन संकट में पड़ सकता है। कभी-कभी उसे लोगों की शर्तों पर भी चलना पड़ता है और उन्हें उनकी इच्छा का विभाग देना पड़ता है जिस प्रकार केंद्र में प्रधानमंत्री को कई बार अपने दल के प्रमुख व्यक्तियों को उनकी इच्छा का विभाग देना पड़ता है। मार्च 1967 में श्रीमती इन्दिरा गांधी के मंत्रिमंडल में श्री मोरार जी

इसी प्रकार वित्तमंत्री बने थे। यह भी एक प्रकट रहस्य था कि श्री नेहरु की इच्छा श्री पाटिल को खाद्य विभाग न देकर रेल विभाग देने की थी, लेकिन श्री पाटिल की इच्छा के विरुद्ध वे उन्हें रेल विभाग नहीं दे सके।"[25]

इससे यह स्पष्ट है कि मंत्रिमंडल में लगभग आधे सदस्य अपनी वरिष्ठता, आयु, अनुभव और दलीय स्थिति के कारण मंत्री बन जाते हैं और आधे सदस्य मुख्यमंत्री की स्वतंत्र इच्छा से मंत्री बनते हैं। केंद्र में मार्च 1968 में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने त्रिगुण सेन को अपने मंत्रिमंडल में लिया जिनकी कि संभावना नहीं थी और जो राजनीति से बाहर थे। गोपाल स्वरूप पाठक और कर्णसिंह को भी व्यक्तिगत मित्रता के फलस्वरूप मंत्रिमंडल में लिया गया था। इसी प्रकार श्री शास्त्री ने त्रिभुवन नारायण सिंह को अपने मंत्रिमंडल में लिया, जो उनके बचपन के मित्र और स्कूल के साथी थे। जून 1964 में संजीव रेड्डी को भी नेतृत्व का समर्थन करने के पुरस्कार स्वरूप ही मंत्रिमंडल में लिया गया था।"[26]

नेहरु के बाद शास्त्री और इंदिरा गांधी ने इस बात का खंडन करने का प्रयास किया कि मंत्रिमंडल का निर्माण सामूहिक रूप से दल के शीर्ष नेताओं के हाथ में है न कि केवल प्रधानमंत्री के हाथ में। श्री शास्त्री ने इस बात का भी विरोध किया था कि मंत्रिमंडल के निर्माण में उनके ऊपर किसी प्रकार का कोई दबाव था। एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था–"जहां तक अपने मंत्रिमंडल के निर्माण का प्रश्न है, मैंने एक भी व्यक्ति से परामर्श नहीं लिया। यहां तक कि मंत्रिमंडल का विस्तार और परिवर्तन भी मेरा स्वयं का था। मंत्रियों की नियुक्ति में मैंने अपने विवेक से काम लिया और भविष्य में भी इस परंपरा को बनाये रखना चाहूंगा, लेकिन यह स्वाभाविक है कि इसकी संपूर्ण जिम्मेदारी मेरे ही कंधों पर रहेगी।' "

अतुल्य घोष और कामराज ने भी इस बात से इंकार किया था कि उन्होंने शास्त्री को मंत्रिमंडल बनाने में सलाह दी। अक्तूबर 1964 को जब लोकसभा में श्री संजीव रेड्डी की नियुक्ति का प्रश्न उठा तब अध्यक्ष श्री हुकुमसिंह ने दृढ़ता से निर्णय दिया कि सदन में मंत्री की नियुक्ति का निर्णय नहीं हो सकता। उन्होंने कहा–' अपने मंत्रिमंडल में नियुक्ति करने का कार्य प्रधानमंत्री का है। यह प्रधानमंत्री पर निर्भर है कि वह अपने मंत्रिमंडल में उन लोगों को ले जो उसके विचार में उचित हैं। यह उसके निर्णय का विषय है न कि सदन का। उसके द्वारा नियुक्ति का सदन में केवल एक ही निराकरण है कि अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा उसे हटाया जाये।' "[28]

इन सब बातों से स्पष्ट है कि राज्य में मंत्रिमंडल का निर्माण करते समय मुख्यमंत्री को इसका ध्यान रखना पड़ता है कि यथासंभव वे ही लोग उसमें आयें जो परस्पर सहयोग की भावना से कार्य कर सकते हों। मुख्यमंत्री को अपने सहयोगियों के चयन में विभिन्न वर्गों, विभिन्न धर्मों, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों, नवयुवक राजनीतिज्ञों आदि के प्रतिनिधित्व को भी ध्यान में रखना पड़ता है। राज्यपाल की इच्छा पर भी, चाहे सौजन्यता के कारण ही सही,

मुख्यमंत्री को उचित ध्यान देना पड़ता है।

स्पष्ट है कि मंत्रिमंडल के निर्माण में पूर्ण स्वतंत्र होते हुए भी मुख्यमंत्री को अनेक मर्यादाओं के अंतर्गत अपने सहयोगियों का चयन करना होता है। मंत्रिमंडल के आधे सदस्य तो अपनी दलीय स्थिति के कारण स्वतः मनोनीत होते हैं, परन्तु शेष मुख्यमंत्री की कृपा पर निर्भर रहते हैं। शाब्दिक अर्थों में मंत्रियों की नियुक्ति पर राज्यपाल का अधिकार होना चाहिये, लेकिन व्यवहार में मंत्रियों के संबंध में निश्चय करना मुख्यमंत्री का ही अधिकार है।

**(2) मंत्रिमंडल का निरीक्षण एवं निर्देशन**—मुख्यमंत्री न केवल मंत्रिमंडल का निर्माण करता है बल्कि उसे जीवन और गति भी वही देता है। वही अपने मंत्रियों के बीच विभागों का वितरण करता है। मंत्रियों को विभाग सौंपते समय भी मुख्यमंत्री अपने विवेक के अनुसार ही कार्य करता है। फिर भी कुछ सदस्य इतने प्रभावशाली और सशक्त हो सकते हैं कि विभाग वितरण करते समय मुख्यमंत्री उनकी इच्छा का आदर करे। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि कोई अनुभवी राजनीतिज्ञ मुख्यमंत्री द्वारा सौंपे गये विभाग को अपनी राजनैतिक स्थिति के प्रतिकूल समझकर लेने से इंकार कर देता है। फिर भी साधारणतः विभागों के वितरण के संबंध में मुख्यमंत्री का निर्णय अंतिम होता है और उस पर कोई आपत्ति नहीं की जाती।

मुख्यमंत्री को यह भी देखना पड़ता है कि मंत्रिमंडल का कार्य सुचारू रूप से चलता रहे। समस्त राज्य प्रशासन का मुखिया होने के नाते वह सभी विभागों का निरीक्षण करता है। कभी-कभी मंत्रियों में परस्पर मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। तब मुख्यमंत्री हस्तक्षेप करके औचित्य-अनौचित्य के निर्णय द्वारा उनके मतभेदों को दूर करता है। इस प्रकार मंत्रिमंडल के जीवन को सहयोग एवं सौहार्दपूर्ण बनाये रखने का उत्तरदायित्व मुख्यमंत्री पर ही है। वही सबको एक सूत्र में पिरोये रखता है। मुख्यमंत्री ही मंत्रिमंडल की बैठकों का सभापतित्व और उसकी समस्त कार्यवाहियों का संचालन करता है। मंत्रिमंडल की कार्यविधि पर उसका नियंत्रण होता है। मंत्रिमंडल के निर्णय और नीति निर्धारण में मुख्यमंत्री का ही सर्वोपरि हाथ रहता है। मंत्रिमंडल के सदस्य वाद-विवाद के लिये जो भी विषय विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं उन्हें मानने या न मानने की उसे स्वतंत्रता रहती है। किंतु मुख्यमंत्री अन्य मंत्रियों का अधिनायक नहीं है। अन्य मंत्रियों के साथ व्यवहार करते समय वह इस बात का ध्यान रखता है कि यदि वह उनके साथ अनुचित व्यवहार करेगा या अनुचित दबाव डालेगा तो उसकी अपनी दलगत स्थिति बिगड़ सकती है। मंत्रिमंडल के सदस्य मुख्यमंत्री के दास या अधीनस्थ नहीं होते, बल्कि वे उसके सहयोगी होते हैं। अपने विचारों को मान लेने के लिये वह उनको फुसला सकता है, किन्तु विवश नहीं कर सकता। वह अपने सहयोगी मंत्रियों की राय की कभी भी पूर्ण अवहेलना नहीं कर सकता। यह अवश्य है कि उसकी स्थिति अन्य मंत्रियों की तुलना में अधिक प्रभावशाली होती है और वह मंत्रियों से अपने विचारों को

मनवा ही लेता है। कुछ भी करने की पहल उसी की रहती है और अन्य मंत्री बहुधा उसका अनुसरण करते हैं।

(3) **मंत्रिमंडल पर नियंत्रण**—यदि शासनतंत्र को कुशलतापूर्वक चलाना है तो फिर मुख्यमंत्री को इस संबंध में पूरी छूट होनी ही चाहिये कि वह अपने साथियों को स्वतंत्रतापूर्वक नियुक्त कर सके, इच्छानुसार उनके पदों में परिवर्तन कर सके और यदि चाहे तो अपने साथियों में से किसी को अपदस्थ कर सके। मुख्यमंत्री मंत्रिमंडल का केवल निर्माता एवं पालनकर्ता ही नहीं है बल्कि संहारकर्ता भी है। मंत्रियों के मंत्रित्व की समाप्ति तथा मंत्रिमंडल को भंग करने के विषय में उसकी इच्छा का पर्याप्त महत्व है। सभी मंत्रियों का भविष्य उसके साथ बंधा हुआ है। मुख्यमंत्री के साथ ही अन्य मंत्री भी तैरते या डूबते हैं। उसके त्यागपत्र के साथ पूरा मंत्रिमंडल भंग हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि मुख्यमंत्री और किसी अन्य मंत्री में कोई मतभेद होता है, तो ऐसी दशा में मुख्यमंत्री उस असंतुष्ट मंत्री से त्यागपत्र की मांग कर सकता है या स्वयं अपना त्यागपत्र देकर सम्पूर्ण मंत्रिमंडल को विघटित कर सकता है। किसी भी मंत्री का मुख्यमंत्री से मतभेद होने पर मंत्रिमंडल से हट जाना आवश्यक है अन्यथा वह मंत्रिमंडल के सामूहिक उत्तरदायित्व से उन्मुक्त नहीं हो सकता।

मुख्यमंत्री को यह भी अधिकार है कि वह राज्यपाल से किसी मंत्री को अपदस्थ करने को कहे। संविधान के अनुसार कोई मंत्री अपने पद पर केवल राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त ही रह सकता है, अतः संविधानतः राज्यपाल जब चाहे, किसी भी मंत्री को हटा सकता है।[7] मंत्रिमंडलीय शासन की यह सुस्थापित परंपरा है कि राज्यपाल किसी भी मंत्री को केवल मुख्यमंत्री की मंत्रणा पर ही अपदस्थ करें। इस प्रकार अन्तिम रूप से किसी मंत्री को अपदस्थ करने की शक्ति मुख्यमंत्री के पास ही है। किन्तु यह अवश्य है कि मुख्यमंत्री केवल अत्यधिक असाधारण स्थिति में ही किसी मंत्री को अपदस्थ करने की सिफारिश करता है। विशेष बात यह है कि मुख्यमंत्री अपनी शक्ति का अनुचित प्रयोग प्रायः नहीं करता और अकारण ही किसी मंत्री को पदत्याग करने के लिए बाध्य नहीं करता, क्योंकि उसे अपनी दलीय स्थिति का भी ध्यान रखना पड़ता है। वह ऐसे किसी भी कार्य से बचने की कोशिश करता है जिससे स्थिति बिगड़ने की संभावना हो। स्पष्ट है कि मुख्यमंत्री मंत्रिमंडल के निर्माण, जीवन और मरण का केंद्रबिंदु है। वह मंत्रिमंडल रूपी मेहराब की आधारशिला है। यदि मुख्यमंत्री प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व वाला है तो आसानी से मंत्रिमंडल के ऊपर अपना नियंत्रण रख सकता है। और मंत्रियों को अपने पीछे चला सकता है, किन्तु यदि वह ऐसा नहीं है तो उसे समान लोगों में प्रथम बनकर ही मंत्रिमंडल पर नियंत्रण करना पड़ेगा।

(4) **शासन-संचालन**—सैद्धान्तिक रूप में राज्यपाल ही राज्य का प्रमुख होता है पर व्यावहारिक रूप में राज्य-प्रमुख के सभी अधिकारों का प्रयोग मुख्यमंत्री और मंत्रिमंडल के द्वारा किया जाता है। मुख्यमंत्री ही राज्यपाल के नाम पर राज्य का पूरा शासन सचालित

करता है। प्रशासकीय विभागों का सचालन उसी की देखरेख में होता है।

मुख्यमत्री सरकार की कार्यकुशलता के लिये उत्तरदाई है और उसे ही यह देखना होता है कि उसकी सरकार की साख राज्य में बनी रहे। अपने इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिये मुख्यमत्री मंत्रिमडल में आवश्यक परिवर्तन कर सकता है। शासन का प्रधान होने के नाते मुख्यमत्री ही विभिन्न मत्रियों और उनके विभागों की नीतियों में सामजस्य और एकरूपता स्थापित करता है। वह सपूर्ण शासन को एक इकाई के रूप में देखता है और शासन के विभिन्न क्रियाकलापों में समन्वय स्थापित करता है। मत्रीगण अपने विभागों की कार्यकुशलता के लिये व्यक्तिगत रूप से मुख्यमत्री के प्रति उत्तरदाई होते हैं। मुख्यमत्री उन्हें शासन-कार्य में परामर्श देता है, उन्हें प्रोत्साहित करता है और आवश्यकता पडने पर उन्हें चेतावनी भी देता है। दो मत्री अथवा दो विभागों में मतभेद हो जाने की सभावना होने पर वह मध्यस्थ का कार्य करता है। चूंकि सरकार का अधिकार-क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है, अत सरकार के विभिन्न विभागों में तालमेल बैठाने का काम अधिकाशत समितिया ही करती हैं। मुख्यमत्री उनके काम की निगरानी करता है और विवादास्पद विषयों पर उन्हें परामर्श देता है।

मुख्यमत्री अंतिम रूप से बजट के लिये उत्तरदाई होता है इसलिये राजकीय बजट को मुख्यमत्री और वित्तमत्री ही अंतिम रूप देते हैं। राज्य की शासन सबधी नीति का निर्धारण मंत्रिमडल के परामर्श से मुख्यमत्री ही करता है। मुख्यमत्री मंत्रिमडल के परामर्श से ही निर्णय करने को बाध्य नहीं है। वह मंत्रिमडल के सामने रखे बिना भी किसी नवीन नीति अथवा योजना को सार्वजनिक रूप से घोषित कर सकता है किंतु शासन के सचालन में मुख्यमत्री अपने सहयोगियों की परवाह न करके मनमाना व्यवहार नहीं कर सकता। उसे अपने सहयोगियों का विश्वास प्राप्त करना पडता है क्योंकि उसकी सफलता बहुत कुछ उनके सहयोग पर निर्भर है। सहयोगियों के विश्वास को ठुकरा कर स्वेच्छाचारी आचरण करने वाला मुख्यमत्री अपने दल, विधानसभा और राज्य का सम्मान खो बैठता है। सभी की दृष्टि सदैव मुख्यमत्री के कार्यों पर लगी रहती है और वह सरलतापूर्वक अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं कर सकता।

(5) दल और सदन का नेतृत्व—शासन का प्रधान होने के अतिरिक्त मुख्यमत्री बहुमत दल का नेता होता है और अपनी दलीय स्थिति के कारण ही उसका महत्त्व अत्यधिक होता है। विजयी दल का नेता होने के नाते ही वह मुख्यमत्री बन पाता है। इस स्थिति में उसका व्यक्तित्व सार्वजनिक भी हो जाता है। वस्तुत निर्वाचन के द्वारा मुख्यमत्री सपूर्ण राज्य का प्रतीक बन जाता है, उसके व्यक्तित्व में दल की प्रतिष्ठा और शक्ति सम्मिलित हो जाती है और तब उसे नेता-पद से निकाल फेंकना एक अत्यत दुष्कर कार्य हो जाता है। यह कह देना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मुख्यमत्री के व्यक्तित्व पर ही दल बहुत कुछ टिका रहता है।

इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि मुख्यमंत्री और मंत्रिमंडल वही कार्य करेंगे जो समय-समय पर दल के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। यदि मुख्यमंत्री ही अपने राज्य के दलीय संगठन का अध्यक्ष होता है तो कोई समस्या नहीं होती, किन्तु यदि मुख्यमंत्री और दल का अध्यक्ष अलग-अलग व्यक्ति हों और दोनों में अपनी-अपनी महत्ता प्रदर्शित करने की आकांक्षा हो, तो समस्या उत्पन्न हो सकती है। किन्तु मुख्यमंत्री के अधिक प्रभावपूर्ण न होने पर भी दल का अध्यक्ष मुख्यमंत्री पर पूरा दबाव नहीं डाल सकता, क्योंकि मुख्यमंत्री की स्थिति राज्य-शासन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। अपनी स्थिति और सत्ता के कारण वह दल के अध्यक्ष के हाथों की कठपुतली नहीं बन सकता। वह दल का केंद्रबिंदु होता है, कार्यक्रम बनाने में प्रमुख भाग लेता है और निर्वाचन में भी उसके नाम का काफी प्रभाव रहता है। मुख्यमंत्री का पद ग्रहण करके वह अपने दल के संगठन को शक्तिशाली बनाता है। वह अपने दल का प्रमुख प्रवक्ता और दल के उद्देश्य, कार्यों का प्रतीक बन जाता है। सरकार का प्रमुख होने के नाते दल की नीति को लागू करना और दल की प्रतिष्ठा व लोकप्रियता बढ़ाने का दायित्व उसी का रहता है।

मुख्यमंत्री केवल अपने दल का ही नेता नहीं होता बल्कि अपने राज्य की जनता का भी नेता बन जाता है। जनता के सामने वह सरकार का प्रतीक होता है। यदि किसी सरकारी कार्य का गलत परिणाम निकलता है तो उसे ही आलोचना का शिकार होना पड़ता है। कोई आर्थिक या राजनैतिक अव्यवस्था होने पर जनता की आशा उसी पर केंद्रित रहती है। आंतरिक अव्यवस्था होने पर जनता उसी से नेतृत्व, निर्देशन और आश्वासन चाहती है। संचार और यातायात की सुविधाएं, समाचारपत्र इत्यादि के विकास के कारण उसका जनता के साथ व्यक्तिगत और प्रत्यक्ष संबंध अधिक सुगम हो गया है। यदि यह कहा जाये कि मुख्यमंत्री दल और जनता के बीच कड़ी का काम करता है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। और इसी कारण दल के अन्य वरिष्ठ नेताओं में उसकी स्थिति अधिक श्रेष्ठ होती है। यद्यपि यह भी एक वास्तविकता है कि दल के बिना वह कुछ भी नहीं है तथापि दल भी उसका ऋणी है, क्योंकि उसके कारण दल की शक्ति, प्रतिष्ठा और लोकप्रियता में वृद्धि होती है। जनता के लिए वह अपने दल का नेता या एक निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधि नहीं होता बल्कि संपूर्ण राज्य की शांति, कल्याण और प्रगति का दायित्व उसी पर रहता है।

दल और सदन के दोहरे नेतृत्व के कारण विधानसभा की प्रक्रियाओं में मुख्यमंत्री की स्थिति अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अध्यक्ष के निर्वाचन का निर्णय भी उसी का रहता है। विधानसभा के अधिवेशन को आमंत्रित और स्थगित कराने में भी उसी का हाथ रहता है। कई बार इसका प्रयोग वह अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिये भी कर सकता है। मार्च 1970 में जम्मू-कश्मीर में जब कांग्रेस विधानसभा दल के 35 सदस्यों के द्वारा सादिक-नेतृत्व से अपना समर्थन वापस लेने की घोषणा से मंत्रिमंडल के पतन का खतरा उत्पन्न हो गया था, तो मुख्यमंत्री ने राज्यपाल को सलाह देकर विधानसभा स्थगित करवा

दी और कुछ दिन बाद सारी स्थिति को उलटते हुए बहुमत अपने पक्ष में कर लिया।

सरकार का प्रमुख होने के कारण मुख्यमंत्री को बड़ी चतुराई से बहुमत अपने पक्ष में बनाये रखना होता है। उसे बहुमत पर बराबर नजर रखनी पड़ती है और उसके लिये विशेष प्रयास भी करने पड़ते हैं। उसे हमेशा यह ध्यान रखना पड़ता है कि सदन में उसके समर्थन का वातावरण विरोधी वातावरण में परिवर्तित न हो जाये। उसे अपने विरोधियों की आलोचना सहन करने के लिये और उन्हें अपना समर्थक बनाने के लिये काफी धैर्य, साहस, सहनशीलता-सहिष्णुता, शांति और मधुरता से काम लेने की आवश्यकता होती है।

(6) *मध्यस्थ का कार्य*–*मुख्यमंत्री राज्यपाल और मंत्रिमंडल के बीच एक* महत्त्वपूर्ण कड़ी है। राज्यपाल और मुख्यमंत्री में परस्पर विचारों और सूचना का आदान-प्रदान निर्बाध गति से होना चाहिये। राज्य का प्रधान होने के नाते राज्यपाल को अपने मंत्रिमंडल के कार्यों की निरंतर सूचना मिलती रहनी चाहिये और यह सूचना मुख्यमंत्री से अधिक अच्छी तरह और कौन दे सकता है? दूसरी ओर राज्यपाल भी मुख्यमंत्री का अच्छा सलाहकार और मित्र बनकर शासन को लाभ दे सकता है।[30] सार्वजनिक महत्त्व के मामलों पर राज्य के प्रधान से केवल मुख्यमंत्री के माध्यम से ही सपर्क स्थापित किया जा सकता है। मुख्यमंत्री ही राज्यपाल को मंत्रिमंडल के निर्णय से अवगत कराता है। यदि कोई मंत्री मुख्यमंत्री द्वारा दिये गये विवरण की आलोचना करता है अथवा राज्यपाल के पास सीधे मंत्रिमंडल की सूचनाएं पहुंचाता है, तो उसका यह व्यवहार मंत्रिमंडलीय शिष्टाचार के विरुद्ध होगा।[31] राज्यपाल का मुख्य परामर्शदाता मुख्यमंत्री ही है। यद्यपि संविधानतः राज्यपाल परामर्श मानने के लिये बाध्य नहीं है, किंतु व्यवहारतः वह उसके परामर्श को *मानता है। इसका मुख्य कारण यह है कि राज्यपाल द्वारा उसके परामर्श को स्वीकार न* करने की अवस्था में मुख्यमंत्री त्यागपत्र देकर राज्यपाल के लिये गंभीर समस्या और कठिनाई उत्पन्न कर सकता है।

राज्य पर आर्थिक और सामाजिक कल्याण के भार के कारण मुख्यमंत्री पर भी भार बढ़ गया है। सरकार का लोक कल्याण का उद्देश्य तब तक पूर्ण सफल नहीं हो सकता जब तक कि सरकार के विभिन्न विभाग सहयोग की भावना से मिलकर कार्य न करें। विभिन्न प्रकार के आर्थिक और सामाजिक कल्याण को प्राप्त करने के लिये प्रशासन की सुविधा के लिये शासन को अलग-अलग विभागों और मंत्रियों में विभाजित कर दिया जाता है, लेकिन लोककल्याण का कार्य अविभाज्य है अर्थात् सभी विभागों को मिलकर उसे पूरा करना है। मुख्यमंत्री इसका नेतृत्व करता है ताकि अलग-अलग विभाग एक इकाई के रूप में कार्य करके उद्देश्य को पूर्ण कर सकें। मुख्यमंत्री का यह दायित्व काफी नाजुक और कठिन है। पहली बात तो यह है कि उसे नीति-निर्माण में सभी मंत्रियों की राय लेनी पड़ती है। दूसरे, उसे यह देखना पड़ता है कि मंत्रिमंडल द्वारा बनाई गई नीति का पालन संबंधित विभाग के द्वारा हो रहा है अथवा नहीं। तीसरे, उसे उन मंत्रियों को भी ठीक करने का कठिन

काम करना पड़ता है, जो मतभेद उत्पन्न करते हैं या जो मंत्रिमंडल की नीतियों की अवहेलना और उल्लंघन करते हैं। चौथे, वह दो या अधिक मंत्रालय के मतभेद और विवादों को दूर करने वाला अंतिम निर्णायक होता है। इसके अतिरिक्त वह विभिन्न विभागों में समन्वय करके उन्हें सामाजिक व आर्थिक कल्याण के अनुरूप और चुनाव में घोषित कार्यक्रम व दल की नीति के अनुरूप बनाता है। मंत्री भी अपने विभाग की प्रमुख समस्याओं को मुख्यमंत्री के पास ले जाने में अपना लाभ समझते हैं।

*इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुख्यमंत्री को राज्य सरकार और विधानसभा, दोनों में* एक विशेष स्थान प्राप्त है। वह राज्य का अत्यन्त शक्तिशाली और प्रभावशाली पदाधिकारी है तथा एक महान् व्यक्तित्व वाला मुख्यमंत्री इस पद के गौरव में अधिक वृद्धि कर सकता है। वास्तव में इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उसका पद बहुत कुछ स्वयं उसके ऊपर निर्भर करता है कि वह उसे कैसे बनाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संसदीय शासन में राज्य में मुख्यमंत्री ही मुख्य केंद्रबिंदु है। वह मंत्रिमंडल रूपी मेहराब का मुख्य पत्थर है, लेकिन यह स्थिति तभी तक है जब तक वह उस मंत्रिमंडल का नेता है जिसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। यदि एक ही दल का वह नेतृत्व कर रहा है तो उसकी महत्ता निर्विवाद है, लेकिन मिले-जुले दलों की सरकार में उसकी महत्ता उन विभिन्न दलों के समझौते पर आधारित रहती है। *यदि वह समझौता टूटता है तो उस मुख्यमंत्री को स्वयं* पद पर रहते हुए राज्यपाल को यह सलाह देने का कोई अधिकार नहीं है कि किसी विशेष मंत्री का विवाद उत्पन्न हुआ था जो कानूनी विवाद नहीं था, बल्कि उसका संबंध संवैधानिक अभिसमय और राजनीति से अधिक है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल को विधानसभा की वास्तविक दलीय स्थिति और परिस्थिति का अवलोकन करके पूरी तरह प्रयत्न करना चाहिये कि राज्य में उत्तरदाई सरकार की स्थापना हो सके। इसके लिये वह राजनैतिक दलों के नेताओं से सलाह कर सकता है। लेकिन यदि राजनैतिक दल ही संविधान की अवहेलना कर रहे हैं और संसदीय शासन के संचालन में बाधा डाल रहे हैं, तो राज्यपाल का कर्त्तव्य है कि संविधान और संसदीय पद्धति को न टूटने दे।"

*मुख्यमंत्री की अधिकारपूर्ण स्थिति का विस्तार बहुत कुछ मुख्यमंत्री के व्यक्तित्व, उसकी* व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और उसके दल के समर्थन पर निर्भर करती है, किंतु फिर भी वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता क्योंकि उसके पद पर अनेक सीमाएं हैं। देश का लोकमत जागरूक होता जा रहा है। स्वतंत्र प्रेस सरकार की कमजोरियों पर कड़ी नजर रखता है तथा विरोधी दल भी सरकार की नीति और व्यवहार की आलोचना करते रहते हैं। निर्वाचन के कारण तथा विधानसभा के नियंत्रण के कारण भी मुख्यमंत्री के तानाशाह बनने की संभावना नहीं रहती। वास्तव में मुख्यमंत्री की स्थिति दलीय प्रणाली से बंधी हुई है। राजनैतिक दल का नेता बने रहने और विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त किये रहने तक ही वह महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता है, किंतु ज्योंही वह दलीय समर्थन से वंचित हो

जाता है और विधानसभा के बहुमत का विश्वास खो बैठता है, उसका सपूर्ण महत्त्व लुप्तप्राय हो जाता है। अपना महत्त्व बनाये रखने के लिये मुख्यमंत्री को व्यक्तित्ववान होना पड़ता है, ताकि वह राज्य का उचित सम्मान और समर्थन प्राप्त कर सके।

## टिप्पणिया

1 Ivor Jennings— Cabinet Government (III ed London 1959) p 1
2 Robert C Fried— Comparative Political Institutions (New York, 1966) p 7
3 What is the meaning of this system of Dyarchy? asked Colonel Yate in the House of Commons and added It is that in every province of India however different in creeds and languages may be you are to have two executive councils one composed of British official members and the other of Indian unofficial members These two executive councils are to be opposed to each other and to fight each other on questions affecting the budget, the allotment of funds and everything else A Appadorai Dyarchy in Practice, p 46
4 'From to day said Lord Mountbatten in his historic broadcast to the nation on August 15th I am your constitutional Governor General and I would ask you to regard me as one of yourselves devoted wholly to the furtherance of India's interests " *Ibid* p 48
5 H J Laski—'Parliamentary Government in England' (1930), p 87
6 Article 164(1)— The Chief Minister shall be appointed by the Governor and the other Ministers shall be appointed by the Governor on the advice of the Chief Minister and the Ministers shall hold office during the pleasure of the Governor " 'Constitution of India' (1963)
7 Article 164—"A Minister who for any period of six consecutive months is not a member of the Legislature of the State shall at the expiration of that period cease to be a Minister *Ibid*
8 From of oath of office for a Minister for State—
' I A B , do Swear in the name of God/solemnly affirm that I will bear true faith and allegiance to the Constitution of India as by law established that I will uphold the sovereignty and integrity of India that I will faithfully and conscientiously discharge my duties as a Minister for the State of and that I will do right to all manner of people in accordance with the constitution and the law without fear or favour, affection or ill will "
From of oath of secrecy for a Minister of State—
' I, A B , do swear in the name of God/solemnly affirm, I will not directly or indirectly communicate or reveal to any person or persons any matter which shall be brought under my consideration or shall become known to me as a Minister for the State of except as may be required for the due discharge of my duties as such Minister " 'Constitution of India' (1963)
9 Mohan S Kumarmangalam—'The Governor and his Ministers', *'Economic and Social Political Weekly* (25 Nov , 1967)
10 S A Walkland—'The Legislative Process in Great Britain' (London, 1968) p 55
11 S H Beer and A B Ulam (ed )—'Patterns of Government' (II ed , New York 1962) p 135
12 John Merrett—'How Parliament Works' (London 1960), p 3

13 A B Lall (ed) *The Indian Parliament* (Allahabad 1959) p 131
14 K C Wheare— Legislature (Oxford University Press 1963) p 92
15 L A Abraham and S C Hawtrey— A Parliamentary Dictionary (London 1956) p 65
16 Morrison of Lambeth— Government and Parliament (III ed Oxford 1954) p 223
17 John Merrett— How Parliament Works (London 1960) p 49
18 A B Lall— *The Indian Parliament* (Allahabad 1959) p 169
19 C Ilbert and C Carr— Parliament (III ed Oxford University Press London 1960) p 96
20 John Merrett— How Parliament Works (London 1960) p 41
21 Ivor Jennings— Cabinet Government (III ed London) p 1
22 J R Siwach— Appointment and dismissal of the Chief Ministers *Journal of Constitutional and Parliamentary Studies* (January March 1967)
23 The Role of Governors Report of the Committee of Governors (1971 President s Secretariat New Delhi) pp 34 35
24 *Ibid* p 29
25 H M Jain— The Union Executive (1969) p 192
26 *Ibid* p 193
27 D R Mankekar— Lal Bahadur A Biography (Popular Prakashan, Bombay 1970) p 71
28 H M Jain— The Union Executive (1969) p 195
29 B K Sarkar— The Governor s Pleasure Century (9 December 1967)
30 The Role of Governors Report of the Committee of Governors (1971 *President s Secretariat, New Delhi*) p 22
31 Indushekhar Prasad Sinha— Governor and Ministers Mainstream (30 December 1976)
32 The Role of Governors Report of the Committee of Governors (1971 President s Secretariat, New Delhi) p 47

# 7

# राज्यपाल एवं मंत्रिमण्डल

## संविधान के अंतर्गत राज्यपाल की वास्तविक संवैधानिक स्थिति

जैसा कि स्पष्ट है, राज्य-कार्यपालिका शक्ति अर्थात् राज्य में शासन करने की शक्ति संसदीय शासन होने के कारण किसी एक पद अथवा व्यक्ति में निहित नहीं है बल्कि इसमें अनेक पद और पदाधिकारी संलग्न हैं, जैसे राज्यपाल, मंत्रिमंडल, मुख्यमंत्री, महाधिवक्ता, प्रशासनीय अधिकारी इत्यादि। इनमें से राज्यपाल और मंत्रिमंडल की स्थिति एवं सम्बन्ध जानना विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि राज्य की राजनीति और शासन पर इन दोनों के सम्बन्धों का अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है।

संविधान के अनुसार राज्यपाल में तो राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्तियां निहित हैं, लेकिन संसदीय शासन होने के कारण उनका उपयोग मुख्यमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिमण्डल के द्वारा होता है।[1] दोनों पदों में सामंजस्य बनाये रखने के लिये पहले यह जानना आवश्यक होगा कि राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति क्या है?

यदि हम भारत के केंद्रीय शासन की रूपरेखा को ध्यान में रखें तो राज्य शासन का विश्लेषण आसान हो जायेगा। राज्य का शासन भी संसदीय है और राज्य का अध्यक्ष राज्यपाल कहलाता है। राज्य की समस्त कार्यपालिका-सत्ता का राज्यपाल में निहित होना यह स्पष्ट कर देता है कि राज्यपाल का राज्य में वही संवैधानिक स्थान है जो केंद्र में राष्ट्रपति को प्राप्त है। संविधान के अनुसार अपनी कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग राज्यपाल या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उन विषयों तक है जिनके बारे में उस राज्य के विधानमण्डल को कानून बनाने की शक्ति है। राज्याध्यक्ष के रूप में अपने दायित्वों की पूर्ति के लिये राज्यपाल का कार्य बहुत कुछ राष्ट्रपति के कार्य के समान ही है। यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्यपाल एक अत्यधिक सम्मानित पदाधिकारी है। वह मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है जो उसके अनुग्रह-पर्यन्त पदासीन रहते हैं। वह सरकारी काम को इन मंत्रियों में बांटता है और इस कार्य का सुचारू रूप से संचालन करने के लिये नियम बनाता है। राज्य के सभी कार्यपालिका-सम्बन्धी कार्य उसी के नाम से सम्पन्न होते हैं। राज्य के

महाधिवक्ता तथा अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति भी राज्यपाल ही करता है। बिहार, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा के राज्यपाल का एक विशेष कर्त्तव्य यह है कि वह आदिम जातियों के कल्याण-सम्बन्धी कार्य के लिये एक मंत्री की नियुक्ति करे। असम राज्य में तो राज्यपाल को आदिम जाति क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में कुछ विशेष शक्तियां संविधान की छठी अनुसूची के द्वारा प्राप्त हैं।[1]

राष्ट्रपति के समान राज्यपाल को भी क्षमादान की शक्ति प्राप्त है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति के विस्तार के अंतर्गत उस विषय सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध अपराध के लिये दोषसिद्ध व्यक्ति के दण्ड को कम करना, स्थगित करना अथवा समाप्त करने का अधिकार राज्यपाल को है।

विधायी क्षेत्र में भी राज्यपाल को विस्तृत शक्ति प्राप्त है। वह राज्य के विधानमण्डल का अभिन्न अंग है। वह राज्य के विधानमण्डल के अधिवेशन को आमंत्रित करता है, सत्रावसान तथा विधानसभा का विघटन भी वही करता है। उसे विधानसभा को सम्बोधित करने तथा संदेश भेजने का अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक वित्तीय वर्ष में वह सदन के सामने बजट प्रस्तुत करवाता है। विधानमण्डल से अनुदानों की मांग केवल राज्यपाल की सिफारिश पर ही की जा सकती है। राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक उसकी स्वीकृति के लिये प्रस्तुत किया जाता है। राज्यपाल जब उसे स्वीकार कर दे, तब वह विधेयक अधिनियम बन जायेगा अथवा वह उस विधेयक को कुछ संशोधन या परिवर्तन की सिफारिश के संदेश के साथ विधानसभा को लौटा सकता है। वित्त विधेयक को लौटाने की शक्ति राज्यपाल को प्राप्त नहीं है। यदि लौटाये गये सामान्य विधेयक को विधानमण्डल संशोधन सहित या रहित पुनः पारित कर राज्यपाल के सामने प्रस्तुत करे, तो उसे अनुमति देनी ही होगी। यदि उसके विचार में विधेयक के उपबन्ध उच्च न्यायालय की, संविधान द्वारा दी गई, स्थिति को संकट में डालते हैं, तो राज्यपाल उस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भी रक्षित कर सकता है।

राज्य विधानमण्डल के अवकाश के समय में यदि ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जायें जिसमें तत्काल ही कार्य की आवश्यकता हो, तो राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने की विशेष शक्ति भी प्राप्त है। किन्तु कुछ विषय ऐसे भी हैं जिनमें राष्ट्रपति के पूर्वादेश के बिना उसे अध्यादेश जारी करने का अधिकार नहीं है। राज्यपाल द्वारा जारी किये गये अध्यादेश का प्रभाव तथा शक्ति विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम के समान ही होगी। ऐसा प्रत्येक अध्यादेश राज्य विधानमण्डल का सत्र प्रारम्भ होने पर विधानमण्डल के सामने प्रस्तुत होगा। यदि विधामण्डल उस अध्यादेश का समर्थन नहीं करता तो वह अमान्य हो जायेगा। राज्यपाल किसी भी समय उस अध्यादेश को वापस भी ले सकता है।

राज्य में संकटकाल की स्थिति में राज्यपाल यथार्थ में कार्यपालिका का प्रधान बन जाता है। राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा होने पर राज्य का प्रशासन सीधे केंद्र के

नियन्त्रण में आ जाता है। राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्यस्थल पर उपस्थित व्यक्ति होने के कारण राज्यपाल प्रशासन की बागडोर अपने हाथ में ले लेता है। इस अवधि में प्रशासकीय अधिकारियों की सहायता से वह राज्य के शासन का संचालन करता है। इस प्रकार संविधान ने राज्यपाल को पर्याप्त कार्य और दायित्व सौंपे हैं।

## व्यवहार में राज्यपाल की स्थिति

संविधान की धाराओं से स्पष्ट होता है कि राज्य में सभी कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य राज्यपाल के नाम से सम्पन्न होते हैं। राज्यपाल को राज्य-प्रशासन का सुचारू रूप से संचालन करने के लिये नियम बनाने का अधिकार प्राप्त है। प्रशासन-कार्य को मंत्रियों में विभाजित करना भी उसी का कार्य है। राज्य के प्रशासन तथा प्रस्तावित विधान के सम्बन्ध में मंत्रिमण्डल द्वारा जो भी निर्णय लिये जायें उनकी सूचना राज्यपाल को देना मुख्यमंत्री का कर्त्तव्य है। यदि किसी विषय पर एक मंत्री ने अकेले ही कोई निर्णय लिया हो, तो राज्यपाल की इच्छानुसार उस विषय को मंत्रिमण्डल की बैठक में प्रस्तुत करना भी मुख्यमंत्री का कर्त्तव्य है।

संविधान द्वारा राज्यपाल को दी गई सत्ता की सूची अत्यन्त विस्तृत है। यदि इसे इसी प्रकार मान लिया जाये, तो यह भयावह रूप धारण कर लेती है। किन्तु यथार्थ में राज्यपाल एक संवैधानिक राज्याध्यक्ष है, जिसका अर्थ यह है कि चाहे वह 'मुख्य कार्यपालक' कहलाता है, किन्तु उसके कृत्यों के सम्बन्ध में असली सत्ता मंत्रिमण्डल के हाथों में रहती है।' यह बात संविधान सभा में भी प्राधिकारवान प्रवक्ताओं ने बार-बार स्पष्ट की थी।

यह हम एक विधिशास्त्री के दृष्टिकोण से संविधान के शब्दों को देखें और उसकी कानूनी व्याख्या करें तो वास्तव में राज्यपाल का पद राज्य में एक अभूतपूर्व शक्ति का प्रतीक होगा। लेकिन दूसरी ओर यदि हम राजनीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से राज्यपाल के पद पर विचार करें, तो मालूम होगा कि कानून राजनैतिक तथ्यों से बहुत प्रभावित होता है और कई बार उसे राजनीति के अधीन भी रहना पड़ता है। यदि हमें राज्यपाल के पद के सम्बन्ध में सही वास्तविकता को जानना है, तो राजनैतिक तथ्यों का अवश्य ध्यान रखना पड़ेगा। एक प्रसिद्ध विधिशास्त्री सेमण्ड ने भी बिना किसी संकोच के इस तथ्य को स्वीकार किया है और कहा है—"कानून की नजरों से संविधान जो दिखाई देता है, वह जरूरी नहीं है कि हर दृष्टि में सही और वास्तविक हो। कई संवैधानिक सिद्धान्त कानूनी रूप से सत्य हो सकते हैं, लेकिन व्यवहार में नहीं, या व्यवहार में सत्य हो सकते हैं लेकिन कानून में नहीं। शासन सत्ता का अस्तित्व कई बार कानूनी हो सकता है, लेकिन वास्तविक नहीं, या कई बार वास्तविक हो सकता है लेकिन कानूनी नहीं।'"

कानूनी दृष्टिकोण से संविधान की धाराओं के अनुसार राज्यपाल का पद स्वेच्छाचारी या ब्रिटिशकालीन राज्यपाल के पद की तरह हो सकता है। उसके पास राज्य-शासन की सभी सर्वोच्च शक्तियाँ रहती हैं। यद्यपि संविधान ने राज्यपाल को कार्य में सलाह एवं सहायता के लिये मुख्यमंत्री सहित मंत्रिमण्डल की भी व्यवस्था की है तथापि कहीं भी यह

नहीं लिखा है कि राज्यपाल उस सलाह को मानने के लिये बाध्य होगा। *मंत्रिमण्डल ने* राज्यपाल को क्या सलाह दी इसकी जाच करना या व्याख्या करना न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में नहीं आयेगा। मंत्रिमण्डल का काम राज्यपाल को सलाह एव सहायता देना है और वह राज्यपाल की इच्छा है कि उसे माने या नहीं माने। यदि वह कभी मंत्रिमण्डल की सलाह अस्वीकृत कर दे, तो वह कार्य सवैधानिक ही रहेगा। यदि वह मंत्रिमण्डल की सलाह मानता है तो यह व्यक्तिगत या राजनैतिक प्रभाव के कारण हो सकता है, कानूनी रूप से वह बाध्य नहीं है।

लेकिन सविधान सभा के विवादों के अध्ययन से स्पष्ट है कि सविधान निर्माता राज्यपाल के पद को स्वेच्छाधारी या ब्रिटिशकालीन राज्यपाल के पद की तरह बनाना कभी भी नहीं चाहते थे, भले ही शब्दावली का प्रयोग उसी तरह से किया गया हो। कुछ बातों को छोड़कर राज्यपाल की सवैधानिक स्थिति केंद्र के राष्ट्रपति की स्थिति के ही समान है। *आर जे कपूर वि पजाब राज्य में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय मे कहा गया* था– 'राज्य-शासन में भी ऐसी ही स्थिति है। राज्यपाल राज्य कार्यपालिका के प्रधान के पद पर है, लेकिन वास्तविकता यह है कि राज्य कार्यपालिका का कार्य मंत्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार इग्लैण्ड की तरह हमने भी भारतीय सविधान में ससदीय शासन को अपनाया है और मंत्रिमण्डल, जिसमें कि विधानमण्डल के सदस्य होते हैं, ब्रिटिश केबिनेट की तरह 'व्यवस्थापिका और कार्यपालिका को जोड़ने वाले वस्तुए' के समान है।'"

संविधान के द्वारा भारत में एक सप्रभु लोकतात्रिक गणराज्य की स्थापना की गई है। ऐसे में व्यापक लोकमत के आधार पर निर्मित एक उत्तरदाई शासन-व्यवस्था में राज्यपाल के एक विपुल सत्ताधारी के समान व्यवहार करने की कल्पना करना भी कठिन प्रतीत होता है। जब तक लोकप्रिय मंत्रिमण्डल, जो सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदाई है, राज्यपाल को उसके कार्यों को सचालित करने में सलाह एव सहायता के लिये वर्तमान है, *तब तक राज्यपाल को उनकी सलाह के विरुद्ध कार्य करने का अवसर ही नहीं मिलता।* शातिकाल में उसे अपने मंत्रियों की सलाह से कार्य करना होगा क्योंकि राज्यों में उत्तरदाई शासन की स्थापना की गई है और सकटकालीन अवस्था में उसे राष्ट्रपति की आज्ञा का पालन करना होगा। वस्तुत राज्यपाल एक अधिनायक कभी नहीं बन सकता। किन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि राज्यपाल एक कठपुतलीमात्र है, अपने मंत्रिमण्डल की इच्छा की प्रतिलिपि मात्र है अथवा अपने मंत्रिमण्डल, राष्ट्रपति तथा सरकारी गजट के मध्य एक सचार कार्यालय मात्र है? नहीं, संविधान के उपबन्ध का विवेकपूर्ण अध्ययन और विगत दो दशाब्दियों के राजनैतिक घटनाक्रमों की समीक्षा करने से यह बात पूर्णत स्पष्ट हो जाती है कि वह न तो कठपुतली है और न ही सचार कार्यालय, किन्तु एक ऐसा कार्याधिकारी है, जिसे राज्य के प्रशासनिक कार्यों में महत्वपूर्ण भाग लेना है। *कार्यरूप में वह प्रशासन* के ऊपर कितना प्रभाव डालेगा, यह बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर भी निर्भर होगा।'

## राज्यपाल एवं मंत्रिमण्डल में सम्बन्ध

यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राज्यपाल और मन्त्रिमण्डल के सम्बन्धों में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है, तथापि चूंकि राज्यपाल और मंत्रिमण्डल में ही राज्य की कार्यपालिका शक्तियां निहित हैं और संविधान ने स्पष्ट रूप से इनकी शक्तियों का अलग-अलग उल्लेख नहीं किया है, इसलिये इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार के होने चाहिये, यह प्रश्न संविधान-निर्माताओं के सामने था और संविधान लागू होने के बाद भी आज विवाद का विषय बना हुआ है।

प्रारूप संविधान की धारा 130 में सभी कार्यपालिका शक्तियां राज्यपाल में निहित कर दी गई थीं और यह उल्लेख किया गया था कि उनका प्रयोग वह संविधान और कानून के अनुसार कर सकता है। (" May be exercised by him in accordance with the constitution and the law "') उसी समय श्री के. टी शाह ने आपत्ति की कि May के स्थान पर Shall शब्द का प्रयोग करना ठीक होगा। इसलिये भारतीय संविधान की धारा 154 में Shall शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

प्रारूप समिति ने प्रत्येक राज्य के लिये मुख्यमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिमण्डल की भी व्यवस्था की जो राज्यपाल को उसके कार्य में सलाह एवं सहायता देगा। प्रारूप संविधान की धारा 144 पर भी विवाद हुआ, जिसमें लिखा गया था कि मंत्री राज्यपाल द्वारा नियुक्त किये जायेंगे और उसके प्रमाद-पर्यन्त पद पर रहेंगे। 'प्रमाद-पर्यन्त' शब्द पर कई सदस्यों को आपत्ति थी। श्री ठाकुरदास भार्गव और एच वी. पाटस्कर का मत था कि इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख होना चाहिये कि विधानसभा में बहुमत-प्राप्त मंत्रिमण्डल को राज्यपाल अपदस्थ नहीं करेगा।

'मंत्रिमण्डल राज्यपाल के प्रमाद-पर्यन्त पदासीन रहेंगे', इस उपबन्ध की व्याख्या करते हुए डॉ अम्बेडकर ने कहा था—"मुझे इस बात में तनिक भी सदेह नहीं है कि इस संविधान का तात्पर्य यह है कि मंत्रिमण्डल तब तक पदासीन रहेगा जब तक उसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यह संविधान कार्यान्वित हो सकता है। किसी भी ससदीय शासन-प्रणाली स्थापित करने वाले संविधान में इस आशय को शब्दों में प्रकट नहीं किया गया।" 'प्रसाद-पर्यन्त' या 'अनुग्रह-पर्यान्त' का अर्थ यह है कि यह प्रसाद अथवा प्रसन्नता मंत्रिमण्डल द्वारा विधानसभा का विश्वास खो देने के बाद नहीं रहेगी और इस परिस्थिति में यह अनुमान है कि राज्यपाल अपनी अप्रसन्नता का प्रयोग मंत्रिमण्डल को पदच्युत करने के लिये करेगा। इसलिये जो रूढ़िगत पदावली अन्य सभी उत्तरदाई शासनों में प्रयुक्त होती है उससे भिन्न पदावली का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है।"*

प्रारूप संविधान की धारा 174 में यह व्यवस्था की गई थी कि मंत्रिमण्डल प्रशासन और व्यवस्थापन के सम्बन्ध में जो भी निर्णय करे, मुख्यमंत्री उसकी सूचना राज्यपाल को

दे। यदि राज्यपाल चाहे तो स्वय भी मुख्यमत्री से ऐसी कोई भी सूचना माग सकता है। इसके अतिरिक्त राज्यपाल मुख्यमत्री से मंत्रिमण्डल में ऐसे विषय पर भी विचार करने के लिये कह सकता है जिस पर एक मत्री ने निर्णय ले लिया हो लेकिन मंत्रिमण्डल ने निर्णय न लिया हो। राज्यपाल की ये शक्तिया इसलिये आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं कि राज्य का समस्त शासन राज्यपाल के ही नाम से होगा। इसलिये उसे उन कार्यों की जानकारी भी मिलती रहनी चाहिये। इस शक्ति के अभाव में हो सकता है कि एक असहयोगी और विरोधी मंत्रिमण्डल राज्यपाल को अधकार में रखकर उसके नाम से कार्य करे और राज्यपाल राष्ट्रपति को राज्य-शासन की रिपोर्ट भेजने की स्थिति में न रहे।

जब संविधान में इस विषय पर विचार हो रहा था, तब कई सदस्यों को कुछ प्रान्तों में राज्यपाल और मुख्यमत्री के विवाद के समाचार मिले। विश्वनाथदास का कहना था कि कुछ प्रान्तीय मंत्रिमण्डल ने अपने राज्यपाल को प्रान्तीय शासन की सूचना नहीं दी है। उन्होंने कहा—"पिछले दो वर्षों के आधार पर लगता है कि राज्यपाल का पद केवल शून्यमात्र रहेगा।"[9] शिब्बल लाल सक्सेना का भी मत था कि राज्यपाल पर केवल राष्ट्रपति और प्रान्तीय सरकार के बीच सम्बन्ध बनाये रखने के लिये माध्यम मात्र का ही कार्य करेगा।[10]

लेकिन संविधान सभा के विवाद से यह बात स्पष्ट है कि संविधान सभा का उद्देश्य राज्यपाल के पद को शून्य मात्र बनाने का भी नहीं था। के.एम. मुशी ने कहा था—"जैसा कि कुछ सदस्यों को विचार है, राज्यपाल का पद शून्य मात्र नहीं है और न ही यह लोगों को भोज इत्यादि के लिये आमंत्रित करके श्रेष्ठ आतिथ्य सत्कार करने वाला औपचारिक व्यक्ति मात्र है।"[11]

उन्होंने कहा, राज्यपाल के पद की महत्ता उस समय और अधिक होगी जब सकटकाल हो, विशेष परिस्थितिया हों, या जब राज्य में मिला-जुला मंत्रिमण्डल बने। उस समय राज्य-प्रशासन को सरल गति प्रदान करने में राज्यपाल का काफी योगदान हो सकता है।

डॉ. अम्बेडकर ने भी बताया कि "राज्यपाल के कुछ कार्य नहीं बल्कि कुछ कर्त्तव्य हैं। उसका पहला कर्त्तव्य है, मंत्रिमण्डल को बनाये रखना और यह देखना कि कब और क्यों उसे मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अपने अनुग्रह का प्रयोग करना है। उसका दूसरा कर्त्तव्य है, मंत्रिमण्डल को परामर्श देना, चेतावनी देना या पुनर्विचार के लिये कहना।"[12] उसे किसी भी दल का प्रतिनिधित्व नहीं करना है, बल्कि जनता की ओर से शासन का सचालन करना है और शासन को अधिक अच्छा, कुशल, सक्षम व ईमानदार बनाना है।

संविधान सभा की प्रारूप समिति ने आदिवासी और जनजातियों की समस्या पर भी विचार किया और उनके कल्याण व विकास के लिये विशेष व्यवस्था करके राज्यपाल को विशेष अधिकार सौंपे। राज्यपाल को देखना होगा कि सम्बन्धित मत्री इनके कल्याण के लिये कार्य करे। संविधान सभा ने यह भी निर्णय लिया कि स्वविवेक शक्तियों में राज्यपाल को मंत्रिमण्डल से सलाह लेने की बाध्यता नहीं होगी। यह विवाद होने पर कि कोई विषय राज्यपाल

के स्वविवेक के अन्तर्गत है या नहीं, राज्यपाल का निर्णय अंतिम माना जायेगा। प्रारूप संविधान में लिखा गया था कि राज्यपाल द्वारा स्वविवेक से किये गये कार्य की वैधता का प्रश्न इस आधार पर नहीं उठाया जा सकेगा कि वह उसे स्वविवेक से करना चाहिये या नहीं।"

इन सभी प्रावधानों से संविधान सभा के कुछ सदस्यों को यह भी संदेह हुआ कि राज्यपाल का पद सवैधानिक प्रमुख का नहीं रहेगा। अगर वह मंत्रिमण्डल की सलाह से कार्य नहीं करेगा तो न्यायालय भी उसे बाध्य नहीं कर सकते । शिब्बनलाल सक्सेना का विचार था कि राष्ट्रपति के साथ मिलकर राज्यपाल राज्य-शासन में बाधा भी डाल सकता है। लेकिन डॉ अम्बेडकर ने सबका प्रतिवाद करते हुए कहा कि ' राज्यपाल का पद उत्तरदाई शासन का निषेध नहीं है।'"[14]

संविधान निर्माताओं के विचारों मे स्पष्ट है कि राज्यपाल के पद का निर्माण मंत्रिमण्डल के उत्तरदाई शासन की कल्पना को पूर्ण बनाने के लिये किया गया था।

## राज्यपाल एवं मंत्रिमण्डल में उत्पन्न विभिन्न विवाद, संघर्ष एवं उनका निष्कर्ष

हमारे सघात्मक संविधान में राज्यपाल की भूमिका अत्यन्त महत्व की है जिसकी ओर विगत पाच वर्षों में सभी बुद्धिजीवी वर्ग का ध्यान आकर्षित हुआ है। विशेषकर कुछ राज्यों में राज्यपाल द्वारा किये गये कार्यों एव निर्णयों से और भी भ्रम उत्पन्न हो गये हैं जिसकी आलोचना विभिन्न वर्गों ने और विरोधियों ने 'संविधान का बलात्कार', 'संविधान के प्रति धोखा', 'प्रजातत्र की हत्या' इत्यादि कहकर की है। वास्तव में इनमें से अधिकाश विभ्रम राजनैतिक दलबन्दी के कारण उत्पन्न किये गये हैं।

भारत में सघात्मक संविधान जनवरी 1950 से लागू हुआ। क्योंकि मार्च 1967 तक केंद्र और राज्यों (केरल के अतिरिक्त) में काग्रेस की ही सरकार रही इस कारण राज्यों और केंद्र के सघीय सम्बन्धों में खींचातानी होने की सम्भावना इतनी नहीं रही जितनी कि चतुर्थ निर्वाचन के बाद हो गई। इसका मुख्य कारण यह है कि कई राज्यों में काग्रेस को बहुमत प्राप्त नही हुआ, अत इन राज्यों में काग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलों की मिली-जुली सरकारें बनीं। केंद्र की काग्रेसी सरकार और राज्यों की गैर-काग्रेसी, मिली-जुली सरकारों में मतभेद होने पर केंद्र और राज्यों के सम्बन्धों में खींचातानी होना स्वाभाविक है। जिस समय केंद्र में एक दल की सरकार होगी, एक राज्य में दूसरे दल की सरकार, किसी राज्य में तीसरे दल की सरकार, उस समय इन सम्बन्धों में तनाव बढ जाने की सबसे अधिक सम्भावना है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया गया राज्यपाल अपने सवैधानिक अधिकारों का उचित ढग से प्रयोग करके इन सम्बन्धों के बढते हुये तनाव को स्थिर करने, घटाने अथवा बढाने में योग दे सकता है।"

सन् 1967 के नवम्बर माह में राज्यपालों की जो बैठक हुई थी उसमें प्रधानमंत्री इन्दिरा गाधी ने ठीक ही कहा था कि—"आज के व्यावहारिक सघवाद में, जिसमें अनेक दलों

## चतुर्थ निर्वाचन (1967) में राज्य-विधानसभाओं की दलीय स्थिति[13]

सन् 1967 का चतुर्थ निर्वाचन राज्य विधानसभाओं के लिये काफी बड़ा परिवर्तन लाने वाला सिद्ध हुआ था। प्रथम तीन साधारण निर्वाचन से यह भिन्न था। अभी तक एक-आध राज्यों को छोड़कर सभी राज्यों में कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत था वह कई राज्यों में 1967 में समाप्त हो गया लेकिन उसके स्थान पर कोई अन्य दल भी स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका इससे राज्यों में अन्य दलों के समर्थन से कांग्रेस सरकारें बनीं या संयुक्त दलों की सरकारें बनीं और इसके साथ ही कई राज्यों की राजनीति में अस्थिरता का भी प्रवेश हो गया।

| राज्य का नाम | विधान सभा की सदस्य संख्या | राजनैतिक दलों के नाम | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | कांग्रेस | स्वतंत्र | जनसंघ | संसोपा | साम्यवादी | साम्यवादी (मार्क्सवादी) | प्रसोपा | रिपब्लिकन | अन्य | निर्दलीय |
| आंध्र प्रदेश | 285 | 163 | 29 | 3 | 1 | 11 | 9 | – | 1 | – | 68 |
| आसाम | 120 | 70 | 2 | – | 4 | 7 | – | 5 | | 7 | 25 |
| बिहार | 318 | 128 | 3 | 26 | 68 | 24 | 4 | 18 | 1 | 13 | 33 |
| गुजरात | 168 | 93 | 66 | 1 | – | | – | 3 | | – | 5 |
| हरियाणा | 81 | 48 | 3 | 12 | | | – | | 2 | – | 16 |
| जम्मू व कश्मीर | 53 | 39 | - | 3 | – | | – | – | - | 8 | – |
| केरल | 133 | 9 | – | | 19 | 19 | 52 | – | | 19 | 15 |
| मध्यप्रदेश | 296 | 167 | 7 | 78 | 10 | 1 | – | 9 | - | 2 | 22 |
| मद्रास | 234 | 50 | 20 | – | 2 | 2 | 11 | 4 | | 138 | 7 |
| महाराष्ट्र | 269 | 202 | | 4 | 4 | 10 | 1 | 8 | 5 | 19 | 16 |
| मैसूर | 214 | 124 | 16 | 4 | 6 | 1 | 1 | 20 | 1 | – | 41 |
| नागालैण्ड | 46 | | – | – | – | | | | | – | – |
| उड़ीसा | 140 | 31 | 49 | | 2 | 7 | 1 | 21 | | 26 | 3 |
| पंजाब | 104 | 47 | – | 9 | 1 | 5 | 3 | | 3 | 26 | 10 |
| राजस्थान | 184 | 89 | 48 | 22 | 8 | 1 | – | - | | – | 16 |
| उत्तर प्रदेश | 425 | 199 | 12 | 98 | 44 | 13 | 1 | 11 | 10 | – | 37 |
| पश्चिम बंगाल | 280 | 127 | 1 | 1 | 7 | 16 | 43 | 7 | | 47 | 31 |

की मिश्रित सरकारें हैं, जो कुछ हम करेंगे, या न करेंगे, वह भविष्य की घटनाओं की सृष्टि करेगा, उन्हें रूप प्रदान करेगा और भविष्य को प्रभावित करने वाली परिपाटियां और रूढ़ियां स्थापित करेगा। चौथे निर्वाचन के बाद राजस्थान के राज्यपाल ने जिस प्रकार कांग्रेस का बहुमत निश्चित किया, पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ने जिस प्रकार वहां के मंत्रिमण्डल को पदच्युत किया, या बिहार के राज्यपाल के पद पर श्री कानूनगो की नियुक्ति पर जो वाद-विवाद उठा, ये सब भविष्य के लिये उदाहरण या चेतावनी का काम करेंगे।'"[7]

अभी तक विभिन्न राज्यों के राज्यपाल और मंत्रिमण्डलों में जो विवाद और संघर्ष हो चुके हैं, उनका एक कारण राज्यपाल और मंत्रिमण्डलों का विभिन्न दलों से सम्बन्ध के अतिरिक्त दल-बदल की प्रवृत्ति भी है, जो कि चतुर्थ निर्वाचन के बाद राज्यों में काफी तेजी से विकसित हुई है। इस प्रवृत्ति के कारण राज्यपाल को मुख्यमंत्री की नियुक्ति, मंत्रिमण्डल को अपदस्थ करना या विधानसभा को भंग करने का निर्णय लेने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा और अंत में अपने विवेक से कार्य करके उन्हें आलोचना का शिकार भी होना पड़ा। कुछ प्रमुख राज्यों में घटित घटनाओं के आधार पर हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राज्यकार्यपालिका के इन दो प्रमुख अंग, राज्यपाल और मंत्रिमण्डल में किस प्रकार का प्रबन्ध होना चाहिये।

लेकिन इससे पहले यह देखना उचित होगा कि राज्यों की राजनीति किस रूप में प्रवाहित हो रही है, क्योंकि उसने भी राज्यपाल और मंत्रिमण्डल के सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है।

प्राचीन काल में लोग अपनी योग्यता एवं कुशलता से शासक बना करते थे। उसके बाद कूटनीतिज्ञों का युग आया जो अपने राजाओं को गद्दी पर बैठाने या उन्हें हटाने का कार्य किया करते थे। समय के साथ-साथ प्रजातंत्रीय विचारों का विकास हुआ, जिसमें साधारण व्यक्ति निश्चित समय पर निर्वाचन के द्वारा अपनी सरकार को चुनते हैं। लेकिन अब भी वे लोग पाये जाते हैं जो शासक को पदस्थ अथवा अपदस्थ करते हैं। वे अब दलबदलू, पुनर्दलबदलू और आयाराम व गयाराम के नाम से राजनीति में प्रसिद्ध हैं। बीसवीं शताब्दी के रामराज्य की कल्पना के यही राम थे। इनका एकमात्र उद्देश्य यही था कि व्यक्तिगत हितों के लिये सरकार पर अपना प्रभाव बनाये रखें। हमारे देश के प्रत्येक राजनैतिक दल ने इसे एक आवश्यक बुराई के रूप में ग्रहण कर लिया है और किसी ने भी इन दलबदलुओं को आने से मना नहीं किया।

यदि सरकार ने इससे सम्बन्धित विधानसभा की कार्यवाही के नियम बना दिये होते और राज्यपाल को उचित निर्देशन दिये होते, तो शायद यह समस्या उत्पन्न नहीं होती। अब जब यह समस्या उत्पन्न हो ही गई है, तो उसे संवैधानिक तरीकों से सुलझाना होगा। सन् 1967 से 1970 के इन तीन वर्षों में पांच राज्यों की सरकारों में परिवर्तन हुए हैं। चार में राष्ट्रपति शासन भी लागू कर दिया गया था और तीन में पुनर्निर्वाचन करवाने पड़े थे।

राजस्थान में दलों की अनिश्चयात्मक स्थिति और अशाति के कारण राज्यपाल को समस्या का सामना करना पड़ा। वहा राष्ट्रपति शासन की घोषणा की गई किन्तु विधानसभा का विघटन नहीं किया गया, उसे केवल निलम्बित किया गया।

पश्चिम बगाल में स्पीकर ने राज्यपाल के द्वारा सयुक्त मोर्चे की सरकार का अपदस्थ करना एव विधानसभा का अधिवेशन आमंत्रित करना असवैधानिक बताया और उसने स्वय विधानसभा को स्थगित कर दिया। अत में राज्यपाल को विधानसभा भग करनी पडी जिसे उसने नई सरकार को समर्थन देने के लिये आमंत्रित किया था।[18]

पजाब में राज्यपाल ने मंत्रिमण्डल के द्वारा विधानसभा भग करने की सलाह को ठुकरा दिया, जब कि दूसरे राज्य में वहा के राज्यपाल ने सलाह मान ली थी।

हरियाणा में राज्यपाल ने राष्ट्रपति को राज्य में सवैधानिक तत्र की असफलता की सूचना भेजना अधिक पसन्द किया और राष्ट्रपति शासन लागू करवा दिया। विभिन्न राज्य के राज्यपालों को भिन्न प्रकार के निर्णय लेने पड़े। अब हमें कुछ विवादों का विस्तार से उचित परीक्षण करना होगा कि यह संविधान के अनुकूल है या प्रतिकूल और इससे राज्य कार्यपालिका के सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पडा है।

## राजस्थान

स्वतत्रता के बाद जब से राजस्थान के पृथक् राज्य की स्थापना हुई, वह बराबर काग्रेस दल के आधिपत्य में रहा है। यद्यपि प्रथम तीन निर्वाचनों में काग्रेस विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने में असफल रही लेकिन सकीर्ण बहुमत के बावजूद यहा सरकारें स्थिर रहीं।[19] प्रारम्भ में राजस्थान में राजनैतिक चेतना की बहुत कमी थी। लोकतत्रात्मक राजनीति की हवा साधारण लोगों को नहीं लगी थी और प्रतिनिधि सस्थाओं से वे प्राय पूर्णत वंचित थे। उन्हें प्रथम निर्वाचन में पहली बार सस्थागत राजनीति और प्रतिनिधि शासन की प्रक्रियाओं के निकट सम्पर्क में आने तथा राजनैतिक व्यवस्था में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ।

सन् 1967 के निर्वाचन में 183 सदस्यीय विधानसभा में काग्रेस की सदस्य सख्या 88 थी। यद्यपि काग्रेस को पूर्ण बहुमत से चार स्थान कम मिले थे, तथापि उसके सदस्यों की सख्या अकेले और किसी भी दल की सख्या से कहीं अधिक थी। विरोधी दलों को कुल मिलाकर 80 स्थान प्राप्त थे। सतुलन 16 निर्दलीय सदस्यों के हाथों में था जिनमें से 11 जनता पार्टी के असतुष्ट काग्रेसी थे। स्वाभाविक था कि ऐसी स्थिति में निर्दलीय सदस्य ही मंत्रिमण्डल के निर्माता बन गये। इन लोगों को काग्रेस दल भी अपनी ओर करना चाहता था और गैर-काग्रेसी दल भी सत्ता-सघर्ष में साम-दाम-दण्ड-भेद, इन सभी उपायों का प्रयोग किया गया।

24 फरवरी को चार गैर-काग्रेसी दलों—स्वतत्र दल, जनसघ, ससोपा और जनता पार्टी के अध्यक्षों ने राज्यपाल से प्रार्थना की कि वह उन्हें एक मिली-जुली सरकार बनाने का

अवसर प्रदान करें। उन्होंने राज्यपाल को एक पत्र लिखा जिसमें निवेदन किया कि निर्दलीय समर्थकों को मिलाकर उनके दल के विधायकों की सख्या 92 हो जाती है और इस प्रकार विधानमण्डल में उनका बहुमत हो जाता है। 25 फरवरी से 24 मार्च तक राजस्थान विधानमण्डल के अधिकाश सदस्य 'अनवरत परिवर्तन' की स्थिति में थे। 25 फरवरी को श्री सुखाडिया के निवास-स्थान पर काग्रेसी विधायकों की एक बैठक हुई और वे फिर से विधानमण्डलीय काग्रेस दल के नेता निर्वाचित हो गये। श्री सुखाडिया निर्दलीय सदस्यों को अपनी ओर मोडने की कला में सदा से दक्ष रहे हैं। उन्होंने तुरन्त ही काग्रेस छोड कर गये हुए चार विधायकों को सभा में उपस्थित किया और वहीं उन्हें काग्रेस दल में सम्मिलित कर लिया गया और इस प्रकार काग्रेस दल की सदस्य-सख्या 92 हो गई।

27 फरवरी को काग्रेस हाई कमाण्ड ने निर्णय किया कि जिन चार विधायकों को काग्रेस में सम्मिलित किया गया है उनमें से दो का काग्रेस में प्रवेश अनुचित है, क्योंकि एक महीने पहले ही उन्हें 6 वर्ष के लिये दल से निकाला गया था। लेकिन श्री सुखाडिया ने उसी दिन राज्यपाल को बताया कि काग्रेस विधायक दल को 92 विधायकों का तथा उनके अलावा कुछ निर्दलीय सदस्यों का भी समर्थन प्राप्त है। इसी समय काग्रेस से इतर विरोधी दलों ने भी राज्यपाल के पास 92 विधायकों की एक सूची भेज दी जिसका उद्देश्य राज्यपाल के मन में यह बात बैठा देना था कि उन्हें विधानसभा में बहुमत प्राप्त है और इसलिये राज्यपाल को चाहिये कि वे राज्य में गैर-काग्रेसी सरकार के निर्माण की अनुमति प्रदान करें।

28 फरवरी, 1967 को राजस्थान के राज्यपाल डॉ सम्पूर्णानद ने राज्य विधानसभा का विघटन कर दिया और मुख्यमत्री श्री सुखाडिया ने अपने मत्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया। राज्यपाल ने सुखाडिया से कहा कि वे नया मत्रिमण्डल बनने तक अपने पद पर बने रहें। इन्हीं दिनों महारावल लक्ष्मणसिह को विधानसभा में स्वतत्र दल का नेता चुन लिया गया। उन्होंने राज्यपाल को एक और पत्र लिखा जिसमें विधानमण्डल में विरोधी दल के सदस्यों की कुल सख्या 93 बताई।

1 मार्च, 1967 को स्वतत्र दल, जनसघ, ससोपा और जनता पार्टी के विधायकों ने तथा 22 निर्दलीय विधायकों ने आपस में मिलकर महारावल लक्ष्मणसिह के नेतृत्व में एक सयुक्त मोर्चे का गठन किया। सभी विरोधी दल के नेताओं ने राज्यपाल से भेंट की और बताया कि 183 सदस्यीय सदन में सयुक्त दल को कम से कम 92 सदस्यों का समर्थन प्राप्त है। लेकिन उसी दिन श्री दीपचन्द छगानी (निर्दलीय) दो वरिष्ठ मत्रियों के साथ राज्यपाल से भेंट करने गये और उन्होंने राज्यपाल को सूचना दी कि वे काग्रेस विधानमण्डलीय दल में सम्मिलित हो गये हैं। काग्रेस तथा विरोधी दलों में बहुमत प्राप्त करने के लिये यह रस्साकशी चल ही रही थी कि इस बीच एक और नाटकीय घटना घटित हुई। राजा मानसिह ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि करौली के महाराज कुमार ब्रिजेन्द्रपाल काग्रेस छोडकर विरोधी दल में जा मिले हैं। इससे विधानमण्डल में काग्रेस दल की शक्ति

92 से घटकर 91 रह गई और वह फिर बहुमत से वंचित हो गया। महारावल ने राज्यपाल से प्रार्थना की कि दुविधा की स्थिति का अंत होना चाहिये और चूंकि संयुक्त मोर्चे को 92 सदस्यों का स्पष्ट बहुमत प्राप्त है अतः उसकी सरकार बना देनी चाहिये। राज्यपाल ने महारावल को बताया कि वह 3 मार्च, 1967 को पूर्वाह्न में 11 बजे मंत्रिमण्डल के निर्माण के सम्बन्ध में अपने निर्णय की घोषणा करेंगे।

लेकिन 3 मार्च को अपराह्न में 11 बजे मंत्रिमण्डल की रचना के सम्बन्ध में राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द का निर्णय सुनने के लिये, जिसका उन्होंने वचन दे रखा था, जब पत्रकार एकत्रित हुए, तब राज्यपाल ने अचानक घोषणा की कि वे अपना निर्णय कल देंगे। उन्होंने कहा कि विरोधी दल के एक नेता ने प्रातःकाल उनसे भेंट के समय ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया था जिससे वे अभ्यस्त नहीं है और इसका उनके मन पर इतना 'भीषण प्रभाव' पड़ा कि वे 'समस्या पर शांतिपूर्वक विचार' नहीं कर सके। बाद में संयुक्त मोर्चे के नेता महारावल लक्ष्मणसिंह ने समाचार पत्र में प्रकाशित एक वक्तव्य में सूचना दी कि जब प्रातःकाल विरोधी दल के नेता राज्यपाल से बातचीत करने के बाद उनसे विदा लेने को थे, तब उनमें से एक ने आशा व्यक्त की कि राज्यपाल मंत्रिमण्डल के निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय निष्पक्षता से करेंगे। वक्तव्य में आगे कहा गया था कि यह सचमुच दुर्भाग्य की बात है कि राज्यपाल, जिन्हें गुरु गम्भीर सवैधानिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना होता है इतनी छोटी-सी बात पर विक्षिप्त हो जायें तथा इसके आधार पर एक ऐसे आवश्यक प्रश्न का निर्णय टाल दें जिसका सम्बन्ध दो करोड़ लोगों के भाग्य से तथा इस राज्य में लोकतंत्र के भविष्य से हो। एक दूसरी रिपोर्ट के अनुसार, जो राज्यपाल के एक परिसहायक की बातचीत के आधार पर कही जाती है, राजा मानसिंह ने राज्यपाल से कहा था 'आप बेईमानी न करें'।[30]

श्री सुखाड़िया ने इस दिन राज्यपाल से तीन बार भेंट की और कहा कि चूंकि वे विधानमण्डल में सबसे बड़े दल के नेता हैं इसलिये उनका अधिकार है कि उन्हें सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया जाये। श्री सुखाड़िया का मत था कि वह एक स्थिर सरकार बनाने की स्थिति में थे। समाचार पत्रों में प्रकाशित एक वक्तव्य में कांग्रेस अध्यक्ष श्री कामराज ने भी कहा कि जिस राज्य में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो उसमें राज्यपाल को कुछ ऐसी परिपाटियों का पालन करना चाहिये कि वह पहले सबसे बड़े राजनैतिक दल के नेता को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित करें।

4 मार्च को राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने घोषणा की कि उन्होंने विधानमण्डल में कांग्रेस दल के नेता श्री मोहनलाल सुखाड़िया को सरकार बनाने का आमंत्रण देने का निर्णय किया है। राज्यपाल ने अपने निर्णय का कारण यह बताया कि सदन में कांग्रेस दल अकेला सबसे बड़ा राजनैतिक दल था जिसकी सदस्य-संख्या 88 थी, जबकि अन्य सभी दलों की कुल सदस्य-संख्या केवल 80 थी। राज्यपाल ने मद्रास की चर्चा की और कहा कि सन् 1952

के निर्वाचन में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं था, लेकिन यह अकेला सबसे बडा राजनैतिक दल था। यद्यपि विरोधी दल के नेता श्री टी प्रकाशम् ने सारे विरोधी दलों को एक झण्डे के नीचे ला खडा किया था और उन्हें बहुमत का समर्थन भी प्राप्त था तथापि राज्यपाल ने राजाजी को अकेले सबसे बडे राजनैतिक दल का नेता होने के कारण सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया था। डॉ सम्पूर्णानन्द ने कहा कि उन्होंने निर्दलीय सदस्यों की गणना नहीं की, क्योंकि अन्य दलों ने तो अपनी नीतियों के आधार पर चुनाव लडा था, लेकिन जहा तक निर्दलीय सदस्यों की नीतियों का सम्बन्ध है, लोगों को उनकी नीतियों का पता नहीं है और वे अपनी राय इतनी जल्दी बदल देते हैं कि उनके वचनों को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता। राज्यपाल ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि कुछ शिक्षित विधायक उनके पास कई बार आये और हर बार उन्होंने अपनी बात बदल दी।

राज्यपाल ने श्री सुखाडिया को सरकार बनाने के आमत्रण देने के अपने निर्णय की घोषणा एक लम्बे मौखिक वक्तव्य के अत में की। इस वक्तव्य में उन्होंने विस्तार से यह बताया कि उनके समाने दो विकल्प और थे और उन्होंने इन विकल्पों को क्यों अस्वीकार किया। ये विकल्प थे—(1) विधानसभा को भग कर दिया जाये तथा नये चुनावों का आदेश दिया जाये। (2) राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये तथा कुछ समय के लिये लोकतत्रात्मक सस्थाओं को स्थगित कर दिया जाये। उन्होंने कहा—"स्थिति पर पूरी तरह विचार करने के बाद मुझे यही उचित प्रतीत हुआ कि राज्य में लोकतत्रात्मक सस्थाओं को अपनी सार्थकता और सक्षमता सिद्ध करने का एक और अवसर प्रदान किया जाये।"[21]

श्री सुखाडिया ने राज्यपाल का सरकार बनाने का आमत्रण तत्काल स्वीकार कर लिया और तय हुआ कि वे 5 मार्च को मुख्यमत्री के पद की शपथ ग्रहण करेंगे। लेकिन समाचार पत्रों ने और राज्य के अखिल भारतीय स्तर के नेताओं ने राज्यपाल के निर्णय की तीव्र आलोचना की। आलोचना के स्वर कुछ इस प्रकार थे—

(1) लगता है राज्यपाल का निर्णय काग्रेस अध्यक्ष के वक्तव्य से प्रभावित हुआ है।

(2) राज्यपाल के लिये यह अत्यन्त अनुचित था कि उन्होंने निर्दलीय सदस्यों की नितात उपेक्षा की तथा उनके मतों को नहीं गिना।

(3) यदि सबसे बडे एक राजनैतिक दल को ही सरकार बनाने के लिये आमत्रण देना था तो राज्यपाल यह काम 24-25 फरवरी को ही कर सकते थे और उनके लिये यह बिल्कुल आवश्यक नहीं था कि वे इतने लम्बे समय तक प्रतीक्षा करते तथा काग्रेस और विरोधी दलों के समर्थकों की सख्या की अलग-अलग जाच करते।

(4) राज्यपाल सयुक्त मोर्चे के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, क्योंकि सयुक्त मोर्चा भी अन्य किसी दल की भाति पूरी तरह से एक विधानमण्डलीय दल था, उसका एक सुनिश्चित कार्यक्रम था, निर्वाचित नेता था और राज्यपाल को इन सारी बातों की विधिवत् सूचना दे दी गई थी।

(5) यह बिल्कुल स्पष्ट बात थी कि जिस दिन कांग्रेस के नेता को सरकार बनाने के लिये आमंत्रण दिया गया उस दिन विधानसभा में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त नहीं था।

राजस्थान के राज्यपाल ने जो निर्णय लिया वह "तर्क की कसौटी पर भले ही खरा उतरे परन्तु लोकतंत्र में तर्क की कसौटी से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कसौटी औचित्य और विश्वास की है। औचित्य को साबित नहीं किया जा सकता, उसे संविधान और परम्पराओं के उल्लेख द्वारा प्रतिपादित नहीं किया जाता, बल्कि उसे जनता के गले उतारा जाता है तथा लोकतंत्र की सफलता भी इसी में है। लोकतंत्र कोई न्यायालय नहीं, जहां फैसले दिये जाते हों, बल्कि लोकतंत्र लोक सहकारिता की मंजिल है जहां कदम-कदम पर जनता को विश्वास में लेना पड़ता है।"[22] 4 मार्च को विरोधी दलों के सदस्यों ने एक संयुक्त वक्तव्य में कहा कि "राज्यपाल ने अल्पमत को बहुमत में बदल कर लोकतंत्र और विधि-शासन के ऊपर ही प्राणान्तक आघात नहीं किया बल्कि संविधान की शब्दावली तथा भावना, दोनों का भी उल्लंघन किया है।" यह निर्णय 'राजनैतिक पक्षपात' का स्पष्ट उदाहरण है क्योंकि कांग्रेस दल के अध्यक्ष श्री कामराज के वक्तव्य के बाद ही इसकी घोषणा की गई। इससे प्रकट होता है कि राज्यपाल ने सत्तारूढ़ दल की इच्छाओं का ही ध्यान रखा, "लोकतंत्र, जनता के निर्णय तथा संविधान का नहीं।" राज्यपाल पर पूर्वाग्रह तथा पक्षपात का आरोप लगाते हुए वक्तव्य में आगे कहा गया था कि यदि निर्दलीय सदस्य कांग्रेस में सम्मिलित होते, जैसा कि वे सन् 1962 के चुनाव के बाद हो गये थे, तो राज्यपाल ने उनके सम्मानपूर्ण अस्तित्व को सहर्ष स्वीकार कर लिया होता। विरोधी दल के नेताओं का नारा था कि राज्यपाल ने अपने पक्षपातपूर्ण निर्णय के द्वारा राज्य के ढाई करोड़ लोगों को चुनौती दी है। उन्होंने घोषणा की कि इस चुनौती को स्वीकार किया जायेगा तथा निर्वाचकों के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिये सभी शांतिपूर्ण तथा संवैधानिक उपायों से काम लिया जायेगा। संसद सदस्य श्री नाथ पै ने 6 मार्च 1967 को पत्रकार परिषद् में कहा कि "कांग्रेस दल को मंत्रिमण्डल बनाने के लिये आमंत्रण देने का राजस्थान के राज्यपाल ने जो निर्णय लिया उससे लोकतंत्री विचारों को धक्का लगा तथा जनता की इच्छा का अनादर करते हुए बहुमत वाले विपक्षी दलों को सरकार बनाने की सुविधा प्रदान नहीं करते हुए वहां के राज्यपाल ने संवैधानिक अधिकारों का पक्षपाती उद्देश्य के लिये दुरुपयोग किया।"[23] उसी दिन कांग्रेस अध्यक्ष श्री कामराज ने नई दिल्ली में कहा कि जहां कहीं विरोधी दल राज्यपाल के निर्णय से संतुष्ट न हों, वहां उनके पास यह संवैधानिक उपचार है कि वह राज्यपाल से विधानसभा को बुलाने तथा शक्ति-परीक्षण के लिये कहे।

जैसे ही राज्यपाल के निर्णय की घोषणा का समाचार राजधानी में पहुंचा, वैसे ही दुविधा की स्थिति का तो अंत हो गया लेकिन तनाव बढ़ गया। लोग हिंसा पर उतारू हो गये और राजनीति की समस्याएं गली-कूचों में तय की जाने लगीं। अनेक स्थानों पर हड़ताल, दंगे-फसाद की अनेक घटनाएं हुईं। 5 मार्च को जयपुर की भीड़ ने खुले विद्रोह

का रास्ता पकड लिया। उपद्रव का सिलसिला 6 मार्च को भी चलता रहा तथा जनता और पुलिस के बीच अनेक टक्करें हुईं।

6 मार्च को एक प्रस्ताव पास कर जयपुर बार एसोसिएशन ने फौजदारी कानून की धारा 144 लागू करने की निंदा की, गिरफ्तार व्यक्तियों को तत्काल छोड देने की माग की और राष्ट्रपति राधाकृष्णन से हस्तक्षेप करने तथा राज्यपाल से यह कहने की प्रार्थना की कि वे सयुक्त मोर्चा के नेता को नई सरकार बनाने के लिये आमत्रण दें। उसी दिन कुछ गैर-काग्रेसी ससद सदस्यों तथा राजस्थान के विधायकों के एक प्रतिनियुक्त-मण्डल ने राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति राधाकृष्णन् से भेंट की और उनसे अनुरोध किया कि वे राजस्थान में 'लोकतत्र की रक्षा के लिये' हस्तक्षेप करें और राज्यपाल को यह मत्रणा दें कि वे श्री सुखाडिया को मुख्यमत्री पद की शपथ न दिलायें। राष्ट्रपति की सेवा में प्रस्तुत एक ज्ञापन में प्रतिनियुक्त-मण्डल ने कहा कि 183 विधायकों में से 92 विधायकों ने स्पष्ट रूप से सयुक्त मोर्चे के प्रति अपना समर्थन व्यक्त किया था। वक्तव्य में कहा गया था—"इस तरह की स्थिति में जबकि सयुक्त दल 1 मार्च को बन गया हो और विधानमण्डल में दल को स्पष्ट बहुमत—92 सदस्यों का समर्थन—प्राप्त हो तो राज्यपाल के पास ऐसी कोई स्वविवेकी शक्ति नहीं रह जाती कि वह उसे सरकार बनाने का अवसर न दे।"[24]

उधर अन्य क्षेत्रों में भी राज्यपाल के निर्णय की निंदा जारी रही। विरोधी दल के अनेक नेताओं ने उसकी तीव्र आलोचना की। श्री नाथपाई ने उसे 'पक्षपातपूर्ण तथा बदमिजाजी का परिणाम' बताया। बीकानेर के महाराजा कर्णसिंह ने कहा कि राज्यपाल का निर्दलीय सदस्यों की उपेक्षा करना उचित नहीं था। जनसघ के अध्यक्ष श्री बलराज मधोक ने राजस्थान में व्याप्त हिंसा तथा आतक के उस शासन की निंदा की जो 'राज्यपाल के लोकतत्र-विरोधी व्यवहार से क्षुब्ध लोगों का दमन' करने में लगा था। साम्यवादी दल के महासचिव श्री राजेश्वर राव का विचार था कि राज्यपाल का कार्य 'लोकतत्र विरोधी तथा निरकुश' था। ससोपा के नेता श्री राजनारायण ने भी राज्यपाल के कार्य की निंदा करते हुए कहा कि उससे ससदीय लोकतत्र का निषेध तथा जनता के निर्णय की अवहेलना हुई थी।

ससद में अविश्वास के प्रस्ताव पर बहस के समय विपक्षी नेता श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा कि "जब काग्रेस दल अपनी सरकार बनाने में असफल रहा तो राज्यपाल ने सयुक्त मोर्चे को अवसर प्रदान किये बिना ही राष्ट्रपति शासन की सिफारिश एव विधानसभा भग करने की सलाह केंद्र को प्रदान कर लोकतत्र पर पुन भयकर कुठाराघात किया है।"[25] राज्यपाल की रिपोर्ट पर केंद्रीय शासन ने जल्दबाजी में राष्ट्रपति शासन का जो निर्णय लिया यह सर्वथा तर्कहीन एव सविधान के प्रतिकूल था, तथा उसके औचित्य से केंद्रीय सरकार जनता को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। विरोधी नेताओं की दृष्टि में राष्ट्रपति शासन का उद्देश्य विपक्ष को सरकार नहीं बनाने देना ही सिद्ध हुआ है।[26] यदि राज्यपाल की सलाह मान कर केंद्र ने राष्ट्रपति शासन लागू किया था, तो उसे राज्यपाल की सलाह के आधार

पर विधानसभा को भी भंग कर देना था।" परन्तु ऐसा न कर, कानून और व्यवस्था बिगड़ने की ओट में राष्ट्रपति शासन जारी रख कर श्री सुखाड़िया को निर्दलीय सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने का मौका दिया गया जिससे कि वहां पुनः कांग्रेस की सरकार बन सके।" कांग्रेस ने अपना एकाधिकार बनाये रखने के उद्देश्य से विरोधी पक्ष को सरकार बनाने का अवसर प्रदान नहीं किया।"

राजस्थान के राज्यपाल के सामने मद्रास का उदाहरण था, जब कि सन् 1952 में कांग्रेस को सबसे बड़ा दल होने के कारण सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया गया था, परन्तु यदि ऐसी ही बात थी तो सन् 1965 में केरल में साम्यवादी दल को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित क्यों नहीं किया गया।"

इस सम्बन्ध में राज्यपाल के पद को लेकर और कई प्रश्न सामने आये। राज्यपाल को निष्पक्षता और ईमानदारी से कार्य करना चाहिये। केवल दलीय पुरस्कार के आधार पर, या दल विशेष का एकाधिकार राज्यपाल की नियुक्ति में नहीं होना चाहिये। राज्यपाल का पद केंद्र और राज्य के बीच कड़ी है, इसलिये संसद में सलाह लेनी आवश्यक है।" संविधान में राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग प्रस्ताव लाने की अनुमति है, परन्तु राज्यपाल के विरुद्ध ऐसी किसी भी कार्यवाही की व्यवस्था नहीं है। जब राज्यपाल ही गलत निर्णय ले, तो जनता के सामने क्या रास्ता रह जाता है?" इसी संदर्भ में यह प्रश्न भी सामने आया कि जब राज्यपाल राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करे, तो इस मामले में सलाह देने के लिये विशिष्ट लोगों की समिति होनी चाहिये।"

स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए केंद्रीय सरकार ने राजस्थान में नये मंत्रिमण्डल के प्रतिष्ठापन को रोक दिया। 13 मार्च, 1967 को केंद्रीय मंत्रिमण्डल की जो पहली बैठक हुई उसमें यह निर्णय दिया गया कि चूंकि राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है तथा राज्यपाल ने यह प्रतिवेदन भेजा है कि बहुमत दल के नेता श्री सुखाड़िया ने विरोधी दलों द्वारा संचालित आंदोलन से उत्पन्न अशांतिपूर्ण स्थिति के कारण सरकार बनाने की जिम्मेदारी लेने से मना कर दिया है, अतः राजस्थान में राष्ट्रपति के शासन की घोषणा की जाये। उसी दिन एक आदेश द्वारा राजस्थान में राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया। किन्तु विधानसभा का विघटन नहीं किया गया, उसे केवल निलम्बित किया गया, जबकि राज्यपाल के प्रतिवेदन में सिफारिश की गई थी कि सभा का विघटन कर दिया जाये। केंद्रीय गृहमंत्री ने इस निर्णय की पत्रकारों के समक्ष घोषणा की और उसे इस आधार पर उचित बताया कि विरोधी दलों के हथकण्डों का उद्देश्य राज्यपाल को इस बात के लिये विवश करना था कि उन्हें अल्पमत में होते हुए भी सरकार बनाने का मौका दिया जाये।

उधर 15 मार्च को संयुक्त मोर्चे ने अपने 93 विधायकों को राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत किया जिससे राष्ट्रपति स्वयं देख सकें कि उसे बहुमत प्राप्त है। राष्ट्रपति

की सेवा में एक ज्ञापन भी प्रस्तुत किया गया जिसमें माग की गई थी कि -(1) राष्ट्रपति शासन की घोषणा को वापस लिया जाये और महारावल को सरकार बनाने का आमत्रण दिया जाये। (2) डॉ सम्पूर्णानन्द को राज्यपाल के पद से हटाया जाये, (3) 7 मार्च को गोलीकाण्ड की अदालती जाच कराई जाये।

लेकिन उन 93 विधायकों में से एक ने अगले दिन जयपुर लौटने पर घोषणा की कि उन्हें बलपूर्वक दिल्ली ले जाया गया था वे काग्रेस में ही रहेंगे। इसके अतिरिक्त जनता पार्टी के नेता महाराजा हरिश्चद्र की मृत्यु से भी सयुक्त मोर्चे को गहरा आघात पहुचा। 182 सदस्यों के सदन में सयुक्त मोर्चे की सदस्य-सख्या घट कर 91 रह गई।

16 अप्रैल को डॉ सम्पूर्णानन्द राजस्थान के राज्यपाल पद से हट गये और उनका स्थान लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष सरदार हुकुमसिंह ने ग्रहण किया। 20 अप्रैल को उन्होंने काग्रेस तथा विरोधी दल के नेताओं से कहा कि वे अपने-अपने समर्थकों की सूचियां उन्हें दें, क्योंकि राष्ट्रपति शासन के पहले जो स्थिति थी, उसके आधार पर वे कोई निर्णय नहीं ले सकते। राज्यपाल ने कहा-"आज जो स्थिति है, मुझे उसी को ध्यान रखना है और उसी का मूल्याकन करना है।"[14]

22 और 23 अप्रैल को श्री सुखाडिया ने 94 और सयुक्त मोर्चे ने 96 सदस्यों की सूची राज्यपाल को प्रस्तुत की। राज्यपाल ने आश्वासन दिया कि यदि एक बार उन्हें यह विश्वास हो गया कि अमुक दल को विधानसभा में बहुमत प्राप्त है और वह सरकार का निर्माण कर सकता है, तो इसके बाद वे तनिक भी समय नष्ट नहीं करेंगे और जो भी सवैधानिक कार्यवाही आवश्यक होगी, उसे अविलम्ब करेंगे। सयुक्त मोर्चे ने आठ और विधायकों की एक पूरक सूची राज्यपाल की सेवा में भेजी। इससे सयुक्त मोर्चे के दावे के अनुसार उसके समर्थकों की सख्या 104 हो गई जब कि काग्रेस 94 विधायकों के समर्थन का ही दावा कर रही थी। इसका अभिप्राय यह था कि 21 नाम दोनों सूचियों में समान रूप से पाये जाते थे। राज्यपाल ने उन विधायकों से मिलकर बातचीत करने का निश्चय किया जिनके नाम दोनों सूचियों में दिये गये थे।

चूंकि 21 विधायकों में से प्रत्येक ने, लिखित और मौखिक रूप से राज्यपाल से कह दिया कि वे काग्रेस के साथ हैं, अत राज्यपाल इस निष्कर्ष पर पहुचे कि काग्रेस को 94 विधायकों का समर्थन प्राप्त है लेकिन सयुक्त मोर्चे को विधानसभा में केवल 88 सदस्यों का ही समर्थन प्राप्त है। फलत 25 अप्रैल को राज्यपाल ने अनौपचारिक रूप से काग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता श्री मोहनलाल सुखाडिया को अपने इस निर्णय की सूचना दे दी कि उन्हें सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जायेगा।

इस प्रकार राज्यपाल की सिफारिश पर 26 अप्रैल को राजस्थान में 44 दिन पुराने राष्ट्रपति शासन का अन्त हो गया और उसी दिन श्री सुखाडिया को मुख्यमत्री पद की शपथ दिला दी गई। जो नया मंत्रिमण्डल बनाया गया उसने न केवल विरोधी दल के प्रहारों को

ही सफलतापूर्वक झेला, बल्कि अपनी स्थिति को भी निरंतर दृढ़ किया और राजस्थान में एक सत्ता-संघर्ष के बाद सरकार को स्थायित्व मिल गया। इस सम्बन्ध में राजस्थान विधानसभा में विरोधी दल के नेता महारावल लक्ष्मणसिंह ने ठीक ही कहा है—"जब हम देखते हैं कि सारे देश में गैर-कांग्रेसी सरकारों तथा कांग्रेस समर्थित सरकारों के पांव लड़खड़ा रहे हैं तो उनकी तुलना में राजस्थान की सरकार स्थिर प्रतीत होती है। मुझे यह अच्छा लगे, न लगे, इसे वरदान ही मानना चाहिये क्योंकि कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि सरकारें निरंतर बदलती रहें।"[35]

## बिहार

बिहार भारत के सबसे निर्धन राज्यों में से है। उसका आर्थिक संगठन बहुत कम है और उसकी प्रति व्यक्ति आय देश में सबसे कम है। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से बिहार में जातिवाद का बोलबाला रहा है। वस्तुतः बिहार उन राज्यों में से है जहां सबसे पहले जाति का राजनीतिकरण हुआ था। ब्रिटिश शासनकाल में ही बिहार एक पृथक् प्रान्त बन गया था।

राजनैतिक दृष्टि से बिहार कांग्रेस दल का गढ़ [illegible] राजनैतिक सम्बन्धों की वास्तविक इकाई या तो जाति थी या दल के भीतर वैयक्ति[illegible] बीस वर्ष के अविच्छिन्न शासन के बाद चौथे चुनाव के बाद कांग्रेस दल के हाथ से सत्ता जाती रही। मार्च 1967 से मार्च 1970 तक राज्य में तरह-तरह के प्रयोग हुए और लगभग 8 बार मंत्रिमण्डल बदले। जून 1968 से फरवरी 1969 तक बिहार में राष्ट्रपति का शासन रहा। जून 1969 में बिहार में एक बार फिर राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। बिहार और पश्चिम बंगाल दो ऐसे राज्य हैं जो सन् 1967 के चुनाव के बाद कई बार राष्ट्रपति शासन के अधीन हो चुके हैं।

चौथे आम चुनाव में बिहार में कांग्रेस दल की भारी पराजय हुई। उसे 318 स्थानों में से केवल 128 स्थान मिले। उसे पूर्ण बहुमत नहीं मिला था और वह किसी दूसरे राजनैतिक दल के साथ मिल कर सरकार बनाने के लिये भी तैयार नहीं थी। इस स्थिति में कांग्रेस बिहार में अपना मंत्रिमण्डल नहीं बना सकी। विधानसभा में गैर-कांग्रेसी दलों में ससोपा के सदस्य सबसे अधिक (67) थे। उसने गैर-कांग्रेसी दलों के साथ सम्बन्ध का निर्माण करने का प्रयत्न किया और 31 सूत्रीय कार्यक्रम के आधार पर संविद का निर्माण हो गया। संविद को विधानसभा में 164 सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। बिहार के राज्यपाल श्री अनन्तशयनम् आयंगर को जब यह विश्वास हो गया कि संविद को बहुमत प्राप्त है, तो उन्होंने श्री सिन्हा को मंत्रिमण्डल का निर्माण करने के लिये आमंत्रित किया। श्री सिन्हा ने बिहार में पहला गैर-कांग्रेस मंत्रिमण्डल बनाया। इसी बीच राज्य में अकाल के कारण स्थिति काफी खराब हो गई। दलबदल और एक-दूसरे पर आरोप लगाने के कारण स्थिति पहले से भी अधिक खराब हो गई। विधानसभा में विधायकों ने एक दूसरे पर जूते तक फेंके। 19 जुलाई को प्रदेश कांग्रेस के नेताओं ने निर्णय किया कि संयुक्त मोर्चे के मंत्रिमण्डल को अपदस्थ करने

का पूरा प्रयत्न किया जाये। इससे एक नई अस्थिरता और अनिश्चय का वातावरण बन गया। इसके बाद दोनों ही पक्षों में सत्ता-संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

8 सितम्बर को श्री मण्डल और कांग्रेसी नेता श्री महेशप्रसाद सिन्हा ने रांची में राज्यपाल श्री आयंगर से भेंट की और उन्हें उन 184 विधायकों के नाम दिये जो उनके विचार से कांग्रेस-शोषित दल सहबन्ध का समर्थन करते थे। दोनों नेताओं ने राज्यपाल से प्रार्थना की कि संयुक्त मोर्चे के मंत्रिमण्डल का बहुमत नहीं रहा है और उसे अपदस्थ किया जाना चाहिये और चूंकि उन्हें 318 सदस्यों की विधानसभा में 184 सदस्यों का बहुमत प्राप्त है, अत उन्हें नई सरकार बनाने का अवसर दिया जाना चाहिये।

9 सितम्बर को मुख्यमंत्री श्री महामाया प्रसाद सिन्हा ने दावा किया कि उसके संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल को विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त है और श्री महेश प्रसाद सिन्हा तथा श्री मण्डल ने राज्यपाल को जो सूचना दी है वह 'झूठी और कल्पित' है।"

अगले दिन अर्थात् 10 सितम्बर को राज्यपाल श्री आयंगर ने श्री मण्डल को उत्तर दे दिया और उनके इस दावे को अस्वीकार कर दिया कि उनसे मंत्रिमण्डल का निर्माण करने को कहा जाये। राज्यपाल ने कहा कि उन्होंने श्री मण्डल का दावा संवैधानिक आधारों पर तथा राज्य के महाधिवक्ता की मंत्रणा पर अस्वीकार किया है। राज्यपाल के पत्र में अन्य बातों के साथ-साथ यह भी कहा गया था—"मैंने अब आपके इस दावे के सम्बन्ध में कि आप मुख्यमंत्री या मंत्री बन सकें, महाधिवक्ता की राय प्राप्त कर ली है। उनका कहना है कि जब तक आप राज्य विधानमण्डल के सदस्य नहीं बन जाते तब तक आप मंत्री बनने के योग्य नहीं हैं। मैंने अपने पत्र में जिस संवैधानिक स्थिति का स्पष्टीकरण किया है, उसे तथा महाधिवक्ता की राय को ध्यान में रखते हुए मुझे सरकार बनाने के सम्बन्ध में आपकी प्रार्थना स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव हो रहा है।"[34] राज्यपाल ने यह भी कहा कि विभिन्न दलों की सापेक्ष शक्ति का पता लगाने का उपयुक्त स्थल विधानसभा है, जिसकी यथासमय बैठक होगी।

बिहार के राज्यपाल श्री अनन्तशयनम् आयंगर का कार्यकाल दिसम्बर 1967 में समाप्त होने वाला था। बिहार की संयुक्त मोर्चा सरकार चाहती थी कि श्री आयंगर का कार्यकाल 5 वर्ष के लिये और बढ़ा दिया जाये। श्री सिन्हा के अनुसार केंद्रीय सरकार ने 5 वर्ष के लिये एक अन्य कार्यकाल का अनुरोध स्वीकार तो नहीं किया पर वह इस बात के लिये तैयार थी कि यदि बिहार सरकार यह वचन दे कि मार्च 1968 के बाद केंद्रीय सरकार के मनोनीत राज्यपाल श्री कानूनगो को स्वीकार कर लेगी तो श्री आयंगर उस समय तक अपने पद पर बने रह सकते हैं। लेकिन बिहार मंत्रीमण्डल ने श्री कानूनगो की नियुक्ति का प्रबल विरोध किया। बिहार के स्थानीय स्वशासन मंत्री श्री भोला प्रसाद सिंह ने केंद्रीय सरकार पर आरोप लगाया कि वह श्री कानूनगो जैसे कट्टर कांग्रेसी को राज्यपाल पद पर नियुक्त करके संयुक्त मोर्चे की सरकार को उलटने की साजिश कर रही है। उनके

मतानुसार सम्बद्ध राज्य की सहमति के बिना राज्यपाल की नियुक्ति करना केंद्र के लिये असवैधानिक है। उन्होंने बताया कि केंद्र ने श्री कानूनगो की नियुक्ति के सम्बन्ध में बिहार सरकार के विचार पूछे थे, बिहार सरकार ने उनकी नियुक्ति का विरोध किया था, और अपने निर्णय की सूचना केंद्रीय सरकार को दे दी थी। केंद्रीय सरकार ने बिहार सरकार के निर्णय की इस आधार पर उपेक्षा कर दी थी कि राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में राज्य सरकार से मत्रणा करना, केवल औपचारिकता है, उनका अनुमोदन आवश्यक नहीं है।

कहा जाता है कि इन सारी गतिविधियों के बाद 15 नवम्बर को श्री आयगर ने यह इच्छा व्यक्त की कि वे 1 दिसम्बर से ही अपने पद से अवकाश ग्रहण करना चाहते हैं। लेकिन श्री आयगर ने राज्यपाल का पद रिक्त करने से पहले 27 नवम्बर को यह एलान कर दिया कि उन्होंने मुख्यमत्री श्री सिन्हा का यह परामर्श स्वीकार कर लिया है कि वे बिहार विधानसभा का अधिवेशन 18 जनवरी, 1968 को ही बुलायेंगे।

विधानसभा का बजट अधिवेशन 18 जनवरी को होने वाला था। उसके एक दिन पहले सयुक्त मोर्चे के दो राज्य मंत्रियों ने त्यागपत्र दे दिया। कहा जाता है कि कुछ और मत्री भी दल-बदल करने वाले थे। जब 18 जनवरी को नये राज्यपाल श्री नित्यानन्द कानूनगो ने दोनों सदनों के सयुक्त अधिवेशन में भाषण देना आरम्भ किया, तब काग्रेस विपक्ष के नेता श्री महेश प्रसाद सिन्हा ने अभिभाषण पर इस आधार पर आपत्ति की कि सयुक्त मोर्चे की सरकार को विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं था और वह अल्पसख्यक सरकार थी, अत राज्यपाल के लिये ऐसा अभिभाषण देना उचित नहीं था जिसमें सयुक्त मोर्चा सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों का उल्लेख हो। श्री महेश प्रसाद ने विधानसभा के 318 सदस्यों में से 161 सदस्यों की सूची प्रस्तुत की और कहा कि ये सयुक्त मोर्चा सरकार का समर्थन नहीं करेंगे। लेकिन इन वक्तव्यों को चुनौती दी गई और दोनों पक्षों की ओर से चीख-चिल्लाहट मची। मुख्यमत्री ने स्वय काग्रेस के दावों का खण्डन किया। राज्यपाल ने श्री महेश प्रसाद की आपत्तियों को उचित नहीं माना और अपना अभिभाषण जारी रखा। राज्यपाल के अभिभाषण की एक विशेष बात यह थी कि उन्होंने अत में राज्य विधानमण्डल के सदस्यों से अनुरोध किया कि वे सविधान में निर्दिष्ट लोकतत्रात्मक सिद्धान्तों की रक्षा करें। लेकिन दूसरे ही दिन 19 जनवरी को सयुक्त मोर्चा तथा काग्रेस-शोषित दल-सहबन्ध के बीच गली-कूचों में शक्ति परीक्षण आरम्भ हो गया।

यह भी कहा जाता है कि मंत्रिमण्डल की एक बैठक में इस प्रश्न पर विचार किया गया था कि शोषित दल—काग्रेस सहबन्ध के प्रमुख नेताओं को निवारक निरोध-अधिनियम के अधीन गिरफ्तार कर लिया जाये। मुख्यमत्री और एक अन्य मत्री ने निवारक निरोध के प्रयोग को मना किया। जब राज्यपाल को इन विचार विनिमयों का पता चला तो उन्होंने मुख्य सचिव और पुलिस के इन्स्पेक्टर-जनरल से सीधे बातचीत की और इसके बाद मुख्यमत्री तथा सयुक्त मोर्चे के अन्य मत्रियों को भी कड़ी चेतावनी दी कि वे निवारक

निरोध-अधिनियम का ऐसा अन्धाधुन्ध प्रयोग न करें जिससे उन्हें हस्तक्षेप करने के लिये विवश होना पडे।

19 जनवरी को विधानसभा में विपक्ष के द्वारा सयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। प्रस्ताव पर विचार के लिये 24 और 25 तारीख निश्चित की गई। इसी बीच विधान-परिषद् ने, जिसमे काग्रेस का बहुमत था, एक गैर-सरकारी प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें सयुक्त मोर्चा सरकार की निंदा की गई थी। प्रस्ताव पर विचार के समय भवन में अपूर्व हगामा हुआ। सदस्यों ने एक दूसरे को अश्लील गालिया दीं। प्रस्ताव में माग की गई थी कि मंत्रिमण्डल त्यागपत्र दे और यदि वह त्यागपत्र न दे तो राज्यपाल उसे बर्खास्त कर दे।

25 जनवरी को विधानसभा में सयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास हो गया। इस पराजय के बाद श्री महामाया प्रसाद सिन्हा ने राज्यपाल श्री कानूनगो को अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया। लेकिन राज्यपाल ने श्री सिन्हा से प्रार्थना की कि वे दूसरी व्यवस्था होने तक अपने पद पर बने रहें।

अब चूंकि काग्रेस, विधानसभा में एकमात्र बडा राजनैतिक दल था, इसलिये राज्यपाल ने श्री महेश प्रसाद सिन्हा को नई सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया, लेकिन उन्होंने श्री मण्डल का नाम सुझाया। राज्यपाल शायद यह करने के लिये तैयार नहीं थे। श्री मण्डल विधानसभा के सदस्य नहीं थे। अत राज्यपाल को इस बात में गम्भीर सदेह था कि क्या श्री मण्डल संविधान की दृष्टि से मुख्यमत्री बनने के योग्य हैं या नहीं? राज्य के महाधिवक्ता तथा अन्य विधि-विशेषज्ञों की राय थी कि संविधान के अनुच्छेद 164(4) का अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति विधानमण्डल का सदस्य न हो तो उसे 6 महीने से अधिक समय तक मत्री, जिसमें मुख्यमत्री भी सम्मिलित है, नहीं रहना चाहिये। श्री मण्डल विधानसभा के सदस्य हुए बिना लगभग 6 महीने तक पहले ही मत्री रह चुके थे। अत में काफी जोड-तोड और खींच-तान के बाद मुख्यमत्री पद के लिये राज्यपाल को श्री सतीश प्रसाद सिंह का नाम सुझाया गया। अगले ही दिन मुख्यमत्री की सलाह पर राज्यपाल ने श्री मण्डल को विधान परिषद् का सदस्य मनोनीत कर दिया। 31 जनवरी को श्री सिंह ने मुख्यमत्री के पद से त्यागपत्र दे दिया और राज्यपाल ने श्री मण्डल को नई सरकार बनाने के लिये आमत्रण दिया। मण्डल-मंत्रिमण्डल में शत प्रतिशत लोग दलबदलू थे। जो कोई भी विधायक अन्य दल छोडकर शोषित दल में सम्मिलित हुआ, उसे ही मत्री-पद प्राप्त हो गया।

पश्चिम बगाल और पजाब के बाद बिहार तीसरा राज्य था, जहा एक अल्पसख्यक मंत्रिमण्डल बना, जिसका नेता एक दलबदलू था, जिसे काग्रेस का समर्थन प्राप्त था। बिहार एकमात्र ऐसा राज्य था जिसका मुख्यमत्री उच्च सदन का एक मनोनीत सदस्य था। लेकिन इसके साथ ही काग्रेस के कुछ प्रभावशाली सदस्य इस तरह के गठबन्धन से असन्तुष्ट भी होते जा रहे थे।

अंत में 18 मार्च को 47 दिन तक शासन करने के बाद श्री मण्डल के नेतृत्व में कांग्रेस समर्थित मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो गया। श्री मण्डल ने पराजय के ठीक बाद राज्यपाल से भेंट की और मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया। कुछ राजनीतिज्ञों का विचार था कि बिहार में अविलम्ब राष्ट्रपति के शासन की आवश्यकता है, किन्तु केंद्रीय मंत्रिमण्डल तथा उसकी आंतरिक कार्यसमिति का विचार था कि राज्यपाल को राष्ट्रपति शासन का सुझाव देने से पहले इस सम्भावना की जांच कर लेनी चाहिये कि क्या राज्य में स्थिर वैकल्पिक सरकार का निर्माण किया जा सकता है? इसी बीच संयुक्त मोर्चे की सदस्य-संख्या बढ़ने के कारण 21 मार्च को राज्यपाल श्री नित्यानंद कानूनगो ने संयुक्त मोर्चे के नये नेता श्री भोला पासवान शास्त्री को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया।

जून में घटनाचक्र अपेक्षाकृत तेजी से घूमा। 12 जून को राजा रामगढ़ ने मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। उनके साथ के सदस्यों की संख्या कुल मिलाकर 160 थी। एक सप्ताह की अनिश्चयात्मकता के बाद अंत में समझौता हो सका और राजा रामगढ़ ने निश्चय किया कि वे अपना वह पत्र वापस ले लेंगे जिसमें उन्होंने राज्यपाल को यह सूचना दी थी कि उनका दल पासवान मंत्रिमण्डल का समर्थन नहीं करेगा।

लगता था कि बिहार का संकट समाप्त हो गया। लेकिन 25 जून को वित्तमंत्री ने नाटकीय ढंग से विधानसभा में घोषणा की कि श्री भोला पासवान शास्त्री ने 95 दिवसीय मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र राज्यपाल की सेवा में प्रस्तुत कर दिया है, और प्रार्थना की है कि राज्य विधानसभा का विघटन कर दिया जाये, तथा राज्य में मध्यावधि चुनाव कराये जायें। श्री पासवान ने अपने त्यागपत्र में कहा था—'मेरी सरकार की स्थिति डावांडोल हो गई है, क्योंकि हमारे एक घटक दल ने मेरे सम्मुख ऐसी असम्भव शर्तें रखी हैं, जिन्हें मैं राज्य के हित की दृष्टि से स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिये मैंने स्थिर शासन की खातिर त्यागपत्र दे दिया है।"

अधिकांश समाचार पत्रों की भी राय थी कि बिहार विधानसभा का विघटन हो जाना चाहिये, और इसके बाद मध्यावधि चुनाव किये जाने चाहिये। लेकिन कांग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता श्री महेश प्रसाद सिन्हा का आग्रह था कि उन्हें नई सरकार बनाने के लिये कुछ समय दिया जावे। उन्होंने कहा कि नैतिक, संवैधानिक और राज्य के हित की दृष्टि से यह आवश्यक है, कि कांग्रेस को बिहार में सरकार बनाने का अवसर मिले। उनका मत था कि राष्ट्रपति का शासन अथवा मध्यावधि चुनाव बिहार की समस्या के लिये उपयुक्त समाधान नहीं है। किन्तु उनका यह प्रयत्न विफल हो गया। जब 29 जून को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की बैठक हुई, तब उनके सामने बिहार के राज्यपाल का प्रतिवेदन था जिसमें विधानसभा के विघटन की प्रार्थना की गई थी। मंत्रिमण्डल ने उसे स्वीकार कर लिया और इसके कुछ समय बाद उसी दिन संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति की उद्घोषणा जारी कर दी गई। उद्घोषणा के द्वारा राज्य विधानसभा का विघटन कर दिया गया, और विधानमण्डल

के सारे काम राष्ट्रपति ने अपने हाथ में ले लिये। सन् 1967 के निर्वाचन के बाद बिहार चौथा राज्य था जो राष्ट्रपति शासन के अधीन हो गया था।

9 फरवरी, 1968 को बिहार में मध्यावधि चुनाव हुए। नये निर्वाचन के परिणाम स्वरूप विधानसभा में न तो कांग्रेस को ही पूर्ण बहुमत मिल सका और न किसी अन्य दल को, लेकिन कांग्रेस सदन में सबसे बड़े राजनैतिक दल के रूप में रही। श्री हरिहरसिंह बिहार कांग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता निर्वाचित हुए। 21 फरवरी को राज्यपाल श्री कानूनगो ने उन्हें सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया लेकिन राजा रामगढ़ को मंत्रिमण्डल में सम्मिलित करने से और असंतुष्ट गुट के नेता श्री दरोगाप्रसाद राय के मंत्रिमण्डल में सम्मिलित न होने से दल में विकट वाद-विवाद और मतभेद पैदा हो गये। 19 जून को हरिहरसिंह मंत्रिमण्डल विधानसभा में बजट मांगों के अवसर पर 143 के विरुद्ध 164 मतों से हार गया। सरकार की इस हार के बाद तुरन्त विधानसभा अनिश्चित काल के लिये बंद कर दी गई, और अंत में लगभग 4 माह तक बहुत-सी कठिनाइयों, संघर्षों और खतरों का सामना करते रहने के बाद हरिहरसिंह मंत्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया।

20 जून तक लोकतांत्रिक दल के नेता तथा बिहार विधानसभा में विपक्ष के नेता श्री भोला पासवान शास्त्री ने अनुरोध किया कि उन्हें स्पष्ट बहुमत प्राप्त है अतः उन्हें नई सरकार बनाने का अवसर मिलना चाहिये। 22 जून को राज्यपाल ने श्री शास्त्री को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई, किन्तु पासवान मंत्रिमण्डल केवल 9 दिन तक चल सका। बड़े नाटकीय ढंग से 34 सदस्यों वाले जनसंघ ने पासवान सरकार से समर्थन वापस ले लिया। संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र राज्यपाल ने स्वीकार कर लिया, और कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री गिरि से सिफारिश की कि बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाये क्योंकि वहां संवैधानिक व्यवस्था भंग हो गई है। 4 जुलाई को संविधान की धारा 356 के अंतर्गत बिहार में राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी गई किन्तु बिहार विधानसभा का विघटन नहीं किया गया ताकि यदि स्थिर सरकार की सम्भावना हो तो एक बार फिर प्रतिनिधि शासन स्थापित किया जा सके। बिहार की अस्थिर राजनीति इससे स्पष्ट हो गई कि दो बार राष्ट्रपति शासन लागू होने के अलावा 6 मंत्रिमण्डलों का पतन हो चुका था।

राष्ट्रपति शासन के बाद ही कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी दल सरकार बनाने के लिये अपने-अपने दावे राज्यपाल के सामने पेश करने लगे। संयुक्त समाजवादी दल के नेता श्री कर्पूरी ठाकुर ने राज्यपाल श्री नित्यानन्द कानूनगो से बातचीत करके उन्हें यह विश्वास दिलवाया कि विधानसभा में दूसरा सबसे बड़ा दल होने के नाते उन्हें सरकार बनाने का मौका दिया जाये। राज्यपाल ने श्री ठाकुर को किसी प्रकार का आश्वासन दिये बिना कहा कि वह उनके निवेदन पर विचार करेंगे। लगभग उसी दिन से कांग्रेस पार्टी ने भी यह कहना शुरू कर दिया, कि उसे अन्य दलों के साथ मिलकर सरकार बनाने का मौका दिया जाना चाहिये। लेकिन साथ ही दोनों पक्षों के समर्थकों की सूची देखने से यह भी स्पष्ट हुआ,

कि दोनों तरफ लगभग 50 ऐसे सदस्य हैं, जिनके समर्थन का दावा कांग्रेस और गैर-कांग्रेसी दल, दोनों कर रहे हैं। बाद में इंदिरा गांधी समर्थक कांग्रेस गुट द्वारा श्री दरोगाप्रसाद राय विधानसभा पार्टी के नेता चुने जाने के बाद बिहार की राजनीति में और भी गर्मी आ गई। बिहार में राष्ट्रपति शासन का बना रहना उतना विवाद का विषय नहीं है जितना यह कि *बिना किसी काम के विधानमण्डल का बना रहना, और वह भी ऐसा विधानमण्डल जो कोई* भी मंत्रिमण्डल बनाने में असमर्थ हो रहा था।

अंत में राष्ट्रपति शासन के 7-8 महीने बाद श्री दरोगाप्रसाद राय को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई गई और एक अनिश्चित दौर के बाद श्री दरोगाप्रसाद राय मंत्रिमण्डल बनाने में सफल तो हो गये लेकिन मंत्रिमण्डल के गठन के बाद जो दिक्कतें शुरू हुईं वे किसी न किसी रूप में बनी रहीं। विधानसभा का सत्र भी तूफानी कोलाहल से शुरू हुआ। राज्यपाल का अभिभाषण भारी नारेबाजी, डैस्कों की थपथपाहट और तीव्र उत्तेजना के बीच पढ़ा गया, बल्कि अभिभाषण लगभग अनपढ़ा ही रह गया। राज्यपाल की कुर्सी के पीछे गुरुतार्थ खड़े पुलिस अधिकारियों की उपस्थिति पर भी विधायकों ने आक्रोश व्यक्त किया। *संसोपा नेता श्री तिवारी ने स्पष्ट आरोप लगाया कि राज्यपाल ने प्रधानमंत्री, गृहमंत्री तथा अन्य केन्द्रीय नेताओं के इशारे पर दरोगा मंत्रिमण्डल को शपथ दिलाई।* श्री तिवारी का आरोप था कि चूंकि राज्यपाल दूसरों के निर्देश पर अपना दायित्व निभाते हैं, इसलिये वे उनका अभिभाषण नहीं सुनेंगे। संसोपा के दूसरे नेता और भी अधिक क्रोध में थे, और *राज्यपाल से सदन छोड़ कर जाने को लगातार कहते रहे।*

बिहार में मंत्रिमण्डल और राज्यपाल के सम्बन्ध अधिक मधुर नहीं रहे। इसका एक कारण दोनों का परस्पर विरोधी दलों से सम्बन्ध रखना था और दूसरा कारण तीव्र गति से दलबदल के कारण उत्पन्न राजनैतिक अस्थिरता थी। चतुर्थ और पांचवें निर्वाचन के बीच की अवधि में बिहार में 9 बार मंत्रिमण्डलों में परिवर्तन हुआ था।

## पश्चिम बंगाल

*पश्चिम बंगाल दीर्घकाल से ही एक समस्यामूलक राज्य रहा है। सन् 1962 के चीनी* आक्रमण के बाद साम्यवादी दल के चीन समर्थक पक्ष की गतिविधियां तथा प्रभाव बढ़ने के बाद पश्चिम बंगाल पहले से भी अधिक समस्यामूलक राज्य हो गया है। इसके अलावा पश्चिम बंगाल एक सीमावर्ती राज्य है जिसके एक ओर चीन है और दूसरी ओर बांगला देश। इसलिये सामरिक तथा राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की दृष्टि से भी इसका महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ है।"

सन् 1947 में खण्डित बंगाल का जो भाग भारत का अंग रह गया था, उसके शासन की बागडोर कांग्रेस ने सम्भाली। उस समय राज्य के सामने अनेक समस्याएं थीं, किन्तु सरकार किसी भी समस्या का सुचारू रूप से सामना नहीं कर सकी। वास्तव में किसी भी सरकार से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह बंगाल की सारी समस्याओं का यथेष्ट समाधान कर सकती। पहले तीन आम चुनावों में सरकार की स्थिरता रही और सभी

अपनी पूरी अवधि तक पद पर रहीं, किन्तु सन् 1967 के आम चुनावों में कांग्रेस दल को पराजय का सामना करना पड़ा। इसके अनेक कारण थे—खाद्यान्न की कमी, कीमतों में वृद्धि, हड़तालों, आंदोलनों तथा बंदों के रूप में प्रकट अशांति के फलस्वरूप व्यापक असंतोष।

चौथे आम चुनाव के बाद यद्यपि कांग्रेस ही एकमात्र सबसे बड़ा राजनैतिक दल था, किन्तु पूर्ण बहुमत न होने के कारण वह विरोधी दल बना और अन्य विपक्षी दलों ने तत्काल ही एक कामचलाऊ गठबन्धन तैयार कर लिया जिसमे कि वे संयुक्त मंत्रिमण्डल का निर्माण कर सकें। बंगला कांग्रेस के श्री अजय मुखर्जी इस मोर्चे के नेता बने। नये संयुक्त मोर्चे ने राज्यपाल को एक पत्र लिखा जिसमें उन्हें सूचना दी गई, कि दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त है और वह गैर-कांग्रेसी सरकार का निर्माण कर सकता है। 280 सदस्यों के सदन में मोर्चे को 151 स्थान प्राप्त थे। 1 मार्च को राज्यपाल कुमारी पद्मजा नायडू ने बंगला कांग्रेस के अध्यक्ष और नव संयुक्त मोर्चे के नेता श्री अजय मुखर्जी को पश्चिम बंगाल के लिये नई सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।

नई सरकार के नेतृत्व में प्रशासन अचानक गतिशील हो उठा। लगता था कि समस्याएं सुलझती जा रही हैं, किन्तु सरकार की घोषित नीति के परिणामस्वरूप शीघ्र ही स्थिति बदलने लगी। संयुक्त मोर्चे ने जो न्यूनतम समान कार्यक्रम स्वीकार किया था, उसमें मजदूरों तथा किसानों को यह आश्वासन दिया गया था, कि उनके लोकतंत्रात्मक तथा विधिसम्मत आंदोलनों का दमन नहीं किया जायेगा, और पुलिस की कार्यप्रणाली में इस प्रकार संशोधन किया जायेगा, कि वह जनता की लोकतंत्रात्मक आकांक्षाओं के अनुरूप कार्य कर सके। पुलिस को आदेश दिया गया कि वह राज्य के श्रम मंत्री अथवा श्रम निदेशालय की पूर्ण सहमति के बिना श्रमिकों की हड़तालों और घेरावों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इससे औद्योगिक क्षेत्र में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई। उद्योगपतियों के मन में भयंकर आशंका उत्पन्न हो गई और वे पश्चिम बंगाल छोड़-छोड़कर भागने लगे। शांति और व्यवस्था नष्ट होने लगी और कई जगह विधि का गम्भीर उल्लंघन हुआ। विपक्षी दल के अनुसार राज्य में विधि और व्यवस्था की स्थिति इतनी खराब हो गई थी कि जानमाल पूरी तरह आरक्षित हो गये थे।" उन्होंने आरोप लगाया कि आतंक का शासन स्थापित हो गया है और पुलिस इतनी निष्प्रभाव तथा शक्तिहीन हो गई है कि वह मजदूरों की तथा अन्य की, जघन्य और अवैध कार्यवाहियों में भी हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

जिस समय शहरों में व्यापक अशांति और अव्यवस्था फैल रही थी उसी समय उत्तरी बंगाल में नक्सलबाड़ी में वामपंथी साम्यवादियों द्वारा कृषक विद्रोह फूट पड़ा। लूटमार, अनधिकृत कब्जे तथा अन्य प्रकार से विधि के उल्लंघन की अनेक घटनाएं हुईं। इन सबके फलस्वरूप इस क्षेत्र में गैर-साम्यवादियों के बीच व्यापक आतंक की लहर दौड़ गई। स्थिति तेजी से बिगड़ गई, जिससे मुख्यमंत्री को पुलिस कार्यवाही का आदेश देना पड़ा। लेकिन मंत्रिमण्डल के वामपंथी साम्यवादियों को नक्सलबाड़ी के प्रश्न पर मुख्यमंत्री का रवैया अच्छा नहीं लगा।

जब केंद्रीय सरकार ने राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से नक्सलबाड़ी की स्थिति पर गहरी
प्रकट की तो मुख्यमंत्री ने प्रधानमंत्री को आश्वासन दिया, कि उनकी सरकार एक
के अदर पूरे क्षेत्र में शांति और व्यवस्था स्थापित कर देगी। केंद्र और राज्यशासन
शीघ्र ही आदोलनकारियों को दबाया गया जिससे स्थिति कुछ नियत्रण में आई।

विधि और व्यवस्था तथा नक्सलबाडी के प्रश्न पर सयुक्त मोर्चे के विभिन्न घट
मतभेद स्पष्ट रूप से सामने आ गये। इसी बीच 1 जून, 1967 से पश्चिम बगा
राज्यपाल पद पर पद्मजा नायडू के स्थान पर श्री धर्मवीर की नियुक्ति राष्ट्रपति के
की गई। 3 नवम्बर को प्रफुल्लचंद्र घोष और 17 अन्य विधायकों के सयुक्त मोर्चे
निकलने के कारण सयुक्त मोर्चे का अल्पमत हो गया, और विरोधियों की सख्या
हो गई। 6 तारीख को डॉ घोष ने कहा कि वे कांग्रेस के साथ मिलकर राज्य में स
बनाने के लिये तैयार हैं। राज्यपाल श्री धर्मवीर ने मुख्यमंत्री को सलाह दी कि वे
त्यागपत्र दे दें या यथाशीघ्र विधानसभा का सत्र बुलाकर अपना शक्ति-परीक्षण करा
श्री मुखर्जी ने राज्यपाल को उत्तर दिया कि वे चाहते हैं कि राष्ट्रपति निम्नलिखित
प्रश्नों पर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लें।[12]

(1) क्या राज्यपाल को, अनुच्छेद 163, 164 तथा सविधान के अन्य प्रास
अनुच्छेदों के अधीन, विधानसभा का निर्णय प्राप्त किये बिना ही मंत्रिमण्डल को अ
करने की शक्ति प्राप्त है?

(2) यदि राज्यपाल को उपलब्ध सूचना के आधार पर सदेह हो, कि मंत्रिमण्डल
बहुमत का विश्वास प्राप्त नहीं है, तो क्या वह अपने व्यक्तिगत विवेक के आधार
मंत्रिमण्डल को अपदस्थ कर सकता है?

(3) चूंकि राज्यपाल विधानमण्डल के सदनों को बुलाने के काम में मंत्रिमण्डल की
एव सहायता लेने को बाध्य है। अत क्या उसे इस बात की छूट है कि वह मुख्यमंत्री
सलाह की उपेक्षा कर दे, और क्या वह मुख्यमंत्री को सलाह दे सकता है या दबा
सकता है कि वह किसी अन्य तारीख को सदनों की बैठक बुलाये?

(4) यदि मुख्यमंत्री राज्यपाल की सलाह न माने, या उससे सहमत न हो, तो
राज्यपाल इस आधार पर मंत्रिमण्डल को अपदस्थ कर सकता है, कि उसकी सलाह न म
का यह अर्थ है कि संविधान का उल्लघन हुआ है, अथवा संविधान का पालन ठीक से
हो रहा है?

(5) यदि मुख्यमंत्री विधानसभा का अधिवेशन बुलाने के सम्बन्ध में राज्यपाल की स
का पालन न करे, या उससे असहमत हो, तो क्या उस आधार पर राज्यपाल सवि
की धारा 356 के अधीन राष्ट्रपति के पास रिपोर्ट भेज सकता है?

(6) राज्यपाल मंत्रिमण्डल की सलाह से काम करने को बाध्य है। यदि उसे यह
हो जाये कि मंत्रिमण्डल को सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त नहीं है, तो क्या

विधानसभा की बैठक में बहुमत की परीक्षा होने से पूर्व मंत्रिमण्डल की सलाह ठुकरा सकता है और अपनी मर्जी से कार्य कर सकता है?

(7) क्या राज्यपाल विधानसभा को विघटित करने की मंत्रिमण्डल की सलाह को इस आधार पर ठुकरा सकता है कि उसकी अपनी राय में मंत्रिमण्डल को विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है?

किन्तु केंद्रीय मंत्रिमण्डल की आतंरिक कार्यसमिति ने यह तय कर लिया था, कि मंत्रिमण्डल को अपदस्थ करने के लिये राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियों के बारे में संयुक्त मोर्चा सरकार ने जो प्रश्न उठाये हैं, उनके बारे में सर्वोच्च न्यायालय की राय लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे दिन पश्चिम बंगाल की सरकार को आधिकारिक रूप से राष्ट्रपति का तीन पंक्तियों का एक संदेश दे दिया गया कि ये प्रश्न इस प्रकार के नहीं हैं कि उन पर सर्वोच्च न्यायालय की राय ली जाये, और इस मामले पर संसद में तथा प्रशासनिक स्तर पर पहले ही पूर्ण विचार हो चुका है।

21 नवम्बर को राज्यपाल श्री धर्मवीर ने एक उद्घोषणा जारी करके संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल को अपदस्थ कर दिया। उन्होंने कहा कि जब मंत्रिमण्डल को विधानसभा के बहुमत का विश्वास नहीं रहा है तब फिर उसका सत्तारूढ रहना संवैधानिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। श्री धर्मवीर ने आगे कहा कि बंगाल की स्थिति वैसे ही अत्यन्त विषम थी और उसमें अनिश्चय तथा असमंजस की स्थिति का अंत करना विशेष रूप से आवश्यक था।

स्पष्ट है कि राज्यपाल ने जल्दी में कोई कार्यवाही नहीं की थी। उन्होंने मुख्यमंत्री तथा मंत्रिमण्डल से बार-बार अनुरोध किया था, कि वे विश्वास प्राप्त करने के लिये अविलम्ब विधानसभा का सत्र बुला लें, लेकिन जब राज्यपाल का अनुरोध स्वीकार नहीं किया गया, तभी राज्यपाल ने मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने का कठोर कदम उठाया था।[43] 21 नवम्बर की रात को राज्यपाल ने डॉ. घोष को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई। श्री अजय मुखर्जी ने कहा कि कांग्रेस तथा केंद्रीय सरकार ने मिल कर यह षड्यंत्र रचा है, कि घोष मंत्रिमण्डल का कुछ समय तक उपयोग या तो राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिये किया जाये, या उसमें राज्य में कांग्रेस सरकार के अनुकूल वातावरण तैयार किया जाये। अधिकांश गैर-कांग्रेसी दलों तथा अनेक समाचार पत्रों ने राज्यपाल की कार्यवाही के औचित्य पर आपत्ति प्रकट की। संयुक्त मोर्चे की ओर से विरोध प्रकट करने के लिये सारे राज्य में हड़ताल हुई।

जब 29 नवम्बर को विधानसभा की बैठक हुई तब अध्यक्ष श्री विजय बैनर्जी ने एक अभूतपूर्व व्यवस्था द्वारा सदन को अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि वे सदन का स्थगन इसलिये कर रहे हैं क्योंकि उनकी राय में संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल का विघटन, डॉ. घोष की मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति और उनकी सलाह पर सभा को बुलाना असंवैधानिक तथा अवैध कार्य है।[44] श्री बैनर्जी के मत से मंत्रिमण्डल

सत्तारूढ रहे या नहीं इसका निर्णय करने का अधिकार अकेले सदन को ही है।

बाद में 30 नवम्बर से राज्यपाल ने भी विधानसभा का सत्रावसान कर दिया। विधान परिषद् के अध्यक्ष डॉ पी सी गुहा ने भी अपनी राय दी कि राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह मुख्यमत्री को अथवा अन्य किसी मत्री को अपदस्थ कर दें क्योंकि संविधान की धारा 164 के अनुसार मत्री राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त पद पर रहते हैं। बाद में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी इसी मत का समर्थन किया। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने 6 फरवरी को उलेख्य याचिकाओं पर अपना निर्णय देते हुए यह विचार व्यक्त किया कि अजय मुखर्जी मत्रिमण्डल को विधि-सम्मत रीति से बर्खास्त किया गया है और घोष मत्रिमण्डल को विधि-सम्मत रीति से गठन किया गया है। न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि धारा 164(1) के अनुसार मुख्यमत्री की नियुक्ति करते समय राज्यपाल ने अपने निरपेक्ष विवेक के अनुसार कार्य किया है और राज्यपाल द्वारा अपने विवेक के इस प्रकार के प्रयोग पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती।

अध्यक्ष के द्वारा विधानसभा के स्थगन और उसके अगले दिन राज्यपाल द्वारा विधानसभा के सत्रावसान के कारण राज्य में सवैधानिक गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। राज्यपाल ने इस स्थिति को दूर करने के लिये 14 फरवरी को विधानमण्डल का सत्र बुलाया, लेकिन इससे पहले ही राज्य में राजनैतिक घटनाचक्र तेजी से घूमा। एक ओर तो *अध्यक्ष बैनर्जी तथा सयुक्त मोर्चे के नेताओं ने, विशेषकर वामपथी साम्यवादियों ने यह स्पष्ट* कर दिया कि वे विधानसभा को काम नहीं करने देंगे और दूसरी ओर काग्रेस का मंत्रिमण्डल आतरिक सघर्ष के कारण खतरे में पड गया।

जब राज्यपाल का अभिभाषण सुनने के लिये नियत समय पर पश्चिम बगाल का विधानमण्डल का सयुक्त अधिवेशन हुआ तब विधानसभा में अभूतपूर्व हो-हल्ला और ऊधम हुआ। राज्यपाल ने सभा भवन में बगल के एक द्वार से प्रवेश किया, क्योंकि मुख्य द्वार को प्रदर्शनकारी सदस्यों ने घेर रखा था। राज्यपाल ने कोलाहल के बीच अपने सक्षिप्त अभिभाषण का थोडा-सा अश पढा और वे पीछे के द्वार से निकल गये। प्रदर्शन के दौरान विधानमण्डल में उन्हें थोडी चोट भी आ गई थी। मुख्यमत्री के अनुसार विरोधी दल के कुछ सदस्यों ने राज्यपाल पर प्रहार करने का जान-बूझकर प्रयत्न किया था और यदि उनके ए डी सी तथा प्रगतिशील लोकतांत्रिक मोर्चे तथा काग्रेस के विधायक उनकी रक्षा न करते तो उन्हें गम्भीर चोट आ सकती थी। *बाद में उसी दिन विधानसभा की अलग से बैठक* हुई और अध्यक्ष बैनर्जी ने अनिश्चित काल तक उसे फिर इस आधार पर स्थगित कर *दिया कि बैठक अवैध रीति से बुलाई गई थी।* गृहमत्री श्री चौहान ने राज्य विधानसभा के अध्यक्ष के इस कदम को ससद में गलत बतलाया एव घोष मत्रिमण्डल के गठन को सवैधानिक बताया तथा यह आरोप लगाया कि इस तरह अध्यक्ष ने राज्य विधानसभा को स्थगित करके उसे अपने कार्य करने के अधिकार से वंचित किया है।"

अंत में 15 फरवरी को राज्यपाल श्री धर्मवीर ने राष्ट्रपति को रिपोर्ट दी कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चल सकता और राष्ट्रपति शासन की स्थापना होनी चाहिये। 20 फरवरी से संविधान की धारा 356 के अनुसार पश्चिम बंगाल विधानसभा का विघटन कर दिया गया और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। स्वतंत्रता के बाद के 20 वर्षों में यह पहला अवसर था जब कि पश्चिम बंगाल में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। राष्ट्रपति की उद्घोषणा के फलस्वरूप कुछ समय के लिये अस्थिरता और अनिश्चितता के दौर का अंत हो गया।

फरवरी 1969 के मध्यावधि चुनावों के राजनैतिक टीकाकारों का विचार था कि पश्चिम बंगाल में कांग्रेस की विजय होगी, लेकिन जब निर्वाचन परिणाम घोषित हुए तो पता चला कि वहां मतदाताओं का झुकाव निश्चित रूप से वामपंथ की ओर है। पश्चिम बंगाल में कांग्रेस बुरी तरह से हारी और मोर्चे को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। 21 फरवरी को पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री धर्मवीर ने श्री अजय मुखर्जी को पश्चिम बंगाल की नई सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। श्री मुखर्जी ने आमंत्रण स्वीकार कर लिया। 25 फरवरी को पश्चिम बंगाल में राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया और श्री मुखर्जी के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल ने शपथ ग्रहण की।

पश्चिम बंगाल के राज्यपाल श्री धर्मवीर को बंगाल से हटाने के प्रश्न पर शीघ्र ही कहा-सुनी आरम्भ हो गई। राज्य विधानमण्डल का संयुक्त सत्र 6 मार्च को आरम्भ होने वाला था जिसमें राज्यपाल का अभिभाषण होना था। संयुक्त मोर्चा सरकार की मांग थी कि केंद्रीय सरकार को चाहिये कि वह 6 मार्च से पहले ही राज्यपाल श्री धर्मवीर के स्थान पर दूसरे राज्यपाल को नियुक्त कर दे। केन्द्रीय सरकार ने 6 मार्च से पहले राज्यपाल को हटाने से स्पष्टत मना कर दिया, पर यह विश्वास दिया कि श्री धर्मवीर शीघ्र ही स्थानांतरित कर दिये जायेंगे।

इसी समय एक और विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया था। यह भी पहले विवाद का फल था और इसका सम्बन्ध राज्यपाल के अभिभाषण से था। संयुक्त मोर्चा मंत्रिमण्डल ने राज्यपाल के अभिभाषण को तैयार किया था जो उन्हें 6 मार्च को दोनों सदनों के संयुक्त सत्र में देना था। राज्यपाल ने प्रारूप के कुछ अंशों पर आपत्ति की। इन अंशों में अन्य बातों के साथ-साथ नवम्बर सन् 1967 में स्वयं राज्यपाल द्वारा संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी की भी आलोचना की गई थी। राज्यपाल ने मंत्रिमण्डल को सलाह दी कि इन अंशों को निकाल दिया जाये जिससे कि वे अभिभाषण को पूरा पढ़ सकें। किन्तु मंत्रिमण्डल ने राज्यपाल की बात मानने से मना कर दिया, और इस बात पर जोर दिया कि अभिभाषण पूरा ही पढ़ा जाये। अभिभाषण के समय राज्यपाल श्री धर्मवीर ने आपत्तिजनक अंशों को छोड़कर अभिभाषण पढ़ा। बाद में राज्यपाल ने पत्रकारों को बताया कि अभिभाषण पढ़ना उनकी संवैधानिक जिम्मेदारी थी, लेकिन मंत्रिमण्डल की भी यह जिम्मेदारी थी कि वह

अभिभाषण में ऐसी किसी अपमानजनक बात का समावेश न करे जिससे कि अभिभाषण को पूरा पढ़ना उनके लिये असम्भव हो जाये। उन्होंने बताया कि विधानमण्डल में अभिभाषण का प्रयोजन यह होता है कि उसे यह बता दिया जाये कि सरकार ने क्या प्रगति की है, और उसकी क्या नीति है। उन्होंने जिन अंशों को छोड़ दिया था उसमें न तो सरकार की गतिविधियों का उल्लेख था, और न सरकार की नीतियों का। श्री धर्मवीर ने सरकार की बर्खास्तगी के सम्बन्ध में न्यायालय के निर्णय का उल्लेख किया और कहा कि न्यायालय के निर्णय के विरोध में तो कोई कुछ नहीं कह सकता है। किन्तु इस विषय पर श्री ए.एल. मुदालियर के विचार भिन्न थे—"सदन के सत्र की बैठक प्रारम्भ होने पर राज्यपाल का सदेश भाषण बहुत कुछ ब्रिटिश राजा के द्वारा संसद में सदेश भाषण की परम्परा के समान है। पूरे भाषण की जिम्मेदारी मंत्रिमण्डल की है, न कि राज्यपाल की। राज्यपाल उसमें अपनी ओर से ऐसी नई बात नहीं कहेगा जो मंत्रिमण्डल के दृष्टिकोण के विपरीत हो।"[34]

इस प्रकार जब तक श्री धर्मवीर पश्चिम बंगाल के राज्यपाल रहे तब तक संयुक्त मोर्चा मन्त्रिमण्डल का उनसे विवाद चलता ही रहा। अंत में 1 अगस्त को राज्यपाल श्री धर्मवीर छुट्टी पर चले गये और मुख्य न्यायाधीश श्री दीपनारायण सिंह ने कार्यवाहक राज्यपाल के पद की शपथ ग्रहण की। बाद में 6 अगस्त को श्री एस.एस. धवन को बंगाल का राज्यपाल नियुक्त किया गया जिन्होंने सितम्बर में अपना कार्यभार सम्भाल लिया।

पश्चिम बंगाल में मंत्रिमण्डल और राज्यपाल के मध्य जो कुछ भी घटित हुआ उसने सम्पूर्ण देश के राजनैतिक मानस को काफी झकझोर दिया। उस समय इसके औचित्य और अनौचित्य को लेकर अनेक लेख प्रकाशित हुए। इसी सदर्भ में श्री जे.पी. सूद ने लिखा है"—

'ब्रिटेन के राजा के पद के बारे में प्रो. लास्की, प्रो. कीथ इत्यादि ने पर्याप्त विचार प्रकट किये हैं। यद्यपि हमें उसे अधिक महत्व नहीं देना चाहिये तथापि हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि ब्रिटिश राजा संविधान का रक्षक है, और सरकार का मित्र, निर्देशक व आलोचक भी है। उसकी स्थिति उस रेफरी के समान है, जो यह देखता है कि खेल न सिर्फ नियमों के अनुसार हो रहा हो, बल्कि उचित ढंग से खिलाड़ी की भावना के साथ भी हो रहा हो। इस दृष्टिकोण से हम भारत के राज्यों के राज्यपाल के लिये भी कह सकते हैं कि उसका प्रमुख कार्य रेफरी के समान है जो यह देखता है कि राजनीति का खेल नियम और उचित भावना के अनुसार हो।

राज्यपाल के कार्यों की बिल्कुल वैधानिक नुक्ताचीनी भी हम लोगों को नहीं करनी चाहिये। संविधान विभिन्न शासन अंगों के बीच नियम और व्यवस्था के समूह से कहीं अधिक है। यह वह भावना या जीवन का प्रवाह भी है जिसके आधार पर जनता जीवन बिताती है और सरकार प्रशासन का संचालन करती है। यह लोगों के मन और मस्तिष्क पर अंकित रहता है, और उनके चरित्र पर भी अपना प्रभाव डालता है। इस कारण हम

संविधान के शब्दों पर न जाकर उसकी भावनाओं पर अधिक ध्यान देंगे।

संविधान ने हमारे लिये संसदीय शासन की स्थापना की है। यह सामान्य आस्था है कि संसदीय शासन विधानमण्डल में लोकप्रिय सदन के प्रति कार्यपालिका के उत्तरदायित्व पर आधारित है। लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। संसदीय शासन में शासन की नीति और निर्णय विधानमण्डल में बौद्धिक तर्क और नैतिक समर्थन के बाद निर्धारित होने चाहिये न कि सड़कों पर प्रदर्शन और आंदोलन के द्वारा।

जब पश्चिम बंगाल में संयुक्त मोर्चे ने अप्रजातंत्रीय घेराव को प्रोत्साहन दिया और पुलिस को कार्यवाही करने से मना किया तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे शासन-सत्ता के द्वारा राजनीति का खेल खेलना चाहते थे। उस समय पश्चिम बंगाल के राज्यपाल का कर्त्तव्य था कि वे ऐसे मंत्रिमण्डल को तुरन्त ही भंग कर दें जो नक्सलवादियों को विरुद्ध कार्यवाही करने में बाधा डाल रहे थे, और असामाजिक तत्त्वों को प्रोत्साहित कर रहे थे।

जब राज्यपाल के सामने यह स्पष्ट हो गया कि डॉ. पी.सी. घोष के त्यागपत्र देने और 17 समर्थकों के साथ संयुक्त मोर्चे की सरकार से अलग होने से श्री अजय मुखर्जी की सरकार का विधानसभा में अल्पमत हो गया है, तो उन्होंने मुख्यमंत्री से जल्दी ही विधानसभा बुलाने और मामला सुलझाने के लिये कहा। यदि श्री अजय मुखर्जी में सच्ची प्रजातंत्रीय भावना होती तो राज्याध्यक्ष के कहने पर वे तुरन्त विधानसभा को आमंत्रित करते। लेकिन मुख्यमंत्री को सलाह देने वाले प्रजातंत्र के प्रेमी थे, और बिना सोच-विचार किये मुख्यमंत्री ने 18 दिसम्बर से पहले विधानसभा बुलाने से मना कर दिया।

इस प्रकार वे राजनैतिक खेल न तो नियमों के अनुसार और न ही खेल की भावना के अनुसार खेल सके, बल्कि उन्होंने संविधान के अनुसार कार्य करने में भी सहयोग नहीं दिया। यदि कोई खिलाड़ी रेफरी की चेतावनी के बावजूद भी अपने मनमाने ढंग से कार्य करता रहे तो रेफरी के सामने खिलाड़ी को बाहर करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रहता। पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ने भी ऐसा ही किया। यदि अजय मुखर्जी की सरकार को भंग करने के लिये कोई दोषी है तो वह स्वयं श्री मुखर्जी और उनके मित्र हैं जिन्होंने उनको गलत सलाह दी थी।

यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि संसदीय शासन में राज्याध्यक्ष को परामर्श देने, चेतावनी देने और प्रोत्साहन देने का महत्त्वपूर्ण अधिकार है। संवैधानिक अध्यक्ष केवल शून्य अथवा कठपुतली नहीं है बल्कि संविधान के उचित क्रियान्वयन पर दृष्टि रखनेवाला महत्त्वपूर्ण व्यक्ति भी है। पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ने पहले मुख्यमंत्री को सलाह और फिर चेतावनी दी। यह अधिक गौरवशाली होता यदि मुख्यमंत्री राज्यपाल की सलाह को मान लेते। कोई भी ब्रिटिश प्रधानमंत्री अपने राजा की इस बुरी तरह अवहेलना करने की नहीं सोच सकता, जिस प्रकार पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ने राज्यपाल की अवहेलना की थी। राज्यपाल के पास दो ही रास्ते थे। या तो अपने अपमान को चुपचाप सहन कर लेते, या ऐसे मुख्यमंत्री

को अपदस्थ करते।

वैसे इसमें कोई संदेह नहीं है कि राज्यपाल की सलाह न मानकर मुख्यमंत्री ने कोई अवैधानिक या असंवैधानिक कार्य नहीं किया। संविधान में कहीं भी नहीं लिखा है कि राज्यपाल मुख्यमंत्री को चेतावनी और सलाह दे सकेगा या उसकी सलाह को मानने के लिये मुख्यमंत्री बाध्य होगा। इसके विपरीत संविधान की धाराएं राज्यपाल के पक्ष में अधिक हैं। प्रशासन के सुगम एवं सरल संचालन के लिये यह आवश्यक है कि यदि कानून और संविधान में नहीं है, तो श्री अजय मुखर्जी राज्याध्यक्ष की सलाह का आदर करना अपना नैतिक कर्त्तव्य समझते, जब कि उनकी सलाह का केवल यही उद्देश्य था कि सदन में सरकार का शक्ति-परीक्षण कर लिया जाये। यदि मंत्रिमण्डल को भंग नहीं किया जाता तो वह जब तक चाहता तब तक पद पर बना ही रहता। राष्ट्रपति से सर्वोच्च न्यायालय की सलाह मांगने की प्रार्थना करना केवल समय को आगे बढ़ाना था। सर्वोच्च न्यायालय केवल न्यायिक और संवैधानिक विषयों पर सलाह दे सकता है, राजनैतिक विषयों पर नहीं। 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में भी एक लेखक ने लिखा था कि यदि राज्यपाल 18 दिसम्बर तक विधानसभा के अधिवेशन के लिये रुकते, तो भी इस बात की सम्भावना कम थी कि संयुक्त मोर्चे के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव के स्वीकृत होने का मौका आता क्योंकि स्पीकर उस समय भी विधानसभा स्थगित करने का अनुचित आदेश दे सकता था।

अतः उस समय ऐसा कोई रास्ता नहीं था कि किसी के न चाहने पर भी उसे नियम और खेल की भावना के अनुसार कार्य करने को बाध्य किया जाये। हमारा यही दृष्टिकोण है कि पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ने अजय मुखर्जी की सरकार को अपदस्थ करके उस समय सही और उचित कार्य किया जब कि मंत्रिमण्डल का विधानसभा में बहुमत नहीं था, और मुख्यमंत्री ने विधानसभा का अधिवेशन तुरन्त बुलाने से मना भी कर दिया था। संविधान के संरक्षक एवं राजनैतिक खेल के रेफरी के रूप में राज्यपाल यही कार्य कर सकता था। उसका कार्य संविधान की इच्छा एवं उद्देश्य के अनुरूप था। संविधान की रक्षा के लिये वह सरकार को सलाह देने का अधिकारी है। और सरकार का नैतिक कर्त्तव्य है कि वह उसकी सलाह का सम्मान करे। यदि इसके विपरीत मान्यता रही तो राज्यपाल के पद का गौरव एवं महत्त्व ही समाप्त हो जायेगा, और शायद उसका पद बिल्कुल ही व्यर्थ हो जायेगा। वास्तव में उसके खर्चीले पद को बनाये रखने में कोई लाभ और उपयोग नहीं है, यदि उसे ऐसे मुख्यमंत्री को अपदस्थ करने का ही अधिकार न हो जो सम्मानपूर्ण और प्रजातंत्रीय ढंग से कार्य करने में असफल हो चुका हो।"

## मध्यप्रदेश में राज्यपाल और मंत्रिमण्डल का सम्बन्ध

मध्यप्रदेश में यद्यपि बहुत अधिक राजनैतिक स्थायित्व नहीं रहा है तथापि राज्यपाल और मंत्रिमण्डल के आपसी सम्बन्धों में विशेष विवाद उत्पन्न नहीं हुआ। मध्यप्रदेश की राजनीति में गुटबन्दी, पारस्परिक विग्रह और वैयक्तिक संघर्ष स्वतंत्रतापूर्व से ही चले आ

रहे थे। सन् 1957 के बाद होने वाले चुनावों में, मध्यप्रदेश विधानसभा की दलीय स्थिति तालिका क्रमांक 7 4 से 7 9 में दर्शाई गई है। सन् 1957 के चुनावों में मध्यप्रदेश में कांग्रेस को विशाल बहुमत प्राप्त हुआ था और 288 में से 232 स्थान प्राप्त हुए थे। किन्तु सन् 1962 के तीसरे चुनावों में कांग्रेस को कामचलाऊ बहुमत भी न मिल सका, उसे 288 में से केवल 142 स्थान ही प्राप्त हुए।" साल भर तक मण्डलोई मंत्रिमण्डल के अधीन राज्य की स्थिति डावाडोल रही। सन् 1963 में कामराज योजना के अधीन श्री मण्डलोई सत्ता से हट गये और कांग्रेस वरिष्ठ मण्डल ने श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र को मुख्यमंत्री पद पर स्थापित किया। इससे पहले लगभग 10 वर्ष तक श्री मिश्र सक्रिय राजनीति से अलग रहे थे। श्री मिश्र ने 33 प्रमुख समाजवादियों और निर्दलीय सदस्यों को कांग्रेस में मिला लिया। इस प्रकार कांग्रेस की सदस्य-संख्या काफी बढ़ गई। धीरे-धीरे श्री मिश्र ने कांग्रेस के भीतर और बाहर अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली।

जिस समय सन् 1967 के चुनावों के लिये मध्यप्रदेश के कांग्रेसी उम्मीदवारों का चयन किया गया था, उस समय श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र प्रदेश निर्वाचन समिति में बहुमत प्राप्त-गुट के नेता थे, और उन्होंने अपने गुट के विरोधी व्यक्तियों को टिकट नहीं दिये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि असंतुष्ट नेताओं ने खुलेआम बगावत शुरू कर दी। इन असंतुष्ट कांग्रेसियों ने मध्यप्रदेश जन कांग्रेस नामक एक नए दल का निर्माण किया। लेकिन फिर भी सन् 1967 के चुनावों में कांग्रेस को विजय प्राप्त हुई, जिससे श्री मिश्र की प्रतिष्ठा व्यक्तिगत रूप से बहुत बढ़ गई। कांग्रेस दल को पूर्ण बहुमत और 167 स्थान प्राप्त हुए लेकिन इसके साथ ही जनसंघ की स्थिति भी बहुत सुधर गई थी।

4 मार्च, 1967 को श्री मिश्र सर्वसम्मति से कांग्रेस विधानमण्डलीय दल के नेता निर्वाचित हुए और उन्होंने मुख्यमंत्री बनकर अपने मंत्रिमण्डल का निर्माण किया। लेकिन मंत्रिमण्डल के निर्माण में उनके दल के और भी कई लोग उनसे असंतुष्ट हो गये। अंत में जब 19 जुलाई, 1967 को 36 विधायक कांग्रेस छोड़ कर विपक्ष में जा मिले तो मिश्र मंत्रिमण्डल संकटग्रस्त हो गया। उसी दिन कांग्रेस विधानमण्डलीय दल की एक आपातकालीन बैठक हुई जिसमें श्री मिश्र के इस दृष्टिकोण का समर्थन किया गया कि यदि दल अल्पमत में हो जाये तो राज्यपाल को सलाह दी जाये कि वे सदन का विघटन कर दें। समाचार पत्रों को दिये गये एक वक्तव्य में राज्यपाल ने कहा कि राज्य के घटनाक्रम, विशेषकर पिछले कुछ दिनों के घटनाक्रम को देखते हुए तथा लोकतंत्र के सुचारू संचालन के हित में उन्होंने फिलहाल विधानसभा का सत्रावसान कर दिया है।

विपक्ष के सदस्यों ने वाद-विवाद में जो प्रश्न उठाये उनका सम्बन्ध मुख्य रूप से इस बात से था कि क्या मुख्यमंत्री के लिये राज्यपाल को यह सलाह देना ठीक था कि विधानसभा का सत्रावसान कर दिया जाये? केंद्रीय सरकार ने राज्यपाल के इस कार्य का बचाव करते हुये कहा कि राज्य का प्रमुख होने के नाते सदन का सत्रावसान करना, सत्र बुलाना आदि

1947 से 1980 तक मध्यप्रदेश में विभिन्न राज्यपाल का कार्यकाल इस प्रकार रहा—

तालिका 7.2
मध्यप्रदेश में राज्यपालों के कार्यकाल

| क्र स | राज्यपाल का नाम | कार्यकाल |
|---|---|---|
| 1 | श्री मंगलदास पकवासा | अगस्त 1947 से जून 1952 |
| 2 | डॉ भोगराजु पट्टाभिसीतारमैया | 1-6-52 से 13-6 57 |
| 3 | श्री हरिविनायक पाटस्कर | 14 6-57 से 10-2 65 |
| 4 | श्री क्यामम्पल्लि चेंगलराय रेड्डी | 11-2-65 से 8-3 71 |
| 5 | श्री सत्यनारायण सिंह | 9 3-71 से 13 10-77 |
| 6 | श्री निरंजन नाथ वांचू | 14-10-77 से 16-8-78 |
| 7 | श्री चेप्पुदिरा मुथाना पुनाचा | 17-8-78 से 29 3 80 |
| 8 | श्री भगवत दयाल शर्मा | 30-3 80 से आगे |

स्वतंत्रता के कुछ वर्षों बाद, जब मध्यप्रदेश का पुनर्गठन किया गया तब से अब तक अनेक मुख्यमंत्री राज्य कार्यपालिका के वास्तविक प्रमुख के रूप के रह चुके हैं जिनमें से 5 मुख्यमंत्री गैर-कांग्रेसी थे। सारणी 7 3 में मुख्यमंत्रियों का कार्यकाल स्पष्ट है—

तालिका 7.3
मध्यप्रदेश में मुख्यमंत्रियों के कार्यकाल*

| क्र स | मुख्यमंत्री का नाम | कार्यकाल |
|---|---|---|
| 1 | प रविशंकर शुक्ल | 1-11-56 से 31 12 56 |
| 2 | श्री भगवन राव मंडलोई | 9 1-57 से 31-1-57<br>12-3-62 से 29-9-63 |
| 3 | डॉ कैलाशनाथ काटजू | 31 1-57 से 12 3-62 |
| 4 | प द्वारकाप्रसाद मिश्र | 30-9 63 से 29-7-67 |
| 5 | गोविन्द नारायण सिंह | 30-7-67 से 12 3 69 |
| 6 | राजा नरेशचन्द्र सिंह | 13 3-69 से 25-3-69 |
| 7 | श्यामाचरण शुक्ल | 26-3 69 से 28-1-72<br>23-12-75 से 30-4-77 |
| 8 | प्रकाशचन्द्र सेठी | 29-1-72 से 23-12 75 |
| 9 | कैलाश जोशी | 24-6-77 से 17-1-78 |
| 10 | वीरेन्द्रकुमार सकलेचा | 18-1-78 से 19-1 80 |
| 11 | सुन्दरलाल पटवा | 20-1-80 से 17-2-80 |
| 12 | अर्जुनसिंह | 9-6 80 से आगे |

### तालिका 7.4
### मध्यप्रदेश में मतदान—विभिन्न दलों को जन समर्थन (1957)

मतदाता—14010137

मतदान—7654885

प्रतिशत—42 09

| क्र स | राजनैतिक दल | लड़ी | जीती | मतों का प्रतिशत |
|---|---|---|---|---|
| 1 | कांग्रेस | 288 | 232 | 49.83 |
| 2 | कांग्रेस सगठन | | - | - |
| 3 | जनसंघ | 124 | 10 | 9.89 |
| 4 | सोशलिस्ट पार्टी | - | | - |
| 5 | स्वतंत्र पार्टी | - | - | - |
| 6 | कम्यु पार्टी | 25 | 2 | 1.63 |
| 7 | कम्यु मार्क्स | | | - |
| 8 | प्रसोपा | 152 | 12 | 13 18 |
| 9 | रिपब्लिकन | 20 | - | - |
| 10 | जन कांग्रेस | - | - | - |
| 11 | हिन्दू सभा | 50 | 6 | 4.5 |
| 12 | रामराज्य परिषद् | 56 | 5 | 3 1 |
| 13 | अन्य दल | - | - | - |
| 14 | निर्दलीय | 314 | 21 | 16 9 |

### तालिका 7.5
### मध्यप्रदेश में मतदान—विभिन्न दलों को जन समर्थन (1962)

मतदाता—15874238

मतदान—7068005

प्रतिशत—44.52

| क्र स | राजनैतिक दल | लड़ी | जीती | मतों का प्रतिशत |
|---|---|---|---|---|
| 1 | कांग्रेस | 288 | 142 | 38.54 |
| 2 | कांग्रेस सगठन | - | - | - |
| 3 | जनसंघ | 195 | 41 | 16.66 |
| 4 | सोशलिस्ट पार्टी | 86 | 14 | 4 73 |
| 5 | स्वतंत्र पार्टी | 43 | 2 | 1.23 |
| 6 | कम्यु पार्टी | 42 | 1 | 2 02 |
| 7 | कम्यु मार्क्स | - | - | - |
| 8 | प्रसोपा | 140 | 33 | 10 72 |
| 9 | रिपब्लिकन | 33 | - | 1.26 |
| 10 | जन कांग्रेस | - | - | - |
| 11 | हिन्दू सभा | 50 | 6 | 3.23 |
| 12 | रामराज्य परिषद् | 76 | 10 | 3 79 |
| 13 | अन्य दल | 9 | - | - |
| 14 | निर्दलीय | 374 | 39 | 17.56 |

तालिका 7.6

मध्यप्रदेश में मतदान—विभिन्न दलों को जन समर्थन (1967)

मतदाता—18394846

मतदान—9839150

प्रतिशत—53 49

| क्र स | राजनैतिक दल | लड़ी | जीती | मतों का प्रतिशत |
|---|---|---|---|---|
| 1 | कांग्रेस | 296 | 167 | 44 66 |
| 2 | कांग्रेस सगठन | - | - | - |
| 3 | जनसघ | 265 | 78 | 28.28 |
| 4 | सोशलिस्ट पार्टी | 112 | 10 | 5.28 |
| 5 | स्वतत्र पार्टी | 20 | 7 | 2.54 |
| 6 | कम्यु पार्टी | 31 | 1 | 1 06 |
| 7 | कम्यु मार्क्स | 10 | - | 0.26 |
| 8 | प्रसोपा | 112 | 9 | 4.69 |
| 9 | रिपब्लिकन | 40 | - | 0.84 |
| 10 | जन कांग्रेस | 45 | 2 | 2 16 |
| 11 | हिन्दू सभा | 34 | - | 0.58 |
| 12 | रामराज्य परिषद् | 14 | 2 | 0.85 |
| 13 | अन्य दल | - | - | - |
| 14 | निर्दलीय | 575 | 26 | 12.80 |

तालिका 7 7

मध्यप्रदेश में मतदान—विभिन्न दलों को जन समर्थन (1972)

मतदाता—20842129

मतदान—11350437

प्रतिशत—54.46

| क्र स | राजनैतिक दल | लड़ी | जीती | मतों का प्रतिशत |
|---|---|---|---|---|
| 1 | कांग्रेस | 289 | 220 | 48 14 |
| 2 | कांग्रेस सगठन | 23 | - | 0 26 |
| 3 | जनसघ | 261 | 49 | 28 46 |
| 4 | सोशलिस्ट पार्टी | 150 | 7 | 6.25 |
| 5 | स्वतत्र पार्टी | 23 | - | 0.58 |
| 6 | कम्यु पार्टी | 5 | 3 | 1 04 |
| 7 | कम्यु मार्क्स | 4 | - | 0 04 |
| 8 | प्रसोपा | - | - | - |
| 9 | रिपब्लिकन | - | - | - |
| 10 | जन कांग्रेस | - | - | - |
| 11 | हिन्दू सभा | - | - | - |
| 12 | रामराज्य परिषद् | - | - | - |
| 13 | अन्य दल | 13 | - | 0 18 |
| 14 | निर्दलीय | 649 | 19 | 15 05 |

तालिका 7.8
मध्यप्रदेश विधानसभा में विभिन्न दलों की स्थिति, 1977

| राजनैतिक दल | प्राप्त स्थान | प्रतिशत |
|---|---|---|
| कांग्रेस (इ) | 84 | 26.25 |
| जनता पार्टी | 230 | 71.88 |
| अन्य | 6 | 1.87 |
| कुल | 320 | 100 |

तालिका 7.9
मध्यप्रदेश विधानसभा में विभिन्न दलों की स्थिति, 1980

| राजनैतिक दल | प्राप्त स्थान | प्रतिशत |
|---|---|---|
| कांग्रेस (इ) | 246 | 76.88 |
| भारतीय जनता पार्टी | 60 | 18.76 |
| भारतीय साम्यवादी दल | 2 | 0.62 |
| लोकदल | 1 | 0.31 |
| जनता (जे पी) | 2 | 0.62 |
| निर्दलीय | 9 | 2.81 |
| कुल | 320 | 100 |

राज्यपाल का ही कार्य है। यदि एक बार राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह ठुकराने का अधिकार दे दिया गया तो उसके गम्भीर परिणाम होंगे और लोकतंत्र खतरे में पड जायेगा। राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होने पर भी उनका एजेन्ट नहीं है, जैसा कि कुछ सदस्यों ने स्थापित किया है। वह राज्य का प्रमुख है, उसको मुख्यमंत्री की सलाह पर चलना आवश्यक है।[10] परन्तु विरोधी नेताओं का मत था कि राज्यपाल को सदन की बैठक चलते हुए सत्रावसान का आदेश देने का अधिकार नहीं है। सदन की बैठक बजट पास करने के लिये बुलाई गई थी और वह काम पूरा हुए बिना अधिवेशन स्थगित नहीं किया जा सकता। यह सदन का अपमान है। जिस स्थिति में मध्यप्रदेश विधानसभा स्थगित की गई, वैसी स्थिति में किसी भी देश की ससद कभी भी स्थगित नहीं की गई।[11] सदन का सत्रावसान करने का राज्यपाल के अधिकार का राजनैतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग करना सर्वथा अनुपयुक्त है।[12]

केंद्रीय गृहमंत्री श्री चव्हाण ने यह कह कर भले ही बचाव कर दिया कि मध्यप्रदेश विधानसभा के सत्रावसान की जिम्मेदारी केंद्र पर नहीं बल्कि वहां के राज्यपाल पर है। इस तरह वे अभियुक्त होने से बच गये। परन्तु यह बचना नहीं, जिम्मेदारी से भागना है। यदि किसी प्रदेश में लोकतंत्र का भविष्य खतरे में हो तो उसे बचाने की जिम्मेदारी केंद्र पर होती है। इससे पूर्व नक्सलवाडी को लेकर स्वय गृहमंत्री ने यह स्वीकार किया था कि वहां

लोकतंत्र की सुरक्षा के लिये केंद्र सरकार प्रतिबद्ध है। अगर नक्सलवाडी में केंद्र सरकार की दिलचस्पी हो सकती है तो फिर मध्यप्रदेश में क्यों नहीं हो सकती?"

इस प्रकार बजट सत्र के अन्तर्गत राज्यपाल के द्वारा मध्यप्रदेश में सत्रावसान के कदम को केंद्र सरकार ने संविधान-सम्मत व्यक्त किया। वहीं बजट सत्र को पोनाव में अध्यक्ष द्वारा स्थगित करने पर राज्यपाल द्वारा पुन: आमंत्रित करने के कदम को भी केंद्र सरकार ने सवैधानिक और सही बतलाया। दोनों ही अवसरों पर केंद्रीय सरकार ने कानून और संविधान की दुहाई दी। परन्तु विरोधी दलों की यह शिकायत बेबुनियाद नहीं है कि "कानून और नैतिकता दोनों ही सरकारी पार्टी के लिये सुविधाजनक शब्द हो गये हैं। सरकारी पार्टी इन दोनों का प्रयोग अपने पक्ष में अपने हित के लिये, अपनी इच्छानुसार करती रही है। वह अनैतिक को नैतिक और कानून-विरोधी को कानून-सम्मत करने में सिद्धहस्त हो चुकी है।"[4]

*इसी सदर्भ में एक और प्रश्न सामने आया, जबकि मुख्यमंत्री श्री मिश्र ने चेतावनी* दी कि यदि मेरी सरकार अल्पमत में आ गई तो मैं राज्यपाल को मध्यावधि चुनाव की सलाह दूंगा। प्रश्न यह है कि क्या अल्पमत वाले मुख्यमंत्री को ऐसी सलाह देने का अधिकार है कि राज्यपाल विधानसभा को स्थगित कर दे या भंग कर दे और क्या राज्यपाल को यह सलाह मानना आवश्यक है?" परन्तु विधिमंत्री का मत था कि पराजित मुख्यमंत्री को अधिकार नहीं है कि वह राज्यपाल को विधानसभा भंग करने और मध्यावधि चुनाव करवाने की राय दे। यह अधिकार केवल प्रधानमंत्री को मान्य है जो राष्ट्रपति से लोकसभा भंग करवा कर मध्यावधि चुनाव करवाने की सिफारिश कर सकता है।"[5] 21 जुलाई को राज्यपाल श्री रेड्डी और मुख्यमंत्री श्री मिश्र ने केंद्रीय नेताओं के साथ अनेक बार विचार-विनिमय किया। कांग्रेस दल के केंद्रीय ससदीय मण्डल की बैठक में श्री मिश्र की इस राय पर विचार किया गया कि राज्य में मध्यावधि चुनाव कराये जायें कि नहीं। राज्यपाल द्वारा सत्रावसान किये जाने की विभिन्न पक्षों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई।" तथा देशव्यापी समाचार पत्रों ने इस कदम की आलोचना की। आखिर एक सप्ताह के सत्रावसान के बाद 28 जुलाई को सदन की बैठक हुई। अगले दिन शिक्षा मंत्रालय की मांगों पर निर्णायक मतदान हुआ, उससे मालूम हुआ कि 137 सदस्य मांग को स्वीकृत कराने के पक्ष में थे और 153 सदस्य उसके विरोध में थे। इसके तुरन्त बाद राजमाता ने राज्यपाल से भेंट की और मांग की कि संविद को सरकार बनाने का अवसर दिया जाना चाहिये। मतदान का विवरण प्राप्त होते ही कांग्रेस वरिष्ठ मण्डल की भी राय बदल गई और उसने श्री मिश्र को राय दी कि वे अविलम्ब त्यागपत्र दे दें। 30 जुलाई का राज्यपाल ने त्यागपत्र स्वीकार कर लिया और संविद नेता राजमाता की सलाह पर श्री गोविन्द नारायण सिंह को सरकार बनाने का आमंत्रण दिया, यद्यपि यह सरकार भी स्थायी नहीं रह सकी थी।

मध्यप्रदेश में राज्यपाल और मंत्रिमण्डल के सम्बन्धों के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री के.सी. रेड्डी से साक्षात्कार किया गया

था और उनसे कुछ प्रश्नों के उत्तर पूछे गये।" इन प्रश्नोत्तरों से बहुत कुछ इस विषय पर प्रकाश पड़ता है। वे प्रश्न और श्री रेड्डी द्वारा दिये गये उत्तर इस प्रकार थे—

प्रश्न 1. संविधा[ के अनुच्छेद 156 के सम्बन्ध में—
राज्यपाल को कार्यभार सम्भालने के पूर्व शपथ लेनी पड़ती है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार संविधान की रक्षा करेगा और राज्य की जनता के हित में कार्य करेगा। यदि मंत्रिमण्डल कोई ऐसा कार्य करता है जो संविधान या जनहित के विपरीत हो तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल का क्या कर्तव्य होना चाहिये?

उत्तर— राज्यपाल अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति को इस बात की सूचना देगा।

प्रश्न 2. संविधान के अनुच्छेद 163 के सम्बन्ध में—
(क) इस अनुच्छेद के अनुसार राज्यपाल मंत्रिमण्डल को कार्य करने के लिये सलाह एव सहायता देगा, किन्तु इस विषय में यह निर्देश नहीं है कि वह सलाह और सहायता राज्यपाल पर बंधनकारी रहेगी या नहीं?

उत्तर— परम्परा के अनुसार मंत्रिमण्डल राज्यपाल को जो सलाह देगा, उसका पालन राज्यपाल को करना होगा।

प्रश्न— (ख) आपके दीर्घकालीन अनुभव में क्या कभी ऐसा अवसर आया है जब कि राज्यपाल ने मंत्रिमण्डल की सलाह नहीं मानी हो? यदि हां, तो किस अवसर पर और कितनी बार?

उत्तर— हां, एक बार ऐसा अवसर आया था जब कि 19 मार्च, 1969 को तत्कालीन मुख्यमंत्री राजा नरेशचंद्र सिंह ने अल्पमत होने पर अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया और राज्यपाल को सलाह दी कि विधानसभा का विघटन करा के नये चुनाव कराये जायें। उनकी यह सलाह नहीं मानी गई।

प्रश्न— (ग) क्या कभी भी राज्यपाल स्वविवेक के अनुसार कार्य करने में सक्षम है? यदि हां, तो कब और किन विषयों पर ऐसा करने का अवसर आया?

उत्तर— संविधान के अनुसार राज्यपाल कभी भी स्वविवेक के कार्य करने में सक्षम है।

प्रश्न— (घ) राज्यपाल श्री धर्मवीर के विचार से राज्यपाल को विधानसभा में दिये जाने वाले (मंत्रिमण्डल की ओर से प्राप्त) संदेश में संशोधन करने का अधिकार है। क्या आप इससे सहमत हैं? मध्यप्रदेश में क्या कभी ऐसा अवसर आया है?

उत्तर— राज्यपाल को मंत्रिमण्डल की ओर से विधानसभा में पढ़ने को जो संदेश दिया जाता है उसमें वह नीति विषयक संशोधन नहीं कर सकता, लेकिन अन्य बातों में संशोधन कर सकता है। मध्यप्रदेश में ऐसा मौका कभी भी नहीं आया जब कि राज्यपाल को संदेश-भाषण में परिवर्तन करना पड़ा हो।

प्रश्न 3. संविधान के अनुच्छेद 164(1-2) के सम्बन्ध में—
इस अनुच्छेद में यह प्रावधान है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति का अधिकार राज्यपाल

को है और उसकी सलाह से राज्यपाल अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा और मंत्रियों का पद राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त रहेगा। ऐसा कोई भी प्रावधान में नहीं है कि उसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाया जावे जो विधानसभा के बहुमत दल का नेता हो। इस अनुच्छेद के चरण 2 में केवल यह प्रावधान है कि मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदाई रहेगा।

(क) मुख्यमंत्री की नियुक्ति के समय यदि विधानसभा के दो सदस्य अपने-अपने बहुमत का दावा करें तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल का क्या कर्तव्य होना चाहिये? उसे किस आधार पर मुख्यमंत्री की नियुक्ति करनी चाहिये? क्या इस सम्बन्ध में विधानसभा के सदस्यों के हस्ताक्षर पत्र या स्वयं उपस्थित होना आवश्यक है?

उत्तर— ऐसी स्थिति में राज्यपाल स्वविवेक से निर्णय करेगा और परिस्थितियों को देखते हुए निष्कर्ष निकालेगा कि कौन व्यक्ति विधानसभा के बहुमत दल का नेतृत्व कर सकता है और उसी व्यक्ति को वह मुख्यमंत्री नियुक्त करेगा। बहुमत जानने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि विधानसभा के सदस्य स्वयं राज्यपाल के सामने उपस्थित हों या पत्र भेजें या हस्ताक्षर के द्वारा अपना समर्थन बतायें। राज्यपाल विधानसभा में दलीय स्थिति की जानकारी स्वीकर से भी ले सकता है।

प्रश्न— (ख) ऐसे मंत्रिमण्डल को जिसे अब विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है, क्या विधानसभा को स्थगित या भंग करने की सलाह देने का अधिकार है? और क्या ऐसी सलाह राज्यपाल पर बंधनकारक है?

उत्तर— जिस मंत्रिमण्डल को विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं है उसे राज्यपाल को विधानसभा भंग या स्थगित करने की सलाह देने का अधिकार तो है, लेकिन राज्यपाल उसे मानने को बाध्य नहीं है। उसे परिस्थितियों को देखते हुए स्वविवेक से निर्णय लेकर इस प्रकार का आदेश देना चाहिये।

प्रश्न 4. संविधान के अनुच्छेद (3) के सम्बन्ध में—

(क) इस अनुच्छेद के अनुसार शासन के कार्य-संचालन की सुविधा हेतु राज्यपाल को नियम बनाने का अधिकार दिया गया है, किन्तु जिन विषयों पर राज्यपाल अपने स्वविवेक से कार्य कर सकता है उसके सम्बन्ध में नियम बनाने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे कौन से विषय हैं जिनके सम्बन्ध में नियम बनाने की आवश्यकता नहीं है? क्या मध्यप्रदेश में ऐसे अवसर आये हैं कि इस सम्बन्ध में राज्यपाल ने अपने स्वविवेक से कार्य किये हों? क्या मध्यप्रदेश में इन नियमों की प्रति बनी है?

उत्तर— जिन विषयों पर राज्यपाल अपने स्वविवेक से कार्य कर सकता है, उसके सम्बन्ध में नियम बनाने की आवश्यकता नहीं है। मध्यप्रदेश में अभी ऐसे अवसर

नहीं आये हैं जबकि राज्यपाल ने इस सम्बन्ध में अपने स्वविवेक से कार्य किये हों। मध्यप्रदेश में भी शासन के कार्य-सचालन के लिये नियम बनाये गये हैं।

प्रश्न 5. संविधान के अनुच्छेद 167(ब) के सम्बन्ध में—
इस अनुच्छेद के अनुसार राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वे प्रशासन के सचालन से सम्बन्धित जानकारी मुख्यमत्री से माग सकते हैं। इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल स्वविवेक के अनुसार ही करेंगे, ऐसा निष्कर्ष निकलता है। क्या आप इससे सहमत हैं?

उत्तर— हा, इस अनुच्छेद के अनुसार राज्यपाल को, जब उचित समझे, तब प्रशासन के सचालन से सम्बन्धित या व्यवस्थापन से सम्बन्धित जानकारी मुख्यमत्री से मागने का अधिकार है।

प्रश्न 6. सविधान के अनुच्छेद 167(स) के सम्बन्ध में—
(क) मंत्रिमण्डल ने जिस विषय पर कोई निर्णय नहीं लिया हो किन्तु मुख्यमत्री ने उस पर निर्णय ले लिया हो और राज्यपाल के अनुसार उस विषय पर सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल का निर्णय होना उचित है, तो मंत्रिमण्डल को इस सम्बन्ध में विचार करने के लिये प्रकरण भेज सकता है। क्या इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल के द्वारा किया जाता है? यदि हा, तो वर्ष में ऐसे कितने अवसर आते हैं जबकि इसकी आवश्यकता होती है?

उत्तर— इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल के द्वारा ही किया जाता है, किन्तु मध्यप्रदेश में राज्यपाल ने अभी तक इसका प्रयोग नहीं किया है।

प्रश्न— (ख) उपरोक्त अनुच्छेद में लिखा है कि 'यदि राज्यपाल चाहे तो मंत्रिमण्डल के विचारार्थ प्रकरण भेज सकता है।' इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल मंत्रिमण्डल की सलाह के अनुसार करेगा या स्वविवेक से?

उत्तर— राज्यपाल मंत्रिमण्डल के विचारार्थ कोई प्रकरण स्वविवेक से भेजेगा।

प्रश्न 7. संविधान के अनुच्छेद 174 के सम्बन्ध में—
इस अनुच्छेद के अनुसार विधानसभा को अ—आमंत्रित, ब—स्थगित, स—भग करने का अधिकार राज्यपाल को दिया गया है।
(क) क्या इन तीनों शक्तियों का प्रयोग केवल मंत्रियों की सलाह से ही किया जाता है और अनुच्छेद 163 के अनुसार मंत्रिमण्डल द्वारा दी गई सलाह क्या राज्यपाल पर बधनकारी है?

उत्तर— साधारण परिस्थितियों में राज्यपाल मंत्रिमण्डल की सलाह से ही विधानसभा को आमंत्रित, स्थगित और भग करेगा।

प्रश्न— (ख) क्या विधानसभा को आमंत्रित करने की तिथि निर्धारित करने का अधिकार राज्यपाल को नहीं है?

**उत्तर—** विधानसभा को आमंत्रित करने की तिथि निर्धारित करने का अधिकार राज्यपाल को नहीं है।

**प्रश्न—** (ग) क्या मंत्रिमण्डल की, विधानसभा का बहुमत न होने की स्थिति में भी विधानसभा आमंत्रित, स्थगित और भग करने की सलाह राज्यपाल पर बधनकारी है ?

**उत्तर—** जिस मंत्रिमण्डल का विधानसभा में बहुमत नहीं है उसकी, विधानसभा आमंत्रित, स्थगित और भग करने की सलाह राज्यपाल पर बधनकारी नहीं है।

**प्रश्न—** (घ) क्या इस सम्बन्ध में शक्तियों का प्रयोग करने से पूर्व राज्यपाल को राष्ट्रपति या केंद्र सरकार से सलाह लेने की आवश्यकता होती है? यदि हा, तो किन परिस्थितियों में ?

**उत्तर—** विधानसभा आमंत्रित, स्थगित या भग करने की शक्ति का प्रयोग करने के पूर्व राष्ट्रपति या केंद्र सरकार की सलाह लेने की आवश्यकता नहीं होती।

**प्रश्न 8.** इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा न हो बल्कि राज्य की जनता द्वारा उसका निर्वाचन हो ?

**उत्तर—** राज्यपाल का निर्वाचन राज्य की जनता द्वारा नहीं होना चाहिये। संविधान सभा ने पर्याप्त विचार करने के बाद ही राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था की थी।

**प्रश्न 9.** क्या भारत में राज्य कार्यपालिका की वास्तविक शक्तिया अमेरिकन संविधान के अनुसार राज्यपाल में निहित होनी चाहिये या वर्तमान व्यवस्था ही ठीक है ? आपके विचार से जनहित में कौन-सी व्यवस्था ठीक होगी ?

**उत्तर—** अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन है और भारत में ससदीय शासन है। ससदीय शासन में राज्य कार्यपालिका की वास्तविक शक्तिया राज्यपाल में निहित नहीं हो सकतीं।

मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री रेड्डी द्वारा दिये गये उत्तरों से यही निष्कर्ष निकलता है, जिस समय विधानसभा में मंत्रिमण्डल का बहुमत है उस समय राज्यपाल मंत्रिमण्डल की सलाह से ही हर कार्य करेगा, किन्तु वह केवल कठपुतली भी नहीं है, क्योंकि बहुत-से कार्य स्वविवेक से करने की उसे संविधान के द्वारा छूट भी मिली हुई है, विशेषकर यदि मंत्रिमण्डल का बहुमत विधानसभा में नहीं है, तो कई बातों का निर्णय वह स्वय ले सकता है।

## समीक्षा

*संविधान की धाराओं के अनुसार* राज्यपाल और मंत्रिमण्डल के सम्बन्धों की विवेचना श्री लक्ष्मण प्रसाद चौधरी ने भी की है।" उनके अनुसार यह प्रश्न विचाराधीन है कि विधानसभा के अविश्वास के प्रस्ताव के बिना ही राज्यपाल मंत्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है अथवा नहीं ? इस प्रश्न पर विचार करना इस कारण और भी आवश्यक हो गया है कि बगाल के राज्यपाल ने वहा के मुख्यमंत्री श्री अजय मुखर्जी के मंत्रिमण्डल को अपदस्थ

कर दिया था। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिये हमें संविधान की उन धाराओं के अर्थों और अभिप्रायों को समझने का प्रयत्न करना पडेगा जो राज्यपाल के अधिकारों से सम्बन्ध रखती हैं।

सबसे पहले धारा 163 पर विचार करना उचित होगा। इस धारा के शब्दों से यह बात स्पष्ट है कि राज्यपाल को अपने कुछ कार्यों के लिये मंत्रिमण्डल की सलाह मानना आवश्यक है और अन्य कार्य उसे स्वविवेक से करने हैं। संविधान में ऐसी कोई धारा नहीं है जिसमें उन विषयों का उल्लेख हो जिन्हें वह स्वविवेक से करेगा। इसके लिये हमें संविधान की विभिन्न सम्बद्ध धाराओं का विश्लेषण करना होगा।

यदि हम धारा 164 के शब्दों के अभिप्राय को देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपाल कुछ परिस्थितियों में स्वविवेक से कार्य कर सकता है। इस धारा के पहले भाग के शब्द 'राज्यपाल के प्रमाद-पर्यन्त मंत्री अपने पद पर रहेंगे' और धारा द्वितीय भाग के शब्द 'मंत्रिमण्डल राज्य की विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदाई होगा,' विरोधात्मक भाव प्रदर्शित करते हैं। इनके स्पष्टीकरण से उस परिस्थिति का अनुमान लग सकता है जब राज्यपाल स्वविवेक से कार्य करता है। जब राज्यपाल मंत्रियों की नियुक्ति कर देता है तो वे विधानसभा के प्रति उत्तरदाई हो जाते हैं और विधानसभा में अविश्वास प्रस्ताव पारित होने पर राज्यपाल द्वारा अपदस्थ किये जाते हैं। यह अपदस्थ करना इस धारा के इन शब्दों के अंतर्गत नहीं है कि 'राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त मंत्री अपना पद ग्रहण करेंगे।'

राज्यपाल ऐसे मंत्रिमण्डल को जो विधानसभा के प्रति उत्तरदाई है, स्वीकृत प्रजातांत्रिक रूढियों के विरुद्ध पदच्युत नहीं कर सकता। यदि मंत्रिमण्डल को विधानसभा में 50 प्रतिशत से कम समर्थन मिल रहा है तो राज्यपाल उसे पदच्युत कर सकता है। परन्तु ऐसी भी परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं, जब उसे अपनी शपथ के अनुसार संविधान और अधिनियमों की रक्षा के लिये स्वविवेक से कार्य करना पड़े। उदाहरणार्थ, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जब मंत्रिमण्डल बेईमानी और भ्रष्टाचार से काम करने लगे और राज्यपाल को प्रशासन की शुद्धता और पवित्रता की रक्षा के लिये मंत्रिमण्डल अपदस्थ करना आवश्यक हो जाये। इसके विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि राज्यपाल को ऐसा नहीं करना चाहिये था क्योंकि मंत्रियों पर भ्रष्टाचार का मुकदमा चलाया जा सकता है। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जब तक मंत्री अपने पद पर आसीन हैं तब तक वे न्यायालय में की गई कार्यवाही को निष्फल बना सकते हैं। विधानसभा भी मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर सकती है, किन्तु जब तक वहां मंत्रिमण्डल का बहुमत है, तब तक उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल यदि मूक दर्शक की तरह भ्रष्टाचार चलने दे, तो इससे प्रजातांत्रिक हितों का हनन होगा। इसलिये उसे यहां धारा 164 के 'राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त मंत्री अपना पद धारण करेंगे' शब्दों के अन्तर्गत स्वविवेक से कार्य करना चाहिये।

राज्यपाल के स्वविवेक से कार्य करने की दूसरी परिस्थिति उस समय भी उत्पन्न हो सकती है जब मंत्रिमण्डल या मंत्री अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके संविधान को उन्मूलित कर दें। तब क्या राज्यपाल को मुख्यमंत्री की सलाह के बिना विधानसभा की बैठक मंत्रिमण्डल के कार्यों पर विचार करने के लिये नहीं बुलानी चाहिये? क्या उसे मूक और असहाय दर्शकों की भांति राज्य में संविधान को उन्मूलित होने देना चाहिए? ऐसी परिस्थिति में यदि राज्यपाल स्वविवेक से मंत्रिमण्डल या मंत्री को अपदस्थ कर दे तो ठीक ही होगा।

राज्यपाल के लिये मंत्रिमण्डल की सलाह उसी सीमा तक मान्य है जब तक मंत्रिमण्डल विधिवत् तथा संवैधानिक ढंग से काम करता है और जब मंत्रिमण्डल या मंत्री इन सीमाओं का उल्लंघन करके कार्य करें तो राज्यपाल को संविधान की रक्षा के लिये प्रजातांत्रिक हितों की सुरक्षा के लिये स्वविवेक से कार्य करना चाहिये।

यदि राज्यपाल मंत्रिमण्डल के कार्यों के लिये इन परिस्थितियों में विधानसभा का अधिवेशन बुलाना चाहे, तो स्वविवेक से बुला सकता है। ऐसी आपत्ति उठाना कि राज्यपाल संविधान की धारा 174 के अनुसार विधानसभा का अधिवेशन मंत्रिमण्डल की सलाह पर ही बुला सकता है, उचित न होगा। धारा 174 में लिखा गया है कि "राज्यपाल समय-समय पर अपने राज्य के विधानमण्डल के सदन या प्रत्येक सदन को ऐसे समय तथा स्थान पर, जैसा वह उचित समझे अधिवेशन के लिये आहूत करेगा।" इस धारा के 'जैसा वह उचित समझे' शब्द बड़े सारगर्भित हैं। जब तक प्रजातांत्रिक हितों की रक्षा होती है और संविधान की हानि नहीं होती है, राज्यपाल को संविधान की 163वीं धारा के अनुसार मंत्रिमण्डल की सलाह से और प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों तथा हितों में विरोध होने पर 'जैसा वह उचित समझे' शब्दों के अन्तर्गत स्वविवेक से कार्य करने में कोई दोष नहीं समझना चाहिये, और न किसी को इस पर आपत्ति उठानी चाहिये। यदि ऐसी परम्परा स्थापित की जाये तो वह एक स्वस्थ परम्परा ही कही जायेगी। राज्यपाल ऐसी परिस्थितियों में स्वविवेक से विधानसभा का अधिवेशन बुलाये तो उसका यह कार्य संविधान के प्रतिकूल भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि हम संविधान की धारा 168 और 200 के अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करें तो यही अभिप्राय निकलता है कि राज्यपाल मंत्रिमण्डल के कार्यों को प्रमाणित करने के लिये रबर की मोहर मात्र नहीं है। धारा 168 इस प्रकार है—

(1) प्रत्येक राज्य के लिये एक विधानमण्डल होगा जो राज्यपाल तथा

(क) बिहार, उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल के दो सदनों से,

(ख) अन्य राज्यों में एक सदन से मिलकर बनेगा।

इस धारा को पढ़ने से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि राज्यपाल विधानमण्डल का अंग है। विधानमण्डल का अंग होते हुए यदि वह धारा 174 के शब्द 'जैसा वह उचित समझे' के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल की सलाह के बिना विधानसभा का अधिवेशन बुलाये तो उसका यह कार्य न तो असंवैधानिक कहा जा सकता है और न ही यह कहा जा सकता है

कि वह संविधान-निर्माताओं की इच्छा के विरुद्ध है। धारा 168 के शब्द 'राज्य के लिये एक विधानमण्डल होगा जो राज्यपाल तथा दो सदनों मे मिलकर बनेगा' इस बात की ओर सकेत कर रहे हैं कि विधानमण्डल में राज्यपाल का भी एक अस्तित्व है।

सविधान की धारा 200 इस प्रकार है—''जब राज्य की विधानसभा द्वारा अथवा विधान परिषद् वाले राज्य में विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा कोई विधेयक पारित किया गया हो तो वह राज्यपाल के समक्ष उपस्थित किया जायेगा तथा राज्यपाल यह घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है अथवा विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लेता ।''

इस धारा के शब्द अनुमति रोक लेता है अथवा विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लेता है' अवश्यमेव इस ओर सकेत कर रहे हैं कि राज्यपाल को सदैव मंत्रिमण्डल की अनुमति से कार्य नहीं करना है अथवा जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उसे मंत्रिमण्डल के कार्यों को प्रमाणित करनेवाली रबर की मोहर ही बनकर नहीं रहना है बल्कि उसे स्वविवेक से भी कार्य करना है। धारा 168 और 200 के अभिप्राय को समझते हुए धारा 174 के शब्दों 'जैसा वह उचित समझे' के अतर्गत यदि राज्यपाल विधानसभा का अधिवेशन बिना मंत्रिमण्डल की सलाह के बुलाता है तो उसका यह कार्य न तो असवैधानिक कहा जा सकता है और न तर्क के आधार पर असगत। परन्तु ऐसा कार्य करने से पहले उसे पूरी तरह से यह निश्चय करना होगा कि वह जो कार्य कर रहा है, केवल प्रजातांत्रिक उद्देश्यों की रक्षार्थ कर रहा है और अपनी उस शपथ की रक्षार्थ कर रहा है जो पद ग्रहण करते समय उसने ली थी। उपरोक्त धाराओं के अर्थ से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्यपाल संविधान की मर्यादा बनाये रखने और प्रजातात्रिक हितों की सुरक्षा के लिये विधानसभा के अविश्वास प्रस्ताव के बिना ही मंत्रिमण्डल को अपदस्थ कर सकता है। यदि वह आवश्यक समझे तो वह बिना मंत्रिमण्डल की सलाह के विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है और अपने दृष्टिकोण की परीक्षा विधानसभा में करवा सकता है। यदि विधानसभा ने मंत्रिमण्डल में अविश्वास प्रकट किया तो राज्यपाल विरोधी दल या दलों का मंत्रिमण्डल बनाने का प्रयत्न कर सकता है अथवा केंद्र को मध्यावधि निर्वाचन करवाने या राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सलाह दे सकता है।

राज्यपाल की इस स्वविवेक शक्ति के बारे में प्रो दलीपसिंह के अनुसार राज्यपाल की स्वविवेक की शक्तिया आजकल पर्याप्त विवाद का विषय बन गई हैं।" उन्होंने लिखा है कि हमारे संविधान ने इसका और विशेषकर राज्यपाल के द्वारा मंत्रिमण्डल भग करना, विधानमण्डल को आमंत्रित करना और विधानसभा भग करना आदि के स्वरूप एव क्षेत्र का विस्तार से वर्णन नहीं किया है। इन अधिकारों का प्रयोग करने में मार्ग निर्देशक के रूप में राज्यपाल के लिये कोई नियम नहीं बनाये गये हैं। विभिन्न राज्यों में इन विषयों पर राज्यपाल ने जो निर्णय लिये और कार्य किये उनमें भी कोई निश्चितता, स्पष्टता और

समानता नहीं है। राज्यपाल को निर्देशित करने के लिये व्यवहार संहिता अथवा स्वस्थ परम्परा का भी विकास नहीं हो पाया है। शायद यह अभाव इस कारण था कि अभी तक केंद्र और राज्यों में एक ही सत्तारूढ दल के कारण संघात्मक शासन भी एकात्मक प्रतीत होता था। इससे इन नियमों या परम्पराओं की कोई आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई थी। उस समय केंद्र और राज्यों के हितों के संघर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं था। चतुर्थ निर्वाचन के तुरन्त बाद ही राज्यपाल के पद पर एकाएक कई दायित्व आ गये। उस समय कई राज्यों में मिली-जुली सरकारों की प्रधानता हो रही थी। इन राज्यों में राज्यपाल को साधारण पद्धति से हटकर कार्य करने पड़े। अधिकांश में राज्यपाल ने इस सिद्धान्त के आधार पर सवैधानिक कार्य किये कि प्रजातत्र का अर्थ बहुमत का शासन है और पश्चिम बगाल, बिहार, केरल, उडीसा, पजाब, मद्रास में विरोधी दलों अथवा सयुक्त मोर्चे के नेता को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। *मद्रास में द्रविड मुनेत्र कषगम की एक दलीय सरकार बनी।* हरियाणा, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में क्रमश 24 मार्च, 3 अप्रैल और 30 जुलाई, 1967 को काग्रेस से दल बदलने के कारण काग्रेस सरकार के स्थान पर मिली-जुली सरकारें बनाई गईं। फिर भी राजस्थान के राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्द का कार्य काफी विवादास्पद और जनता में अप्रिय रहा जिसमें उन्होंने काग्रेस सरकार को बचाने और विरोधी दलों की सरकार को न बनने देने के लिये राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की थी। यहा तक कि विरोधियों ने राष्ट्रपति के सामने अपना बहुमत बताने के लिये प्रदर्शन भी किया था। कुछ समय के लिये राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया और 26 अप्रैल, 1967 को श्री सुखाडिया के नेतृत्व में काग्रेस सरकार बनाने पर इसे समाप्त कर दिया गया।

उत्तरप्रदेश में श्री चद्रभानु गुप्ता के नेतृत्व में काग्रेस सरकार बनाई गई जिसका 18 दिन बाद ही राज्यपाल के भाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव पर पतन हो गया और 3 अप्रैल, 1967 को श्री चरणसिंह के नेतृत्व में सविद की मिली-जुली सरकार बनाई गई। उस समय यह निश्चित नहीं हो पाया था कि एक अपदस्थ मुख्यमत्री पुनर्निर्वाचन की सलाह दे सकता है कि नहीं। लेकिन राज्यपाल के द्वारा सविद के नेता तो आमंत्रित करने का औचित्य स्पष्ट हो गया था, क्योंकि उसे विधानसभा का समर्थन प्राप्त था। अत में सविद की आतरिक फूट के कारण 17 फरवरी, 1968 को मुख्यमत्री ने अपना त्यागपत्र दे दिया और राज्यपाल को इस आधार पर पुनर्निर्वाचन की सलाह दी कि सविद नया नेता चुनने में असमर्थ है। प्रारम्भ में राज्यपाल ने वैकल्पिक सरकार बनने की उम्मीद पर यह सलाह अस्वीकृत कर दी। लेकिन सविद के पतन और किसी अन्य दल द्वारा सरकार न बना सकने के कारण स्थायी सरकार बनने तक 25 फरवरी, 1968 को राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी गई किन्तु विधानसभा भग नहीं की गई। राज्यपाल ने अपदस्थ मुख्यमत्री की विधानसभा भग करने की सलाह न मानने का कारण बताया। उनके विचार में उस समय ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी। विधानसभा को उचित मौका देने पर राजनैतिक स्थिति में कुछ सुधार हो तो

नई सरकार बनने की सम्भावना अधिक रहती है।

मध्यप्रदेश में श्री द्वारका प्रसाद मिश्र की सरकार उस समय अल्पमत हो गई जब शिक्षा विभाग की वित्तीय मागों की बहस पर विधानसभा में 35 काग्रेसियों ने दलबदल कर लिया। मुख्यमत्री की सलाह पर राज्यपाल ने तुरन्त विधानसभा स्थगित कर दी। बाद में श्री मिश्र ने विधानसभा भग करने और राज्य में दुबारा निर्वाचन करवाने पर जोर दिया। भारत की प्रधानमत्री और गृहमत्री ने भी राज्यपाल को विधानसभा भग करने की सलाह देने के मुख्यमत्री के सवैधानिक अधिकार का समर्थन किया। ग्वालियर की राजमाता ने सवाददाताओं को 22 जुलाई, 1967 को बताया कि राष्ट्रपति ने भी मध्यप्रदेश के नेताओं से मुख्यमत्री द्वारा राज्यपाल को दुबारा निर्वाचन करवाने की सलाह देने के सवैधानिक अधिकार का समर्थन किया है। सविद ने भी काग्रेस के पुनर्निर्वाचन की चुनौती स्वीकार कर ली लेकिन काग्रेस अध्यक्ष श्री कामराज के हस्तक्षेप करने पर श्री मिश्र ने पुनर्निर्वाचन की सलाह नहीं दी और अपना त्यागपत्र दे दिया। वास्तव में उस समय काग्रेस ने चतुराई से काम लिया क्योंकि पुनर्निर्वाचन में मध्यप्रदेश में उसे अपनी स्थिति अधिक मजबूत दिखाई नहीं दे रही थी। 30 जुलाई, 1967 को राज्यपाल के आमंत्रित करने पर श्री गोविन्द नारायण सिह ने नई सरकार बनाई। यद्यपि यह सरकार भी स्थायी नहीं रही और दो वर्ष से पूर्व ही सविद के विघटन के बाद और एक बार पुन दलबदल के कारण अप्रैल 1969 में काग्रेस को श्री शुक्ल के नेतृत्व में सरकार बनाने का अवसर मिला।

हरियाणा में 3 मार्च, 1967 को श्री भगवत दयाल शर्मा के नेतृत्व में काग्रेस सरकार का निर्माण हुआ। 22 मार्च, 1967 को काग्रेस के कुछ विधायकों द्वारा दल बदलने के कारण श्री शर्मा को त्यागपत्र देना पडा। उसी दिन राव वीरेन्द्रसिह को हरियाणा सयुक्त दल का नेता चुना गया। राज्यपाल ने राव वीरेन्द्रसिह को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। उसके बाद लोभी विधायकों की दल छोडने की धमकी देने पर कई बार मंत्रिमण्डल का विस्तार किया गया। अत में सविधान की धारा 356 के अनुसार राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर 21 नवम्बर, 1967 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। तेजी से दलबदल की घटनाओं से और राज्यपाल की रिपोर्ट से इसमें कोई सदेह नहीं था कि राज्य में सवैधानिक तत्र असफल हो रहा था। राज्यपाल ने रिपोर्ट में बताया था कि विधायकों द्वारा लगातार दल परिवर्तन सविधान और प्रजातत्र का उपहास है और पुनर्निर्वाचन के अतिरिक्त वैकल्पिक स्थायी सरकार बनाने का अन्य कोई रास्ता नहीं है।

हरियाणा में यह बात उल्लेखनीय है कि 79 सदस्यों के सदन में 30 सदस्यों ने दल बदल किया और कुछ सदस्यों ने केवल एक ही बार नहीं, बल्कि तीन या चार बार भी दलबदल किया।

पजाब में निर्वाचन के बाद सयुक्त मोर्चा दल ने विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने के कारण श्री गुरुनामसिह के नेतृत्व में सरकार बनाई। 17 विधायकों द्वारा दल परिवर्तन

के कारण 22 नवम्बर, 1967 को सयुक्त मोर्चे की सरकार ने त्यागपत्र दे दिया लेकिन राज्यपाल ने मुख्यमत्री को नई सरकार बनाने तक कार्य करते रहने की सलाह दी। मुख्यमत्री द्वारा राज्य में पुनर्निर्वाचन करवाने की सलाह देने पर राज्यपाल ने कहा—"अभी इसकी आवश्यकता नहीं है, यदि कोई अन्य व्यवस्था हो सके तो वह अधिक उचित है—मुख्यमत्री की विधानसभा भग कराने और दुबारा निर्वाचन कराने की सलाह को हम केवल अंतिम उपाय के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।"



पजाब में चतुर्थ निर्वाचन के बाद 104 सदस्यीय सदन में सयुक्त मोर्चे के 44 सदस्य थे लेकिन उसकी सरकार न बनने के कारण राज्यपाल ने कांग्रेस दल के नेता को आमंत्रित किया जिसके 43 सदस्य थे। लेकिन कांग्रेस ने भी अपनी असमर्थता बताई। तब राज्यपाल ने पजाब जनता पार्टी के नेता श्री लक्ष्मणसिंह गिल को आमंत्रित किया जिन्होंने 25 नवम्बर 1967 को मुख्यमत्री पद की शपथ ग्रहण की। राज्यपाल ने बताया कि सरकार और जनता के लिये भी हर समय पुनर्निर्वाचन करवाना उचित नहीं है। जब तक सरकार बनने की सम्भावना रहेगी, तब तक हम प्रयत्न करेंगे।

*विभिन्न राज्यों की घटनाओं से स्पष्ट है कि राज्यपाल को भिन्न समयों में भिन्न प्रकार के निर्णय लेने पड़े।* हरियाणा में राज्यपाल को दलबदल पर नियत्रण लगाने के लिये राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करनी पड़ी और पजाब व पश्चिम बगाल में दलबदल ही सत्तारूढ थे। हरियाणा, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में दलबदल के कारण कांग्रेस सरकार का पतन हुआ और राज्यपाल ने बहुमत दल के नेताओं को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। जहा एक ओर मध्यप्रदेश में अपदस्थ मुख्यमत्री को विधानसभा भग करने की सलाह देने का समर्थन दिया गया वहा दूसरी ओर पजाब में इसे उचित नहीं माना गया। एक राज्य में दल परिवर्तन करनेवाले कुछ विधायकों से मिलने पर ही राज्यपाल ने मान लिया कि सरकार का बहुमत समाप्त हो गया है तो दूसरे राज्य में राज्यपाल का विचार था कि इसका निर्णय विधानसभा में ही हो सकता है। यहा तक कि कहीं-कहीं राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति शासन की सिफारिश के पीछे राजनैतिक कारण भी थे। इन विभिन्न प्रकार की कार्यवाहियों से स्पष्ट है कि राज्यपाल के कार्य संविधान को ही नहीं बल्कि राजनीति को भी ध्यान में रखते हुए थे। विरोधियों की इस आलोचना में भी कुछ तथ्य है कि राज्यपाल ने केंद्रीय सरकार के निर्देशन के अनुसार ही कार्य किया है। लेकिन हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि राजनैतिक तनाव और अस्थिरता होने पर राज्यपाल असहाय, निष्क्रिय या चुपचाप नहीं बैठ सकता है, क्योंकि संविधान ने उसे भी कुछ दायित्व सौंपे हैं। राज्यपाल को केवल केंद्रीय सरकार के अभिकर्ता के रूप में ही कार्य नहीं करना चाहिये।

*वास्तव में मिली-जुली सरकारों का परीक्षण भारत में अधिक सफल नहीं हो पाया है क्योंकि इसमें हमेशा आतरिक सघर्ष की सभावना रहती है जिससे शासन में स्थायित्व की स्थापना नहीं हो सकती है।* सयुक्त दलों की सरकार में विभिन्न विचारधारा एव सिद्धान्तों

के दल मिले रहते हैं जिनमें हमेशा परस्पर विरोधाभास बना रहता है। इससे दलबदल को भी प्रोत्साहन मिलता है। सत्ता के लालच में विधायक एक दल से दूसरे दल में जाकर अपनी प्रतिष्ठा की हानि करते है और सरकार को पलटने का षड्यत्र करते हैं। इन परिस्थितियों में सरकार भी संविधान के सरक्षण के दायित्व को पूरा करने में असमर्थ रहती है। राज्यपाल केवल राज्य सरकार का अग ही नहीं है बल्कि उसका दायित्व है कि वह जनता द्वारा चुनी गई सरकार से सुचारु रूप से कार्य करवा सके। जब जनता के प्रतिनिधि अपने कार्यों में असफल होने लगते हैं तब यह राज्यपाल का सवैधानिक दायित्व है कि सवैधानिक सकट को खत्म करने के लिये आवश्यक कदम उठाये भले ही उसे सरकार को परिवर्तित अथवा भग ही क्यों न करना पडे।

## टिप्पणिया

1 K Santhanam— Governor s Role Under Constitution" '*Hindu*' (November 26 1967)
2 P Kodana Rao— Powers of the Governor' *Assam Tribune*' (March 4, 1968)
3 Sri Prakash— Governors and their Role,' *Amrit Bazar Patrika*' (April 30 1967)
4 Salmond—'Jurisprudence' (10th edition), p 141
5 1955 SCR 577 at page 587, 'AIR' 1955 SC 549 at p 556
6 H M Jain—'Governors in the changed Political Set-up.' '*Mainstream*' (2 December, 1967)
7 Article 130—'The Draft Constitution of India' (New Delhi, Government of India Press, 1948)
8 एम वी पायली–'भारतीय संविधान' (1967), पृष्ठ 262
9 Constituent Assembly Debates' (Vol VIII), p 536
10 *Ibid*, p 537
11 *Ibid* p 541
12 *Ibid*, p 546
13 The Draft Constitution of India' (New Delhi, Government of India Press 1948) p 63
14 'Constituent Assembly Debates' (Vol VIII), p 500
15 *The Times of India* Directory & Year Book, 1968, The Times of India Press Bombay
16 A Appadorai— President, Governor and Chief Minister', '*Indian Express*' (25 December, 1967)
17 लक्ष्मणप्रसाद चौधरी–'लोकतत्र समीक्षा (अप्रैल-जून 1969 सवैधानिक तथा ससदीय अध्ययन सस्थान, नई दिल्ली)।
18 Ravindra Nath Misra—'Governor and Dissolution of a Legislative Assembly', *Supreme Court Journal*, (Nov 1967)
19 K L Kamal –'Politics in Rajasthan' 'State Politics in India,' Iqbal Narain (ed) Meerut 1967 p 263
20 मुख्य काश्यप- दलबदल और राज्यों की राजनीति' (1970), पृष्ठ 93
वही पृष्ठ 94

22 सम्पादकीय हिन्दुस्तान (7 मार्च 1967 नई दिल्ली सस्करण)

23 हिन्दुस्तान (7 मार्च, 1967 नई दिल्ली)

24 सुभाष काश्यप— दलबदल और राज्यों की राजनीति (1970) पृष्ठ 95

25 श्री अटलबिहारी वाजपेयी—अविश्वास प्रस्ताव पर ससद में भाषण 29-3-67 हिन्दुस्तान' (22-3 67 नई दिल्ली)।

26 श्री लोकनाथ मिश्र—वही।

27 श्री सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी—वही।

28 श्री पी रामामूर्ति—वही।

29 श्री डागे—वही।

30 श्री भूपेश गुप्ता—अविश्वास प्रस्ताव पर ससद में भाषण, 20 3-67 हिन्दुस्तान (22 3 67 नई दिल्ली)।

31 श्री नाथ पै— हिन्दुस्तान (7-3 67, नई दिल्ली)।

32 *श्री अटलबिहारी वाजपेयी—लोकसभा में भाषण 18-3 67 हिन्दुस्तान (20-3-67 नई दिल्ली)।*

33 श्री सप्रू—राज्यसभा में भाषण 23-3 67, 'हिन्दुस्तान (24-3-67, नई दिल्ली)।

34 R Pandey— Governor's Role in changing political set up ' *Search light* (7 May 1967)

35 सुभाष काश्यप— दलबदल और राज्यों की राजनीति' (1970), पृष्ठ 98

36 Chetakar Jha— Caste in Bihar Congress Politics ' 'State Politics in India Iqbal *Narain (ed ) (Meerut 1967 p 575)*

37 Goutam Dutt— The Governor and Coalition Governments Religion and Society' (June 1968)

38 सुभाष काश्यप— दलबदल और राज्यों की राजनीति (1960, 722

39 Aswani K Ray— Political Trends in West Bengal State Politics in India Iqbal *Narain (Meerut 1967) p 293*

40 Mohan S Kumaramangalam— Governor s Power to dismiss a Ministry *'Economic and Political Weekly (January 1968)*

41 Sarjoo Prasad— Dismissal of Ministers Governor s powers and discretion *National Herald* (3 Dec 1967)

42 सुभाष काश्यप— दलबदल और राज्यों की राजनीति (1970) पृष्ठ 362

43 Chamanlal Bhikshu— The Unhappy Governors *Organiser* (19 May 1968)

44 *P Chaterji— The Speaker and the Governors Mankind (January February* 1968)

45 सदन में गृहमंत्री का वक्तव्य हितवाद' (भोपाल, दिनाक 16-2-1968)

46 A L Mudaliar— Searchligh on Council Debates (Madras 1960) p 157

47 Prof J P Suda— *The Indian Journal of Political Science'* (January March *1968) p 62*

48 B R Purohit— Madhya Pradesh Politics 'State Politics in India', Iqbal Narain (Meerut 1967) p 181

49 सदर्भ, 1982 मध्यप्रदेश' लाभचद प्रकाशन 1982, पृष्ठ 222 223

50 गृहमत्री श्री चव्हाण—राज्यसभा में वक्तव्य 24 7-1967 — हिन्दुस्तान' (26-7-1967)

51 श्री राजनारायण—वही।

52 श्री कौल—वही।

53 साप्ताहिक दिनमान (30 जुलाई, 1967) पृष्ठ 11

54 वही।

55 'हिन्दुस्तान' (नई दिल्ली, 26-7-1968)
56 'साप्ताहिक दिनमान' (30 जुलाई 1967), पृष्ठ 11
57 'स्टेट्समेन' (दिल्ली, 22 जुलाई, 1967)—

विधायकों द्वारा दल परिवर्तन को उचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसके फलस्वरूप मंत्रिमण्डल, जो कि अल्पमत में आ जाता है अपना अस्तित्व बनाये रखने का अधिकार रखता हो। प्रत्येक सरकार जिसे बहुमत के समर्थन की समस्या है विधानसभा में मुकाबला कर तथा पराजित होने पर उसे त्यागपत्र दे देना चाहिये। परन्तु विधानसभा का सत्रावसान करवाकर वह अपने आपको बचा नहीं सकती, जैसा कि भोपाल में हुआ। राज्यपाल श्री के.सी. रेड्डी ने वैसी ही बुद्धिहीनता से काम लिया जैसा राजस्थान में डॉ. सम्पूर्णानन्द ने किया था। लेकिन लोकसभा में श्री चव्हाण का यह कथन कि भोपाल में हुई शरारत से केंद्र अवगत नहीं है, मामला और भी बिगाड़ता है। मध्यप्रदेश के राज्यपाल ने प्रजातन्त्र के नाम पर जो बट्टा लगा दिया है, उसे केंद्र के प्रयत्न और मुख्यमंत्री श्री मिश्र पुन: जन-अदालत में जाकर भी नहीं मिटा सकते।

'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया' (नई दिल्ली, 22 जुलाई, 1967), सम्पादकीय—

"मध्यप्रदेश कांग्रेस से टूटे हुए विधायकों को मुख्यमंत्री द्वारा वापस लाने का मौका देने के लिये, राज्यपाल ने सत्रावसान कर मंत्रिमण्डल को बचाने का छद्म प्रयास किया है।"

दि इण्डियन एक्सप्रेस (दिल्ली, 22 जुलाई, 1967), सम्पादकीय—

"राज्यपाल श्री के.सी. रेड्डी ने मध्यप्रदेश विधानसभा का सत्रावसान करके बुद्धिमानी की है और संविधान के अनुरूप कार्य किया है, यह एक प्रतिनिधि है। उन्होंने श्री मिश्र की सरकार को उखड़ने से बचाने के लिये ऐसा किया है। यह कहना असत्य होगा कि श्री रेड्डी ने एक और सरकार को कांग्रेस के हाथ से निकलने देने के लिए केंद्र की सलाह से ऐसा किया है। एक राज्य के संवैधानिक प्रमुख को विभिन्न राजनैतिक दलों के बीच सिर्फ निर्णय ही नहीं होना चाहिये, बल्कि निष्पक्षता करके भी दिखनी चाहिये।"

'नवभारत टाइम्स' (बम्बई, 22-7-1967)—

राज्यपाल ने विधानसभा स्थगित करके कांग्रेस मंत्रिमण्डल को डिलहाल बचा लिया, परन्तु स्वस्थ प्रजातन्त्रीय परम्परा का तकाजा यह था कि राज्यपाल विरोधी पक्ष को शक्ति-परीक्षण का अवसर देते और जिसे बहुमत मिलता, उस मंत्रिमण्डल बनाने का अवसर प्रदान करते।"

'फ्री प्रेस जर्नल' (बम्बई, 22-7-1967)—

ऐसा लगता है कि मध्यप्रदेश के राज्यपाल श्री के.सी. रेड्डी ने विधानसभा का सत्रावसान करके कांग्रेस दल को बुरे दिन देखने से बचा लिया है। राज्यपाल का यह दायित्व था कि वह देखते कि मध्यप्रदेश में कांग्रेस की सरकार समाप्त होने पर दूसरी सरकार बनना सम्भव है कि नहीं।"

58 यह साक्षात्कार 30 दिसम्बर, 1969 को राजभवन, भोपाल में श्री रेड्डी से किया गया था। अनुसंधान का आधार विश्वसनीय तथ्य है। आधुनिक अनुसंधान में साक्षात्कार तथ्य सामग्री को संकलित करने की एक महत्वपूर्ण प्रविधि है। व्यावहारिकवादी शोध की इस महत्वपूर्ण विधि के अन्तर्गत अनुसंधानकर्ता सूचनादाता से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करके महत्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त करता है। यह सूचनाएं अधिक ठोस और वास्तविक होती हैं। इस प्रकार के तथ्य-संकलन से अध्ययन में गहनता और प्रामाणिकता की वृद्धि होती है।

59 लक्ष्मण प्रसाद चौधरी—'लोकतन्त्र समीक्षा' (अप्रैल-जून 1969, संवैधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली)।

60 Dalip Singh—'*The Indian Journal of Political Science*' (January-March 1968)

61 *Tribune*' (23 11 1967)

# 8

# भारत में जिला प्रशासन

भारत जैसे विशाल देश में जहा राजकीय इकाईया यूरोप में अनेक सार्वभौम राष्ट्रीय राज्यों से भी क्षेत्रफल में बडी हैं, जिला प्रशासन जैसी क्षेत्रीय इकाइयों का अपना महत्व है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारत में "जिला व्यवस्था" मध्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था का आधार थी और लगभग तीन शताब्दी तक फैले अंग्रेजी प्रभाव एव शासन के युग में भी इस व्यवस्था ने प्रशासनिक क्षमता एव राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति की दृष्टियों से महत्वपूर्ण उपलब्धिया अर्जित की हैं। अंग्रेजी युग में यह व्यवस्था कितने ही प्रयोगों एव नीति विषयक उतार-चढावों से गुजरी है और स्वतत्रता के इतने वर्षों के बाद भी आज यह धारणा प्रशासन के सभी स्तरों पर समान रूप से पाई जाती है कि भारतीय प्रशासन का यह मेरुदण्ड अभी काफी लम्बे समय तक आधारभूत प्रशासन के रूप में चलता रहना चाहिए।

लोक प्रशासन की दृष्टि से भारत का जिला प्रशासन एक दुहरी इकाई है। राज्य सरकार की राजधानी से नीचे का क्षेत्रीय प्रशासन होने के नाते जिला प्रशासन सरकार की समग्रता का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी ओर जिला ही वह छोटी इकाई है, जो युगों से भारत में स्थानीय स्वराज्य का प्रारूप प्रस्तुत करता रहा है। इस प्रकार सामाजिक एव राजनीतिक जीवन के दो महत्वपूर्ण कार्य, 'सुरक्षा' एव 'विकास' जिला प्रशासन की परिधि में आ जाते हैं। प्रशासनिक स्वतत्रता एव कार्यकुशलता के लिए इसे जनसख्या एव भूगोल की दृष्टि से भी उपयुक्त एव पर्याप्त इकाई माना जाता है। राज्य एव केन्द्रीय सरकार से मिलने वाले नीति-निर्देशों को जिला प्रशासन कार्यान्वित करता है, किन्तु दूसरी ओर राज्य स्तरीय नीतियों के निर्माता विधायक और यहा तक कि सासद भी राजनीतिक दृष्टि से अपना आधार एव प्रभाव जिला स्तर से ही ग्रहण करते हैं। पचायती राज के प्रादुर्भाव ने इस स्तर को सशक्त किया है और जनप्रतिनिधियों की राजनीति के कारण जिला प्रशासन की नौकरशाही लोकतान्त्रीकृत हुई है। नीति निर्माण एव नीति के क्रियान्वयन में जिला प्रशासन की निर्णायक भूमिका जिला प्रशासन के लिए नये एव बदलते स्वरूपों की माग प्रस्तुत कर रही है। चुनौती यह है कि राष्ट्रीय राजनीतिक एव विकासशील अर्थतन्त्र के सदर्भ में आगे बढती हुई सामाजिक व्यवस्था के साथ प्रशासन की इस आधारभूत इकाई का ताल-मेल कैसे

बैटाया जाए? जिला शब्द, व्युत्पत्ति के अनुसार एक फ्रांसीसी शब्द 'डिस्ट्रिक्ट' से लिया गया है। यह शब्द स्वय ही मध्यकालीन लेटिन शब्द डिस्ट्रक्ट' से निकला है। इसका शाब्दिक अर्थ है न्यायिक प्रशासन के उद्देश्य से बनाया गया क्षेत्र। शब्द-कोश में जिले का अर्थ किसी भी उद्देश्य विशेष के लिये किये गये प्रादेशिक विभाजन के रूप में परिभाषित किया गया है। एक समय था जब कि ग्रेट ब्रिटेन में सामन्तों के क्षेत्राधिकार के अधीन प्रदेश को जिले के नाम से पुकारा जाता था। इसका अग्रेजी रूपान्तर सर्वप्रथम सन् 1776 में कलकत्ता जिले के दीवान के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया था। सन् 1894 में सर जार्ज चेस्नी ने लिखा था कि फ्रान्स के डिपार्टमेन्ट की भाँति जिला एक प्रशासनिक इकाई होता है। डॉ के एन वी शास्त्री के अनुसार अग्रेजों ने यह सिद्धान्त फ्रान्सिसी प्रीफेक्ट व्यवस्था से ग्रहण किया तथा इसे ब्रिटिश भारतीय जिला प्रशासन पर लागू किया। यहा अपेक्षित प्रश्न यह है कि प्रशासन शब्द से तात्पर्य क्या हैं। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने इसका अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि 'प्रशासन सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध को कहा जाता है।'' इसी आधार पर जिला प्रशासन को परिभाषित करते हुए एस एम खेरा' लिखते हैं कि ''जिला प्रशासन निर्धारित प्रदेश में सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध को कहते हैं।'' ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने भी जिले को विशेष प्रशासनिक उद्देश्यों के लिये निर्धारित प्रदेश के रूप में परिभाषित किया है। दूसरे शब्दों में यह स्वीकार किया जा सकता है कि जिला प्रशासन से तात्पर्य एक निर्धारित प्रदेश में किये गये सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध से है। शासन की सुविधा की दृष्टि से हम राज्य को विभिन्न छोटी इकाइयों में बाट देते हैं। ऐसी ही सुविधा के लिए एक छोटी इकाई है–जिला। यह इकाई कुछ निश्चित उद्देश्यों के लिए हुए निश्चित क्षेत्र में सीमित है। 'जिला प्रशासन' जिले में सरकार के पूरे कार्य करता है। यहा सरकार के लगभग सभी अभिकरण, व्यक्तिगत अधिकारी एव कार्यकर्ता सरकारी कर्मचारी आदि शामिल होते हैं। जिले में सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध से सम्बन्धित सभी सस्थाए जैसे विभिन्न प्रकार की पचायतें, ग्रामसभायें, न्याय पचायतें, पचायत समितिया, नगर-पालिकाए, स्थानीय बोर्ड आदि होते हैं।[2] इस प्रकार जिला प्रशासन जिले में सरकार के समस्त कार्यों का एक सामूहिक स्वरूप है तथा सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध का जटिल सगठन है। जिला प्रशासन में गैर-सरकारी व्यक्तियों को शामिल नहीं किया जाता। जब एक सरकारी कर्मचारी व्यक्तिगत रूप से कोई कार्य करता है तो वह प्रशासन का भाग नहीं होता। जिला प्रशासन में ससद अथवा विधानसभा के सदस्यों को भी शामिल नहीं किया जाता, जब तक कि उनके योगदान की विशेष व्यवस्था न की जाए। इसी सन्दर्भ में जिला प्रशासन से सम्बन्धित एक समस्या यह उठती है कि व्यक्ति किस प्रकार यह निर्धारित करे कि कौन-सा भाग प्रशासन का अग है तथा कौन-सा नहीं, क्योंकि कई बार एक सन्दर्भ में एक प्रशासक का कार्य प्रशासन के क्षेत्र में आता है, किन्तु किसी अन्य सन्दर्भ में वह प्रशासन के क्षेत्र से बाहर रह जाता है। फिर भी समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि जिला वास्तव में वह व्यवस्था प्रस्तुत करता है जिसके माध्यम से

व्यक्ति एव सरकार के मध्य सम्बन्ध स्थापित हो सकते है। सक्षेप में जिला प्रशासन शासन का एक वह प्रकार है जो लोक प्रशासन के एक भाग के रूप में जिले के निश्चित क्षेत्र में अपना कार्य करता है।

क्षेत्रीय प्रशासन के सन्दर्भ में जिला प्रशासन न केवल एक महत्वपूर्ण इकाई है, साथ ही वह एक सुविधाजनक भौगोलिक इकाई भी है। महत्वपूर्ण तथा सुविधाजनक होने के नाते इस इकाई के अस्तित्व में समय की निरन्तरता देखी जा सकती है। इतिहास के पृष्ठ पलटने पर यह स्पष्ट होता है कि भारत में इस इकाई का अस्तित्व अति प्राचीन काल से रहा है। जिला प्रशासन का समर्थन मनुस्मृति जैसे अनेक ग्रन्थों में मिलता है। मनु ने प्रशासन की सामान्य प्रणाली का वर्णन करते समय अपना वर्णन गाव से शुरू किया है। प्रत्येक गाव का अपना एक अध्यक्ष होता था। हर सौ गावों को मिला कर उनका दायित्व एक सरकारी अधिकारी को सौंप दिया जाता था। सौ गावों का यही चित्र अपना महत्व रखता है। यह व्यवस्था आज की व्यवस्था से अधिक भिन्न नहीं जान पड़ती। जिले में गावों का नम्बर लगभग बराबर है। भारत के गाव आज लगभग 445 जिलों में बटे हैं और एक जिले से लगभग 1500 गाव आते हैं। प्राचीन भारत में जहा जिले में 100 गाव होते थे, वह स्थिति आज भी कुछ-कुछ मिलती-जुलती प्रतीत होती है।

अकबर के समय में भी जिलों की लगभग यही सीमा रही। इस काल में जिले को सरकार कहा जाता था तथा इसके प्रशासक का नाम मनसबदार था। उसके पास नागरिक तथा सैनिक दोनों प्रकार की शक्तिया होती थीं। यह सूबेदार के प्रति उत्तरदाई होता था। परगना उस समय उप-जिले के समकक्ष आता था।

ब्रिटिश काल में भी यह प्रणाली सामान्य रूप से देखी जा सकती है। प्रारम्भ में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में व्यापार करती थी तो उसके व्यापार का जो एक निश्चित क्षेत्र होता था उसे उसने डिस्ट्रिक्ट कहना शुरू कर दिया। कुछ समय बाद जब उसके हाथों में अन्य अधिकार भी आये तो उसने इसी आधार पर कार्यक्षेत्र बाटे। चूंकि सेना हर स्थान पर नहीं हो सकती थी अत जिलाधीश को ही कानून एव व्यवस्था का जिम्मेदार बना दिया गया। बाद में जब ब्रिटिश सरकार ने भारत पर सीधा प्रशासन करना आरम्भ कर दिया तब भी यह इकाई बनी रही तथा कलेक्टर इस इकाई के एक महत्वपूर्ण कार्यकर्ता के रूप में दायित्व पूर्ति करता रहा। सन् 1772 में वारेन हेस्टिंग्स ने राजस्व कानून और व्यवस्था को मिला कर कलेक्टर के पद को सशक्त रूप में प्रस्तुत किया। सन् 1781 में इस पद को और अधिक मजबूत किया गया। फौजदार का पद समाप्त कर उसके कार्य भी कलेक्टर को सौंप दिये गये। सन् 1782 में जान शोरे ने राजस्व, न्याय तथा पुलिस तीनों को मिला दिया किन्तु सन् 1793 में कार्नवालिस ने राजस्व तथा न्याय को पुन अलग-अलग कर दिया। इससे कलेक्टर की स्थिति निर्बल हुई। सन् 1812 में होल्ट मेकेन्जी ने न्याय तथा प्रशासन को मिला कर पुन इस पद को शक्तिशाली बना दिया। सन् 1833 में विलियम

बैंटिंग ने इस पद को और अधिक सुदृढ बनाने के प्रयास किये। सन् 1858 से 1919 तक के समय में जिला स्तर पर कितने ही कार्य बढे जिससे कलेक्टर का कार्यक्षेत्र स्वत ही बढता गया। सन् 1919 से 1947 तक के स्वतन्त्रता सग्राम के दौरान भी कलेक्टर की स्थिति उत्तरोत्तर सशक्त बनती गई। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कलेक्टर को ब्रिटिश राज के आधारभूत तत्व के रूप में स्वीकारा तो 1944 में रालेट्स कमेटी ने कलेक्टर के पद को अधिक शक्तिशाली एव प्रतिष्ठावान बनाने की सिफारिश की। सक्षेप में ब्रिटिश काल में जिला प्रशासन को शासन की एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार करते हुए शासन दिया गया।

स्वतन्त्रता के बाद भी भारत में जिला ही क्षेत्रीय प्रशासन की मुख्य इकाई बना रहा है। जहा तक भारतीय सविधान का प्रश्न है, उसमें कहीं भी जिले को प्रशासनिक इकाई बनाने का उल्लेख नहीं है। धारा 233 में न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रसग में जिला शब्द का प्रयोग अवश्य किया गया है, किन्तु इसके अतिरिक्त कहीं भी इसका नामोल्लेख तक नहीं है। इसलिए जिले में सरकार के सभी कार्यों का सकेत अन्य कानूनी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत दिया गया है। इस स्थिति के अन्तर्गत भी जिला भारत में क्षेत्रीय प्रशासन के अन्तर्गत महत्वपूर्ण तथा सुविधाजनक इकाई बना हुआ है जिस पर कि भारत में लोक प्रशासन का ढाचा केन्द्रीभूत किया जा सकता है। स्वतन्त्रता के बाद जिला प्रशासन के लक्ष्यों, कार्यों तथा दायित्वों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। इससे उसका कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत तथा स्थिति अधिक मजबूत हुई है। राजू कमेटी' की रिपोर्ट में भी यह स्वीकार किया गया है कि जिला-स्तर पर प्रशासन के पुराने तौर तरीकों में पिछले दो दशकों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। ये परिवर्तन न केवल तौर-तरीकों में बल्कि इसके कार्य क्षेत्र तथा लक्ष्यों में भी देखे जा सकते हैं। विकास के विभिन्न चरणों में जहां ब्रिटिश काल में इसका लक्ष्य यथास्थिति बनाये रखना तथा नियन्त्रण एव सतुलन को प्राप्त करते हुए राष्ट्रीयता की बाढ को रोकना था, वहा स्वतन्त्रता के बाद जिला प्रशासन को अनेक विकास कार्य तथा कल्याणकारी कार्य सौंपे गये हैं और इसे जन सामान्य के प्रति उत्तरदाई बनाने की दिशा में उपक्रम हुआ है। यथास्थिति के स्थान पर परिवर्तन को महत्ता दी गई है। न्यायिक कार्यों को पृथक् करने का प्रयास किया गया है। स्वतन्त्रता के बाद जिला प्रशासन पर चूंकि अनेक नवीन दायित्व आ गये हैं अत कलेक्टर के पद को और अधिक सशक्त बनाया जा रहा है। दूसरी ओर वर्तमान में यह प्रश्न भी उठने लगा है कि क्या कलेक्टर के पद को समाप्त किया जा सकता है।[4] ब्रिटिश राज्य की समाप्ति के तुरन्त बाद जहा कलेक्टर को अनेक विकास कार्यों का दायित्व सौंपा गया था, वहा अब यह कहा जाने लगा है कि कलेक्टर से विकास कार्य ले लिया जाना उपयुक्त रहेगा। स्वतन्त्रता के बाद के काल में जिला प्रशासन के विकास के सन्दर्भ में पचायती राज की व्यवस्था भी एक महत्वपूर्ण परिशिष्ट कही जा सकती है। सक्षेप में यह स्वीकारा जा सकता है कि जिला व्यवस्था न

केवल अतीत में ही महत्वपूर्ण अस्तित्व बनाये रखती थी वरन् वर्तमान में भी विभिन्न परिवर्तनों के परिवेश में उसका अपना स्वरूप है जो दिनों-दिन नया होता जा रहा है। जिले के कुशल प्रशासन तथा सामान्य जन से सीधे सम्पर्क के लिए जिले के विभिन्न स्तरों का महत्वपूर्ण स्थान है। जिला प्रशासन का सम्पूर्ण ढांचा एक पदसोपानयुक्त व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। *सामान्यत इसके स्तर तीन तथा कभी-कभी दो या चार भी होते* हैं। वैसे अधिकांश राज्यों में जिले के तीन स्तर मिलते हैं। प्रथम, जिला इसका मुख्यालय जिले के प्रमुख नगर में होता है। दूसरे, जिले के किसी अन्य स्थान पर उपखण्ड का मुख्यालय और तीसरे, तहसील कार्यालय हैं। ये तीनों स्तर जिले में सामान्य प्रशासन की दृष्टि से बनाये जाते हैं, किन्तु विकास कार्यों के लिये अधिकतर राज्यों में प्रशासन की इकाई *ब्लॉक हैं। सामान्यत ब्लॉक का क्षेत्र एक तहसील से कम होता है जिसमें लगभग सौ गाव* होते हैं। कुछ राज्य ऐसे भी हैं, जहा जिला प्रशासन में उप-खण्ड के स्तर से नीचे कोई स्तर नहीं होता जैसे बगाल और बिहार। सामान्य प्रशासन के लिये जिले की इकाईया समान न होकर भिन्न-भिन्न आकार प्रकार की हैं। इसी आधार पर जिले के छ प्रशासनिक क्षेत्र भी स्वीकार किये गये हैं,' जिसमें उपखण्ड, तहसील, गाव, नगरपालिका ब्लॉक तथा पचायत *आते हैं। फिर भी जिले में तीन स्तरों पर चलने वाला प्रशासन एक सामान्यता है।*

' जिला प्रशासन के तीनों चरण-स्तरों पर अधिकारी वर्ग भी उल्लेखनीय है। प्रथम स्तर का क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण जिला है तथा इसके अधिकारी है जिलाधीश, जिला कृषि अधिकारी, जिला परिषद् के अध्यक्ष, स्वास्थ्य अधिकारी इत्यादि। बड़े जिलों में मध्यवर्ती स्तर *भी दो पाये जाते हैं जब कि छोटे जिलों में यह स्तर एक ही होता है। इस स्तर पर* तहसील, पचायत समिति उपखण्ड आदि मिलते हैं। इस स्तर के प्रमुख अधिकारी तहसीलदार, विकास अधिकारी, प्रधान आदि उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक तहसील में एक छोटा खजाना या ट्रेजरी भी होती है जिसमें तहसील क्षेत्र के समस्त गावों का भू-राजस्व जमा होता है। तहसील क्षेत्र के सभी ग्रामों के रेकार्डस तहसील कार्यालय में ही रखे जाते हैं *तथा उन्हें ठीक रखने का उत्तरदायित्व भी तहसीलदार का ही होता है। तहसीलदार की* सहायता के लिए नायब तहसीलदार होता है। समस्त राजस्व कार्यों तथा सरकार द्वारा सौंपे गये अन्य सम्बन्धित कार्यों के लिए तहसीलदार कलेक्टर के माध्यम से राज्य सरकार के प्रति उत्तरदाई होता है। निम्न स्तर पर गाव में ग्राम पचायतें, मुखिया, पटवारी, ग्राम सहायक आदि आते हैं। ब्रिटिश काल में भी ग्राम प्रशासन को *एक स्थानीय इकाई समझा जाता था और* उसके मामलों को दूर से निर्देशित किया जाता था। ग्राम स्तर का सबसे अधिक शक्तिशाली अधिकारी लेखापाल है जो ग्राम की भूमि के विषय में सभी प्रकार के हिसाब आदि रखता है। उल्लेखनीय यह है कि ग्राम पचायतों के निर्माण के पश्चात् अनेक महत्वपूर्ण कार्य एव दायित्व इन पचायतों को सौंप दिये गये हैं। जिला प्रशासन की बनावट *के सम्बन्ध में प्रशासनिक सुधार आयोग* ने अपने महत्वपूर्ण विचार देते हुए वर्तमान व्यवस्था

के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त किया है। प्रशासनिक सुधार आयोग का कहना है कि इसमें कुछ ऐसे अनावश्यक स्तर हैं जो प्रशासन के सरल एवं सुचारू रूप से संचालन के लिए सदैव उपयोगी सिद्ध नहीं होते। आयोग के मतानुसार जिले में निर्णय लेने वाले स्तर केवल दो ही हो सकते हैं। निर्णय का निम्न स्तर तहसील में स्थित रह सकता है और उच्च स्तर जिले के मुख्यालय में बनाया जा सकता है जिले के निम्न स्तरों को प्रत्यायोजन करना उपयोगी है। अतः यदि जिले में निर्णय लेने वाले दो स्तर बना दिये जाएं तो राजकीय सत्ता का प्रत्यायोजन सम्भव हो सकेगा। आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि राज्य सरकारों को जिले से ताल्लुक रखने तक के कार्यों का विकेन्द्रीकरण करने के लिए आवश्यक कदम शीघ्रातिशीघ्र उठाने चाहिए। स्पष्ट है कि वर्तमान व्यवस्था का झुकाव केन्द्रीकरण की ओर है जिसका प्रशासकीय सुधार आयोग ने विरोध किया है तथा सत्ता के प्रत्यायोजन पर बल दिया है जो प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के सर्वथा अनुकूल एवं अनुरूप है।

जिला प्रशासन जिले के विभिन्न स्तरों पर सरकार के सारे कार्य करता है। अतः ऐसी स्थिति में सरकार के आधारभूत कार्य जैसे कानून और व्यवस्था, राजस्व प्रशासन तथा विकास कार्य आदि जिला प्रशासन के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

कानून और व्यवस्था सभी प्रकार के प्रशासनों का एक महत्वपूर्ण भाग है।[7] जिले के निश्चित क्षेत्र में कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए कलेक्टर उत्तरदाई होता है। इसके लिए वह दण्डनायक के रूप में कार्य करता है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए समस्त शक्ति एवं संगठन उसके निर्देशन तथा नियन्त्रण में कार्य करता है। पुलिस अधिनियम की धारा 4 उसे यह शक्ति सौंपती है। जिलाधीश अपने जिले का निरीक्षण भी करता है। जिले का दौरा करते समय वह कानून और व्यवस्था के सम्बन्ध में फौजदारी घटनाओं के बारे में तथा पुलिस के विभिन्न कार्यों के सम्बन्ध में पूछताछ भी करता है। जिलाधीश द्वारा वर्ष में एक बार जिले की फौजदारी रिपोर्ट भी तैयार की जाती है। जिलाधीश के अलावा कानून संहिताएं विभिन्न प्रकार के मजिस्ट्रेटों की भी व्यवस्था प्रदान करती है, जिन्हें प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेटों में वर्गीकृत किया गया है। न्यायिक अधिकारी जिला मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी के दण्डनायक होते हैं। इसके साथ ही जिले में कानून और व्यवस्था में सहायक न्यायपालिका की व्यवस्था भी होती है जिसकी विस्तृत व्याख्या संविधान में प्रस्तुत की गई है। न्यायपालिका की व्यवस्था पदसोपानयुक्त है। जिला इसका प्रारम्भिक स्तर है और इसके सर्वोच्च शिखर पर उच्चतम न्यायालय अवस्थित है। भारत के प्रत्येक राज्य में (पंजाब और हरियाणा को छोड़कर) उसका अपना उच्च न्यायालय है।

उच्च न्यायालय के अधीन जिला न्यायाधीश होता है और जिला न्यायाधीश के अधीन विभिन्न स्तरों के न्यायाधीश होते हैं। जिले की कानून और व्यवस्था से सम्बन्धित एक अन्य महत्वपूर्ण व्यवस्था पुलिस की होती है। भारत के प्रत्येक राज्य में एक सम्पूर्ण पदसोपानयुक्त पुलिस व्यवस्था मिलती है। इस व्यवस्था के सर्वोच्च शिखर पर पुलिस महानिदेशक

होता है। जिले की पुलिस शक्ति का अध्यक्ष पुलिस अधीक्षक होता है जिसके अधीन एक हजार के लगभग पुलिस कर्मी एवं अधिकारी होते हैं। पुलिस उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पुलिस अधीक्षक कलेक्टर का सहायक होता है। सहायक पुलिस अधीक्षक के कार्य भी उसके अपने क्षेत्र में लगभग उसी प्रकार के होते हैं जिस प्रकार के पुलिस अधीक्षक के जिला स्तर पर होते हैं। साधारण पुलिस शक्ति के अतिरिक्त जिले में सशस्त्र पुलिस की भी व्यवस्था होती है। संकट के समय, जैसे, साम्प्रदायिक दंगे सार्वजनिक शक्ति भंग होने की वारदातें इत्यादि के समय, जब साधारण पुलिस से कार्य नहीं चलता तो ऐसे अवसर पर सशस्त्र पुलिस को बुलाने की आवश्यकता पड़ती है। जिले की सशस्त्र पुलिस के अतिरिक्त सशस्त्री सेना के दस्ते भी जिलों पर नियुक्त किये जाते हैं। इन दस्तों का प्रयोग स्थानीय आवश्यकताओं के लिए नहीं किया जाता केवल पुलिस महानिदेशक के आदेशानुसार ही राज्य के किसी भी स्थान पर संकटकालीन स्थिति से निपटने के लिए ही इनका प्रयोग किया जा सकता है। जिले की एक अन्य व्यवस्था जो कि कानून और व्यवस्था बनाये रखने में सहायक है वह है जेल-व्यवस्था। प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय जेल होती है जहां कि तुलनात्मक दृष्टि से अधिक लम्बे समय के अपराधी व्यक्तियों को रखा जाता है। हर जिले में एक जिला जेल भी होती है जिसमें उन अपराधियों को रखा जाता है जिनके मुकदमों पर विचार या जांच की कार्यवाही चल रही हो। जेल पर सामान्यत जिला मजिस्ट्रेट का नियन्त्रण तथा उत्तरदायित्व होता है। यह एक मजिस्ट्रेट का कर्त्तव्य है कि वह समय पर जेल का निरीक्षण करे तथा यह देखे कि कार्य उचित तरीके से हो रहे हैं अथवा नहीं। इस प्रकार जिले में कानून और व्यवस्था की स्थापना विभिन्न संस्थाओं के पारस्परिक सहयोग एवं सामूहिक कार्य-कलापों के माध्यम से चलती है।

परम्परागत दृष्टि से जिले में राजस्व का प्रशासन सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इस कार्य में कलेक्टर की भूमिका केन्द्रीय है। प्रारम्भ से ही उसका प्रथम कार्य भू-राजस्व एकत्रित करना रहा है। भू-राजस्व की व्यवस्था मध्ययुग से ही सभी प्रकार के प्रशासनों के लिए चुनौतीपूर्ण व्यवस्था रही है। प्राचीन एवं मध्य युगों में स्थानीय नरेश कृषि उत्पादन का एक निश्चित भाग स्वयं ग्रहण किया करता था। इसके बदले में वह अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता था। इस काल में राजस्व प्रशासन की दो प्रमुख विशेषताएं थीं प्रथम, तो भू-राजस्व की मात्रा भूमि की वास्तविक उपज पर निर्भर करती थी और दूसरे राजा और किसान के बीच सीधा सम्बन्ध था।

मुगल काल में राजस्व का भुगतान नकद मुद्रा के रूप में लिया जाने लगा। यह प्रथा प्राचीन परम्परा से भिन्न थी। मुगलकाल में राजस्व के तीन प्रमुख आधार थे (अ) भूमि का क्षेत्रफल क्या है ? (ब) फसल का स्वरूप क्या है ? और (स) भूमि का उपजाऊपन कैसा है ?

ब्रिटिश काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी किसानों की भूमि पर कर आरोपित किया। इस काल में भू-राजस्व की दृष्टि से सम्पूर्ण देश में एकरूपता नहीं थी। कुछ क्षेत्रों

में जमींदारी व्यवस्था थी तो कुछ में रैयतवाडी व्यवस्था थी। वर्तमान व्यवस्था में भी मुगलकालीन व्यवस्था की अधिकाश विशेषताए न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ स्वीकार कर ली गई। भू-राजस्व के सम्बन्ध में जिला प्रशासन द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रियाए मुख्य रूप से तीन हैं'

## 1. भूमि रेकार्डस की व्यवस्था

किसी भी जिले में समुचित राजस्व व्यवस्था के लिये भूमि रिकार्ड आधारभूत दस्तावेज है। भूमि रेकार्डस को तैयार कर उसे बनाये रखना एक प्रक्रिया विशेष चाहता है। यह एक क्रमिक कार्यवाही का परिणाम होती है जिसके विभिन्न सोपान निम्न हैं–

सर्वप्रथम जिस भूमि का रिकार्ड तैयार करना होता है उसका सर्वेक्षण किया जाता है। इसके बाद नक्शे बनाये जाते हैं तथा विभिन्न प्रकार की भूमियों का वर्गीकरण किया जाता है। भूमि के वर्गीकरण द्वारा विभिन्न प्रकार की भूमिया पहचानी जाती हैं और इन्ही प्रकारों के आधार पर राजस्व की दरों में अन्तर स्थापित किया जाता है। प्रारम्भ में कार्य की सरलता की दृष्टि से भूमि को तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है : (1) श्रेष्ठ, (2) मध्यम, तथा (3) निकृष्ट।

नक्शे बनाने के बाद आवश्यक सूचनाओं को अंकित करने के लिए अनेक रजिस्टर बनाये जाते हैं। इनमें प्रत्येक किसान के व्यक्तिगत खेतों तथा जोत की व्यापक सूचनाओं सहित भूमि सम्बन्धी विभिन्न अधिकारों का उल्लेख रहता है। किसी भूमि के टुकडे पर एक व्यक्ति के अधिकारों का स्वरूप कई प्रकार का हो सकता है। अधिकार की प्रवृत्ति के बारे में अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। रजिस्टर में वर्णन होने के कारण इन विवादों का निपटारा करना सरल हो जाता है।

तीसरे स्तर पर एक ऐसा रजिस्टर भी बनाया जाता है, जिसमें प्लाट की वही सख्या अंकित की जाती है जो उसके नक्शे में है। इस रजिस्टर में भू-खण्ड का निश्चित क्षेत्र, श्रेणी तथा प्रत्येक मौसम में उगाई जानी वाली फसल आदि का विवरण रहता है। इसमें यह भी लिखा जाता है कि वर्तमान में भूमि पर खेती कौन कर रहा है और भूमि पर कानूनी कब्जा किस व्यक्ति का है ? इस रजिस्टर एव नक्शों पर ही जिले की सारी भू-राजस्व व्यवस्था निर्भर करती है। अत इन कागजों को परिपूर्ण एव समीचीन रखा जाता है। यह कार्य कलेक्टर का माना जाता है। यह एक निरन्तर चलने वाला कार्य है क्योंकि इसमें सशोधन, परिवर्तन, प्रमाणीकरण एव सर्वेक्षण होते रहते हैं। भू-राजस्व की चाहे कोई भी व्यवस्था हो उसके लिए लैण्ड-रिकार्डस का होना तथा बनवाया जाना तथा सशोधित किया जाना अनिवार्य है।

## 2. भू-राजस्व का निर्धारण

भू-राजस्व का निर्धारण एक जटिल कार्य है क्योंकि भू-राजस्व निर्धारण कर बढाने

अथवा घटाने या माफ करने से सम्बन्धित सभी प्रस्तावों का या तो जन-समर्थन मिलता है या फिर उसका विरोध किया जाता है। अत ऐसी स्थिति में सरकार निर्णय लेते समय किसान तथा विरोधी दलों की प्रतिक्रिया का अनुमान लगा कर समुचित नीति निर्धारित करती है।

भू-राजस्व निर्धारण के लिए जिला प्रशासन द्वारा प्राय दो प्रक्रियाए अपनाई जाती हैं। प्रथम प्रक्रिया उपज के भाग के रूप में निर्णय करना है। यह अत्यन्त सरल तथा प्राचीन व्यवस्था है। उपज को राजस्व निर्धारण का मौलिक आधार भी कहा जाता है। यद्यपि ब्रिटिश शासन काल में राजस्व निर्धारण नकद मुद्रा के रूप में होने लगा था, किन्तु अनेक देशी रियासतों में उपज के भाग के रूप में राजस्व देने की प्रक्रिया अपनाई जाती रही। इस प्रक्रिया का लाभ यह है कि इसमें कर की मात्रा का वास्तविक उपज से सीधा सम्बन्ध है। इसका भुगतान कृषक आसानी से कर सकता है क्योंकि फसल खराब होने पर राजस्व का भुगतान भी अपेक्षाकृत उतना ही कम हो जाता है। इस व्यवस्था में हानि यह है कि यह किसान तथा सरकार दोनों को अनिश्चितता की स्थिति में रखती है। न सरकार यह जान पाती है कि उसे कितना राजस्व प्राप्त होगा और न ही किसान यह निश्चित कर पाता है कि उसे अपनी उपज में से कितना राजस्व सरकार को देना पड़ेगा।

भू-राजस्व के निर्धारण का दूसरा तरीका नकदी के रूप में है। खेत में चाहे उपज कितनी ही हो, किसान को निर्धारित राजस्व चुकाना ही होता है। यह राशि कुछ वर्षों के लिए एक बार में ही तय कर ली जाती है। इस प्रक्रिया की हानि यह है कि इसमें परिवर्तित परिस्थितियों का ध्यान नहीं रखा जा सकता, किन्तु इस व्यवस्था का लाभ यह है कि यह सरकार तथा भू-स्वामी दोनों को निश्चितता प्रदान करती है और जिला प्रशासन स्थाई नीतिया बना सकता है।

भू-राजस्व के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी उठता है कि इसकी मात्रा कितनी होनी चाहिए। भारती मनीषी मनु के अनुसार राजा अपनी प्रजा से उपज का बारहवें से आठवें भाग तक राजस्व ले सकता है। अकबर के शासन-काल में राजस्व की मात्रा उपज की एक तिहाई से एक चौथाई भाग तक थी। ब्रिटिश काल में राजस्व की मात्रा समय के साथ साथ उत्तरोत्तर बढ़ती रही। स्वतन्त्र भारत में भू-राजस्व का निर्धारण करते समय भूमि की प्रकृति, स्थिति एव सम्भावनाओं का ध्यान रखते हुए राज्य सरकारों ने जिला प्रशासनों को नये कानून, नई नीतिया एव नये नियम आदि देकर प्रगति की दिशा में उचित कदम उठाया है।

### 3. भू-राजस्व का संग्रह

भू-राजस्व का कार्य कलेक्टर तथा उसके सहायक स्टाफ द्वारा किया जाता है। इस कार्य को उचित ढग से सम्पन्न करने तथा करवाने के लिए निम्न सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं।

प्रथम सिद्धान्त यह है कि जितना राजस्व निर्धारित किया जाए उतना ही उसे वसूल

किया जाए। इसमें किसी भी तरह की ढील देने से राजस्व संग्रह करना कठिन बन जाता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि राजस्व का संग्रह समय पर किया जाए चूंकि समय चूक जाने पर संग्रह कठिन बन सकता है। किसान की स्थिति फसल के बाद अच्छी होती है अत राजस्व वसूली का भी यह समय रखा जाना चाहिए। तीसरे, यदि किसी कारणवश भू-राजस्व पूर्णत अथवा आंशिक रूप से एकत्र नहीं करना हो तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए। यदि राजस्व माफ करना है तो इसे अविलम्ब प्रभावी बनाना चाहिए जिससे कि वांछित फल मिल सके।

## संगठन

भू-राजस्व को नियमानुसार तहसील में जमा कराया जाता है। यहा के मुख्य अधिकारी (तहसीलदार) को कुछ राज्यों में उपराजकोष अधिकारी भी कहते हैं। चूंकि तहसील तक जाने में किसान का पर्याप्त समय और धन का अपव्यय होता है और ग्रामीण जनता के लिए यह कठिनाई का कार्य है, अत ग्राम अधिकारी सम्बन्धित गावों में जाकर राजस्व एकत्रित करते हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व देश के विभिन्न भागों में एक से ग्रामीण प्रशासन की व्यवस्था थी, किन्तु स्वतन्त्रता के बाद इसमें व्यापक परिवर्तन कर दिये गये हैं तथा इसे प्रजातन्त्र के अनुरूप ढालने का भी प्रयत्न किया गया है। भू-राजस्व से सम्बन्धित अधिकारियों के संगठन में क्रमश कलेक्टर, सब-डिविजनल ऑफिसर, तहसीलदार, नायब तहसीलदार, रेवेन्यू इन्स्पेक्टर तथा पटवारी आदि अधिकारी आते हैं। सामान्यत भू-राजस्व एकत्रित करने वाले संगठनों को दो भागों में बाटा जा सकता है। प्रथम, ग्रामीण स्तर का संगठन तथा दूसरे, ग्रामीण स्तर के ऊपर का संगठन।

ग्रामीण स्तर के संगठन में स्थित अधिकारी प्रत्येक राज्य में और एक ही राज्य में विभिन्न जिलों में अलग-अलग नामों से पुकारे जाते हैं। ग्रामीण स्तर पर राजस्व एकत्रित करने वाले कुछ उत्तरदाई अधिकारियों के नाम हैं–राजस्व पटेल, पुलिस पटेल, सेठ सनाडीज आदि। ग्रामीण स्तर के ये अधिकारी अभी भी प्राय वंश परम्परागत होते हैं। इनका वेतन उनके काम को देख कर अथवा कुछ प्रतिशत कमीशन के रूप में निश्चित कर दिया जाता है। ये अधिकारी अपने वेतन से सतुष्ट नहीं रह सकते। सरकार भी इन पर किये गये व्यय को अपव्यय ही मानती है। यही कारण है कि इन वंश परम्परागत अधिकारियों के स्थान पर अब सभी राज्यों में संवैधानिक कर्मचारी नियुक्त किये जाने लगे हैं।

ग्रामीण स्तर से ऊपर का भू-राजस्व से सम्बन्धित संगठन जिला एवं तहसील स्तर के अधिकारियों का होना है। जिले का अध्यक्ष कलेक्टर भू-राजस्व एकत्रित करने के सम्बन्ध में अपनाई जाने वाली नीति व्यवस्थापन अथवा सरकारी निर्देशों द्वारा स्पष्ट करता है। बहुत कम मामलों को कलेक्टर से ऊपर के अधिकारियों तक भेजा जाता है। गाव तथा जिले के बीच की महत्वपूर्ण प्रशासनिक इकाई तहसील है। इस दृष्टि से तहसीलदार एक महत्वपूर्ण अधिकारी है। तहसीलदार की सहायता के लिए उसके अधीनस्थ कर्मचारी होते हैं जिसमें

नायब तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी आदि प्रमुख हैं। इनका कार्य अपने-अपने निर्धारित गावों के ग्रामीण अधिकारियों के कार्यों की देख-रेख करना है।

## कानूनी शक्तियां

भू-राजस्व एकत्रित करना कठिन कार्य है। अत राजस्व वसूल करने वाले अधिकारियों को अनेक कानूनी शक्तियां प्रदत्त की गई हैं। यदि कोई भू-स्वामी भू-राजस्व न दे तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जा सकती है। मुख्यत ये कानूनी कदम निम्न हो सकते हैं—*पहले उसे इस सम्बन्ध में लिखित में कानूनी नोटिस दिया जाता है।* राजस्व की बकाया वसूल करने के लिए सम्बन्धित भूमि को जब्त किया जा सकता है। भू राजस्व न देने वाले की चल सम्पत्ति तथा उसकी अचल सम्पति को बेचा भी जा सकता है। इन प्रक्रियाओं में से एक या अधिक को बकाया राजस्व की वसूली के लिए अपनाया जा सकता है। कानून द्वारा भू-राजस्व न देनेवाले को बन्दी बना कर जेल भेजने का भी प्रावधान है, किन्तु साधारणतया इस प्रक्रिया को नहीं अपनाया जाता। भू-राजस्व वसूल करने से सम्बन्धित कानूनों में यह व्यवस्था है कि सरकार को इसके लिए किश्त बाध देनी चाहिये *तथा प्रत्येक किश्त के लिए अन्तिम तारीख निर्धारित कर देनी चाहिए। यदि इस तारीख* तक भी किश्त जमा नहीं की जाए तो कठोर तरीके अपनाये जा सकते है।

## कृषि आय कर

राजस्व के *अन्तर्गत* आयकर, बिक्री कर, कोर्ट फीस आदि हैं। इसके साथ ही कृषि आय कर भी इसमें शामिल माना गया है। कृषि कर तथा बिक्री कर को तुलनात्मक दृष्टि *से नया माना गया है।*[19] *आय कर विभाग केन्द्रीय सरकार का विभाग है। इसके साथ ही* राज्य सरकार की तरफ से जिला स्तर पर एक या एक से अधिक आयकर अधिकारी अपने अलग स्टाफ के साथ नियुक्त होते हैं। बिक्री कर की प्राप्ति के लिए विभिन्न राज्यों में विभिन्न तरीके हैं। इसकी व्यवस्था के लिए बिक्री कर अधिकारी होते हैं। जहा तक कृषि आय कर का सम्बन्ध है यह ब्रिटिश काल में ही शुरू हो चुका था। 1935 के अधिनियम में प्रान्तों द्वारा कृषि आय कर लगाने की व्यवस्था की गई थी। स्वतत्र भारत में बम्बई, मद्रास, मैसूर आदि राज्यों ने कृषि कर प्रारम्भ किये। इससे पूर्व कृषि आय को इस आधार पर मुक्त रखा जाता था कि इस पर भू-राजस्व के रूप में पहले ही कर लगा होता है। अतः इस दिशा में दोहरा कर नहीं लगाया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में भारत सरकार *द्वारा नियुक्त राज कमेटी ने यह प्रस्ताव रखा कि एक निश्चित राशि से अधिक कृषि आय* पर कृषि आय कर लगाना चाहिये। संविधान के समाजवादी उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए इस प्रस्ताव को कार्यान्वित किया जाना चाहिये।

## भूमि-सुधार

भारत की वर्तमान व्यवस्था में भूमि सुधार अपेक्षित है। अगर भूमि सुधारों को स्पष्ट

रूप से देखा जाए तो इसके उद्देश्य, लक्ष्य तथा सिद्धान्त वे ही हैं जो हमारे संविधान में दिये गये हैं। इसके मुख्यत दो उद्देश्य हैं–

(अ) भूमि सुधारों के माध्यम से सामाजिक व आर्थिक सुधारों की दिशा में प्रगति हो जो कि हमारी नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं।

(ब) दूसरा इसका लक्ष्य भूमि उत्पादन में वृद्धि करना है। जहा तक प्रथम सुधार या सामाजिक व आर्थिक न्याय की माग का सम्बन्ध है वहा यह इस तथ्य से आबद्ध है कि किसान के क्षेत्र को सुरक्षा प्राप्त हो तथा भूमि के किरायों पर नियन्त्रण रखा जाए। इससे सम्बन्धित कानून बहुत से राज्यों में या तो बने ही नहीं हैं और यदि बने भी हैं तो लागू नहीं किये जा सके हैं। किन्तु भारत की स्थिति में यह व्यवस्था अधिक उचित नहीं जान पडती। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए विभिन्न तरीके अपनाये जा सकते हैं।"

एक तरीका तो यह है कि किसान भूमि पर अपना अधिकार घोषित कर दे और भू-स्वामी को पैसा किश्तों में चुकाता रहे अथवा सरकार से अधिकार लेकर तथा किसान द्वारा उसका पैसा देने पर उसी किसान को भूमि का स्वामित्व प्रदान किया जाए। इसके लिए दूसरा मार्ग भी अपनाया जा सकता है जबकि किरायेदार को मालिक घोषित कर दिया जाए व भू-स्वामी को मुआवजा दे दिया जाए। विभिन्न राज्यों में विभिन्न तरीके अपनाये गये हैं जैसे कि गुजरात, राजस्थान और मध्यप्रदेश में सरकार ने पहला तरीका अपनाया। किसानों का स्वामित्व घोषित कर दिया गया तथा किसानों को ऋण चुकाने की किश्तों में व्यवस्था की गई है। भूमि सुधारों के अन्तर्गत भू-सीमा बन्दी के कदम भी उठाये गये हैं। ये सीमा अनेक राज्यों में भिन्न-भिन्न है।

भूमि सुधारों के सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व यह है कि बिचौलियों को समाप्त किया जाए। यह कदम किसान की सामाजिक व आर्थिक दुर्बलता को दूर करने के लिए एक महत्वपूर्ण कदम है। इन बिचौलियों की समाप्ति के बाद ही किसानों के स्वामित्व के अधिकारों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

**राहत कार्य**—फसल खराब होने पर अथवा बाढ, सूखा या अन्य किसी प्रकार के सकट आने पर भू-राजस्व को माफ किया जा सकता है। प्राय सभी राज्यों में इस प्रकार की रियायत देने की व्यवस्था है। ब्रिटिश राज के प्रारम्भ में राहत कार्यों की व्यवस्था बहुत कम थी। 1905 में भारत सरकार ने राज्य सरकारों के निर्देशन के लिए सामान्य आदेश प्रसारित किये जिसमें यह कहा गया है कि राहत कार्य सभी गावों में एक रूप से लागू किये जाने चाहिए तथा यह राहत तभी लागू की जानी चाहिए जब कि फसल आधी से अधिक नष्ट हो गई हो। जो भी राहत राजस्व में दी जाए वह सग्रह से पूर्व ही घोषित की जानी चाहिए। इस घोषणा के बाद ब्रिटिश प्रान्तों में भी राहत कार्य प्रारम्भ हुए। स्वतन्त्र भारत में राजस्व में राहत कार्यों के लिए कानूनी व्यवस्था है। जहा ऐसा नहीं है वहा कार्यपालिका के निर्देशों द्वारा राजस्व माफ कर दिया जाता है। भू-राजस्व के निलम्बन की मात्रा ऊपज

की मात्रा पर निर्भर करती है। उल्लेखनीय है कि भू-राजस्व के निलम्बन के सम्बन्ध में एकरूपता अपेक्षित है जिसे राज्य के सभी भागों में समान रूप से अपनाया जाना चाहिए।

## जिला प्रशासन—विकास का नया सन्दर्भ

वैसे तो विकास एव जन-कल्याण सदैव से जिला प्रशासन के क्षेत्र रहे है, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विशेषत पचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विकास का जो दबाव प्रशासन पर पड़ा उसने जिला प्रशासन के सम्मुख एक नया प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। केन्द्र सरकार के निर्देशन पर पहले यह विकास प्रयास 'सामुदायिक विकास योजना' के रूप में जिला प्रशासन के साथ जोड़ा गया।[12] कालान्तर में पचायती राज की योजना से इस विकास आयोजना को एक नया अर्थ दिया गया। *श्री मुखर्जी की मान्यता है कि पचायती राज सामुदायिक विकास योजना का विस्तार है और उसकी सफलता का प्रतीक भी।* किन्तु श्री बलवन्तराय मेहता पचायती राज पर अपने प्रतिवेदन में ऐसा कहते हैं कि जिला प्रशासन की सामुदायिक योजना क्षेत्र में घनघोर असफलता को देखते हुए यह आवश्यक हो गया था कि उसके स्थान पर पचायती राज की स्थापना की जाए जो जिला प्रशासन के अधीन न होकर उसका सहयोगी हो।[13]

सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य गावों के सामाजिक तथा आर्थिक स्तर को उन्नत करना था। ये कार्यक्रम जनता में ऐसी जागृति उत्पन्न करना चाहते थे, *जो विकास कार्यों की आवश्यकताओं को स्वय समझ सकें तथा उनकी सफलता के लिए इन योजनाओं में सक्रिय योगदान दे सकें। इसके लिए यह अपेक्षित था कि ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाला* सरकार का सेवीवर्ग वहा के लोगों में उनकी अपनी स्थिति के प्रति जागृति उत्पन्न कर उन्हें यह सुझायें कि वे अपने स्वय के प्रयासों से अपनी स्थिति में सुधार ला सकते हैं। अत ग्रामीणों को वाछनीय तकनीकी ज्ञान और आर्थिक सहयोग प्रदान करना इस कार्यक्रम का लक्ष्य था। इच्छाजनित प्रयास की सहायता एव सरकारी पथ-प्रदर्शन इन सामूहिक योजनाओं के कार्यक्रमों की दो विशेषताए थीं।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम, जो कि विभिन्न क्षेत्रों में प्रारम्भ किये गये—कृषि, सिचाई, *सामाजिक शिक्षा, सचार साधन, देहाती कला उद्योग आदि क्षेत्रों से सम्बन्धित रहे हैं, स्वाभाविक था कि इसके लिए प्रशासनिक सगठनों का निर्माण भी इसी आधार पर किया* जाता। सरकार की अनेक इकाइयों तथा विभागों से जुड़े होने के कारण इनकी सफलता के लिए राष्ट्रीय, राजकीय एव जिले के सभी स्तरों पर समन्वयकारी समितियों का निर्माण किया गया। जिला स्तर पर सामुदायिक विकास खण्ड के नाम से एक पृथक् प्रशासनिक इकाई की भी रचना की गई, जो कि इन सभी विभागों के सामान्य अभिकरण के रूप में कार्य करती रही है।

अधिकतर राज्यों में विकास प्रशासन के लिए ब्लॉक को इकाई बनाया गया है। इसका क्षेत्र तहसील या उससे कुछ कम होता है। अत विकास कार्य इस स्तर से आरम्भ करना

अधिक आसान होता है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम 1958 से पूर्व तीन विभिन्न स्तरों पर क्रियान्वित किये जा रहे थे। इसी आधार पर लगभग सभी राज्यों में ब्लॉक के भी तीन स्तर बनाये गये थे।

### 1. पूर्व प्रसार स्तर

यह स्तर प्रारम्भ में एक वर्ष का था। इसमें कृषि विकास के लिए अनेक उपयोगी कार्यक्रम अपनाये जाते थे। इस काल में ब्लॉक स्तर पर कुछ कर्मचारियों को प्रारम्भिक सर्वेक्षण के लिए भेज दिया जाता था जो गाव में कृषि सम्बन्धी प्रयोग प्रदर्शन भी प्रारम्भ करते थे।

### 2 प्रथम स्तर

एक वर्ष के उपरान्त ब्लॉक प्रथम स्तर में प्रवेश करता तो प्रथम स्तर का कार्यक्रम पाच वर्ष चलाया जाता था। इस समय में विकास कार्य को आगे बढाने का प्रयास किया जाता था तथा ब्लॉक एव जिला स्तर पर पचायत ग्रामीण सहकारी समितियों तथा अन्य सगठनों को स्थापित कर विकास कार्यों को सुनियोजित किया जाता था।

### 3. द्वितीय स्तर

यह चरण-स्तर अन्तिम पाच वर्ष चलता था। इस समय में विभिन्न विकास सगठनों को ग्रामों के सामाजिक व आर्थिक विकास का समूचा दायित्व सौंप दिया जाता था। इस काल में इन सगठनों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे बिना सरकार की वित्तीय सहायता के अपने ही साधनों से विकास कार्यक्रमों को अपनाते रहेंगे। 1958 में कुछ खण्ड प्रथम-चरण समाप्त कर दूसरे तथा अन्तिम स्तर पर पहुचे। यद्यपि इस काल में बजट कम कर दिया गया, किन्तु उसे पूर्णत समाप्त नहीं किया गया। द्वितीय स्तर को पूरा करते ही ब्लॉक स्वय विकास कार्यों के लिए वित्तीय व्यवस्था करने में सक्षम हो जाता था। इसलिए इस स्तर के बाद सरकारी सहायता के स्थान पर आत्म-सहायता को प्रोत्साहन किया जाता था।

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सचालित करने के लिए केन्द्र से लेकर ग्रामीण स्तर तक विकास सगठनों की व्यवस्था की गई थी।

केन्द्रीय स्तर पर सामुदायिक विकास एव सहकारिता मत्रालय इस कार्यालय के लिए उत्तरदाई था। मूल नीति से सम्बन्धित प्रश्नों का निर्णय उच्च शक्तिप्राप्त केन्द्रीय समिति द्वारा किया जाता था। इसकी अध्यक्षता खाद्य एव कृषि मत्रालय द्वारा की जाती थी।

राज्य स्तर पर विकास कार्य राज्य विकास समितियों द्वारा किया जाता है। इन समितियों के सदस्य विकास विभागों के मन्त्री होते हैं। मुख्यमत्री इन समितियों की अध्यक्षता करता है।

जिला स्तर पर विकास प्रशासन की दृष्टि से जिला परिषद् जिले का सबसे उच्च और महत्वपूर्ण जनतांत्रिक सगठन है। जिला परिषद् एक प्रकार से जिले के अनुभवी लोगों का

सगठन है। जिलों की पचायत समितियों के अध्यक्ष उस क्षेत्र के लोक सभा के सदस्य सहकारी बैंक के अध्यक्ष और जिला-अधिकारी पदेन सदस्य हैं। जिला अधिकारी को वोट देने का अधिकार नहीं है। दूसरे जिला स्तर के अधिकारी परिषद् की कार्यवाही में भाग ले सकते हैं।

जिला परिषद् समितियों के कार्यों का निरीक्षण कर उसके कार्यों में सामजस्य स्थापित करती है। यह सभी पचायत समितियों के आय-व्यय की देखभाल कर राज्य सरकार द्वारा जिले के लिए जो अनुदान प्राप्त होते हैं उन्हें विभिन्न समितियों में वितरित करती है। जिला परिषदों को यह भी अधिकार है कि वे किसी पचायत समिति के आय-व्यय को अपनी राय के साथ उसमें सशोधन कर वापस कर दे। इसके लिए एक निश्चित अवधि के अनुसार उन्हें बजट लौटा देने होते हैं। यदि समय के भीतर बजट प्राप्त न हुआ तो जिलाधीश को यह अधिकार है कि वह पचायत समितियों को आवश्यक रकम खर्च करने की अनुमति दे दें।

*जिला स्तर पर विकास अधिकारियों के रूप में जिलाधीश की स्थिति महत्वपूर्ण है।* वह परिषद् का पदेन सदस्य और जिला विकास अधिकारी है। भारत की सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रतिनिधि के रूप में उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह यह देखें कि पचायत समितिया, जिला परिषदें एव ग्राम पचायतें सभी ठीक प्रकार से गठित की जाए। वह इन सबके काम में समन्वय स्थापित कर यह प्रयास करता है कि प्रत्येक जिले की योजनाए राज्य की पूर्व योजना के ढाचे के भीतर ठीक प्रकार से तैयार की जाए। वह इस बात के लिए भी जिम्मेदार है कि जिला परिषद् के निर्णय उचित प्रकार से व्यवहार में लाये जाए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसे दिन-प्रतिदिन के कार्यों में बाधा पहुचानी चाहिए। उसका कार्य तो केवल यह देखना है कि खण्ड विकास अधिकारी अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करें।

खण्ड-स्तर पर पचायत समितिया इस कार्यक्रम के लिए जिम्मेदार होती हैं। पचायत समिति के निर्वाचित सदस्य, महिलाए एव अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ सदस्य होते हैं। इस स्तर के सगठन में खण्ड-विकास अधिकारी, प्रसार अधिकारी, शिक्षा अधिकारी एव विभिन्न ग्राम सेवक होते है।

खण्ड विकास अधिकारी खण्ड-स्तर पर सर्वाधिक प्रभावशाली अधिकारी है। यह प्राय राज्य प्रशासनिक सेवा का सदस्य होता है। खण्ड विकास अधिकारी का यह उत्तरदायित्व है कि वह विकास कार्यक्रम के उद्देश्य, तरीके एव विषय वस्तु को स्पष्ट करने का हर सम्भव प्रयास करे। वह विभिन्न कार्यक्रमों से सम्बन्धित धन-खर्च करने के लिए जिम्मेदार हैं। इसके लिए वह समुचित लेखा-जोखा तैयार करता है। वह विकास कार्यक्रमों को इस प्रकार व्यवस्थित करता है कि पूर्व का कार्यक्रम ग्रामीण समाज को क्रमश हस्तातरित किया जा सके। वह प्रशासन को समुचित रूप से चलाने के लिए समय-समय पर स्टाफ की

बैठकें बुलाता है जिससे उन्हें उच्च अधिकारियों द्वारा भेजे गये आदेशों से परिचित कराया जा सके।

खण्ड एवं ग्रामीण स्तरों पर अनेक प्रसार संगठन भी संगठित किये जाते है, जो व्यावहारिक अनुसंधानों से गाव वालों को परिचित करवाते हैं। प्रसार अधिकारी के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। सामान्य कार्य एवं विशेष कार्य। कुछ कार्य सभी प्रसार अधिकारियों को सामान्य रूप से सम्पन्न करने होते है, जैसे खण्ड विकास अधिकारी को परामर्श और सहायता प्रदान करना है। वे शोध संस्थानों की खोजों के आधार पर जनता एवं विकास संगठनों को सभी उपलब्ध तकनीकी ज्ञान एवं आकडे प्रदान करते है। वे अपने क्षेत्र के समस्त कार्यक्रमों की सूचना का संग्रह एवं प्रसारण करते है। इस प्रकार के सामान्य कार्य प्राय सभी विकास अधिकारी करते हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त प्रत्येक प्रसार अधिकारी अपने विषय सम्बन्धित विशेष कार्य भी सम्पन्न करता है। उदाहरण के लिए कृषि प्रसार अधिकारी, जिला एवं क्षेत्रीय स्तर के कृषि सम्बन्धी शोध संस्थानों के कार्यों का निरन्तर अध्ययन करता रहता है। समाज शिक्षा के प्रसार अधिकारी प्रौढ शिक्षा के लिए कक्षाए आयोजित करते हैं। सहकारिता प्रसार अधिकारी नई सहकारी समितिया बनाने में सहायता देते हैं। पचायत प्रसार अधिकारी नई पचायतों के गठन को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार विकास अधिकारी कुछ विशिष्ट विषयों का कार्यभार भी सम्भालते हैं।

प्रत्येक खण्ड में दो महिला ग्राम सेविकाए होती हैं। प्रत्येक का कार्यक्षेत्र पाच गाव होते हैं। इनका मुख्य कार्य गाव के रहन-सहन के स्तर को सुधारना है। ये ग्रामीण महिलाओं को विभिन्न कलात्मक तथा कुटीर-उद्योगों से सम्बन्धित कार्य सिखलाती हैं।

खण्ड-स्तर पर ही अनेक ग्राम सेवक बहुउद्देशीय प्रसार कर्मचारी होते हैं। ये विकास विभागों और ग्रामीण समाजों के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करते हैं। प्रत्येक ग्राम-सेवक लगभग दस गावों से सम्बन्ध रखता है। ग्राम-सेवक के रूप में जब एक व्यक्ति गाव में प्रवेश करता है तो सबसे पहले वहा के लोगों को सामुदायिक विकास के उद्देश्य एव प्रणालियों को समझाता है। विकास कार्यों में जन सामान्य की अभिरुचि जाग्रत करता है। साथ ही गाव की प्रमुख समस्याओं की जानकारी प्राप्त करता है एव उनके समाधान के लिए गाव वालों की रुचि जाग्रत करता है। योजना प्रोजैक्ट टीम ने ग्राम सेवक के कार्यों को 7 भागों में वर्गीकृत किया है जिसमें सूचना एव शिक्षा सम्बन्धी, सांख्यिकी संग्रह एव प्रशासनिक कार्य बतलाये गये हैं। ग्राम सेवक का मुख्य कार्य विभिन्न शैक्षणिक तकनीकों द्वारा ग्रामीण दृष्टिकोण तथा व्यवहार में परिवर्तन लाना है। प्रभावशाली स्थानीय सत्ता के अभाव में वह सेवा एव पूर्ति सम्बन्धी कुछ कार्य सम्पन्न करता है। ग्राम सेवक कोई कार्य करते समय आत्म निर्णय एव दबाव के बीच सन्तुलन स्थापित करता है और देहाती समाज के रहन-सहन के स्तर को ऊचा उठाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के लिए वित्तीय सहयोग अनुदान द्वारा प्रदान किया जाता

है। प्रारम्भिक स्तरों पर सरकार की ओर से सहायता अधिक दी जाती थी। बाद में विकास कार्यक्रमों के दौरान आत्म-सहायता की भावना को प्रोत्साहित किया जाता है एवं व्यय का कुछ भाग जनता से योगदान के रूप में लिया जाता है।

*सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में जनता का योगदान प्रथम तीन योजनाओं में क्रमश* 25 1 करोड़ 77 3 करोड़ और 48 9 करोड़ रहा है। यहां यह उल्लेखनीय है कि इच्छा पर आधारित योगदान क्रमश घटता ही गया है। यह क्रमश 54%, 41%, 19%, 12% तथा 10% रहा। इसका कारण यह था कि सरकार ने सामुदायिक विकास कार्यों पर व्यय *की मात्रा कम कर दी तथा पचायती राज निकायों ने हाल ही के वर्षों में करों में भी वृद्धि* कर दी थी।

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत पिछले वर्षों में अनेक विकास कार्यक्रम अपनाये गये, किन्तु इन कार्यक्रमों के माध्यम से अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाई है। इन *विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत महत्वपूर्ण सगठनात्मक परिवर्तन किये गये हैं। कृषि सुधार* जो कि इसका मुख्य लक्ष्य रहा है उसमें काफी सफलता प्राप्त हुई है। स्थानीय समाजों ने विकास कार्यक्रमों की सफलता में उल्लेखनीय योगदान दिया है। कुछ राज्यों ने हाल ही में सामुदायिक विकास की सगठनात्मक रूप-रचना में परिवर्तन किये हैं। प्रशासनिक सुधार आयोग" (ए आर सी) की सिफारिश के मतानुसार विकास कार्यों का उत्तरदायित्व कलेक्टर से लेकर पचायती राज सस्थाओं को सौंप दिया गया है। इसी आधार पर अब तहसील स्तर पर अनेक पचायत समितियों का निर्माण किया गया है। इन समितियों के सदस्य *समस्त पचायतों के सरपच हैं। कुछ सहवृत किये जाने वाले सदस्य भी पचायत समिति में* शामिल किये जाते हैं, किन्तु उल्लेखनीय यह है कि एक व्यक्ति एक से अधिक पचायत समिति का सदस्य बन सकता है, परन्तु एक से अधिक पचायत समिति का प्रधान या उपप्रधान नहीं बन सकता अर्थात् अब विकास सगठन के स्वरूप में भी परिवर्तन किया *जाने लगा है। किन्तु इन स्थानीय सस्थाओं में भी जनता ने अधिक रुचि नहीं ली तथा* इनके कार्यक्रमों के प्रति जानकारी नहीं होने के कारण असहानुभूतिपूर्ण रुख रखा गया है। ऐसी स्थिति में विकास कार्यों की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि जन-सामान्य का उसमें पूर्ण सहयोग मिले। इसके लिए चुनाव, व्यवस्था प्रशिक्षण कार्यक्रम तथा सभाओं का समय-समय पर आयोजन किया जाना चाहिए। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में अनेक कमियां होते हुए भी यह स्वीकारना होगा कि इन्होंने देहाती विकास को नई दिशाएं दी हैं और इनके सगठनों में पर्याप्त महत्वपूर्ण परिवर्तन किये *गये हैं तथा भविष्य में भी इन कार्यक्रमों की सफलता तथा जन-सामान्य की सहयोग प्राप्ति* के लिए आवश्यकतानुसार परिवर्तन अपेक्षित हैं।

## जिला प्रशासन के कार्य

जिला प्रशासन में इन आधारभूत-कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्य तथा

लक्ष्य भी समाहित हैं। जिले के इन कार्यों तथा लक्ष्यों को मुख्यत निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) जिला प्रशासन का प्रथम लक्ष्य जन सुरक्षा है। यह प्रशासन नागरिक तथा उसके सभी अधिकारों की रक्षा का प्रबन्ध करता है। इसके लिए वह कानून और व्यवस्था की स्थापना करता है तथा फौजदारी तथा दीवानी न्याय का प्रशासन करता है।

(2) राजस्व तथा आबकारी जिला प्रशासन का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि स्थानीय प्रशासन का राजस्व एव आबकारी से निकट सम्बन्ध है। राजस्व में अनेक बातें आती हैं जैसे—भू-राजस्व, सिंचाई कर, कृषि कर, बिक्री कर आदि।

(3) राजकोष के प्रबन्ध का दायित्व भी जिला प्रशासन का कार्य है। सरकारी राजकोष के अधिकारी जिला–अधिकारी के अधीन रह कर कार्य करते हैं। इसलिए वे जिला प्रशासन का भाग बन जाते हैं।

(4) कृषि, सिंचाई एव उद्योगों की व्यवस्था भी जिला प्रशासन के महत्वपूर्ण कार्य हैं। जिला प्रशासन विभिन्न उद्योगों के विकास के लिए समुचित नीति भी बनाता है।

(5) जिला प्रशासन पर कल्याण एव विकास कार्य का भी दायित्व है। जन-कल्याण के लिए जिला प्रशासन की ओर से अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

(6) खाद्य एव नागरिक आपूर्ति अर्थात् स्थानीय नागरिकों को खाद्य एव रसद की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध कराने के लिए स्थानीय प्रशासन प्रबन्ध करता है। यह समय-समय पर नियन्त्रण की नीति को अपना कर पूर्ति व्यवस्था में समानता की स्थापना करता है।

(7) चुनाव इत्यादि के सचालन का दायित्व भी जिला प्रशासन का है। यह ससद, व्यवस्थापिका एव स्थानीय सस्थाओं के लिए निर्वाचन का सचालन करता है। इस कार्य के लिए प्रत्येक जिले में एक जिला चुनाव अधिकारी होता है। जिलाधीश का सम्पर्क चुनाव प्रक्रिया के समुचित सचालन के लिए उत्तरदाई होता है तथा इस कार्य के लिए वह जिले के सभी विभागों के कर्मचारियों की सहायता लेता है।

(8) जिला प्रशासन द्वारा स्थानीय सस्थाओं का भी सचालन किया जाता है। जिला बोर्ड, नगरपालिका, नगरनिगम, पचायतों के सगठन एव कार्य-सचालन में जिलाधिकारी सक्रिय योगदान करते हैं। कार्यपालिका सम्बन्धी विभिन्न कार्य भी जिला प्रशासन द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। इन कार्यों का क्षेत्र संविधान द्वारा वर्णित नहीं किया गया है। कार्यपालिका के कार्य अवशिष्ट श्रेणी में आते हैं। जिला प्रशासन ऐसे ही कार्यों का सपादन करता है। जिलाधिकारी में सरकार का

समूचा व्यक्तित्व प्रतिनिधित्व पाता है। ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब कि जिला अधिकारी संविधान प्रदत्त कार्यपालिका की शक्तियों का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करें।

यह स्पष्ट है कि जिला प्रशासन के कार्यों की सूची अत्यन्त व्यापक है। इसके प्रत्येक कार्य की प्रकृति बहुत व्यापक है। जहा तक विकासशील राष्ट्रों का प्रसग है वहा जिला स्तरीय कार्य अधिक दायित्वपूर्ण हो जाते हैं। सामान्य जिले के विभिन्न अभिकरणों के क्रियाकलापों का सम्बन्ध जनता की खुशी एव खुशहाली से होता है। यदि ये तथ्य स्वीकार कर लिये जाए तो स्वाभाविक रूप से यह भी स्वीकारना होगा कि एक अविकसित राष्ट्र में जितना साधनों का अभाव होगा तथा प्रगति की अपेक्षा होगी वहा इसके कार्य अधिक चुनौती पूर्ण हो जायेंगे क्योंकि लोक कल्याण के सम्बन्धित विभिन्न कार्यों का दायित्व जिला स्तरीय अधिकारियों पर ही आता है।

जिला प्रशासन के लक्ष्यों के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि इनमें विभिन्न अवसरों पर परिवर्तन देखा जा सकता है। प्रारम्भ में जिला प्रशासन के लक्ष्य समिति थे। अग्रेजी शासनकाल में ये साम्राज्यवादी हितों के पूरक रहे।

विशेष रूप से वर्तमान जिला प्रशासन तथा ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत जिला प्रशासन के लक्ष्यों में महत्वपूर्ण अन्तर दृष्टव्य है। अग्रेजों का लक्ष्य साम्राज्य की रक्षा तथा उसकी हित पूर्ति व हित वृद्धि था। अत उसी लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने जिला प्रशासन के अन्तर्गत अपनी नीतिया प्रतिपादित कीं। अग्रेजों ने अपनी नीति के माध्यम से यथास्थिति कायम रखनी चाही। विभिन्न सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति तथा आर्थिक विकास के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये गये। इस व्यवस्था के भारत में दो परिणाम निकले। प्रथम–तात्कालिक घटनाओं का झुकाव परम्परावाद एव अपरिवर्तन की ओर रहा तथा दूसरे सामाजिक व्यवस्था पुराने तौर-तरीकों पर ही चलती रही। ये रूढ़िवादी तथ्य ही साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रमुख आधार थे। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद हमारे उद्देश्यों में परिवर्तन आया है जो कि ब्रिटिश राज के लक्ष्यों से भिन्न है। अग्रेजी शासन में यहा जिला प्रशासन का प्रथम लक्ष्य साम्राज्यवादी हितों को बनाये रखना था वहा अब हमारा उद्देश्य जनता की प्रतिनिधि सरकार को सुदृढ करना है। वर्तमान प्रशासन का मुख्य लक्ष्य सामाजिक न्याय तथा आर्थिक विकास है अर्थात् विकास प्रशासन जिला प्रशासन का एक महत्वपूर्ण पहलू बन चुका है। साम्राज्यवादी शासन में इस लक्ष्य का पूर्णत अभाव था। लोक कल्याण वर्तमान जिला प्रशासन का एक जनतान्त्रिक लक्ष्य है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के बाद प्रजातन्त्रीय व्यवस्था, न्यायपालिका का पृथक्कीकरण एव पचायती राज व्यवस्था के कारण यथास्थिति के स्थान पर परिवर्तन, नौकरशाही की हितवृद्धि के स्थान पर जनकल्याण तथा विकास कार्यों को लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर जिला प्रशासनिक नीति निर्माण, प्रशासन के बदले हुए सदर्भ के परिचायक हैं।

# जिला प्रशासन और जिलाधीश

जिला अधिकारियों में सर्वाधिक केन्द्रीय तथा नियन्त्रणकारी अधिकारी जिलाधीश अतीत में भी था और वर्तमान में भी है। आज भी वह जिले का इस प्रकार प्रतिनिधित्व करता है कि जैसे सम्पूर्ण सरकार उसी में समाहित हो। मुगल काल में भी जिलाधीश स्तर का अधिकारी प्रशासन की सफलता का आधार स्तम्भ था। ब्रिटिशकाल में भी इसका अस्तित्व आरम्भ से ही देखा जा सकता है। इसकी महत्ता को देखते हुए ही ब्रिटिश प्रशासकों ने समय-समय पर इस पद को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया था। सन् 1770 में क्लाइव ने कलेक्टर पद को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। यद्यपि यह केवल प्रयास ही रहा। सन् 1781 में कम्पनी शासन ने फौजदार का पद समाप्त कर उसका कार्यभार कलेक्टर को सौंप कर इस पद को पुनर्गठित किया। सन् 1793 में कार्नवालिस ने इस पद से कुछ शक्तियां छीन कर इसे पहले जितना शक्तिशाली न रहने दिया। फिर सन् 1812 में होल्ट मेकेन्जी ने तथा सन् 1833 में विलियम बैंटिंग ने कलेक्टर के पद को फिर से सशक्त बनाने के प्रयास किये। सन् 1880 में फामन कमीशन ने कलेक्टर के पद को एक समन्वयकारी शक्ति बनाने के लिए और अधिक शक्तिशाली बनाने की सिफारिश की थी। 1919 में स्वतन्त्रता सग्राम के दौरान भी यह पद काफी महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली रहा। सन् 1944 में रालेट्स कमेटी ने इस पद को प्रतिष्ठावान बनाने की सिफारिश की। सम्पूर्ण अंग्रेजी शासन-काल में जिला स्तर पर कलेक्टर एक केन्द्रीय शक्ति के रूप में ऐसा अधिकारी रहा जो कि जिले की समस्त क्रियाओं को समन्वित करता था। उसकी महत्ता के लाखों शब्द वायसरायों, गवर्नरों, अंग्रेजों तथा शोधकर्ताओं द्वारा लिखे गये हैं। ब्रिटिश शासन काल में कलेक्टर का पद सत्ता, सम्मान, गौरव एवं भय का पद था। इसकी व्यापक शक्तियों के आतंक के कारण यह जिले की जनता के लिये सर्वेसर्वा था। जिला स्तर पर यह सरकार की समस्त शक्तियों का उपयोग किया करता था। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में यह कहा गया कि प्रत्येक जिले के शीर्ष पर एक अधिकारी होता है जिसे कुछ प्रान्तों में कलेक्टर तथा कुछ प्रान्तों में डिप्टी कमिश्नर के नाम से जाना जाता है। जिले के अधिकांश निवासियों की नजरों में यही सरकार होती है। ब्रिटिश शासनकाल में कलेक्टर की शक्तियां पर्याप्त रूप में बदलती रही हैं, किन्तु स्थानीय शासन में उसका योगदान उतना ही महत्वपूर्ण बना रहा है।[15]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कलेक्टर के पद के महत्त्व तथा स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। अब देश की राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तित हो गई है। राज्य ने सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी व्यापक सेवाएं प्रदान करना आरम्भ कर दिया है। ऐसी स्थिति में कलेक्टर एक लोक-कल्याणकारी समाजवादी राज्य का सेवक बन गया है। अन्य प्रशासनिक अधिकारियों के साथ उसका भी दृष्टिकोण बदलता है तथा अपने दायित्व का निर्वाह नये राजनीतिक तथा सामाजिक परिवेश में करने का अभ्यास डालना पड़ा है। ऐसी

स्थिति में कलेक्टर के कार्यों की प्राथमिकताए पूर्णरूपेण बदल गई हैं। पहले कानून और व्यवस्था की स्थापना करना इसका प्रमुख कार्य था किन्तु उसके लिए अब नागरिकों के विकास तथा जन-कल्याण से सम्बन्धित कार्य महत्वपूर्ण हो गये हैं। जनतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण *तथा विकासशील राष्ट्र की अपेक्षाओं में उसके कार्यों को नई महत्ता दी है।* विकासशील राष्ट्र के संदर्भ में कार्यों का आधिक्य होने से तथा कार्यों की प्रकृति तकनीकी होने के कारण कलेक्टर का कार्य समन्वय के क्षेत्र में बहुत बढ चुका है। कलेक्टर की स्थिति में वर्तमान समय में जो परिवर्तन आया है उसके दो रूप हैं। प्रथम तो प्रजातन्त्र का विस्तार गावों तथा अविकसित क्षेत्रों की ओर हुआ है जिसके कारण निर्णय लेने की प्रक्रिया में अधिक से अधिक व्यक्ति भाग लेने लगे हैं। प्रजातन्त्र के इस प्रभाव से प्रशासक वर्ग तथा राजनीतिज्ञों में पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया बढी है। दूसरे पचायती राज तथा विकास प्रशासन को चलाने *का नया उत्तरदायित्व जुड जाने के कारण जिला प्रशासन में कलेक्टर का नियन्त्रण, पर्यवेक्षण तथा समन्वय का पद अधिक महत्वपूर्ण बन गया है।* दूसरे शब्दों में परिवर्तित परिस्थितियों ने कलेक्टर की सत्ता, कर्त्तव्यों एव दायित्वों को नई दिशाए दी हैं।

कलेक्टर के महत्वपूर्ण पद के लिए भर्ती एव सेवा की कछ शर्तें निर्धारित हैं।

## जिलाधीश : भर्ती एवं सेवा शर्तें

कलेक्टर भारतीय प्रशासनिक सेवा के माध्यम से लिया जाता है। उसका पद प्रत्येक राज्य सरकार में वरिष्ठ पद होता है। यद्यपि कलेक्टर की नियुक्ति प्रारम्भ में सघीय लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है तथा भारत सरकार द्वारा उसकी सेवा शर्तों का नियमन किया जाता है, किन्तु वह राज्य सरकार के लिए कार्य करता है। उसकी नियुक्ति के लिए तीन में से कोई भी विधि *अपनाई जा सकती है। प्रथम–प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा, दूसरे राज्य की नागरिक सेवाओं से पदोन्नति द्वारा, तीसरे विशेष भर्ती द्वारा।*

सामान्यत भारतीय सन्दर्भ में राज्य नागरिक सेवाओं की पदोन्नति द्वारा कलेक्टर बनाये गये हैं। कई राज्यों में यह स्थिति बढी हुई देखने में आ रही है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में 75 कलेक्टर में से 25 (33%) सीधे आई ए एस भर्ती किये गये। 22 पदोन्नति से लिए गये (30%) तथा 28 राज्य नागरिक सेवाओं से पदोन्नति द्वारा आये। प्रशासकों की सीधी भर्ती यह दिखाती है *कि उनकी माग एक कलेक्टर के पद के लिए कम है। इसका कारण यह है कि सीधी भर्ती में यह विश्वास नहीं होता कि व्यक्ति कलेक्टर के* रूप में प्रभावशाली होगा अथवा नहीं क्योंकि उसे प्रशासन का अनुभव नहीं होता।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी को *सामान्यत प्रति तीसरे वर्ष पदोन्नत या* स्थानान्तरित कर दिया जाता है। प्राय 6 से 10 वर्ष तक सेवा कर चुकने के बाद एक आई ए एस. अधिकारी को कलेक्टर बनाया जाता है। उनकी सेवा की शर्तें जैसे वरिष्ठता का नियमन, आचरण सम्बन्धी नियम, अनुशासन, यात्रा भत्ते आदि *केन्द्र सरकार के नियमों*

द्वारा निर्धारित होते हैं तथा राज्य सरकारों को यह मानने होते हैं। भारतीय संविधान की धारा 311 द्वारा उसे कार्यालय की सुरक्षा प्रदान की गई है। इसके अनुसार भारतीय प्रशासनिक सेवा का कोई भी अधिकारी केन्द्र सरकार की अनुमति के बिना न निलम्बित किया जा सकता है और न ही पदावनत किया जा सकता है।

कलेक्टर अपने पद की स्थिति के कारण एक ऐसा व्यक्ति है जिसे सावधानी के साथ भर्ती किया जाता है तथा जिसे व्यावहारिक प्रशिक्षण तथा व्यापक अनुभव दिये जाते हैं। इसका कार्यकाल सुरक्षित है तथा अखिल भारतीय स्तर का है।

## जिलाधीश के कार्य

कलेक्टर जिला प्रशासन का केन्द्रीय अधिकारी है। ऐसी स्थिति में उसका कार्य-क्षेत्र अति-विस्तृत है। फिर भी कार्यों की दृष्टि से उसके व्यक्तित्व को निम्न रूपों में उभरते हुए देखा जा सकता है[4]–

### 1. भू-राजस्व अधिकारी के रूप में

कलेक्टर की हैसियत से जिलाधीश जिले के सभी महत्वपूर्ण कार्य करता है। इस पद के दायित्व पूर्ति के लिए कलेक्टर सर्वप्रथम भूमि का उचित प्रबन्ध करता है। सरकार को भूमि का स्वामी माना जाता है। अत वह किसानों से लगान भू-राजस्व आदि के रूप में भूमि का किराया वसूली करता है। सरकार अपना यह कार्य कलेक्टर के माध्यम से सम्पन्न करती है। इस कार्य में कलेक्टर की सहायता एम डी.ओ , तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी आदि अनेक कर्मचारियों द्वारा की जाती है। कलेक्टर भू-राजस्व का मूल्यांकन करता है। वह लैण्ड-रिकार्ड्स तैयार करवाने, रखने एव एकत्रित करने के लिए उत्तरदाई है। वह अनेक प्रकार की कृषि सांख्यिकी एकत्रित करता है। जिलाधीश सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में निहित जायदाद का प्रशासन करता है। वह कृषि कार्यों हेतु कृषक को ऋण प्रदान करता है। वह स्टाम्प अधिनियमों को क्रियान्वित करता है। भूमि अधिग्रहण सबधी कार्यों के लिए भी कलेक्टर ही उत्तरदाई है। भूमि सम्बन्धी अद्यतन रिकार्ड का काम गाव के पटवारी द्वारा सम्पन्न किया जाता है। यह एक निरन्तरतापूर्ण कार्य है। इसकी सफलता कलेक्टर के परिवीक्षण पर निर्भर करती है।

जिलाधीश के रूप में ही इस पदाधिकारी का एक अन्य दायित्व यह भी है कि वह भूमि सुधार, भूमि प्रबन्ध तथा भूमि अधिग्रहण सम्बन्धित कार्य करे। परम्परागत स्वरूप से जब कोई भूमि सुधार किया जाता है तो इसके लिए अलग से एक सगठन बना दिया जाता है। उदाहरण के लिए जोतों की चकबन्दी का कार्यक्रम, जमींदारी उन्मूलन, भूमि अधिग्रहण आदि भूमि सुधार की दृष्टि से अलग विभाग प्रारम्भ किये गये हैं किन्तु इनके पर्यवेक्षण का कार्य जिले का कलेक्टर ही करता है। चकबन्दी कार्यक्रम पूरा हो जाने पर कलेक्टर चकबन्दी रिकार्ड को सही बनाये रखने के लिए उत्तरदाई होता है।

2. जिलाधीश के रूप में

जिलाधीश का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य जिले में संसद, विधानसभा एवं स्थानीय निकायों के निर्वाचन का सुचारू रूप से संचालन करना है। निर्वाचन विभाग भी इनसे सम्बन्धित कार्यों का प्रबन्ध करता है। इस कार्य में जिलाधीश की सहायता जिला चुनाव अधिकारी द्वारा की जाती है। अपने इस कार्य की पूर्ति के लिए कलेक्टर विभिन्न कार्यालयों की सहायता लेता है।

इस पदाधिकारी को जिलाधीश की हैसियत से अनेक प्रोटोकोल कार्य भी करने पड़ते हैं। जब कोई भी सम्मानीय व्यक्ति या मन्त्री जिले का दौरा करते हैं तो उनके स्वागत एवं अन्य प्रबन्धों का दायित्व कलेक्टर पर ही आता है। इस सम्बन्ध में प्रशासनिक सुधार आयोग का यह स्पष्ट मत था कि कलेक्टर को किसी बड़े आदमी के आगमन पर उसके रहन-सहन का प्रबन्ध करने में अपना समय खराब नहीं करना चाहिए। किसी विशेष अवसर के बिना उसकी उपस्थिति भी अनिवार्य नहीं होनी चाहिए। राज्य सरकारों को इस सम्बन्ध में निर्देश भेजने चाहिए कि जिलाधीश व्यर्थ के कार्यों में अपना समय न बरबाद करे। प्रशासनिक सुधार आयोग वास्तव में कलेक्टर को नियमनकारी कार्य सौंपना चाहता है।

जिलाधीश ही जिला स्तर पर एक समन्वयकारी शक्ति के रूप में कार्य करता है। इसके लिए वह जिले की समन्वय समिति की बैठकें बुलाता है। वह जिला परिषद् तथा जिला समितियों की बैठकों में भाग लेता है। वह अनेक स्थानीय संस्थाओं का भी सदस्य होता है। इस प्रकार कलेक्टर की हैसियत से यह पदाधिकारी जिला स्तर पर लगभग सभी महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है।

3 दण्डनायक के रूप में

जिले की सम्पूर्ण कानून और व्यवस्था का दायित्व कलेक्टर का ही है। इसके लिए वह दण्डनायक के रूप में कार्य करता है। जिलाधीश के रूप में वह जिले के फौजदारी प्रशासन के लिए उत्तरदाई है।

जिलाधीश की दायित्व पूर्ति के लिए कलेक्टर को जिले के पुलिस प्रशासन पर नियन्त्रण का अधिकार दिया गया है। पुलिस अधिनियम की धारा 4 के अनुसार कलेक्टर को जिले की पुलिस के सम्बन्ध में सामान्य नियन्त्रण व निर्देशन की शक्ति सौंपी गई है। अधिकांश राज्यों के पुलिस नियमों में विशेष रूप से यह व्यवस्था की जाती है कि कलेक्टर जिले के फौजदारी प्रशासन का अध्यक्ष होगा तथा उसकी सत्ता लागू करने के लिए कानून द्वारा पुलिस शक्ति सौंपी जायेगी। पुलिस का आन्तरिक संगठन एस पी द्वारा किन्तु जिले में पुलिस का प्रयोग कलेक्टर द्वारा किया जाता है। कानून तथा व्यवस्था सम्बन्धी कार्य कलेक्टर पुलिस अधीक्षक के साथ मिलकर करता है।

जिलाधीश द्वारा अनेक व्यवस्थित निरीक्षण किये जाते हैं। वह पुलिस की डायरियों का निरीक्षण करता है तथा पुलिस स्टाफ का भी निरीक्षण करता है। जिले में दौरा करते समय

वह कानून और व्यवस्था की स्थिति से सम्बन्ध में, फौजदारी घटनाओं के बारे में तथा पुलिस के कार्यों के सम्बन्ध में पूछताछ करता है तथा अनेक विषयों पर पुलिस अधीक्षक के विचार-विमर्श करता है।

जिलाधीश द्वारा वर्ष में एक बार जिले की वार्षिक फौजदारी रिपोर्ट प्रस्तुत की जाती है। इसमें उन सभी मामलों तथा समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है जो कि शान्ति व्यवस्था के लिए गम्भीर रहते हैं।

जिलाधीश विदेशियों के पारपत्र की जाच करता है तथा उनके नियन्त्रण के लिए उत्तरदाई है। वह निवास-स्थान सम्बन्धी, जाति सम्बन्धी तथा राजनीतिक पीड़ितों को प्रमाण-पत्र जारी करता है।

इस प्रकार जिलाधीश की हैसियत से कलेक्टर जिले में कानून और व्यवस्था की स्थापना पुलिस अधीक्षक के सहयोग से करता है।

## 4. राज्य सरकार के प्रतिनिधि के रूप में

कलेक्टर सामान्य प्रशासन के विषय में सरकार का मुख्य अभिकरण है। जिला स्तर पर सामान्य रूप से वह सरकार के हितों की देखभाल करता है। वह सरकार द्वारा अथवा सरकार पर गैर-सरकारी पक्ष द्वारा किये गये मुकदमों का पर्यवेक्षण करता है। कलेक्टर को नगरपालिका के सम्बन्ध में कुछ नियमनकारी तथा परामर्शदात्री शक्तिया प्राप्त होती हैं।

जिला अधिकारी के रूप में कलेक्टर जिला स्तर पर अनेक जनकल्याण के कार्यों को सम्पादित करता है। वह सामुदायिक विकास, सहकारिता, जनस्वास्थ्य, शिक्षा तथा अन्य कल्याणकारी कार्यों क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है तथा इनमें सक्रिय रूप से भाग लेता है।

जिला स्तर पर जब कोई सकट उत्पन्न होता है, तो जिले के विभिन्न अधिकारी उसके निवारण में लग जाते हैं, किन्तु इसका मूल उत्तरदायित्व कलेक्टर पर ही होता है। कलेक्टर द्वारा जिले के प्रत्येक अधिकारी, कार्यालय एव सेवा को इस कार्य की मदद के लिये आमन्त्रित किया जा सकता है।

जिला अधिकारी के रूप में कलेक्टर का एक अन्य कार्य देहाती क्षेत्रों का दौरा करना है। स्वतन्त्रता के बाद इस कार्य की ओर कम ध्यान दिया गया है। अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण यह कार्य उपेक्षित रहा है। इसलिए प्रशासनिक सुधार आयोग का यह कहना है कि कलेक्टर को विकास कार्यों तथा प्रोटोकोल कार्यों से मुक्त किया जाना चाहिए ताकि वह अपने जिले के देहाती एव अन्तरग प्रदेशों का दौरा कर सके और कैम्प लगा कर रात्रि भर विश्राम कर सके। महीने में कुछ ऐसे दौरे कलेक्टर के लिए अनिवार्य किये जाने चाहिए। ऐसे दौरों से ही कलेक्टर देहाती जनता एव उनकी समस्याओं के निकट सम्पर्क में आ सकेगा। इसी समय के दौरान अधीनस्थ अधिकारियों के भ्रष्टाचार सम्बन्धी मनोविकार दूर किये जा सकेंगे।

## 5. जिला विकास अधिकारी के रूप में

स्वतन्त्रता के बाद कलेक्टर के विकास कार्य महत्वपूर्ण बने हैं। यह सामुदायिक विकास योजनाओं के परिणामस्वरूप हो सका है। इस सम्बन्ध में वह जिले के विकास कार्यक्रमों का पर्यवेक्षण करता है तथा सरकार की ओर से मुख्य समन्वयकर्ता के रूप में कार्य करता है। कलेक्टर से विकास कार्य के सम्बन्ध में सामाजिक एव तात्कालिक प्रतिवेदन प्राप्त किये जाते हैं। विकास तथा समाज कल्याण विभाग के सभी जिला अध्यक्ष कलेक्टर से निर्देशन एव सहायता प्राप्त करते हैं। किसी महत्वपूर्ण कार्यक्रम को अन्तिम रूप से स्वीकार करने के पूर्व कलेक्टर से परामर्श लिया जाता है।

कलेक्टर पचायती राज के अन्तर्गत प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण के सफल सचालन के लिये उत्तरदाई है। पचायती राज सस्थाओं में कलेक्टर का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। वह जिला परिषद् का प्रमुख सदस्य होता है। सरकार के प्रतिनिधि के रूप में उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह यह देखे कि पचायत समितिया जिला परिषदें और ग्राम पचायतें सभी ठीक प्रकार से गठित की जाए। वह इन सबके काम में सम्बन्ध स्थापित कर यह प्रयत्न करता कि जिले की योजनाए पूर्व योजना के ढाचे के भीतर तैयार की जाए। वह यह भी देखता है कि विकास से सम्बन्धित सस्थाए निर्धारित कार्यों से इधर-उधर न हो जाए। पचायत समितियों के कार्य तथा प्रगति का मूल्याकन करने के लिए वह प्रति-वर्ष निरीक्षण करता है। राजस्थान में पचायत समिति एव जिला परिषद् अधिनियम, 1959 के भाग 59 तथा 69 में जिला विकास अधिकारी की शक्तियों एव कार्यों का उल्लेख किया गया है। विकास के क्षेत्र में उसके कार्य इस प्रकार हैं।"

1 कलेक्टर का यह दायित्व है कि वह विभिन्न कार्यक्रमों की क्रियान्विति में प्राप्त की गई सफलता तथा विभिन्न प्रस्तावों और निर्णयों में की गई प्रगति की देख-रेख करे।
2. कलेक्टर यह भी देखता है कि पचायत समितिया अपने धन का सही कार्यों में उपयोग करती हैं तथा प्रस्थापित नीति के अनुसार ही कार्य करती हैं।
3 विकास अधिकारी के रूप में कलेक्टर को यह भी देखना होता है कि प्रसार अधिकारियों को राज्य सरकार के विभिन्न विभागों से वाछनीय तकनीकी सहायता प्राप्त हुई अथवा नहीं।
4 कलेक्टर राज्य सरकारों को इस सम्बन्ध में प्रतिवेदन देता है कि योजनाओं में जो प्राथमिकताए निश्चित की गई है, उनका पालन किया जा रहा है अथवा नहीं।

स्पष्ट है कि कलेक्टर का विकास कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान है। जिला स्तर पर सामुदायिक विकास कार्यों में समन्वय तथा सहयोग स्थापित करने के लिए योजनाओ के निर्माण एव उनकी उचित रूप से क्रियान्विति के लिए कलेक्टर ही जिम्मेदार है। जिला परिषद् का अध्यक्ष न होते हुए भी तथा वोट देने का अधिकारी होने पर भी उसके विचारों

को प्रधानता दी जाती है तथा उसके अपने विचार नीति निर्णयों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। विकास कार्यों में आने वाली बाधाओं के निराकरण के प्रयास भी कलेक्टर करता है। इससे उसके पद की महत्ता और भी बढ़ जाती है। वर्तमान में जहा तक विकास कार्यों का सीधा सम्बन्ध है उससे कलेक्टर को मुक्त कर दिया गया है और अधिकतर राज्यों में स्थानीय स्तरों पर विकास कार्यों का उत्तरदायित्व पचायती राज सस्थाओं को सौंप दिया गया है। जिले के विकास कार्यों का अन्तिम उत्तरदायित्व अब इन्हीं सस्थाओं का है। प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिश के अनुसार कलक्टर को इन पर निरीक्षण एव नियन्त्रण रखने की आवश्यकता नहीं है। आयोग का यह भी मत था कि एक ही व्यक्ति नियमनकारी तथा विकास कार्यों का दायित्व नहीं निभा सकता। अत दोनों को अलग-अलग कर दिया जाये नियमनकारी कार्य कलेक्टर को सौंप दिये जाए तथा विकास कार्यों का दायित्व पचायती राज सस्थाओं को दिया जाये। इससे कलेक्टर नियमनकारी कार्य अधिक उचित तरीके से कर सकेगा एव उन पर ज्यादा ध्यान दे सकेगा।

दूसरी ओर यह भी विचार व्यक्त किया गया है कि विकास कार्यों के लिए कलेक्टर एक उचित व्यक्ति है, क्योंकि विकास कार्य व्यक्तिगत निर्देशन की अपेक्षा रखते हैं जो कि कलेक्टर के माध्यम से ही सुलभ हो सकता है। साथ ही विकास कार्य नवीन प्रकृति के हैं अत समय-समय पर इनका निरीक्षण आवश्यक है। विकास कार्यों के लिए प्रभावशाली समन्वय अपेक्षित है जिसकी पूर्ति केवल कलेक्टर ही कर सकता है। ऐसी स्थिति में विकास कार्यों का दायित्व कलेक्टर अधिक दक्षता से सम्भाल सकता है।

वास्तव में इस मत को स्वीकारा नहीं जा सकता क्योंकि कलेक्टर के पास उचित मात्रा से अधिक कार्य हैं। इतने कार्यों को वह दक्षतापूर्वक नहीं चला सकता। कलेक्टर से विकास कार्य लेने के अतिरिक्त उसकी कार्य क्षमता बनाये रखने के लिए जिले का क्षेत्र छोटा किया जा सकता है। उसे प्रोटोकोल कार्यों से तो मुक्त किया ही जाना चाहिए। इसके साथ ही कलेक्टर की कार्यदक्षता बनाये रखने के लिए उससे कुछ कार्य भी ले लेने चाहिए तथा महत्वपूर्ण सुविधाए दी जानी चाहिए। उसके द्वारा अध्यक्षता की जाने वाली कमेटियों की सख्या कम की जा सकती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कलेक्टर द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों की सूची पर्याप्त लम्बी है तथा व्यापक है। आज वह अर्दीन की भाँति एक लाइन अभिकरण न रह कर एक स्टाफ अभिकरण बन गया है। वृहत कार्य-क्षेत्र होने पर भी यह उल्लेखनीय है कि जिले के जो भी तकनीकी विषय हैं उन पर कलेक्टर का नियन्त्रण न होकर जिला स्तर के अन्य तकनीकी अधिकारियों का होता है।

कलेक्टर के कार्यों के सन्दर्भ में एक समस्या यह भी उठती है कि एक ओर तो कलेक्टर को कानून तथा व्यवस्था का दायित्व दिया गया है और दूसरी ओर वह अनेक कार्यपालन सम्बन्धी कार्य भी करता है। रिपोर्ट्स ऑफ दी टीचर फोर दी स्टेडी ऑफ कम्यूनिटी प्रोजेक्टस

एण्ड नेशनल एक्सन सर्विस तत्वों में अपेक्षित शक्ति विभाजन कैसे सम्भव है? यद्यपि कलेक्टर की इस स्थिति में वर्तमान में परिवर्तन आया है तथा अब विशुद्ध रूप से न्यायिक प्रकृति के कार्य न्यायपालिका को सौंप दिये गये हैं। इस सन्दर्भ में भारत के सात राज्यों में पूर्णत विभाजन हैं। ये राज्य हैं–

| | |
|---|---|
| उत्तर-प्रदेश में | न्यायपालिका व कार्यपालिका का विभाजन 47 जिलों में है। |
| उडीसा में | 13 में से 9 जिलों में |
| बिहार में | 17 में से 12 जिलों में |
| पजाब में | विभाजन की आधुनिक व्यवस्था 5 जिलों में प्रयोग की |
| राजस्थान में | आंशिक विभाजन हैं। |

गुजरात महाराष्ट्र, कर्नाटक, हरियाणा, तमिलनाडु, व केरल के अधिकाश जिलों में न्यायिक कार्यों के विभाजन की स्थिति देखी जा सकती है। जिन राज्यों में कलेक्टर के न्यायिक कार्य अशत या पूर्णत न्यायपालिका को नहीं सौंपे गये वहा ऐसा करने के लिए आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिए।"

कलेक्टर से न्यायिक कार्य तथा विकास कार्य के लिए जाने के बाद भी कलेक्टर के पद की महत्ता कम नहीं हुई, यद्यपि उसकी भूमिका का स्वरूप उसकी अतीत की भूमिका के स्वरूप से बदल गया। उसके कार्यों की प्राथमिकताए कार्यों का स्वरूप तथा लक्ष्य में एव महत्वपूर्ण परिवर्तन स्वतन्त्रता के बाद के युग में देखा जा सकता है। प्रजातन्त्रीय दायित्व पचायती राज की व्यवस्था तथा तकनीकी कार्यों की महत्ता ने उसकी भूमिका के स्वरूप में परिवर्तन ला दिया है। वास्तव में अभी तक यही सत्ता है, जो सरकारी कार्यों में बड़े स्तर पर समन्वय करती है।

स्पष्ट है कि कलेक्टर जिला प्रशासन के सन्दर्भ में केन्द्रीय व्यक्तित्व रखता है। स्वतन्त्रता के बाद आने वाले उसके कार्य-क्षेत्र, लक्ष्यों तथा प्रशासकीय दृष्टिकोण के परिवर्तनों ने कलेक्टर की महत्ता को किसी भी दृष्टि से कम नहीं किया। सम्पूर्ण प्रशासनिक त्रिकोण में कलेक्टर को मुख्य स्थिति तथा अधिक शक्तिया दी गई है। एक मध्यम स्तर के कार्यपालक से ज्यादा शक्ति व महत्ता दे कर उसे प्रभावशाली बनाने की चेष्टा की गई है। जिला स्तर के प्रशासन पर कलेक्टर का व्यक्तित्व मुख्य सूत्रधार के रूप में अतीत में भी था और वर्तमान में भी परिवर्तित स्वरूप में है।"

## जिला प्रशासन का भावी स्वरूप

स्वतन्त्रता के इतने वर्षों के बाद जबकि देश के सामाजिक और राजनीतिक ढाचे के परिवर्तन भावी व्यवस्था की ओर स्पष्ट सकेत देने लगे हैं। अत यह आवश्यक हो गया है कि देश के जिला प्रशासन के भविष्य के विषय में चिन्तन एव परिकल्पना प्रस्तुत की जाए।" यह इसलिए भी आवश्यक है कि देश की जनसख्या का एक भारी बहुमत अभी काफी लम्बे

समय तक जिला प्रशासन के माध्यम से ही सरकारी नीतियों के सम्पर्क में आएगा। इसी प्रकार जैसे-जैसे देश में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था सुदृढ बनती है यह प्रश्न भी विचारणीय एव विवादास्पद बनता जाता है कि क्या जिला-स्तर के प्रशासन को नौकरशाही के भरोसे छोड कर पचायतीराज के तन्त्र को कोई नई दिशा दी जाये। विकास प्रशासन के दो दशक के अनुभव के बाद आज जिला-स्तर पर इतना राजनीतिक आधुनिकीकरण हो चुका है कि यदि प्रशासन चाहे तो भी उसके लिए यह सम्भव नहीं है कि वह शान्ति और व्यवस्था के नियमनकारी प्रशासन को जन प्रतिनिधियों तथा राजनीतिक दलों के प्रभाव अथवा हस्तक्षेप से अछूता रख सके। शिक्षा को अपने अधिकार क्षेत्र में लेने वाला पचायती राज निकट भविष्य में पुलिस और मजिस्ट्रेसी की भी माग कर सकता है और शायद एक स्तर के बाद उसे करनी भी चाहिए। अत यह आवश्यक है कि जिला राजनीति, जिला समस्याए, जिला नेतृत्व तथा जिला विकास के सदर्भ में जिला प्रशासन की भूमिका का सम्यक् निरूपण कर भविष्य का कोई स्वरूप निर्धारित किया जाए। यह स्पष्ट है कि यह स्वरूप सारे देश के राज्यों में एक-सा नहीं हो सकता और न ही इसे एक साथ एक समय सारे जिलों में लागू किया जा सकता है। फिर भी देश की राजनीतिक व्यवस्था, गत पच्चीस वर्षों के प्रशासनिक अनुभव तथा भारतीय राजनीति की सीमाओं को देखते हुए भारतीय प्रशासन के सम्मुख तीन विकल्प स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें नीति निर्देशक मानकर जिला प्रशासन के भावी स्वरूप पर विस्तार से विचार किया जा सकता है और धीरे-धीरे उसे राज्यों की स्थिति के अनुरूप विकसित भी किया जा सकता है। भविष्य के ये तीन विकल्प हैं–

1 जिला प्रशासन को स्थाई रूप से राज्य सरकार का अधिकार क्षेत्र एव उत्तरदायित्व मानकर फ्रास की भाति एक सुदृढ प्रशासनिक व्यवस्था की जाये। यह स्थिति वर्तमान की यथास्थिति को ही आगे ले जाना हो सकती है, जिसमें कलेक्टर प्रीफेक्ट की भाँति जिलाधीश बना रह सकता है। प्रशासनतन्त्र का यह ढाचा केन्द्रीकरण एव प्रशासनिक नीति की क्रियान्विति का एक अच्छा मॉडल माना जा सकता है। भारत में इसे ऐतिहासिक पवित्रता भी मिली हुई है और गत दशक मे लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की चर्चा के बावजूद भी प्रशासनतन्त्र का यह जिलास्तरीय स्वरूप काफी कुछ सशक्त बना है। यद्यपि यथास्थिति और नौकरशाही का यह मॉडल जनतन्त्रात्मकता की भावना से मेल नहीं खाता और भावी राजनीतिकरण की दृष्टि से इसमें कितने ही अन्तर्विरोध है, फिर भी यदि नीति यह है तो स्वीकार कर जिला प्रशासन को भू-राजस्व, शान्ति व्यवस्था, जनकल्याण तथा विकास के चार क्षेत्रों में वर्गीकृत कर, जिलाधीश के तत्वावधान में एक समन्वित प्रशासन के रूप में विकसित किया जा सकता है।

2 दूसरा विकल्प यह है कि जिलास्तरीय प्रशासन का सम्पूर्ण रूप से लोकतान्त्रीकरण करने के लिए ससदीय व्यवस्था को राज्यों की राजधानियों से नीचे उतार

कर त्रिस्तरीय संघ व्यवस्था स्थापित की जाए। राज्य की भांति जिला स्तर पर जिला परिषद् को व्यवस्थापिका घोषित कर जिला प्रमुख के नेतृत्व में जिला मन्त्रिमण्डल बनाये जाए और संसदीय प्रणाली से कार्य चलाया जाए। ग्राम सभा से लोक सभा तक को जोड़ने वाला इस संसदीय प्रणाली में कलेक्टर की स्थिति जिला प्रशासन के मुख्य सचिव की होगी। नौकरशाही जनप्रतिनिधियों के अधीन होगी। स्थाई सरकार स्वायत्त शासन स्थापित कर सकेगी और युगों से स्वदेशी शासकों तथा विदेशी शासकों का शोषण भुगतने वाली ग्रामीण जनता सच्चे अर्थों में नौकरशाही और शहरी शिक्षितों के नियन्त्रण से मुक्ति की सांस ले सकेगी। *भारत में जितने बड़े और जितने घनी जनसंख्या वाले जिले हैं, उसको देखकर तो लगता है कि कुछ जिलों का शासन बेल्जियम, डेनमार्क तथा इंग्लैण्ड से भी अधिक व्यावहारिक होगा।* विकास और व्यवस्था दोनों दृष्टियों से यह इकाई अधिक उपयुक्त एवं सफल सिद्ध होगी। स्थानीय स्वराज्य का यह जिला स्तरीय स्वरूप अन्ततः जिलाधीश में पद को समाप्त कर प्रशासन को एक गौण स्थिति में डाल देगा। अतः यह तर्क दिया जाता है कि भारत की ग्रामीण एवं अविकसित स्थिति को देखते हुए यह चित्र अभी सैंकड़ों वर्ष दूर है और कोरी विश्वविद्यालयी प्रोफेसरों की कल्पना है। किन्तु जिस गति से देश में राजनीतिकरण बढ़ रहा है और विकास के दबाव प्रशासन को तोड़ रहे हैं उसे देखते हुए यदि हम प्रथम नीतिविषयक निर्णय न ले सके तो स्वायत्त शासन की यह मांग जिला प्रशासन को जिले की उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार में शीघ्र ही बदल सकती है। उस स्थिति में प्रशासन की भूमिका वैसी ही होगी जैसी कि सामान्य जनतन्त्रात्मक व्यवस्थाओं में हुआ करती है।

3. *तीसरा विकल्प मध्यवर्गी है जो संक्रमण काल की स्थिति में आन्ध्रप्रदेश की राजू समिति ने भी सुझाया है। चूंकि वर्तमान में हम नौकरशाही और स्वायत्त शासन दोनों में से एक पूरी तरह चुनने में असमर्थ एवं अस्पष्ट हैं, अतः हम दोनों को मिला कर एक* मिश्रित ढांचा खड़ा कर सकते हैं। राजू समिति ने जिला प्रमुख तथा जिलाधीश के साथ तीन व्यक्तियों की एक जिला समिति की सिफारिश की थी जो जिला प्रशासन की सम्पूर्ण नीतियों एवं उनकी क्रियान्विति के लिए उत्तरदाई ठहराई जा सके। समन्वय के अतिरिक्त यह समिति एक प्रशासकीय-निकाय का कार्य कर सकती है इसके तत्वावधान में व्यवस्था तथा विकास दोनों प्रकार के प्रशासन चल सकेंगे। वर्तमान द्वैध शासन तथा कलेक्टर एवं पंचायती राज के समान्तर प्रशासनों को देखते हुए लगता है कि भविष्य में इस प्रकार की व्यवस्था अधिक व्यावहारिक होगी। किन्तु प्रकृति से विरोधाभासी होने के कारण इस मिश्रित व्यवस्था में नौकरशाही एवं जनप्रतिनिधियों के बीच सत्ता संघर्ष की सम्भावनाएं हैं और अन्ततः प्रथम दो विकल्पों में से एक को चुनना अनिवार्य लगता है। किन्तु संक्रमण काल के लिए इस विकल्प की उपयोगिता निर्विवाद है।

इस प्रकार भविष्य में जिला-प्रशासन चाहे प्रशासनतन्त्र की ओर मुड़े या जनतन्त्र

की ओर, इतना निश्चित है कि वह वर्तमान साम्राज्यवादी स्वरूप में नहीं रह सकता। पचायती राज में चाहे कितनी ही कठिनाइया एव त्रुटिया हैं, यह असम्भव है कि वह इस स्थिति को पाकर अब पूर्णत समाप्त कर दिया जाए। यदि पचायती राज विकसित होता है, तो विकास प्रशासन जिला प्रशासन तन्त्र को किसी भी स्थिति में नहीं दिया जा सकता। बचे हुए भू-राजस्व, शान्ति व्यवस्था तथा न्याय क्षेत्र की शक्तियों के विषय में कुछ भावी प्रवृत्तिया अभी से देखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए न्यायपालिका का पृथक्करण उच्च न्यायालयों के तत्वावधान में स्वतन्त्र जिले न्यायालय खडे करेगा और भविष्य का जिला प्रशासन उन पर कोई अधिकार क्षेत्र नहीं रख सकेगा। समाजवाद एव भूमि-सुधारों की बढती हुई माग भू-राजस्व के स्थान पर कृषि आय कर का रूप ले सकती है और ऐसा होने पर आयकर विभाग कलेक्टर के सारे जिले प्रशासन की रीढ की हड्डी ही तोड कर रख देगा। इसी प्रकार यदि पुलिस प्रशासन के क्षेत्र में वान्छित सुधार कर दिये गये तो जिले का पुलिस अधीक्षक, जिलाधीश के वर्तमान नियन्त्रण से मुक्त एक स्वशासित एव उत्तरदायित्वपूर्ण अधिकारी बन जायेगा। इस प्रकार जिलाधीश में केन्द्रित वर्तमान जिला-प्रशासन, जिला-जनतन्त्र के आये बिना भी छिन्न-भिन्न हो सकता है। न्यायपालिका का पृथक्करण तथा पचायती राज की स्वीकृति इस दिशा में ऐसे दो महत्वपूर्ण कदम हैं जो सवैधानिक हैं और पीछे नहीं हट सकते और जिनका प्रभाव वर्तमान जिला प्रशासन को बदलने के लिए शीघ्र ही विवश करने वाला है। फिर बढते हुए राजनीतिकरण एव विकास आकाक्षाओं को रोकना भी एक राजनीतिक असम्भाविता है। ये दोनों दबाव अपराध, अव्यवस्था, हिसा, तनाव आदि को जिला स्तर पर प्रशासनिक चुनौतियों के साथ में बढायेंगे। दूसरे शब्दों में विकास प्रशासन व्यवस्था प्रशासन पर दुगुना भार डालेगा जिसके फलस्वरूप समानान्तर प्रशासन की द्वैधता व्यावहारिक नहीं रह सकेगी।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय प्रशासन में जिला प्रशासन एक आधारभूत इकाई रहा है, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा। उपनिवेशवादी दर्शन ने इसे जो स्वरूप एव भूमिका दी है वह आज बदल रही है, किन्तु भविष्य में यदि लोकतत्र और सघवाद भारतीय सवैधानिक व्यवस्था के आधार रहते हैं तो जिला प्रशासन या तो जिला सरकार का रूप धारण करेगा अथवा उसे अपने प्रशासनिक दर्शन, व्यवस्थागत स्वरूप, प्रबन्ध-कार्य एव अधिकार क्षेत्रों को इस प्रकार बदलना पडेगा कि वह जन कल्याण एव स्वराज्य का यत्र बन सके। इसके लिए आवश्यक है कि उसके स्वरूप निर्धारण में भूतकाल की उपलब्धियों एव वर्तमान की सीमाओं की ओर न देखते हुए भावी समस्याओं एव सम्भावनाओं के सदर्भ में विचार किया जाए।

# भारत में पुलिस प्रशासन

भारत में पुलिस एक गतिविधि के रूप में उतनी ही पुरानी है जितना पुराना मानवीय समाज और वैसे भी अपराधों से तो सभी समाजों की अपनी खासतौर पर पहचान प्रारम्भ से ही जुड़ी रही है। यह एक यथार्थ है कि प्रत्येक समाज एवम् सभ्यता में प्रारम्भ से ही अपराधों की उपस्थिति एवम् उनके रोकथाम के प्रबन्ध किए जाते रहे हैं, पर जहां तक इसके वर्तमान स्वरूप का प्रश्न है इसका सीधा-सादा सम्बन्ध वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से है। इसलिए दुनिया की इस सबसे पुरानी सभ्यतावाले देश भारतवर्ष में पुलिस एक ऐसी व्यवस्था के रूप में विकसित हुई जो एक ओर समाज में कानून और व्यवस्था को लागू करती है तथा दूसरी ओर वह राष्ट्र की सुरक्षा की भूमिका निभाती है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि पुलिस की वर्तमान संरचना शनै शनै विकसित हुई है। आरम्भ में यह भूमिका सेना निभाती थी जो कि राज्य की तथा उसके निवासियों की आन्तरिक तथा बाहरी दुश्मनों से रक्षा करती थी। यह संस्था ही पंचायती राज इकाईयों के आदेशों के निष्पादन सम्बन्धी कार्य करती थी। ज्यों-ज्यों सेना की जिम्मेदारियां दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगीं त्यों-त्यों कानून और व्यवस्था लागू करवाने के लिए एक अलग संस्था खड़ी करने की बात जोर पकड़ने लगी। मौलिक रूप से इसे नागरिकों की सेवा सुश्रुषा करने वाली संस्था के रूप में खड़ा किया गया, पर समय-समय पर आवश्यकता पड़ने पर इसे सैनिक कार्यों में भी प्रयोग किया जाने लगा तथा जहां तक नामों का सवाल है इनका आकार-प्रकार हर जगह अलग-अलग स्वरूपों में दिखाई देता था।

यह भी एक वास्तविकता है कि एशियाई तथा अफ्रीकी देशों में राज्य की कानूनी सत्ता के स्रोतों में फेरबदल पश्चिमी दुनिया की तुलना में काफी बाद में हुआ क्योंकि वे राजनैतिक दृष्टि से परतन्त्रता का जीवन जी रहे थे। इसलिए सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में भी बदलाव देरी से आया। राजनैतिक परतन्त्रता के कारण वे देश आर्थिक दृष्टि से भी दब एवम् पिछड़ रहे। परिणाम यह हुआ कि राजनैतिक रूप से स्वतंत्र होने के बाद भी इनके विकास एवम् प्रगति के रास्ते में बड़ी-बड़ी बाधाएं आईं। फिर इन देशों को जब नई-नई स्वतन्त्रता एवम् विश्व में स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में पहचान मिली तब इनमें सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति करने की इच्छा भी जागृत हुई। इन इच्छाओं की उड़ान की तुलना में उनके सामाजिक, आर्थिक तथा मानवी साधन बौने लगने लगे। इस प्रकार सरकारों पर यह नई जिम्मेदारी आ गई कि वे जनता की मांगों तथा भावनाओं को पूरा करने के लिए आवश्यक कदम उठाएं। एक ओर तो उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों में विकास करने के लिए आवश्यक कदम उठाए तो दूसरी ओर उन्हें विकास की शक्तियों को गरमाना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि पश्चिमी देशों में जो भूमिका सामाजिक आन्दोलनों ने निभाई वह भूमिका एशियाई व अफ्रीकी दुनिया में सरकार को ही निभानी पड़ेगी। इससे सरकार की जिम्मेदारी में एक नया पहलू जुड़ जाता है और वह यह है कि

वह सामाजिक बुराईयों का अन्त कानूनों के माध्यम से करे। जैसे अभी हाल ही में राजस्थान राज्य के दिवराला गाव में हुई सती जैसे सामाजिक कुप्रथाओं को रोकने के लिए सती निवारण विधेयक, 1987 पारित कर इस कुप्रथा को रोकने के प्रयास किये गये हैं। सरकारी सत्ता की इस बदलती हुई भूमिका के साये में पुलिस को भी अहम् भूमिका निभानी पड़ती है क्योंकि कानूनों को लागू कराने की जिम्मेदारी तो आखिरकार उसकी ही होती है।

भारत को भी उपरोक्त समस्याओं से ही जूझना पड रहा है। ऐसे में भारतीय पुलिस उसमे अछूती कैसे रह सकती है। चूंकि सभी क्षेत्रों में जनता की मागें बढती चली जा रही हैं इसलिए उसके अनुपात में ही सरकार के उत्तरदायित्व एवम् जवाबदेहिता भी बढती चली जा रही है।

स्वाधीनता के बाद में आए इस नए परिवर्तन को कुल मिलाकर हम "उफनती हुई इच्छाओं का सैलाब" भी कह सकते हैं। आजादी मिलने के बाद में समाज के पिछडे व सताए हुए लोगों की भावनाए गहराने-बलखाने लगी हैं। आमतौर पर इससे लोगों की चेतना भी बढी है। वास्तविकता यह है कि आर्थिक प्रगति करने तथा सामाजिक समानता लाने के अनेक कार्यक्रम चलाए गए हैं, पर उनके परिणाम अधिक आशाजनक नहीं रहे हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह भी निकला है कि सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में मनुष्य मनुष्य के बीच में पाई जाने वाली खाई गहरी हुई है। इससे समाज में आपसी मन-मुटाव, तनाव, लडाई-झगडे तथा दगे-फसाद के मौके और ज्यादा बढे हैं। राजनीतिक हलचल से और अधिक गलतफहमी का बढना तथा सार्वजनिक व्यवस्था का और अधिक गडबडाना स्वाभाविक है।

बढती हुई जनसख्या तथा उफनती हुई चेतना के कारण भारतीय समाज भी तेजी से समस्याओं का महासागर बनता जा रहा है। बढती हुई जनसख्या के कारण पुलिस का उत्तरदायित्व बढ जाता है क्योंकि भीड-भाड होने से कानून और व्यवस्था बनाए रखना मुश्किल हो जाता है तथा कानून एवम् व्यवस्था की स्थिति असन्तुलित हो जाती है। जनसख्या बढने की समस्या से निपटने के लिए हमें जनता को शिक्षित करने के लिए अधिक शैक्षणिक सस्थाए यथा स्कूल तथा कालेज खोलने पड़ेंगे तथा पढे-लिखे लोगों के लिए अधिक नौकरिया तथा रोजगार के अवसर तलाशने होंगे। अब यदि व्यवस्था अपने लक्ष्यों की पूर्ति में असफल होती है, जिसकी कि ज्यादा उम्मीद है, तो उससे न केवल शिक्षा के स्तर में गिरावट आएगी वरन् उससे आखिर में जाकर पढने लिखने वाले तबके में बगावत की भावना भी सिर उठाएगी। उद्योग-धधों के फैलाव तथा शहरीकरण के कारण ही मजदूरों में तनातनी फैलने लगती है। इस तरह अपराधियों की सैरगाह के रूप में गदी बस्तिया पनपने लगती हैं। फिर जिस प्रकार वैज्ञानिक तथा तकनीकी खोजें हुई हैं उनके कारण से भी बडे-बडे तथा सगठित अपराध करने में सहायता मिलती है। इसकी सहायता से ही सगठित समूह व राजनीतिक दल बडे पैमाने पर आन्दोलन चलाते हैं। ऐसी स्थिति में पुलिस

से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह अव्यवस्था, अपराधियों तथा समाजविरोधी लोगों के झुण्डों तथा राजनीतिक गतिविधियों से निपट लेगी जब तक कि एक ओर लोगों में इस बदलाव के बारे में चेतना नहीं आएगी तथा दूसरी ओर पुलिस के पास इससे निपटने के लिए पूरी तैयारिया नहीं होंगी।

प्रश्न यह उठता है कि बदलते हुए समाज में कैसी पुलिस होनी चाहिए? वह किसी भी दृष्टि से अब सताने वाली तथा आख मूदकर चलने वाली नहीं हो सकती है। आजकल उसे लोकशाही सत्ता की सहायता करने वाली इकाई के रूप में काम करने की आवश्यकता है। अब उससे जनता की सेवक बनने की आशा की जाती है। इसलिए उसे जनता के सेवक बनने की भूमिका निभाने की तैयारियों में जुट जाना चाहिए।

स्वतंत्र भारत में पुलिस की जिम्मेदारिया पृथक् प्रकार की हो गई हैं तथा उसे नए-नए दबावों व मांगों का सामना करना पड़ रहा है। एक ओर तो वह माहौल बदल गया है जिसके अन्तर्गत उसे काम करना पड़ रहा है, इसलिए उसे उसके अनुसार ढलने के लिए तैयारिया करनी होंगी। पर इन नए हालात में जब जवाबी हल तय करने का मौका आता है तब वह घबरा जाती है। वह अर्जुन की तरह सोचने लगती है कि किधर जाए और किधर नहीं जाए। भारत में पुलिसवालों की दुविधा इसलिए भी पैदा हो जाती है क्योंकि एक ओर तो सरकारों में फेरबदल, दकियानूसी, पुराणपंथी तथा आधुनिकता के बीच टकराव तथा उनके दबावों के कारण पुलिस परेशान होती है तो दूसरी ओर उसे माहौल में दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है अर्थात् उसे समाज के सदस्य तथा पुलिस अफसर की जिम्मेदारियों के बीच तालमेल बैठाना पड़ता है। इसी कारण वह सही निर्णय नहीं कर पाती है, जबकि ब्रिटिश-शासन के समय में ऐसी किसी दुविधा का सामना उसे नहीं करना पड़ता था। अब यह बहस की जा सकती है कि भारतीय पुलिस ने लोकशाही के अन्तर्गत पिछले 50 वर्षों में जो अनुभव प्राप्त किए हैं उनके आधार पर वह सभी चुनौतियों को झेल सकती है। वह जरूर ही ऐसा कर पाती यदि सचमुच में भारतीय पुलिस को परिस्थितियों के अनुरूप नए ढंग में ढाला जाता। यह माना जाना चाहिए कि फिर भी भारतीय पुलिस ने अपनी सभी कमजोरियों के बावजूद अनेक नई-नई चुनौतियों का भली-भांति मुकाबला किया है यद्यपि कुछ मामलों में उसे अधिक सफलता नहीं मिल पाई है।

हमारे देश के राजनीतिक इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना यह है कि हमने सदियों पुराने उपनिवेशी सत्ता के शिकंजे से स्वतंत्रता प्राप्त की है। ध्यान रखने की बात यह है कि राजनीतिक स्वतंत्रता से तात्पर्य महज उपनिवेशी शासकों से देशी राजनेताओं तथा नौकरशाही में सत्ता का हस्तान्तरण ही नहीं होता है। इस बदलाव से तात्पर्य होता है–राजनीतिक स्वतंत्रता का प्राप्त होना तथा एक उपनिवेशी समाज का लोकशाही की सत्ता के रूप में उभरना। आमतौर पर इस परिवर्तन का नौकरशाही की भूमिका तथा खास तौर पर पुलिस की भूमिका पर असर पड़ता है। अब नौकरशाही का काम महज शोषणकारी

दमनकारी समाज को बनाए रखने तथा चलाए रखने से सम्बन्धित ही नहीं है वरन् उसे विकास एवम् प्रगति करनेवाली भूमिका निभानी है। पहले वह राष्ट्रीय भावनाओं के विरुद्ध विदेशी दमनकारी सत्ता को बनाए रखने में लगी रहती थी, अब उसे देश की सेवा तथा लोककल्याणकारी भूमिका निभानी होती है और वह यह भूमिका शांति तथा व्यवस्था बनाए रखकर ही निभा सकती है।

## भारतीय पुलिस को समझने की आवश्यकता

वैसे भारतीय पुलिस को समझने के लिए समय-समय पर अनेक पुलिस आयोगों का गठन किया गया है ताकि उसकी समस्याओं को ठीक से समझकर उनका समाधान ढूंढा जा सके पर उनमें से अधिकांश आयोग यह काम ठीक से नहीं कर पाये क्योंकि पुलिस स्वय अभी तक भारी फेरबदल के दौर से गुजर रही है। वस्तुत जो पुलिस उपनिवेशी ढांचे के रखरखाव के लिए बनाई गई थी तथा जिसने इस काम को बखूबी पिछले दो शताब्दियों से निभाया था उसका पेशोपेश में पड जाना स्वाभाविक था जबकि अचानक उसे उपनिवेशी सत्ता की बजाय लोकशाही की सत्ता के अधीन काम करना पडा। अत जब देश स्वतत्र हुआ, उस समय देश की पुलिस-व्यवस्था एवम् पुलिस-कर्मचारियों की मानसिक स्थिति एक विशेष प्रकार के मूल्य-ढांचे में ढल चुकी थी और इसलिए उन्हें यह लगने लगा कि पिछले दो सौ वर्षों में उन्होंने जो सगठनात्मक स्वरूप एवम् कार्यकरण की शैली तथा प्रशिक्षण प्राप्त किया है वह अचानक बेमानी हो गया है। वे अब यह सोचने लगे हैं कि उन्हें इस बात के लिए बधाई दी जानी चाहिए कि उन्होंने अपने आपको इस परिवर्तित वातावरण के अनुरूप ढाल लिया है तथा स्वतत्रता के बाद के पचास वर्षों में राष्ट्र में अमन-चैन बनाए रखने में सहायता की है जिससे लोकशाही की जड़ें इस देश की धरती में मजबूती से जमने लगी हैं। पर जब एक ओर आन्दोलनों, जुलूसों, धरनों आदि की झडी लगने लगी एवम् दूसरी ओर जनता की भावनाओं के उभार को व्यक्त करने वाले विरोधों की घटनाएं घटने लगीं तब भारतीय पुलिस पर काफी दबाव बढ़ता गया। प्रथम तो यह थी कि स्वतत्रता की लडाई के दौरान उडे विरोधों की तुलना में आन्दोलन ज्यादा जोरदार थे। दूसरे वे जिन तरीकों से आन्दोलनों से निपटने के आदी थे उसकी भी भारी आलोचना की गई। यह हालत भी उनके लिए बिल्कुल अजनबी थी। यह दुविधा इसलिए और भी ज्यादा बढ गई क्योंकि न तो पुलिस को नई भूमिका के अनुरूप ढालने की कोशिशें की गईं और न ही पुलिस को नये रूप में दुबारा गढने का कोई प्रयास ही किया गया तथा न ही उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने की दिशा में कोई कदम उठाया गया।

इस लगातार अनदेशी व नकारात्मक रवैये का जो स्वाभाविक परिणाम निकला वह यह है कि सन् 1979 के बाद से भारतीय पुलिस में लगातार विरोध तथा आन्दोलनों की झड़ी लगी हुई है। इससे अनेक सामाजिक, राजनीतिक, सगठनात्मक तथा प्रशासनिक मुद्दे उभर कर सामने आए हैं। पर बदकिस्मती की बात यह है कि इन आन्दोलनों से निपटने

के बारे में केन्द्रीय व राज्य सरकारों का रवैया कामचलाऊ प्रकृति का रहा है तथा वह यह दर्शाता है कि उनकी पुलिस के बारे में समझ सतही स्तर की रही है। जो कोई भी रियायतें दी गई हैं अथवा उनकी घोषणाएं की गई हैं वे घोषणाएं भी बिना पूरी समस्या को दृष्टिगत रखते हुए ही की गई हैं। इससे कुछ समय के लिए तो हल निकल आए पर इससे दूरगामी परिणाम निकलने वाले नहीं हैं। समस्या महज चन्द रुपये या सुविधाएं जुटाने की नहीं है पर यह ज्यादा बुनियादी प्रकार की है। समय की माग है।

## भारतीय पुलिस व्यवस्था का संगठनात्मक स्वरूप

भारतीय पुलिस व्यवस्था की प्रमुखत तीन निम्न मुख्य विशिष्टताएं रही हैं—

(1) सशस्त्र तथा नि शस्त्र पुलिस कान्सटेबल-व्यवस्था,

(2) राज्य आधारित पुलिस सगठन, एवम्

(3) क्षैतिजीय विभेदीकरण।

इन तीनों प्रमुख विशिष्टताओं से ही पुलिस प्रशासन की अन्य गौण विशेषताएं प्रगट होती हैं जो कि अनेक राज्य पुलिस सगठनों को विविध तथा भिन्न बनाते हैं। फलत वे उनके कार्मिकी की प्रकृति को अर्द्ध-सैनिक तथा अतिशिष्ट भी बनाते हैं।

भारत के वर्तमान राज्यों में जो पुलिस सगठन पाए जाते हैं वे प्राथमिक रूप से सन् 1861 के भारतीय पुलिस अधिनियम द्वारा शासित होते हैं तथा यह अधिनियम स्वय सन् 1860 में गठित पुलिस आयोग की अनुशसाओं (सिफारिशों) पर आधारित हैं। उल्लेखनीय है कि आज भी देश के राज्यों में जो पुलिस सगठन विद्यमान हैं वे अभी भी उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित हैं जिनका प्रणयन दो शताब्दियों से भी अधिक समय से पूर्ण पुलिस आयोग द्वारा किया गया था।

अधिनियम में व्यवस्था की गई है कि "एक सामन्य पुलिस जिले (इस शब्दावली को अब राज्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है) के पुलिस प्रशासन का समस्त कार्य सचालन पुलिस महानिरीक्षक नामक एक पदाधिकारी करेगा तथा उसकी सहायतार्थ अनेक उप-महानिरीक्षक तथा सहायक महानिरीक्षक होंगे तथा उनकी सख्या आवश्यकतानुसार निर्धारित की जाएगी।" इसके अतिरिक्त सन् 1861 के पुलिस विधेयक में भारत में पुलिस सगठन के सिद्धान्त के विषय में यह भी कहा गया है—

"एक जिले के 'मजिस्ट्रेट' के समस्त अधिकार क्षेत्र में जितना भी पुलिस प्रशासन होता है वह जिला मजिस्ट्रेट के सामान्य नियन्त्रण तथा निर्देशन में ही होता है तथा उसके परिचालन का अधिकार जिला पुलिस अधीक्षक तथा सह-पुलिस अधीक्षकों को होता है।" (सह-पुलिस अधीक्षकों की सख्या राज्य सरकारें आवश्यकतानुसार निर्धारित करती हैं) इस प्रकार सन् 1861 के पुलिस अधिनियम के उपरोक्त दो अनुच्छेद द्विस्तरीय पुलिस व्यवस्था की आधारशिला रखते हैं (1) राज्य स्तरीय पुलिस व्यवस्था, एवम् (2) जिला स्तरीय पुलिस राज्य की कार्यपालक भुजा के रूप में कार्य करेगी तथा उसका सचालन पुलिस

महानिदेशक तथा पुलिस अधीक्षक राज्य में करेंगे। तथापि वे राज्य सरकार के पूर्ण नियन्त्रण, निर्देशन तथा अधीक्षण में ही कर्त्तव्यपालन करेंगे तथा जिला स्तर पर सम्बन्धित पुलिस अधिकारी अपने-अपने कार्यक्षेत्र में जिला मजिस्ट्रेट के सामान्य नियत्रण एवम् निर्देशन में कार्य करेंगे। भारतीय सघ के राज्यों में पुलिस विभागों को प्राय गृह मत्रालय के अन्तर्गत रखा जाता है जिनका अध्यक्ष या तो मुख्यमत्री होता है अथवा मत्रिमण्डल का कोई वरिष्ठतम सदस्य जिसे गृहमत्री के नाम से अभिहित किया जाता है, होता है। गृह मत्री प्राय पुलिस प्रशासन के नीति निर्धारण कार्यों से सम्बद्ध होता है तथापि समस्त विभाग उसी के समग्र नियत्रण तथा अधीक्षण में कार्य करता है क्योंकि अन्ततोगत्वा वही पुलिस प्रशासन के सामान्य कार्यकरण के लिए विधायिका के प्रति उत्तरदाई होता है। जहा तक प्रशासकीय पक्ष का सम्बन्ध है राज्य के पुलिस प्रशासन का प्रभारी गृह सचिव होता है। गृह सचिव (जो कि प्राय भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है) एक ओर तो केन्द्रीय सरकार के निर्देशों में तथा राज्य पुलिस प्रशासन की वैविध्यपूर्ण गतिविधियों में समन्वय लाने तथा उनके नियन्त्रण, निर्देशन तथा अधीक्षण का कार्य करता है तो दूसरी ओर वह उसी प्रसग में जिला पुलिस अधिकारियों के मार्गदर्शन का प्रयास करता है। ध्यातव्य है कि गृह सचिव की इन सभी दायित्वों के निर्वाह में परामर्श तथा सहायता करने की भूमिका पुलिस महानिदेशक अथवा पुलिस महानिरिक्षक निभाता है तथा वह आगे चलकर गृहमंत्री को परामर्श तथा सहायता प्रदान करता है ताकि वह राज्य में आन्तरिक सुरक्षा तथा कानून एवम् व्यवस्था बनाए रखने के विषय में उचित नीतियों का न केवल निर्माण कर सके अपितु वह उनको क्रियान्वित भी कर सके। वैसे भी पुलिस प्रशासन के प्रसग में राज्य के गृह सचिव के निम्नाकित मुख्य कार्य होते हैं जिनका कि उसे निर्वाह करना पड़ता है—

(1) वह नीति विषयक प्रसगों में गृहमत्री को परामर्श एवम् अन्य सहायता उपलब्ध कराता है,

(2) वह राज्य के पुलिस विभाग के कार्यों का सामान्य प्रशासनिक अधीक्षण कार्य करता है;

(3) वह पुलिस के कार्मिक प्रशासन की समस्त समस्याओं का निराकरण करता है, तथा

(4) वह सगठनात्मक सुधारों की प्रक्रिया का श्रीगणेश करता है एवम् राज्य में पुलिस विभाग के विकास तथा उत्थान की दिशा में भी प्रयत्नशील रहता है।

सक्षेप में, वह राज्य पुलिस प्रशासन में प्रशासनिक सत्ता की सर्वोच्चता का प्रतीक होता है। वह एक ओर तो सामान्य होता है तथा दूसरी ओर वह गैर-व्यावसायिक होता है जिसके पास जाकर मुख्यालय में कार्यरत पुलिस के व्यावसायिक लोग सलाह तथा मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं।

भारतीय राज्यों के पुलिस प्रशासन के इस राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था के अतिरिक्त राज्य के अपने व्यावसायिक लोग होते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है राज्य पुलिस-प्रशासन में उच्च पुलिस अधिकारी अखिल भारतीय पुलिस सेवा के सदस्य होते हैं। राज्य स्तर पर पुलिस का उच्चतम अधिकारी पुलिस महानिरीक्षक होता है जिसका कि नया नामकरण आजकल राजस्थान सहित अधिकांश राज्यों में पुलिस महानिदेशक कर दिया गया है।

भारतीय पुलिस अधिनियम (सन् 1861) के अनुच्छेद 4 के अनुसार तत्कालीन सामान्य जिले के समस्त पुलिस प्रशासन के लिए महानिरीक्षक पुलिस को उत्तरदाई ठहराया गया है। इसी अधिनियम के अनुच्छेद 1 की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण में कहा गया है कि जिस किसी क्षेत्र में अर्थात् राज्य अथवा जिले अथवा जिले के किसी भाग में इस विधेयक को लागू किया गया है उन सभी क्षेत्रों में महानिरीक्षक का प्रशासन ही चलेगा। आज की तिथि में भी भारतीय संघ के प्रत्येक राज्य में इस पुलिस-जिले-प्रशासन के अन्तर्गत ही समस्त राज्य को समाहित किया जाता है। इसलिए प्रत्येक राज्य में एक महानिरीक्षक अथवा महानिदेशक होता है तथा उसकी सहायता हेतु अनेक विशिष्ट महानिरीक्षक, अतिरिक्त उप तथा सहायक महानिरीक्षक भी होते हैं जो कि उसके कार्य निष्पादन में सहायता करते हैं।

राज्य पुलिस प्रशासन में महानिदेशक तथा महानिरीक्षक का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है तथा वह राज्य सरकार तथा पुलिस विभाग के मध्य एक सम्पर्क-सेतु का कार्य करता है। वह राज्य सरकार के मुख्य सलाहकार के नाते निम्नांकित दायित्वों का निर्वहन करता है–

(1) वह समस्त सूचनाओं/जानकारियों के सग्रहीत करने तथा सम्प्रेषित करने हेतु राज्य सरकार के प्रति उत्तरदाई होता है। इस कार्य में उसकी सहायता उपमहानिरीक्षक (सूचना विभाग प्रभारी) करता है। महानिदेशक/महानिरीक्षक का यह दायित्व है कि वह राज्य सरकार को उन सभी घटनाक्रमों (इनमें राजनीतिक तथा अन्य सभी महत्वपूर्ण घटनाक्रम भी समाहित होते हैं) से परिचित कराता रहता है जिनसे कि कानून एवम् व्यवस्था के कुप्रभावित होने का संकट होता है। वह औद्योगिक अशान्ति, साम्प्रदायिक तनाव, कृषकों के आन्दोलन तथा छात्र-आन्दोलन आदि की जानकारियों से राज्य शासन को अवगत कराता रहता है,

(2) वह राज्य सरकार को न केवल अपराध की स्थिति से सूचित करता है अपितु वह यह भी बतलाता है कि किस विशिष्ट प्रकृति के अपराध गम्भीर रूप ग्रहण कर रहे है। इस काम में उसकी सहायता उपमहानिरीक्षक (गुप्तचर सेवा)

करता है,

(3) वह न केवल राज्य सरकार को उन सभी मामलों से अवगत कराता है जिनसे कि राज्य की सुरक्षा को सकट पैदा होने की आशका होती है वरन् वह ऐसे प्रतिकारात्मक प्रयास भी करता है जिनके कारण कि प्रस्तुत सकट उत्पन्न हुआ है,

(4) वह राज्य सरकार को ऐसे विषयों में भी सलाह देता है जिनका कि सम्बन्ध अति-अति महत्वपूर्ण व्यक्तियों की सुरक्षा बनाए रखने से होता है, उदाहरणार्थ जिनका सम्बन्ध वैदेशिक सरकारों के शासनाध्यक्षों तथा प्रधानमत्री व राष्ट्रपति तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों से होता है। वह उनकी सुरक्षा के प्रबन्ध भी करता है,

(5) वह राज्य सरकार को उन सभी गभीर आपदाओं अथवा प्राकृतिक विपदाओं के घटित होने की भी सूचनाए प्रेषित करता है जिनकी जानकारी उसे समय-समय पर मिलती रहती है यथा जिनका सम्बन्ध जल, थल तथा वायु सीमा के परिवहनों की दुर्घटनाओं से, आग लगने, बाढ, तूफान तथा भूचाल आने की घटनाओं से होता है। उसका यह भी दायित्व है कि वह ऐसे पुलिस प्रबन्धों की व्यवस्था करे ताकि पीडितों की सहायता हो सके तथा उनके कष्ट निवारण हो सकें,

(6) वह राज्य सरकार को उस समय भी परामर्श देता है जब उसे राज्यव्यापी कदम उठाने पड़ते है तथा शासन को राज्य पुलिस की सहायता की आवश्यकता पडती है, उदाहरणार्थ ऐसे अवसर समान निर्वाचन तथा व्यापक अशान्ति के प्रसग में आते हैं;

(7) उसका मुख्य प्रशासकीय कार्य होता है कि वह अपने सतत् अधीक्षण/निरीक्षण की सहायता से पुलिस सगठन में कुशलता बनाए रखे ताकि पुलिस बल अपने निम्न दो मुख्य कार्यों का भली-भांति निर्वाह कर सके, (अ) राज्य में अपराधों के शोधण तथा उनके नियत्रण के प्रयासकार्य, तथा (ब) कानून एवम् व्यवस्था को बनाए रखने में विषयक कार्य;

(8) वह राज्य के पुलिस विभाग में आन्तरिक अर्थ प्रबन्ध के लिए भी उत्तरदाई होता है,

(9) उसे लगातार यह देखना पड़ता है कि क्या पुलिस के पास जनशक्ति तथा अन्य साधन (जिनमें कि विभिन्न कार्यों के लिए स्वीकृत परिवहन के साधन भी समाहित किए जाते हैं) पूरी मात्रा में उपलब्ध है अथवा नहीं,

(10) वह ऐसी भी व्यवस्था करता है ताकि सभी प्रकार के रिक्त स्थान तुरन्त भरे जा सकें तथा वह सभी कर्मचारियों, कार्यालयों तथा भण्डार गृहों के लिए आवास

की उचित व्यवस्था भी करता है, तथा

(11) *चूंकि वह राज्य में पुलिस विभाग का अध्यक्ष होता है अतः वह पुलिस विभाग* से सम्बन्धित सभी विषयों में प्रधान सलाहकार की भूमिका का निर्वहन करता है।

उपरोक्त कार्यों तथा उत्तरदायित्वों के अवलोकन से यह तथ्य प्रकट होता है कि महानिदेशक *अथवा* महानिरीक्षक *राज्य की समस्त* पुलिस *व्यवस्था को एक प्रशासनिक* नेतृत्व प्रदान करता है तथा राज्यस्तरीय लोक प्रशासन में वह अपूर्व सम्मान का पात्र होता है क्योंकि वह अपार शक्तियों का धारक होता है। इससे राज्य प्रशासनिक व्यवस्था में उसका महत्व भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

## उप-महानिरीक्षक पुलिस

*उप-महानिरीक्षक पुलिस क्षेत्र विशेष के पुलिस प्रशासन अथवा पुलिस विभाग की* विशिष्ट शाखा का प्रभारी होता है तथा वह गुप्तचर शाखा, राज्य सशस्त्र पुलिस, डाकू विरोधी दल, पुलिस प्रशिक्षण विद्यालय तथा अन्य शाखाओं का प्रभारी होता है।

रेन्ज—प्रत्येक रेन्ज में उसके आकार तथा महत्व के आधार पर चार से छः तक जिले समाहित किए जाते हैं। प्रत्येक राज्य में उनकी संख्या दो से आठ या दस तक होती है उदाहरणार्थ–केरल जैसे लघुआकारी राज्य में जहा दो पुलिस रेन्ज बनाए गए हैं वहा उत्तर प्रदेश जैसे वृहदाकारी राज्य को दस रेन्जों में विभक्त किया गया है। राजस्थान को निम्नांकित *सात रेन्जों में विभाजित किया गया है*–

1 जयपुर, 2 उदयपुर, 3 जोधपुर, 4 कोटा, 5 बीकानेर, 6. अजमेर, तथा 7. भरतपुर।

प्रत्येक रैन्ज का प्रभारी एक उप-महानिरीक्षक पुलिस को बनाया गया है जो कि *राजस्थान सरकार के महानिदेशक* पुलिस *के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में कार्य करता है। रेन्ज* विशेष के मुखिया के अलावा उसे पुलिस विभाग की विशिष्ट शाखा का अध्यक्ष अथवा मुखिया भी बनाया जाता है। विशिष्ट शाखा के अध्यक्ष अथवा मुखिया के पद पर आजकल अधिकांश डी.आई.जी. से पदोन्नति पुलिस महानिरीक्षकों को नियुक्त किया जाने लगा है जिससे अधिक से अधिक लोगों को पदोन्नति दिये जाने की व्यवस्था हो गई है। आजकल निम्नांकित स्तरों पर निम्न प्रकार की व्यवस्थाए की गई हैं। वर्तमान में राजस्थान पुलिस विभाग में नौ शाखाए हैं जिनका नामकरण इस प्रकार है–

(1) *भ्रष्टाचार निरोधक शाखा (प्रभारी पुलिस महानिदेशक)*,
(2) सतर्कता शाखा (प्रभारी पुलिस महानिरीक्षक),
(3) अपराध तथा अन्वेषण-रेलवेज (प्रभारी पुलिस महानिरीक्षक),
(4) गुप्तचर शाखा (प्रभारी पुलिस महानिरीक्षक),
(5) गृह, रक्षा तथा नागरिक सुरक्षा शाखा (प्रभारी पुलिस महानिरीक्षक),

(6) प्रशिक्षण शाखा (प्रभारी पुलिस महानिरीक्षक),
(7) राजस्थान सशस्त्र कान्सटेबुलरि (प्रभारी पुलिस उप-महानिरीक्षक),
(8) वायरलैस शाखा (प्रभारी पुलिस उप-महानिरीक्षक), तथा
(9) कम्प्यूटर शाखा (प्रभारी पुलिस उप-महानिरीक्षक)।

## पुलिस उप-महानिरीक्षक के कर्त्तव्य

राजस्थान के पुलिस सगठन की प्रशासनिक पदसोपान व्यवस्था में रेन्ज एक माध्यमिक स्तरीय शाखा होती है जो कि मध्य तथा निम्न स्तर पर जिला पुलिस प्रशासन में समन्वय स्थापित करती है। वह वैसे भी जिले से उच्च तथा राज्य से निम्न स्तर की शाखा होती है।

चूंकि पुलिस उप-महानिरीक्षक रेन्ज विशेष का मुखिया होता है जो कि राज्य सरकार तथा जिला प्रशासन के मध्य समन्वय तथा समझौता कराने की भूमिका निभाता है। वह महानिदेशक के सहायक का भी काम करता है जो कि अपने कर्त्तव्यों में से कुछ कार्य उसे प्रत्यायाजित करता है। वह मुख्य रूप से निम्नांकित भूमिकाओं का निर्वहन करता है—

(अ) वह अपने नियत्रण के अधीन पुलिस बल में कुशलता बनाए रखने के लिए उत्तरदाई होता है जिनका कि वह समय-समय पर निरीक्षण कार्य करता है। वह पुलिस अधीक्षकों/नियत्रणाधिकारियों तथा रेन्ज डी आई जी के नाते जिला मजिस्ट्रेटों से मत्रणा करता है तथा उसके अधीनस्थ जो रिपोर्ट तथा प्रत्युत्तर प्रस्तुत करते हैं वह उनके आधार पर निर्देश भी देता है,

(आ) अपनी रेन्ज में उसका यह भी कर्त्तव्य होता है कि वह अपने अधीन कार्यरत पुलिस अधीक्षकों के उन कार्यों का अधीक्षण करे जो कि वे अपराध के अन्वेषण तथा नियत्रण के क्षेत्र में कार्य करते हैं। वह गम्भीर प्रकृति के या घृणित अपराधों यथा हत्या तथा डकैती या अन्य अपराधों के बारे में पुलिस अधीक्षकों द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत विशिष्ट रिपोर्टों की जाच-पड़ताल करता है तथा वह अपराध होने से लेकर अपराधी के पता चलने तक सभी मामलों में अपना ध्यान व रुचि बनाए रखता है,

(इ) रेन्ज के पुलिस उप-महानिरीक्षक का यह भी दायित्व है कि वह अपराध तथा अपराधियों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए अन्तर-जिला सहयोग की भी व्यवस्था करता है,

(ई) वह अपने रेन्ज/विभाग/शाखा के समस्त महत्वपूर्ण घटनाक्रमों से भी पुलिस महानिदेशक को समय-समय पर अवगत कराता रहता है,

(उ) वह अपनी रेन्ज/विभाग के पुलिस कर्मचारियों के निवास-व्यवस्था की भी देखभाल करता है,

(ऊ) वह अपनी रेन्ज/विभाग के पुलिस के अधीक्षकों तथा उनके समकक्षों द्वारा किए

खर्चों की भी जाच-पड़ताल करता है,

(ए) वह अपने नियंत्रण के अधीन कार्यरत पुलिस बल में अनुशासन बनाए रखने के लिए भी उत्तरदाई होता है। इसके लिए वह न केवल विभागीय कार्यवाहियों की जाच-पड़ताल करता है वरन् वह दोषियों को दण्ड दिलाने तथा कार्यकुशल लोगों के लिए पारितोषिक दिलाने की भी व्यवस्था करता है,

(ऐ) चूंकि वह अपनी रेन्ज का प्रमुख कार्मिक अधिकारी होता है अतएव वह सहायक पुलिस अधीक्षक स्तर के अधिकारियों का एक जिले से दूसरे जिले में स्थानान्तरित कर सकता है तथा उप-निरीक्षक के पद तक के लोगों को सेवामुक्त भी कर सकता है। वह उप-निरीक्षक से नीचे के सभी पदों के अधिकारियों के मामलों में प्रार्थना सुनने तथा निर्णय सुनाने का अन्तिम अधिकारी है। इसके अतिरिक्त वह अपने अधीनस्थ पुलिस अधीक्षकों को सिपाहियों के कल्याणार्थ कार्यवाहिया करने के निर्देश भी देता है,

(ओ) वह पुलिस महानिदेशक को अपने क्षेत्र के सभी गम्भीर अपराधों के घटनाक्रम से सूचित करता रहता है। इसलिए वह महानिदेशक की सहायता से सामान्यत तो राज्य के लिए पुलिस नीति का सृजन करता है तथा वह विशेष तौर पर जिले के लिए नीति-निर्माण करता है।

इस प्रकार, उपरोक्त कार्यों, कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के प्रसग में हम देखते हैं कि पुलिस उप-महानिरीक्षक को दोहरी भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर तो वह पुलिस महानिदेशक के सलाहकार की भूमिका निभाता है तो दूसरी ओर वह अपने क्षेत्र (जिसमें कि अनेक जिला पुलिस सगठनों का समवेश होता है) का मुख्याधिकारी के दायित्वों का निर्वाह करता है।

## जिला स्तरीय पुलिस व्यवस्था का संगठन

इसके अन्तर्गत हम सर्वप्रथम पुलिस अधीक्षक की चर्चा करना चाहेंगे।

### जिला पुलिस अधीक्षक

जिले में जिला पुलिस अधीक्षक ही पुलिस बल का प्रधान होता है। वह न केवल पुलिस बल में अनुशासन तथा कौशल बनाए रखने के लिए उत्तरदाई होता है, वरन् उसका कर्त्तव्य यह भी देखना होता है कि पुलिस बल अपनी भूमिकाओं का दायित्व भी उचित रीति से निभाए। जहा मद्रास, बम्बई, मध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा कर्नाटक जैसे राज्यों में उसे जिला पुलिस अधीक्षक कहा जाता है वहा उसे पजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बगाल, उड़ीसा तथा असम में मात्र पुलिस अधीक्षक की सज्ञा दी जाती है। वैसे तो उसका मुख्य कार्य अपराध नियत्रण करना होता है, पर उसे अनेक प्रशासनिक दायित्वों का भी निर्वहन करना पड़ता है। वह अपराध नियत्रण हेतु पुलिस थानों से सम्पर्क साधे रखता है, अपराध घटने

की पृथक् सूचना रिपोर्टों को ग्रहण करता है। यदि वह आवश्यक समझे तो पुलिस को अपराध नियंत्रण हेतु अग्रिम कार्यवाही करने का आदेश भी प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त वह समय-समय पर पुलिस थानों से अपराधों की जानकारी प्राप्त करता रहता है तथा उनके निपटाने की भी सूचना लेता रहता है। गम्भीर अपराध घटने पर वह स्वयं घटनास्थल पर जाकर स्थिति का विवरण प्राप्त करता है। अभिप्राय है कि जिले के समस्त पुलिस कार्मिक उसके अधीनस्थ होते हैं तथा वह उनके कार्यकलापों पर अपनी टिप्पणियां भी देता रहता है। यदि मजिस्ट्रेट की सहमति मिल जाए तो वह थाना अधिकारियों तथा अन्य जिला पुलिस उच्च अधिकारियों का स्थानान्तरण करवा देता है तथा जहां तक निम्न अधिकारियों का प्रश्न है वह स्वयं ही उनका स्थानान्तरण कर देता है। वह जनता से भी सम्पर्क बनाए रखता है ताकि उसके सूचना स्रोत जितने विविध हों या व्यापक हों उतनी ही उसकी जानकारियां विश्वसनीय होती हैं।

जहां तक प्रशासकीय दायित्वों का प्रश्न है यह उसका दायित्व है कि वह पुलिस बल में अनुशासन बनाए रखे। इसके लिए उसे विशेषतौर पर देखना पड़ता है कि सरक्षित केन्द्र में पुलिस अच्छी स्थिति में रहे, उसका शारीरिक प्रशिक्षण भली-भांति होता रहे ताकि उसमें स्फूर्ति बनी रहे तथा उसके पास गणवेश उचित रूप में हो तथा उसके आग्नेय अस्त्र भली भांति काम करने वालों हों। वह यह भी देखता है कि भवनों की देखभाल ध्यानपूर्वक की जाए। यदि आवश्यकता पड़े तो वह कुशल लोगों को प्रोत्साहन हेतु पारितोषिक प्रदान करे तथा अकुशल लोगों को वह दण्डित भी करे। ये सभी कार्य वह राज्य सरकार के आदेशों के अन्तर्गत ही करता है। वह पुलिस कोषागार के उचित प्रबन्ध हेतु भी उत्तरदाई होता है। इसके अतिरिक्त उसे प्रथम सूचनाओं की रिपोर्ट भी प्रेषित की जाती है तथा गम्भीर अपराधों के मामलों में हुई प्रगति रिपोर्टों से भी अवगत कराया जाता है ताकि वह उन्हें पुलिस महानिदेशक तथा जिला मजिस्ट्रेट को प्रेषित कर सके तथा की गई व्यवस्थाओं से परिचित करा सके।

## अधीनस्थ कार्मिक वर्ग

जिला पुलिस अधीक्षक का कार्यालय जिला मुख्यालय में होता है तथा उसकी सहायतार्थ एक या दो अपर पुलिस अधीक्षक और/अथवा अनेक उप-पुलिस अधीक्षक रहते हैं। ये अपर अथवा सहायक अथवा उप-पुलिस अधीक्षक जिला पुलिस अधीक्षक की भूमिकाओं के सम्यक् निर्वहन, सचालन एवम् सम्पादन में सहायता उपलब्ध कराते हैं। अनेक मामलों में इन सहायकों को अन्तिम आदेश देने के अधिकार नहीं होते हैं, अतः ऐसी स्थिति में वे अपने अनुसन्धान, प्रगति तथा अनुशंसाओं को जिला अधीक्षक को प्रेषित करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि ये अपराध नियन्त्रण कार्य तथा प्रशासनिक दायित्वों के निर्वहन में जिला पुलिस अधीक्षक की सहायता करते हैं। पश्चिम बंगाल, बिहार तथा मद्रास (तमिलनाडु) में जहां उप-क्षेत्रीय राजस्व अधिकारियों को जिला मुख्यालयों पर रखा जाता है वहां जिले के

इन उप-क्षेत्रीय पुलिस अधिकारियों को भी यहीं रखा जाता है। आवश्यक नहीं है कि पुलिस तथा राजस्व का उप-क्षेत्र एक समान ही हो। ये भिन्न भी हो सकते हैं। ये अधिकारी जिला पुलिस अधीक्षक के राजपत्रित सहायक कार्मिक होते हैं। बिहार, असम, मध्य प्रदेश तथा बम्बई में इनको उप-क्षेत्रीय पुलिस अधिकारियों की संज्ञा दी जाती है। मद्रास में इन्हें राजस्व क्षेत्रीय अधिकारी के नाम से पुकारा जाता है। अन्यत्र इन्हें वृत्त अधिकारियों के नाम से सम्बोधित किया जाता है। ये अधिकारी पुलिस थानों के कार्यों का निर्देशन, निरीक्षण, प्रत्यक्ष जाच-पड़ताल तथा कतिपय प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह करते हैं।

जिले में अनेक निरीक्षक भी होते हैं। इनमें से कतिपय लोग उप-क्षेत्रीय पुलिस निरीक्षकों के रूप में भी कार्य करते हैं। कुछ एक राज्यों में इन्हें वृत्त निरीक्षकों की संज्ञा दी जाती है। तात्पर्य यह है कि वे अपने वृत्तों में न केवल जाच-पड़ताल तथा अपराध नियत्रण कार्य का निर्देशन करते हैं, अपितु विविध वृत्तों की कार्यवाहियों में भी समन्वय लाने का प्रयास करते हैं। वे विविध थानों का निरीक्षण करते हैं तथा अन्य कार्य भी करते हैं। विशालकाय जिलों में मुख्यालय कार्य हेतु भी एक निरीक्षक होता है तथा एक निरीक्षक पुलिस अभियोजन कार्य का प्रभारी होता है जिसे कि अभियोजन निरीक्षक की संज्ञा दी जाती है। इसी भांति एक अन्य निरीक्षक आरक्षित केन्द्र या "पुलिस लाइन" का प्रभारी होता है।

पूर्व वर्णित कार्यों का क्षेत्र मुख्यालय तथा उप-क्षेत्रीय कार्यालय है। अब हम दोनों का विवरण देना चाहेंगे। पुलिस बल को जिले में दो भागों में रखा जाता है। एक भाग में आरक्षित केन्द्र अर्थात् पुलिस लाइन में रखा जाता है तथा जिसे सगठनात्मक उद्देश्यों हेतु सशस्त्र तथा निरस्त्र आरक्षित भागों में विभाजित किया जाता है। इन्हें एक-एक आरक्षित निरीक्षक के अधीन रखा जाता है तथा उनकी सहायता हेतु अनेक सार्जेन्ट तथा अन्य कार्मिक होते हैं। इन आरक्षितों को अनवरत रूप से प्रशिक्षित तथा दीक्षित किया जाता है ताकि आपातकाल में उन्हें कार्य में लाया जा सके तथा थानों की सकटग्रस्त पुलिस की सहायता की जा सके ताकि उन्हें और अधिक सुरक्षित बनाया जा सके। इन केन्द्रों में ही पुलिस के आग्नेय अस्त्रों शस्त्रों तथा अन्य सामग्रियों इत्यादि को सग्रहीत करके रखा जाता है तथा उन्हें प्रदान किया जाता है। यहीं पर पुलिस के वायरलेस सगठन का मुख्यालय रखा जाता है। प्रयोग युवा पुलिसकर्मियों के प्रशिक्षण हेतु किया जाता है। यहीं पर उन्हीं पुलिस अधिकारियों को प्रेषित किया जाता है जिनको कि पुन स्फूर्त बनाना होता है। जिला पुलिस का दूसरा भाग नागरिक पुलिस के रूप में होता है। थाने समस्त पुलिस सगठन की ऐसी धुरी होते हैं जो कि वास्तव में पुलिस के समस्त कार्यों की अनुपालना करते हैं ये पुलिस विभाग के प्रमुख कार्यपालक सगठन होते हैं।

## पुलिस थाना

पुलिस थाने का अध्यक्ष प्राय निरीक्षक तथा अनेक बार उप-निरीक्षक के स्तर का अधिकारी होता है जिसे हम थाने का प्रभारी या थानेदार कहते हैं। संक्षेप में हम उसे थाना अधिकारी या थाना गृह अधिकारी अथवा अधिकारी प्रभारी की भी संज्ञा दे देते है। उसके जितने भी कार्य, कर्त्तव्य तथा शक्तिया होती हैं उनका विशुद्ध विवरण हमें अपराधी दड संहिता में मिलता है। उल्लेखनीय है कि जितनी अपराध नियत्रण तथा अनुसधान की शक्तिया उसे (थाना अधिकारी) मिली हुई हैं उतनी शक्तिया अन्य किसी पुलिस अधिकारी को प्राप्त नहीं हैं। अपराध दण्ड संहिता के अनुच्छेद 551 में यह लिखा है पुलिस थाने के प्रभारी अधिकारी से उच्च स्तरीय (पुलिस) अधिकारियों को स्थानीय क्षेत्र में वे सभी शक्तिया व्यवहृत करने का अधिकार प्राप्त है जिनका कि प्रयोग वह थाना अधिकारी अपने थाने में करता है।" इस प्रकार अपराध दण्ड संहिता के अनुसार किसी भी अन्य पुलिस अधिकारी को थाना प्रभारी से अधिक शक्तिया प्राप्त नहीं है। ऐसा नहीं है कि वह किसी अभियुक्त को 24 घण्टे तक ही हिरासत में रख सकता है तथा जिला पुलिस अधीक्षक उसे अधिक काल तक हिरासत में या हवालात में रख सकता है। थाना प्रभारी की सहायतार्थ अनेक कनिष्ठ उप-निरीक्षक, सहायक उप-निरीक्षक, मुख्य कॉन्स्टेबल तथा अन्य कान्स्टेबल होते हैं। उनकी शक्ति/सख्या थाने के क्षेत्रानुसार घटती बढती रहती है। प्राय एक थाने के अन्तर्गत 25 से लेकर 150 तक ग्राम होते हैं तथा उनकी सख्या भी क्षेत्र की प्रकृति तथा जनसख्या भी सघनता से निर्धारित होती है। यदि एक कनिष्ठ उप-निरीक्षक होगा तो वह अनुसन्धान तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में थाना प्रभारी की कार्य वहन करने में सहायता करता है, और यदि मात्र एक सहायक उप-निरीक्षक होता है तो वह इस भूमिका को पूरी तरह नहीं निभा पाता है। मुख्य कॉन्स्टेबल प्राय 5 प्रकार के कार्य करता है। उदाहरणार्थ मुख्य कॉन्स्टेबल का कार्य मात्र रिपोर्ट लिखने तथा पजीकरण पुस्तकों की देखभाल करना ही होता है। कभी-कभार यह अधिकारी कॉन्स्टेबल के दरजे का होता है। उसे लेखा मुख्य कॉन्स्टेबल अथवा लेखा कॉन्स्टेबल की संज्ञा भी दी जाती है। एक अन्य कॉन्स्टेबल की यही भूमिका होती है कि वह पुलिस दल के प्रशिक्षण तथा अनुशासन बनाए रखने के पक्ष पर अपना ध्यान केंद्रित करे तथा बल घुस्त तथा दुरुस्त बना रहे। तीसरे मुख्य कान्स्टेबल *का कार्यभार यही है कि वह थाने की बाहरी चौकियों की देखभाल करे,* चौकिया नगर में हो सकती हैं अथवा वे थाने वृत्त के सुदूर पूर्व क्षेत्रों में भी होती हैं उसका काम यही है कि वह क्षेत्र में पुलिस भ्रमण तथा अपराध नियन्त्रण की व्यवस्था करे। यह भी उसका दायित्व है कि वह थाना प्रभारी को समस्त सगीन अपराधों तथा अन्य प्रमुख घटनाओं से भी अवगत कराए। कतिपय राज्यों में गश्ती मुख्य कॉन्स्टेबल को भी थाने के थाने में सम्बद्ध किया जाता है। इसी भाति नायक लोग भी मुख्य कॉन्स्टेबल प्रकृति के दायित्वों

का निर्वाह करते हैं।

प्रत्येक कॉन्स्टेबल को प्रायः कतिपय क्षेत्र प्रदान किए जाते हैं तथा उसका यह दायित्व होता है कि वे न केवल अपने क्षेत्र में परिभ्रमण करते हैं अपितु उन्हें अपने क्षेत्र की अपराध दशा तथा सामान्य जनभावनाओं की भी पूरी जानकारी रखनी होती है। विशिष्टतः यह उसकी भूमिका है कि वह असामाजिक तत्वों पर अपना ध्यान रखे तथा उनके पुनः क्रिया के केन्द्रों तथा अवैध मदिरा निर्माण स्थलों पर जाकर भी अपना निरीक्षण एवम् नियन्त्रण से सम्बन्धित दायित्व निभाए। यदि ये सभी कार्य सफलतापूर्वक किए जाए तो या तो अपराध ही नहीं होंगे और यदि अपराध होते भी हैं तो सफलतापूर्वक उनका अनुसंधान भी किया जा सकता है।

## थाना प्रभारी के कार्य

- यह थाना अधिकारी/प्रभारी का दायित्व है कि वह अपने निश्चित वृत्त की सामान्य दशा से अवगत रहे ताकि वह न केवल अपराध की घटनाओं को घटने से रोक सके वरन् वह अपराधियों को न्यायाधीश के समक्ष भी प्रस्तुत करता रहे। वह दुराचारियों की गतिविधियों पर भी पूरा ध्यान रखता है ताकि वह अपराधों को नियंत्रित करता रहे। उसका कार्य अपराध अनुसंधान करना, अपराधियों का पता करना तथा उन्हें न्यायालय में प्रस्तुत करना आदि रहा है। इनके अतिरिक्त थाना प्रभारी पुलिस भूमिका से सम्बन्धित अन्य अनेक कार्य भी करता है। इस प्रकार न केवल थाना विविध गतिविधियों का केन्द्र होता है वरन् थाना प्रभारी भी इन विविध भूमिकाओं के निर्वाह में अस्त-व्यस्त रहता है क्योंकि वह अत्यन्त उत्तरदाई व्यक्ति होता है तथा थाना पुलिस के क्षेत्र में आने वाले महत्वपूर्ण व्यक्तियों के साथ भी आना-जाना पड़ता है।

पुलिस थाने में अनेक भांति के लेखादि तथा पंजीयन पुस्तिकाएं भी सार सम्मान कर रखे जाते हैं। मध्य प्रदेश पुलिस संहिता के अनुसार उसे 29 प्रकार की पंजीयन पुस्तिकाए, 12 अनुसूचियां तथा 24 प्रपत्र इत्यादि रखने पड़ते हैं। उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या 50 पंजीयन पुस्तिकाओं, 15 सामयिक लौटाने के पत्र तथा 23 अनुसूचियां तक फैली हुई हैं। बिहार में यह संख्या 48 पंजीयन पुस्तिकाओं तथा अनुसूचियों तक, पश्चिम बंगाल में 36 पंजीयन पुस्तिकाओं तक तथा मद्रास में 62 भांति के लेखादि पंजीयन तक व्यापक हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे सूचनादि रखने के पंजीयनों तथा प्रविष्टियों की संख्या के बारे में हर राज्य में विविधताएं पाई जाएं पर जहां तक उनके लक्ष्यों का प्रश्न है वे समान रहे हैं। अतः मूलतः उनका ध्यान समान विषयों पर केन्द्रित रहता है। अपराध से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पंजीयन पुस्तिकाओं का सार नीचे दिया जा रहा है जो कि वैसे तो मध्य प्रदेश पुलिस संहिता की सूचनाओं पर आधारित है तथापि यह विवरण मूलतः अन्य राज्यों की स्थिति का भी उचित मात्रा में द्योतक होगा इसमें हमें कोई सन्देह नहीं है। यह विवरण इस प्रकार है—

**(1) सामान्य डायरी**–इसमें दिन-प्रतिदिन की पुलिस कार्यवाहियों तथा घटनाक्रमों को पजीकृत किया जाता है। इसमें अन्वेक्षणीय अपराधों को भी अंकित किया जाता है। वैसे मुख्यत समवेक्षणीय अपराधों का सार-सग्रह ही इसमें स्थान ले पाता है। इसी पुस्तिका में दैनिक कर्त्तव्यों, अनुपस्थितियों, आगमन-निर्गमन की सूचनाओं, व्यक्तियों को हिरासत में लेने की घटनाओं तथा बन्दियों की मुक्ति आदि की सूचनाओं को अंकित किया जाता है। इस प्रकार इसमें हमें पुलिस थाने की दैनिक गतिविधियों का सकेत मिलता है।

**(2) प्रथम सूचना रिपोर्ट पुस्तिका**–इसमें समवेक्षणीय अपराधों की रिपोर्टों को अंकित किया जाता है। इन रिपोर्टों की प्रतियों को न केवल शिकायतकर्त्ताओं को दिया जाता है वरन् उन्हें वरिष्ठ अधिकारियों के विचारार्थ भी प्रेषित किया जाता है।

**(3) वाद पुस्तिका**–इस पुस्तिका में समवेक्षणीय अपराधों की जाच-पड़ताल में हुई प्रगति दर्शाने का विवरण अंकित किया जाता है। इसमें वे समस्त सूचनाए अंकित की जाती हैं जिन्हें पुलिस एक समवेक्षणीय अपराध की जाच-पड़ताल की अवधि के मध्य एकत्रित करती है।

**(4) ग्रामीण अपराध दर्शिका पुस्तिका**–जो महत्व ग्राम में राजस्व के प्रसग में भूमि विवरण का होता है वही महत्व पुलिस में इस पुस्तिका का होता है। इसमें हमें ग्राम के समग्र अपराध इतिहास तथा प्रासंगिक अपराध-सूचनाओं का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि हर ग्राम में एक ऐसी पुस्तिका होती है जिसमें ग्राम की समस्त सॉख्यिकी, विगत में किए गए समस्त अपराधों का विवरण, अभियुक्तों को प्राप्त सजाए तथा दण्ड, ग्राम में अपराधों की सामान्य स्थिति तथा कुख्यात व पजीकृत ऐतिहासिक अपराधियों से सम्बन्धित समस्त जानकारी होती है। इस पर एक दृष्टिपात करने से ही किसी भी व्यक्ति का ग्राम की प्रकृति तथा परिवेश का पता चल जाता है। इतना ही नहीं इसमें ग्राम के प्रभावशाली तथा सज्जन पुरुषों का भी विवरण अंकित किया जाता है एवम् आग्नेय अस्त्र धारकों (वैधानिक तथा पजीकृत) का भी वर्णन समाहित किया जाता है।

**(5) कुख्यात अपराधियों की विवरणिका**–यदि तर्कसम्मत दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगे कि अमुक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अपराधी प्रवृत्ति का हो गया है तथा वह गम्भीर अपराधों यथा चोरी, जेबकटी, पशु चुराने तथा सम्पत्ति हरण के कार्यकलापों में प्रवृत्त रहता है तो पुलिस ऐसे कुख्यात अपराधियों के नाम की एक विवरणिका तैयार करने लगती है ताकि वह उनकी समस्त गतिविधियों पर अपनी गिद्धदृष्टि केन्द्रित कर सके। इस विवरणिका में अपराधी के जीवन क्रम का सागोपाग विवरण समय-समय पर अंकित किया जाता है यथा उसका चरित्र कैसा है, उसकी क्या-क्या गतिविधिया रहती हैं, उसका स्वभाव कैसा है, उसकी किन-किन लोगों से मित्रता है तथा मित्रों का स्वभाव तथा प्रकृति कैसी है इत्यादि। यह नियमित गिद्ध-दृष्टि (शांतिपूर्वक) तब

भी रखी जाती है जबकि उसकी गतिविधियां शान्त रहती हैं।

पुलिस थाना राज्य में पुलिस प्रशासन की प्राथमिक इकाई होता है। यह समवेक्षणीय अपराधों के बारे में जानकारी तथा शिकायतें दोनों ही प्राप्त करता है तथा उन्हें अंकित भी करता है। प्रत्येक थाने के कार्यक्षेत्र का निर्धारण या पुनर्निर्धारण राज्य सरकार ही करती है पर वह यह कार्य महानिदेशक पुलिस उप महानिरीक्षक, जिला मजिस्ट्रेट तथा सम्बन्धित जिला पुलिस अधीक्षक की अनुशंसाओं पर ही करती है। भारत में सामान्यत एक पुलिस थाने का अधिकार क्षेत्र 200 वर्गमील तक फैला हुआ होता है जिसमें कि प्राय 100 ग्राम बसे हुए होते हैं तथा लगभग 75000 की आबादी होती है। सामान्यत एक थाने का क्षेत्र उतना ही होता है जितना कि विशिष्टत राज्य सरकार उसे घोषित करती है तथा स्थानीय क्षेत्रफल का निर्धारण करती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हर पुलिस थाने का अध्यक्ष एक थाना केन्द्र अधिकारी होता है जो कि प्राय निरीक्षक के पद का अधिकारी होता है। वह देश के पुलिस प्रशासन की धुरी या प्रमुख सम्पर्क सूत्रधार होता है। इसलिए हम उसे भारत के पुलिस प्रशासनिक व्यवस्था का मुख्य अधिकारी भी कहते हैं। एतदर्थ उसे राष्ट्र में सर्वाधिक भूमिकाओं का निर्वाह करना पडता है। चूंकि वह पुलिस थाने का अध्यक्ष [illegible] है अत उसे ही थाने की प्रशासनिक प्रबन्ध व्यवस्था का दायित्व निभाना होता है तथ [illegible] ही अपने अधीनस्थ समस्त अधिकारियों के ऊपर एक मुख्य कार्मिक अधिकारी के [illegible] कार्य करना पडता है। उसे दिन-प्रतिदिन के कार्यों के प्रबन्ध के लिए निम्नांकित भूमिकाओं का निर्वाह करना पडता है–

(1) उसे अनेक पुलिस पंजियन पुस्तिकाओं तथा विविध प्रकृति के वर्गीकृत सूचना पक्षों को अपनी हस्तलिपि में तथा अपने हस्ताक्षर सहित तैयार करना तथा अंकित करना होता है। (जो कि आपराधिक प्रशासन के बुनियादी प्रलेख होते हैं तथा उन्हें न्यायालयों द्वारा भी वैधानिक प्रलेखों के रूप में स्वीकारा जाता है)।

(2) वह न केवल अपने अधीनस्थों के कार्य का अधीक्षण/निर्देशन करता है वरन् वह शारीरिक व्यायाम, मौखिक निर्देशों तथा उत्तरदाई कार्य के हस्तान्तरण द्वारा भी उनका नैतिक बल उच्च बनाए रखता है।

(3) इनके अतिरिक्त भी वह अनेक वैधानिक पजीयन पुस्तिकाओं जैसे विभिन्न रिपोर्टों, रजिस्टरों तथा संहिताओं की देखभाल करता है जिनका रखना प्रक्रियात्मक विधि के अनुसार आवश्यक होता है। जैसा कि पूर्व वर्णित है कि किसी भी पुलिस थाने में निम्नांकित महत्वपूर्ण प्रलेख रखे जाते हैं, ये हैं–

(अ) प्रथम सूचना रिपोर्ट पुस्तिका,

(आ) केस डायरी

(इ) आरोप प्रतिया

(ई) अंतिम रिपोर्ट,
(उ) जमानती प्रत्याभूत,
(ऊ) जांच-पड़ताल सूचिया,
(ए) जब्ती/अधिग्रहण सूचिया,
(ऐ) प्रथम सूचना रिपोर्ट के इतर वादों का रजिस्टर,
(ओ) अप्राकृतिक मृत्यु के मामलों का रजिस्टर, तथा
(औ) हत्या के वादों/मामलों की रिपोर्टें रखने का प्रबन्ध।

यदि हम इन मूलभूत प्रलेखों का अवलोकन करें तो हमें क्षेत्र विशेष के अपराध चरित्र की रूपरेखा का ज्ञान हो जाएगा। जैसा कि विगत में बतलाया जा चुका है कि इन पंजीयन पुस्तिकाओं को या तो दिन-प्रतिदिन पूरित किया जाता है या उन्हें एक निश्चित अन्तराल के साथ में भरा जाता है। इनके अतिरिक्त भी थानाप्रभारी को अनेक भांति की भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है जिनका विशिष्ट रूप से उल्लेख अपराध दण्ड संहिता में किया गया है तथा जिसका सम्बन्ध अपराध के नियन्त्रण तथा अपराधी के दण्डित करने से होता है एवम् उसे अनेक चरण सकटकालीन स्थितियों से जूझते समय उठाने पड़ते हैं जो कि पुलिस या मजिस्ट्रेट द्वारा उठाए जाते हैं।

(4) वह अपने क्षेत्र के कुख्यात चरित्र के व्यक्तियों, स्वाभाविक रूप से अपराधकर्त्ताओं, पूर्व दण्डितों तथा व्यावसायिक अपराधियों की गतिविधियों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखता है।
(5) वह अपने क्षेत्र में प्रभावी निरीक्षण तथा रात्रिकालीन सुरक्षा हेतु गश्तों की व्यवस्था करता है।
(6) वह स्वय अपराध स्थल पर जाता है तथा उपलब्ध सूत्रों की भली-भांति जाच-पड़ताल करता है ताकि यह ज्ञात हो सके कि अपराधी की कार्यविधि वगैरह कैसी थी।

इनके अतिरिक्त भी उसे विधि के कार्यान्वयन तथा न्याय के प्रशासन के कार्यों में भी सहायता करनी होती है। थाना प्रभारी को अपने क्षेत्र में मजिस्ट्रेट तथा न्यायालयों के साथ में मिलकर घनिष्ट रूप से अपना दायित्व निभाना पड़ता है।

इस प्रकार हम थाना प्रभारी को देश के पुलिस प्रशासन का मूलाधार कह सकते हैं। उसे राष्ट्र के पुलिस सगठन के निम्न स्तर पर अनेक प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है। उसे अनेक भांति के उपयोगी पुलिस प्रलेखों की देखभाल करनी होती है जिनकी सूची निम्नांकित है–

(क) एक सामान्य दैनन्दिनी,
(ख) एक अपराधी पंजीयक पुस्तिका,
(ग) दण्डितों की पुस्तिका,
(घ) अपराधी इतिवृत्त सूचिया तथा निगरानी/निरीक्षण रजिस्टर,
(ङ) ग्राम सूचना की सूचिया,
(च) अपराध प्रलेख,
(छ) कुख्यात व्यक्तियों की पुस्तिका,
(ज) अपराध दर्शिका,
(झ) सांख्यिकी,
(ञ) सम्पत्ति रजिस्टर,
(ट) अपराधी बुलाने तथा आने की आज्ञा अंकित करने वाला रजिस्टर, तथा
(ठ) भगोड़े लोगों का रजिस्टर।

इनके अतिरिक्त वह अपने पुलिस थाने क्षेत्र में कानून तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए भी उत्तरदाई होता है। कानून एवम् व्यवस्था बनाए रखने हेतु उसे निम्नांकित भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है जिनसे वह न केवल अपराधों का पता लगा सके अपितु वह उन्हें अपने नियत्रण में भी रख सके। ये दायित्व निम्न प्रकार से हैं--

(अ) वह देश की अपराध दण्ड संहिता के अनुच्छेदों के अन्तर्गत शकास्पद लोगों को हिरासत में लेता है।
(आ) यदि वह समझे कि कोई अवैध भीड़ या समूह शान्तिभग करने हेतु तत्पर है तो वह उसे तुरन्त विसर्जित करने का प्रयास करता है।
(इ) वह उचित अधिकारियों तक अपना प्रतिवेदन प्रेषित करता है ताकि वे स्थिति से अवगत रहें।

ज्ञातव्य है कि थाने का मुख्यालय वृत्त के केन्द्रीय स्थल पर स्थित होता है। प्राय यहा दो प्रकार की हवालातें होती है, पहली में पुरुष बदियों को रखा जाता है तथा दूसरी में महिला बदियों का रखा जाता है। यहा पर एक शस्त्रागार भी होता है जिसमें कि अस्त्र-शस्त्र, आग्नेय सामग्री, चुराई गई सम्पत्ति तथा अन्य वस्तुएं रखी जाती हैं। एक मुख्यालय होता है जहा पर कि सभी भाति के रजिस्टर तथा अन्य प्रलेख रखे जाते हैं। विवाहित व अविवाहित पुलिस कर्मियों के लिए पृथक्-पृथक् निवासों की व्यवस्था होती है। कतिपय मात्रा में पुलिस अधिकारीगण भी वहा निवास करते हैं यथा थानाप्रभारी तथा कनिष्ठ अधिकारियों के वहा निवास होते हैं। इन पुलिस थाने के भवनों को जानबूझकर सुरक्षित बनाया जाता है तदर्थ उन्हें सुरक्षित रखना भी जाता है। वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे अपने अन्तर्गत रखें ताकि उनकी गतिशीलता अधिकाधिक हो सके।

यद्यपि शासन द्वारा पुलिस थानों तथा जिला पुलिस मुख्यालयों में कार्यरत व्यक्तियों की संख्या निश्चित कर दी गई है तथापि यदि यह देखा जाए कि अपरा नियंत्रण के लिए अतिरिक्त पुलिस की आवश्यकता है तो अतिरिक्त पुलिस लाने की व्यवस्था की जा सकती है। जब कोई क्षेत्र घोर अशान्त हो जाते हैं तब शासन द्वारा अतिरिक्त पुलिस तथा पदाधिकारी रखने की स्वीकृति भी प्रदान की जाती है तथा उस क्षेत्र को शांत बनाए रखने का व्यय भी देना होता है। मूलत समग्र व्यवस्था इस धारणा पर आश्रित है कि कर-दाताओं को सामान्यत उस अतिरिक्त पुलिस का व्यय भार नहीं उठाना चाहिए जिसे कि किसी विशिष्ठ घटनाक्रम से निपटने हेतु आमंत्रित किया जाता है।

## पुलिस बल के राजपत्रित अधिकारी

पुलिस बल के राजपत्रित अधिकारियों की सूची इस प्रकार है–

(1) पुलिस महानिदेशक
(2) पुलिस महानिरीक्षक
(3) पुलिस उप-महानिरीक्षक
(4) पुलिस अधीक्षक
(5) पुलिस सह-अधीक्षक
(6) पुलिस उप-अधीक्षक

पुलिस बल के अराजपत्रित अधिकारीगण निम्नांकित हैं–

(1) निरीक्षक
(2) सार्जेन्ट्स
(3) उप-निरीक्षक
(4) मुख्य कॉन्स्टेबल
(5) नायक
(6) सिपाही।

यदि हम विशिष्टीकृत इकाईयों यथा फोटोग्राफिक ब्यूरो, हस्तलिपि ज्ञान विभाग, अंगुली छाप शास्त्र विभाग, वारलैस शाखा तथा अग्निशमन सेवाओं का अपवाद स्वरूप छोड़ दें तो हम पुलिस बल की विविध शाखाओं का निम्न प्रकार वर्गीकृत/वर्णित कर सकते हैं, ये शाखाएं हैं–

(अ) नागरिक पुलिस
(ब) *अश्वरोही* पुलिस
(स) सशस्त्र पुलिस
(द) विशिष्ट सशस्त्र पुलिस
(उ) यातायात/परिवहन पुलिस

(ऊ) जिला गुप्तचर सेवी वर्ग
(ए) अभियोजन शाखा
(ऐ) रेलवे पुलिस
(ओ) अपराधी अनुसंधान विभाग।

वैसे भी अधिकांश पुलिस नागरिक पुलिस ही होती है जो प्राय थानों का प्रबन्ध-संचालन करती है। कतिपय जिलों में तो अश्वारोही पुलिस नाममात्र की ही होती है पर महानगरों में इनकी संख्या उल्लेखनीय होती है। उनका उपयोग या तो अशान्त भीड़ को शांत करने के लिए किया जाता है अथवा समारोहों के अलंकरण हेतु उन्हें सम्मिलित किया जाता है। जहां तक जिलों में सशस्त्र पुलिस की नियुक्ति का प्रश्न है इनकी संख्या आवश्यकतानुसार निर्धारित की जाती है तथा इनका प्रयोग आपात्काल में किया जाता है। तब इसका प्रयोग न केवल विभक्त अपराधों से निपटने हेतु किया जाता है वरन् इसकी सहायता से राजकीय कोषागारों, मुद्रा के परिवहन अवैध समूहों तथा भीड़ के विसर्जन, सार्वजनिक भवनों तथा सेतुओं की रक्षा करने सम्बन्धी दायित्व भी निभाए जाते हैं। विशिष्ट सशस्त्र पुलिस की रूपरेखा इस भांति की गई है कि वह सही अर्थ में विशिष्ट शाखा के रूप में ही विकसित हो गई है। यह जिले की सामान्य पुलिस व्यवस्था का एक अंग नहीं होती है। अतः इसका प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा किया जाता है। केन्द्र कतिपय समूहों में इसे राज्य में नियुक्त करता है तथा आपातकालों में यह जिला पुलिस की सहायता करने को तत्पर रहता है। उदाहरणार्थ, मद्रास में 'मालाबार विशिष्ट पुलिस बल' इसी प्रकार का है, बम्बई में इसे "स्टेट रिजर्व कॉन्स्टेबलरी" की सत्ता दी गई है, बिहार तथा उड़ीसा में इसे "सैनिक पुलिस" के नाम से पुकारा जाता है, उत्तर प्रदेश में इसे 'प्रान्तीय सशस्त्र कॉन्स्टेबलरी" के नाम से जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि इस सशस्त्र बल को उच्च स्तरीय प्रशिक्षण से इसलिए दीक्षित किया जाता है कि आपात्कालों में बार-बार सेना का आह्वान नहीं करना पड़े। जब जिला पुलिस कृषक अशान्ति, गम्भीर अपराध के भड़कने तथा व्यापक दंगों इत्यादि का शमन नहीं कर पाती है तब इस बल को दमन हेतु आमन्त्रित किया जाता है। यातायात पुलिस प्राय महानगरियों में पाई जाती है तथा इसे अपने कार्य निष्पादन हेतु उच्च स्तरीय प्रशिक्षण दिया जाता है। जहां तक जिला गुप्तचर सेवा इकाई का प्रश्न है इसकी मुख्य भूमिका जिला मजिस्ट्रेट तथा पुलिस अधीक्षक को स्थानीय लोगों के जनमत से अवगत कराना होता है, विशेष रूप से यह शाखा सरकारी नीतियों के बारे में जनता की प्रतिक्रिया तथा भूमिगत जनगतिविधियों से अधिकारियों को सूचित करती रहती है। जिला गुप्तचर सेवी वर्ग में प्राय एक उप-निरीक्षक तथा कतिपय मुख्य कॉन्स्टेबल तथा सिपाही होते हैं। इनकी संख्या भी आवश्यकतानुसार घटती बढ़ती रहती है। कहने का आशय है कि यह शाखा भी जिला पुलिस की एक इकाई होती है तथा जो जिला पुलिस अधीक्षक के अधीन कार्य करती है।

## अभियोजन शाखा

पुलिस की अभियोजन शाखा को जिला स्तर पर सगठित किया जाता है तथा यह जिला मजिस्ट्रेट तथा जिला अधीक्षक पुलिस के सयुक्त नियन्त्रण में कार्य करती है। इसकी मुख्य भूमिका विविध मजिस्ट्रेटों की अदालतों/न्यायालयों में पुलिस तथा सरकारी वादों का परिचालन करना होता है। इसका अध्यक्ष प्राय एक पुलिस निरीक्षक होता है तथा उसकी सहायता अनेक उप-निरीक्षक करते हैं। उन्हें लोक अभियोजकों के अनुरूप महत्व दिया जाता है। इस शाखा का मुख्य कार्य पुलिस अभियोग पत्रावलियों को ग्रहण करना, उनकी परीक्षा करना तथा पूर्णरूपेण उचित पाए जाने पर उन्हें सम्बन्धित न्यायालय के समक्ष विचार हेतु प्रस्तुत करना होता है। तदुपरान्त वह शाखा पुलिस पक्ष की तरफ से समस्त साक्षिया प्रस्तुत करती है तथा उसकी भूमिका अभियोजन को उसकी तार्किक परणति तक पहुचाना होता है। कतिपय राज्यों में तो इस शाखा में अनेक अधिवक्ताओं की सेवाओं को लिया जाता है तथा उनका चयन स्थानीय अधिवक्ता समूह में से किया जाता है। जहां तक सत्र न्यायालय में अभियोजन का प्रश्न है वहा पर इसका दायित्व सरकारी पक्ष का अभिवक्ता निभाता है तथा जिसकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा जिला मजिस्ट्रेट की अनुशसाओं के आधार पर की जाती है। यह एक निश्चित कालावधि तक ही अपनी भूमिका का निर्वाह करता है तथा उसे राज्य सरकार की नीतियों के अनुरूप शुल्क दिया जाता है। उसका नामकरण भिन्न-भिन्न राज्यों में विभिन्न भांति से किया जाता है। उसके सहायतार्थ अनेक सहायक सरकारी अभिवक्ता होते हैं अथवा विशिष्ट अभिवक्ताओं की भी सहायता ली जाती है जिनका चयन मजिस्ट्रेट की अनुशसाओं के आधार पर किया जाता है। इन सभी सरकारी अभियोजकों का स्थान लोक अभियोजकों जितना ही होता है। इन लोक अभियोजकों का दायित्व है कि वे जिला मजिस्ट्रेट को विविध वादों के पुलिस अनुसन्धान की प्रगति से अवगत कराए तथा वे अन्य सरकारी वादों में अपनी स्थिति से भी सूचित कराते हैं तथा जिला मजिस्ट्रेट का यह विशिष्ट उत्तरदायित्व होता है कि वह यह देखे कि ऐसे सभी वादों का अभियोजन गतिपूर्ण तथा सावधानीपूर्वक हो ताकि सरकारी पक्ष का प्रतिनिधित्व भली-भांति हो सके।

## रेलवे पुलिस

इस पुलिस का स्वभाव तथा कार्य क्षेत्र भिन्न होता है। अतएव सरकारी रेलवे की पुलिस को पृथक् रूप से सगठित किया जाता है। वैसे भी रेलवे पुलिस के कार्य क्षेत्र अनेक जिलों में फैले होते हैं। इसका तुरन्त प्रभारी या तो उप-महानिरीक्षक पुलिस होता है या सहायक महानिरीक्षक पुलिस होता है। यह पुलिस अपने रेलवे कार्य क्षेत्र में स्थानीय पुलिस की सहायता से अपने दायित्वों का निर्वाह करती है। स्मरणीय है कि ये रेलवे पुलिस क्षेत्र अपने ही जिलों तथा भागों में वर्गीकृत होते हैं। वैसे भी ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि किसी भी अधिकारी को नागरिक पुलिस से रेलवे पुलिस में या उसके विपरीत रेलवे की

पुलिस से नागरिक पुलिस में स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता है।

## गुप्तचर अनुसन्धान शाखा

गुप्तचर अनुसन्धान शाखा राज्य पुलिस की एक विशिष्ट शाखा होती है जिसे राज्य के आधार पर सगठित किया जाता है तथा जिसका प्रभारी उप-महानिरीक्षक (गुप्तचर शाखा) होता है। यह प्रभारी वैसे तो महानिरीक्षक पुलिस के अधीनस्थ होता है पर उसके राज्य सरकार के साथ में विशेष प्रकार के सम्बन्ध भी होते हैं। इसका मुख्यालय राज्य सरकार के मुख्यालय में ही होता है तथापि इसके गुप्तचर प्रदेश भर में व्याप्त होते हैं। इस दल के अपने अधीक्षक, उप-अधीक्षक तथा कॉन्स्टेबल तक अनेक पदाधिकारी होते हैं। इसका मुख्य कार्य राज्य की सुरक्षा करना होता है। कतिपय अपराधों की कार्यवधि अनेक जिलों तक फैली हुई होती है, अत क्षेत्राधिकार आदि के प्रश्न उठ खड़े होते हैं। कतिपय अपराधों की प्रकृति ही जटिल होती है। कुछ विशेष प्रकार के विषयों में जिला पुलिस गुप्तचर शाखा की सहायता प्राप्त करती है उदाहरणार्थ महिलाओं के क्रय-विक्रय सम्बन्धित मामलों, अफीम की तस्करी के विषयों में तथा धन अपहरण के लिए किए जा रहे किसी व्यापक षडयत्र का पता लगाने हेतु इस शाखा को काम में लिया जाता है। राजनीतिक विषयों से सम्बन्धित विषयों में भी इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वैसे गुप्तचर राज्य भर में फैले रहते हैं। वे जिला पुलिस के सान्निध्य में कार्य करते हैं, पर वे जिला अनुसन्धान शाखा से भिन्न होते हैं। सक्षेप में यह शाखा पुलिस की विशिष्ट शाखा होती है जो कि विविध अवसरों पर तथा यथा-निर्धारित कालावधि में ही अपने अनेक गुप्त प्रतिवेदन प्रस्तुत करती रहती है।

### अन्य

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सभी शाखाए यथा—नागरिक पुलिस, अश्वारोही पुलिस, यातायात परिवहन शाखा, जिला अनुसन्धान सेवा तथा अभियोजन पक्ष शाखाए जिला पुलिस के अग-प्रत्यग के रूप में कार्य करती हैं। उसका अध्यक्ष/मुखिया जिला पुलिस अधीक्षक होता है। वैसे तो विशिष्ट सशस्त्र पुलिस दल एक पृथक् सगठन के रूप में होती है पर जब वह किसी जिले में अपनी भूमिका का निर्वाह करती है तब व्यावहारिक रूप में जिला पुलिस अधीक्षक के आदेशानुसार ही कार्य करती है। इस प्रकार यद्यपि रेलवे पुलिस गुप्तचर अनुसन्धान शाखाओं को राज्य स्तर पर पृथक् रूप से सगठित किया जाता है तथापि वे जिला पुलिस के सहयोग से ही अपनी भूमिका निभाती है। इसी भांति पुरुष पुलिस तथा महिला पुलिस शाखाओं का गठन किया जाता है जिनके कार्य उनके नाम से ही विदित हो जाते हैं। कतिपय राज्यों में भ्रष्टाचार निरोधक शाखाओं का गठन किया गया है जिनका कार्य राज्य सेवाओं में विद्यमान भ्रष्टाचार के मामलों से निपटना होता है तथा सरकारी मशीनरी की छवि को निर्मल बनाए रखना भी होता है। कतिपय राज्यों में इसे सुरक्षा शाखा की भी सज्ञा दी गई है।

## पुलिस के केडर

जहा तक पुलिस महानिदेशक/पुलिस महानिरीक्षक, पुलिस उप-महानिरीक्षक, जिला पुलिस अधीक्षक, सह-पुलिस अधीक्षक जैसे पदों का सम्बन्ध है समस्त पद भारतीय पुलिस संहिता की देन कहे जा सकते हैं। इन सभी अधिकारियों का चयन भारत सरकार केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के माध्यम से करती है तथा जिन्हें प्रारम्भ में ही केन्द्रीय पुलिस प्रशिक्षण संस्थान, हैदराबाद में प्रशिक्षित किया जाता है। उसके पश्चात् उन्हें पुन राज्य पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय तथा जिलों में जिला पुलिस अधीक्षकों के अधीन अनुवीक्षा अवधि में दीक्षित व प्रशिक्षित किया जाता है। वे सह-पुलिस अधीक्षक के रूप में कार्यारम्भ करते हैं तथा अतत पुलिस महानिरीक्षक के पद तक पहुचते हैं। यद्यपि सह-पुलिस अधीक्षक का पद कनिष्ठ होता है पर अन्य समस्त शेष पद वरिष्ट प्रकृति के होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय पुलिस सेवा होती है जिसके सदस्यों को हम सहायक/उप-पुलिस अधीक्षकों के रूप में पहचानते हैं। सरकार उनका चयन राज्य लोक सेवा आयोग के माध्यम से करती है तथा उन्हें राज्य पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालयों तथा जिला मुख्यालयों में प्रशिक्षित किया जाता है। उनमें से कतिपय लोग उच्च पदों तक भी पहुच जाते हैं क्योंकि कुछ पद पदोन्नत लोगों के लिए आरक्षित कर दिए गए हैं। इन अधिकारियों के नीचे के शेष पद अराजपत्रित प्रकृति के होते हैं, तथा इसके निम्नतम स्तर पर कॉन्स्टेबल पद होते हैं जिन्हें प्राय जिला पुलिस अधीक्षक ही चयनित करते हैं तथा जिन्हें राज्य पुलिस प्रशिक्षण विद्यालय में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। उनमें से कतिपय लोग उप-निरीक्षक पुलिस के पद के बारे में ही उठाया जाता है। इनके चयन की कार्यवधि हर राज्य में भिन्न-भिन्न प्रकृति की होती है पर चयन के पश्चात् उन्हें राज्य पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालयों में सावधानी से दीक्षित किया जाता है। ये ही वे अधिकारी होते हैं जो प्राय थानों के प्रभारी होते हैं। इनसे भी कतिपय लोग न केवल निरीक्षक पुलिस बन पाते हैं वरन् तत्पश्चात् उप-अधीक्षक पुलिस के पद तक भी पदोन्नत किये जाते हैं।

इस प्रकार चयनित पुलिस अधिकारियों को विविध स्तरों पर न केवल सावधानीपूर्वक प्रशिक्षत किया जाता है, अपितु सुचारू कार्य करने वाले लोगों को एक स्तर से दूसरे स्तर तक पदोन्नत भी किया जाता है ताकि उनको अच्छा कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।

## पुलिस के मुख्य तथा गौण कार्य

पुलिस के अपराध परक तथा विधि एवम् व्यवस्था बनाए रखने विषयक कार्यों को निम्नांकित विधि से वर्णित किया जा सकता है–

सर्वप्रथम हम अपराध विषयक कार्यों को निम्नांकित वर्गीकरणों में विभाजित करना चाहेंगे–

(1) अपराध नियन्त्रणकारी कार्य,

क्षेत्र का पुलिस अधिकारी अथवा चौकीदार अथवा कॉन्स्टेबल या ग्रामाधिकारी या अन्य कोई भी व्यक्ति अपराध घटने की सूचना अंकित कराता है। थाने का यह कार्य है कि वह प्रत्येक अपराध की सूचना को रजिस्टर में लिखे। इस सूचना को हम प्रथम सूचना रिपोर्ट की सज्ञा देते हैं। यदि अपराध की प्रकृति अनवेक्षणीय होती है तो पुलिस सूचना अंकित करने के पश्चात् सूचनादाता को यह सूचित करती है कि उसे न्यायालय की शरण में जाना चाहिए क्योंकि वह उस अपराध के अनुसधान करने में असमर्थ है। तथापि यह भी सम्भव है कि मजिस्ट्रेट ही पुलिस को यह आदेश दे सकता है कि चाहे अपराध की प्रकृति अनवेक्षणीय ही क्यों नहीं हो, पर उसका अनुसधान कार्य उसे ही करना होगा। यहा पर अनुसधान अधिकारी के कौशल, योग्यता तथा साधन सम्पन्नता की परीक्षा हो जाती है। मजिस्ट्रेट के आदेश के पश्चात् पुलिस को वे सभी शक्तिया प्राप्त हो जाती हैं जो कि उसे सम्वेक्षणीय मामलों में प्राप्त होती हैं। अपवाद यही रहता है कि वह बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा से किसी को हिरासत में नहीं ले सकती है। अपराध अध्ययन तथा अन्वेषण की अवधि में हिरासत, जमानत, अभिरक्षा वापिस भेजने तथा जाच-पडताल परक कानून अपनी-अपनी भूमिकाए निभाने लगते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है–

### हिरासत प्रसंग

अपराध दण्ड संहिता पुलिस को यह अधिकार देती है कि सम्वेक्षणीय अपराध विषयों में वह किसी को भी हिरासत में ले सकती है। पर जहा तक अनवेक्षणीय विषयों का प्रश्न है उन विषयों में वह किसी को तभी हिरासत में ले सकती है जबकि मजिस्ट्रेट उसे विशिष्ट रूप से इसके लिए अधिकृत करता है कि वह जाच-पडताल की अवधि में ही उसे अपनी हिरासत में रख सकती है।

### जमानत अधिकार

जहा तक जमानत योग्य प्रसग होते हैं उनमें पुलिस अधिकारी ही जमानत ले लेता है। पर गैर-जमानती मामलों में तो मजिस्ट्रेट को ही जमानत लेने का अधिकार प्राप्त है।

### अभिरक्षा प्रश्न

पुलिस किसी भी व्यक्ति को 24 घटे से अधिक अवधि के लिए अपनी अभिरक्षा में बलपूर्वक नहीं रख सकती है। यदि वह इसके पश्चात् भी उसे अभिरक्षा में रखना आवश्यक समझे तो उसे मजिस्ट्रेट से लिखित अनुमति प्राप्त करनी होती है।

### मजिस्ट्रेट द्वारा वापिस भेजने का अधिकार

मजिस्ट्रेट को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह सम्भावित अभियुक्त को पुलिस या कारागृह भी अभिरक्षा में रखने के आदेश देता है। प्राय वह कारागृह में रखने के ही आदेश

प्रदान करता है।

### जांच-पड़ताल परक कानून

भारत में इस आंग्ल विधि को व्यक्त किया गया है कि "हर अंग्रेज (आंग्लभाषी) का घर उसका अपना एक प्रासाद या दुर्ग होता है।" पुलिस को मात्र उसी वाद के प्रसंग में जांच-पड़ताल व तलाशी का अधिकार प्राप्त है जिसकी वह जांच कर रही होती है तथा जो उसके यहां पंजीकृत होता है। अन्यथा उसे मजिस्ट्रेट के पास जाकर जांच पड़ताल एवम् तलाशी का आदेश प्राप्त करना होता है।

इसके अतिरिक्त पुलिस जांच के मामले में जो भी प्रगति करती है उसको उसे समय-समय पर अंकित करना पड़ता है तथा उसे अपनी प्रगति की रिपोर्ट की प्रतियों को जिला पुलिस अधीक्षक के सेवार्थ प्रस्तुत करना होता है जो कि अनुसंधान अधिकारी को आवश्यक निर्देश प्रदान करता है। जहां तक गम्भीर प्रकृति के वादों का प्रश्न है यथा–डकैती, हत्या तथा राजमार्गों या अन्य मार्गों पर लूटपाट की जो घटनाएं घटती हैं उनके विषय में प्रगति विवरण की रिपोर्ट मजिस्ट्रेट तथा पुलिस महानिदेशक की सेवार्थ प्रेषित की जाती है।

जब अनुसंधान प्रक्रिया की परिणति सफलता में होती है तब अभियोजन क्रिया का श्रीगणेश होता है तथा वाद पुलिस-अधिवक्ता कार्यालय में प्रेषित किया जाता है जो कि अपराध विवरणिका की जांच-पड़ताल करता है तथा यह यह देखता है कि उसमें कोई त्रुटियां अथवा न्यूनताएं तो नहीं हैं। तदुपरान्त वह सम्बन्धित न्यायालय में अपराध विवरणिका प्रस्तुत करता है। जब वाद मजिस्ट्रेट की सेवार्थ प्रस्तुत किया जाता है तब वाद तथा उसका अभियोजन प्रारम्भ होता है। यह पुलिस की अभियोजन शाखा का दायित्व है कि वह समस्त उपलब्ध प्रमाण प्रस्तुत करे, रक्षा पक्ष की साक्षियों की प्रति परीक्षा (जिरह बहस) करे तथा अपने वाद के पक्ष में तर्किक समर्थन जुटाएं। ऐसी स्थिति में उसके दो परिणाम सामने आते हैं या तो अभियुक्त को मुक्त कर दिया जाता है या उसे दण्डित किया जाता है अथवा उसे सैशन्स अदालत के विचारार्थ प्रेषित किया जाता है। यदि जांच पड़ताल में असफलता हाथ लगती है तो अंतिम रिपोर्ट मजिस्ट्रेट की स्वीकृति हेतु भेजी जाती है।

### कानून एवम् व्यवस्था विषयक कार्य

इन कर्त्तव्यों का प्रत्यक्ष किसी विशिष्ट प्रकार के अपराध से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसका सम्बन्ध वे सामान्य कानून एवम् व्यवस्था से होता है जिसे कि गैर-अपराध मनोभावों द्वारा भी भंग किया जा सकता है। इस भांति के शांति भंग प्रसंगों को नियंत्रित किया जाना चाहिए। अतएव पुलिस सदैव स्थिति पर पूरा ध्यान रखती है तथा वह निम्नांकित प्रसंगों में उनके नियंत्रण की दिशा में अनेक प्रयास करती रहती है–

(1) साम्प्रदायिक स्थिति,

(2) उत्सवों के प्रसग,
(3) कृषिपरक सकट,
(4) औद्योगिक अशान्ति के अवसर,
(5) विद्रोही राजनीतिक दल, तथा
(6) अन्य।

## *अन्य शेष कार्य*

इसके अतिरिक्त पुलिस निम्नांकित भूमिकाए निभाती है–

(अ) गश्त, नियुक्ति, रक्षा तथा सहयात्रा के लिए व्यवस्था करना।
(आ) आपराधिक न्यायालयों की प्रक्रियाओं का कार्यपालन करना।
(इ) भीड एवम् यातायात के नियमन का प्रयास करना।
(ई) मेलों तथा अन्य समारोहों में कर्त्तव्यों का निर्वाह करना।
(उ) अकाल, अतिवृष्टि (बाढ), अग्निकाडों, दुर्घटनाओं, प्राचीन सग्रहों, सैनिक परिव्ययों, बिना दावे की तथा सदेहास्पद सम्पत्ति का सत्यापन करने तथा कारागृहों से भागे हुए लोगों के पता लगाने आदि की भूमिकाओं को निभाना।
(ऊ) जन्म तथा मरण की रिपोर्ट प्रस्तुत करना।
(ए) जब लोग/व्यक्ति आकस्मिक रूप से मृत्यु को प्राप्त हो जाएं या विषपान कर लें या हत्या का शिकार हो जाए अथवा आत्महत्या कर लें तब उनके शरीर की अंतिम शव परीक्षा तथा मृत्यु पत्र को तैयार करने का दायित्व भी पुलिस का होता है, तथा
(ऐ) विविध राज्य तथा स्थानीय शासन के अनेक कानूनों के निर्वहन कराने का उत्तरदायित्व भी उसी का होता है।

अभिप्राय. यह है कि पुलिस को विविध प्रकार के दायित्वों का निर्वहन करना होता है।

## *पुलिस के सत्ता स्रोत तथा अन्य शक्तियां*

वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था में प्रशासन उन्हीं शक्तियों का प्रयोग कर सकता है जिनका उसे विधि द्वारा अधिकार प्रदान किया गया है। पुलिस का अपनी शक्तिया मुख्यत निम्नाकित (सत्ता) स्रोतों से प्राप्त होती है–

(1) उसका प्रथम सत्तास्रोत पुलिस अधिनियम, सन् 1861 है जिसे कि विविध पदों के सृजन की विधायी स्वीकृति प्राप्त है तथा जिसमें समस्त पुलिस अधिकारियों (चाहे वे पुलिस महानिरीक्षक के उच्च पद पर आसीन हों या उप-निरीक्षक के निम्नतम पद पर) के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को सुपरिभाषित तथा सुव्यवस्थित कर दिया गया है।

(2) दूसरे, आपराधिक दण्ड संहिता के अन्तर्गत उसे अपराधों को नियंत्रित करने, अनुसंधान करने, ज्ञात करने तथा वाद अभियोजित करने की शक्तियां मिली हुई हैं। अपराध एवम् अन्य विषयों से सम्बन्धित अनेक शक्तियां भी उसे प्रदान की गई हैं।

(3) केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं द्वारा भी जो विविध विधेयक पारित किये गए हैं यथा—शस्त्रास्त्र/आग्नेय अस्त्र विधेयक, द्यूत-क्रिया विधेयक, मोटर वाहन विधेयक, उत्पादन शुल्क विधेयक तथा परिवहन के उप-नियम आदि द्वारा भी उसे शक्तियां प्राप्त हैं। चूंकि राज्य की गतिविधियों का दिन-प्रतिदिन विस्तार होता चला जा रहा है अतएव उसकी शक्तियों का क्षेत्र भी फैलता जा रहा है। जो विधेयक लोक कल्याण या विकास के लिए बनाए जाते है उनको व्यवहार में लाने हेतु किसी कार्यपालक मशीनरी की आवश्यकता पड़ती है तथा उनसे भी पुलिस की कार्य भूमिका में अभिवृद्धि होने लगती है।

(4) इन विविध विधियों के अतिरिक्त भी राज्य सरकारें अनेक विभागीय निर्देशों को प्रचारित करती हैं, ताकि उनसे पुलिस मार्गदर्शन ग्रहण कर सके। ये निर्देश इतने व्यापक होते है कि उनमे पुलिस प्रशासन तथा बल से सम्बद्ध सभी मामलों/विषयों के समस्त आयामों को समाहित करा लिया गया है यथा—उनमें पारितोषकों, शारीरिक-व्यायाम-ड्रिलों, शस्त्रों/आग्नेय शस्त्रों/पंजीकरण पुस्तकों तथा उनके नियमों, दण्ड विधानों, सेवक स्थान, भवनों की देखभाल की व्यवस्थाओं, थानों के मार्मिकों, कार्य विभाजन इत्यादि के बारे में विस्तृत निर्देश प्रदान किए गए हैं। सत्य है कि सरकार के ये समस्त निर्देश आवश्यक रूप विधि सम्मत्त्वध विधि के अन्तर्गत ही प्रदान किए जाएंगे।

## टिप्पणियां

1 खेरा एस एस *डिस्ट्रिक्ट एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया* पृष्ठ 1 3
2 पाटर डी सी , *गवर्नमेन्ट इन रूरल इण्डिया* 20 43
3 सिपरी जी सी , *न्यू पैटर्न ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन* नई दिल्ली।
4 *रिपोर्ट ऑफ दि एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमीशन आन स्टेट एडमिनिस्ट्रेशन* गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया नई दिल्ली।
5 पाटर डी सी , *गवर्नमेन्ट इन रूरल इण्डिया* पूर्वोक्त पृष्ठ 60-130
6 *ए आर सी रिपोर्ट आन स्टेट एडमिनिस्ट्रेशन* पूर्वोक्त
7 खेरा एस एस , *डिस्ट्रिक्ट एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया* पूर्वोक्त पृष्ठ 85-120
8 *उपरोक्त* पृष्ठ 121-143
9 शर्मा एम पी , *लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट इन इण्डिया* पृष्ठ 21-29
10 खेरा, एस एस , *डिस्ट्रिक्ट एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया* पूर्वोक्त पृष्ठ 30-35
11 उपरोक्त पृष्ठ 38 40

12 मुकर्जी बी , *कम्युनिटी डवलपमेन्ट इन इन्डिया,* पृष्ठ 55-67
13 कमेटी आन प्लान प्रोजेक्टस, (मेहता कमेटी)
14 *रिपोर्ट आन स्टेट एडमिनिस्ट्रेशन, ए आर सी ,* पूर्वोक्त
15 आई जे पी ए का विशेषांक *"कलेक्टर इन दि सिक्सटीज"* 1961 Vol VII
16 उपरोक्त
17 उपरोक्त
18 *रिपोर्ट आन स्टेट एडमिनिस्ट्रेशन ए आर सी* पूर्वोक्त
19 उपरोक्त
20 उपरोक्त

# 9

# भारतीय पुलिस और विकास की समस्याएं

सैद्धान्तिक दृष्टि से, 'विकास' नामक प्रक्रिया में परिवर्तन तथा उत्क्रमण दोनों पक्षों को ही सम्मिलित किया जाता है,' परन्तु यहां पर परिवर्तन को अर्थपूर्ण एवं विक्रम को संदेहास्पद होना चाहिए। यह स्मरणीय है कि समाज विज्ञानों की अधुनातन और जटिल शोध प्रणालियां भी, इन अवधारणाओं की कोई 'मूल्य निरपेक्ष' परिभाषायें अभी तक नहीं दे पाई हैं। फलतः उपलब्ध परिभाषायें हमारी वान्छाएं और धारणायें बनकर रह गई हैं। उत्तर युद्धकालीन एवं उत्तर उपनिवेशवादी देशों के बारे में इधर अमरीकी विद्वानों ने गम्भीरता से खोजबीन की है तथा उन्होंने 'विकास के अनेक मॉडल' बनाकर प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने विकास के अनेक कारकों को रेखांकित तथा चिन्हित किया है। उदाहरणार्थ, वे इन कारकों में प्रजातंत्रीकरण, आधुनिकीकरण, धर्मनिरपेक्षीकरण, समृद्धि, संस्था निर्माण, विशिष्टीकरण सामाजिक ऐक्य, आर्थिक व्यवस्था में विद्यमान समाज वितरण की प्रणाली तथा शान्तिपूर्ण तरीकों से विकेन्द्रित समाज की स्थापना की चर्चा करते हैं।' व्यापक सन्दर्भ में देखा जाए, तो 'विकास' जहां हमारा लक्ष्य है, हमारी मंजिल है तथा एक 'एण्ड प्रोमेस' है—वहां इसे हम एक वांछित लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में प्रयुक्त किये जाने वाले साधनों या यन्त्रों या रास्तों से अलग रखकर भी देख नहीं सकते।'

विकासशील देशों में राजनीतिक विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करने वाले अमेरिकी विद्वान एक तरफ तो राष्ट्रनिर्माण' को महत्वपूर्ण कारक मानते हैं और दूसरी तरफ वे प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को बनाये रखने को इस प्रक्रिया का सार समझते हैं। उदाहरणार्थ लूसियन डब्ल्यू पाई ने राजनीतिक विकास' की ग्यारह परिभाषाओं का अध्ययन करके तीन बुनियादी कारकों' को खोज निकाला है और वे हैं (अ) समानता, (ब) क्षमता, तथा (स) विशिष्टीकरण की प्रक्रियायें। यहीं पर हंटिंग्टन हमें यह चेतावनी देते हैं कि अगर कोई समाज संस्थानीकरण की महत्ता को नहीं पहचानेगा तो वह समाज 'विकास के जाल" में फंस जायेगा और अन्ततः वह राजनीतिक ह्रास' के मार्ग पर उन्मुख होने लगेगा। होवार्ड रिगिन्स राजनीतिक विकास' की कार्यात्मक आवश्यकताओं को उजागर करते हुए कहते हैं—कि प्रौढ़ प्रजातांत्रिक प्रणाली से उद्भूत परिवर्तन तथा राजनीतिक स्थिरता, एक तरफ तो

विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और दूसरी तरफ वे परिवर्तन तथा उन्नयन के झटकों को झेलने की क्षमता प्रदान करते हैं। राजनीतिक विकास के चरणों के बारे में अपना शास्त्रीय ग्रंथ सृजित करते समय ए.एफ.के. ओरगनस्की, रोस्टोव की विचारधारा[11] से अपनी सहमति दर्शाते हुए कहते है कि इन चरणों के संख्या चार है और वे हैं[12]–(1) राजनीतिक एकीकरण, (2) औद्योगीकरण, (3) राष्ट्रीय कल्याण, तथा (4) समृद्धि। इसका तात्पर्य यह है कि विकासशील देशों में विकास एक बहुमुखी प्रक्रिया है। वैसे किसी भी लोक कल्याणकारी राज्य में जब राजनीतिक विकास की प्रक्रिया शुरू होती है तो उसका भी उद्भव आर्थिक प्रणाली में ही निहित होता है। इस अध्ययन से यह तथ्य उजागर होता है कि ये सभी वर्गीकरण अस्पष्ट हैं और वे एक-दूसरे से उलझते हैं। इस उलझन को वे और अधिक तब उलझाते हैं जबकि इन कारकों के टकराव से विकासशील देशों में विद्यमान अराजक माहौल और भी अधिक अराजक हो जाता है।[13]

दूसरी तरफ जब हम विकास के मार्क्सवादी 'मॉडल' तलाशते है तो हमें 'समाजवाद के कई पथ'[14] और दिशायें मिलती है–जो कि मूलतः तीव्र औद्योगिकरण का तथा एक सांस्कृतिक समुच्चय का दर्शन समाहित किये हुए हैं। ह्यूज वाटसन इसे एक व्यापक प्रक्रिया की संज्ञा देते हुए कहते हैं कि "यह पश्चिमी दुनिया के विरुद्ध पिछड़े लोगों का एक ऐसा विद्रोह है जिसका नेतृत्व उनका अपना ही एक बुद्धिजीवी वर्ग कर रहा है।'"[14] अब अगर हम इसके सुस्पष्ट पश्चिम विरोधवाद को छोड़ भी दें, तो हम यह पाते हैं कि विकास का यह मार्क्सवाद 'मॉडल' अपने आप में विद्यमान धर्मनिरपेक्षीकरण एवं विशिष्टीकरण के गतिमान अवधारणाओं एवं ढांचों के कारण, बड़ी तेजी से प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी 'मॉडलों' के साथ[15] 'सहकारिता के विस्तृत क्षेत्र' तलाशता जा रहा है। परन्तु जब हम साम्यवादी समाजों में विद्यमान विकास के सर्स्वीकृत ढांचों का तथा उनमें क्रियारत साम्यवादी दलों के आधुनिकीकरण की भूमिका का गम्भीरता से अध्ययन करते हैं तो हम यह पाते हैं कि वे पश्चिमी 'मॉडल' में विद्यमान राजनीतिक तथा आर्थिक अभिजात्यों से अधिक भिन्न नहीं हैं।[16] वैसे भी सामाजिक न्याय पर आधारित एक वर्गहीन समाज की स्थापना की दिशा में प्रजातांत्रिक केन्द्रीयवाद तथा प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की शक्तियों की एक सीमित भूमिका ही हो सकती है। फिर जब हम क्यूबा, चीन, वियतनाम तथा यूगोस्लाविया में क्रियारत विभिन्न राष्ट्रीय अनुभवों तथा सांस्कृतिक झंझावातों का अध्ययन करते हैं तो विकास का यह मार्क्सवादी 'मॉडल' और अधिक जटिल तथा विकृत होना-सा नजर आता है।[17]

प्रशासन किसी भी निम्नत सामाजिक व्यवस्था की अथवा राजनीतिक व्यवस्था की एक ऐसी उप-व्यवस्था होती है जो कि राजनीतिक विकास की प्रकृति तथा अर्थों पर पूर्णतया आधारित होती है। प्रशासनिक विकास की प्रमुख विशिष्टतायें इस प्रकार गिनाई जा सकती हैं, उदाहरणार्थ ईमानदारी, क्षमता, विशिष्टीकरण, योग्यता तथा लक्ष्य प्राप्ति को ही लें।[18] परिवेश चाहे 'रिफरेक्टेड' हो या 'डिफरेक्टेड', परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक

तथा राजनीतिक व्यवस्था की पूर्णता के साथ कोई भी प्रशासनिक व्यवस्था अपना तालमेल कैसे बैठाती है तथा वह विकास के उत्प्रेरकों" की भूमिका निभाने समय इसे कितना और कैसे बदलना चाहती है। वैसे हम सामाजिक तथा राजनीतिक बदलाव बनाम प्रशासनिक परिवर्तन की गत्यात्मकता को फ्रेड रिग्स" के परिस्थितिकीय मॉडल की सहायता से अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। परन्तु यह प्रयास भी तभी महत्वपूर्ण बौद्धिक प्रयास होगा जबकि हम उन प्रशासनिक द्वन्द्वों तथा दुविधाओं को पहचानें जो कि पूर्ण विकास के बहुमुखी धक्कों से पैदा होते हैं। यहां पर हमें ध्यान में रखना होगा कि परिवर्तन तथा उन्नयन के ये धक्के सापेक्ष तथा परिवर्तनशील होते हैं और उनकी गति 'सामाजिक परिवर्तन के रसायन शास्त्र' पर निर्भर करती है।" इस आलेख का लक्ष्य स्वतन्त्रोत्तर भारत के विकास के उस परिदृश्य की समीक्षा प्रस्तुत करना है कि जिसके कारण व्यवस्था में विरोधाभास संकट, शून्यता तथा असमानताएं पैदा हो गई हैं। दूसरे खण्ड में भारत के पुलिस प्रशासन की निजी उन चुनौतियों एवं दबावों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसका कारण चाहे उसकी निजी ऐतिहासिक विरासतें हों तथा वे अप्रासंगिक संस्थायें तथा विद्यमान कार्यात्मक सीमायें भी हो सकती हैं। इस आलेख के अंतिम खण्ड में पुलिस प्रशासन के उन द्वन्द्वों तथा दुविधाओं का परीक्षण किया गया है जो कि न केवल उसे बल्कि [illegible] व्यवस्था को प्रभावित करती नजर आती हैं। अंत में, यह प्रस्तावित किया गया है [illegible] के द्वन्द्वों से निपटने के लिये विकासवादी तथा नियन्त्रणवादी प्रशासनों में तालमेल [illegible] बैठाया जाए जो कि शिखर से संचालित सोद्देश्य उन्नयन तथा अर्थपूर्ण परिवर्तन की प्रक्रिया में अन्तर्निहित है तथा वह उसकी एक अनिवार्य तार्किक परिणति भी कही जा सकती है।

## I

स्वतन्त्र भारत ने राष्ट्रीयता प्राप्त करने के दिवस से ही अपनी विकास की यात्रा शुरू कर दी थी। विश्व के सबसे खतरनाक साम्प्रदायिक दंगों की धधकती ज्वालाओं के बीच एक गणतन्त्रवादी संविधान की आधारशिला रख दी गई और इसके साथ ही राजनैतिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये लक्ष्यों माध्यमों तथा संस्थाओं का चयन कर लिया गया। उदाहरणार्थ वयस्क मताधिकार, धर्मनिरपेक्षता पर आधारित राज व्यवस्था, कानून का शासन सहकारी कार्यपद्धति स्वतन्त्र न्यायपालिका तथा अखिल भारतीय सेवाओं (विविधतावादी आधार पर संगठित) के बारे में महत्वपूर्ण अनुच्छेद संविधान में सम्मिलित किये गये।" इस प्रकार भारत में विकास तथा परिवर्तन कार्य की प्रणाली साधनों तथा गति तथा लक्ष्यों का निर्धारण किया गया। भारतीय संविधान के मनुओं ने एक ऐसी संवैधानिक व्यवस्था की आधारशिला रखी है जिसका लक्ष्य देश में राष्ट्रीय एकीकरण, राजनैतिक ऐक्य, प्रजातांत्रिक प्रणाली, पंचायती राज की संस्थाओं तथा आधुनिक एवं धर्मनिरपेक्ष मूल्यप्रणालियों की स्थापना करना है। राजनैतिक विकास के इस वातावरण को बनाये रखने के लिये नेहरु

सरकार ने एक तरफ तो अपनी औद्योगिक नीति[23] का प्रस्ताव पारित किया तथा दूसरी तरफ योजना आयोग का सगठन[24] तत्र स्थापित किया। इसी के साथ उसने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की मदद से ग्राम बहुमती भारत के आर्थिक विकास का निर्णय लिया तथा निर्णय मदद देने हेतु एन डी सी *के गठन का (जिसका आधार व्यापक था)* भी निश्चय किया। प्रारम्भिक अवस्था में 'न्यूक्लियस चेन्ज' से व्यवस्था को बनाये रखने के लिये विकास के इस पहलू को नियोजित एव समयबद्ध किया गया। वह अलग बात है कि चाहे हम उसे सैद्धान्तिक आधारों पर भ्रमपूर्ण अन्तर्निहित विरोधाभासों तथा धीमें विकास की प्रणाली की भले ही सरक्षण देते रहे हैं।[25] अब जहा तक सामाजिक परिवर्तन अथवा सांस्कृतिक विकास का ताल्लुक है, वह क्षेत्र एक तरफ तो अधिक कठिन तथा सवेदनशील है और 'दूसरी तरफ इस प्रकार के परिवर्तन लाने की जिम्मेदारी सामाजिक प्रक्रियाओं पर छोड दी गई। इस क्षेत्र में सामाजिक विधायन का सहारा भी इसीलिये नहीं लिया गया। क्योंकि ऐसा देखा गया है कि सामाजिक क्षेत्र में कानून की आत्मा लागू करने के बजाय उसे तोडने की विचार प्रणाली ही अधिक सशक्त पाई थी। तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि देश के राजनीतिक और आर्थिक विकास के सान्निध्य में तथा समाज परिवर्तन की दिशा में कोई कदम ही नहीं उठाये गये। इस दिशा में उठाये गये कुछ सात्त्विक प्रयत्न इस प्रकार रहे हैं—अस्पृश्यता को दूर करने के विधेयक, स्वर्ण नियत्रण के आदेश, विधवा विवाह तथा परिवार नियोजन तथा दहेज विरोध के बारे में पारित विधेयक, पिछडी जातियों तथा समुदायों को प्राथमिक प्रतिनिधित्व देने के विधेयक तथा अनिवार्य जमा, मुआवजे एव फैक्टरियों की दशा सुधारने वाले विधेयक, इत्यादि, इत्यादि।

परन्तु विगत तीन दशकों में हुए सामाजिक एव आर्थिक परिवर्तन का गणित यह जरूर दर्शाता है कि परिवर्तन की गति तीव्र तथा इनके तत्वों में और अधिक वृद्धि हो सकती थी। इसका जवाब यही मिलता है कि सामाजिक-आर्थिक कारकों की बाध्यताओं के कारण भारत में राजनीतिक विकास भी गति नहीं पकड पाया। यहा पर हमें यह भी स्वीकारना होगा कि पचासवें एव साठवें दशक में हमें ऐसे अद्वितीय चुनौतियों एव द्वद्वों का सामना करना पडा कि परिणामस्वरूप हमें वाछनीय आर्थिक एव सामाजिक विकास के पहलुओं पर ध्यान देने के बजाय राजनीतिक विकास को ही प्राथमिकता देनी पडी।[26] इस जगह यह भी ध्यान देने की बात है कि पंडित जवाहर लाल नेहरु को विकास की जिस 'समग्रता' से एव विशालता से जूझना पडा उसमें हर चरण पर एव हर स्थिति में धारावाहिक सामजस्य स्थापित करना आवश्यक हो गया था। उदाहरण के तौर पर प्रजातांत्रिक कार्यप्रणाली तभी चल सकती थी जबकि आर्थिक विकास की गति को धीमा रखा जाये। इसी तरह भारतीय समाज की गैर-पश्चिमी भावभूमि में सामाजिक पौराणिकतावाद एव सम्प्रदायवाद को तब तक सहने की दुहाई दी जाती रही, जब तक कि इस देश की जमीन में प्रजातांत्रिक एव ससदीय सस्थायें अपनी जडें नहीं जमा पाती है।

इसी प्रकार नेहरु (जैसे प्रकटत गैर-गांधीवादी) के समक्ष यह द्वंद्व भी हमेशा उपस्थित रहा कि लक्ष्य तथा साधनों में गांधीवादी किस्म का समन्वय कैसे बिठाया जाये। फिर वे एक ऐसे आर्थिक विकास के भगीरथ प्रयास में जुटे हुये थे कि उसमें आर्थिक साधनों का भीषण अभाव उपस्थित था। फलत विकास के साधनों की समस्या एक तरफ मुह बाये खड़ी थी और दूसरी तरफ राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के विरुद्ध सांस्कृतिक शक्तिया विद्रोह का झंडा लिये खड़ी थीं। तब भी यह तो स्वीकारना ही होगा कि पंडित नेहरु ने 'अनुपातों के इस समीकरण' को बनाने की समस्या को, राष्ट्रनिर्माण के हित में बड़ी सूझ-बूझ एवं दूरदृष्टि से सुलझाया।"[37]

विकास के इन्दिरा गांधी दशक की यह विशेषता कही जा सकती है कि उसमें धारावाहिकता की बजाय परिवर्तन की ललक प्रभावपूर्ण स्थान बनाये हुए थी। उन्होंने विकास के आर्थिक पक्ष को इतना महत्वपूर्ण माना (एक द्वंद्ववादी के नाते वे अति पर पहुच गई) कि उसकी कीमत तथा गति की गत्यात्मकता से विकास के राजनीतिक तथा सामाजिक पक्ष चरमरा उठे। अपने अग्रवादी कार्यक्रमों से श्रीमति गांधी ने व्यवस्था की राजनीतिक क्षमताओं को सशंकित बना दिया और सामाजिक अनुदारवादी तथा राजनीतिक समधर्मी शक्तियां उनके विरोध में जी-जान से जुट गईं। अपने कथित समाजवादी वायदों *तथा जबरन नसबन्दी के जुल्मों से उन्होंने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि फलस्वरूप* राजनीतिक व्यवस्था को गंभीर संकट की घड़ी में से गुजरना पड़ा और अन्तत उसे 1977 के वर्ष में विकास के विभिन्न पहलुओं के बीच किसी तरह एक नाजुक संतुलन स्थापित करना पड़ा।"[38]

भारतीय संदर्भ में तो यह एक निर्विवाद तथ्य है कि हमारी राजव्यवस्था का एक मात्र लक्ष्य 'विकास' करना ही होगा, बशर्ते कि इससे कहीं उसका स्वयं का अस्तित्व ही खतरे में न पड़ जाये। अतः भारत जैसे विकासशील देशों के लिए तो 'मात्र अस्तित्व रखना' तथा 'तीव्र आर्थिक विकास' के अतिवादी ध्रुवों के बीच विभिन्न प्रकार की सफलताओं के *'मील के पत्थर' स्थापित करने होंगे। फिर एक समस्या यह भी है कि उत्प्रेरणा के एजेन्टों* को न तो हम विदेशों से आयातित कर सकते हैं न ही रातोंरात हम उनका सृजन कर सकते हैं और फिर हम 'विकास' की कीमत किसी एक वर्ग से वसूल भी नहीं कर सकते चाहे वह कितना ही समृद्धिशाली या विपन्न क्यों न हो। ऐसी परिस्थितियों में, हम उन लाखों गरीबों को (जो भूख, अशिक्षा, कुपोषण तथा बीमारियों की मार से बिलबिला रहे हैं) अनन्त काल तक धैर्य बनाये रखने के लिए भी तो नहीं कह सकते हैं जबकि उनकी अपनी जिन्दगियों में तो कम से कम 'विकास' की स्थिति पा सकने की कोई आशा है ही नहीं। यहां पर विकास की गति पर रणनीति बनाने तथा उसे समयानुसार बदलने की क्षमता *पाने की भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि एक सर्पीली सड़क के मोड़ों पर से गुजरने* के लिए एक कुशल ड्राइवर को दिखलानी पड़ती है। फिर इस भगीरथ काम को करते समय,

हमें समय की मर्यादा भी तो बनाये रखनी है। कारण यह है कि हमारा लक्ष्य जनतांत्रिक प्रक्रिया से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना जिसके फलस्वरूप आर्थिक समृद्धि की स्थिति पैदा हो जाये तथा इसकी गति धीमी तथा रास्ता विकासवादी बना रहे। मेरी अपनी दृष्टि में तो, किसी भी विकासमान राजनीतिक व्यवस्था को निम्नलिखित मूलभूत मान्यताओं का अनुकरण करना होगा और ये मान्यतायें हैं--

(अ) हमें इस गांधीवादी प्रस्तावना को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी कि "अच्छे माध्यमों से अच्छे लक्ष्यों तक पहुंचा जा सकता है।" क्योंकि, 'विकास' अपने आपमें एक खतरनाक प्रक्रिया है जब तक कि हम विकास के 'क्यों, क्या और कैसे' पक्षों पर वैचारिक सुस्पष्टता नहीं रखते। (ब) इसी के साथ हमें विकास के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पहलुओं को न केवल समझना है--अपितु हमें उसके विविध पक्षों में एक 'औचित्यपूर्ण अनुपातों' की भी स्थापना करनी होगी, जिससे कि कोई भी व्यवस्था खण्ड-खण्ड परिवर्तन के दबावों और धक्कों को न केवल झेल सके तथा उन्हें अपने अन्दर पचा भी सके। (स) इसी के क्रम में, हमें विकास के प्रयत्नों में बाधा डालने वाले तत्वों के विरुद्ध सावधान भी रहना होगा तथा उन मूल्यात्मक आधारों पर कड़ी दृष्टि रखनी होगी जो कि समाज के विविध पक्ष विकास की दुहाई देते रहते हैं। (द) अंत में, इन सभी वांछनीय तथा अवांछनीय तत्वों को हम तभी रोक पायेंगे, जबकि हम अपनी व्यवस्था के मूल संगठन को परिवर्तन अर्थात् विकास के गलत प्रभावों से मुक्त बनाये रख पायें।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि हमारा लक्ष्य परिवर्तन को अर्थपूर्ण तथा उन्नयन को सोद्देश्य बनाये रखना है। हमें उसे न केवल सृजित करना है बल्कि उसे बनाये भी रखना है तथा गतिमान भी बनाना है। नकारात्मक दृष्टि से देखा जाये तो समाज या राज व्यवस्था में आभिजात्यों का एक ऐसा समन्वय बनाये रखना है कि जिससे विकास की प्रक्रिया को न केवल जारी रखा जाये बल्कि उसे इस तरह चलाया जाये कि वह सुरक्षित भी रह सके। इस तरह हम विकास की एक ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में पहुंच जाते हैं जिसमें 'निगेशन ऑफ निगेशन' की नियमावली ही उसे बचाये रख सकती है। इस खण्ड-खण्ड विकास की प्रक्रिया में फलस्वरूप हमें एक ऐसी मूल्यात्मक प्रणाली की प्राप्ति होती है जिसमें कि वैज्ञानिकता, तार्किकता तथा समता की मूल प्रणालियों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

## II

दुनिया के हर देश में (चाहे वह पश्चिम से सम्बन्धित हो या पूर्व से सम्बन्धित तथा हर समाज में चाहे वह समाज विकसित हो या विकासमान), जिसका कि भारत कोई अपवाद नहीं है, पुलिस संगठन हर जगह सरकार के कार्यपालिका सम्बन्धित कार्यों के निभाने के लिए एक यंत्र के रूप में कार्य करता है तथा वह हर जगह कानून की स्थापना करता है।

पुलिस को हर जगह एक ऐसे 'नियंत्रणकारी प्रशासन' के यंत्र की संज्ञा दी जाती है जिसका परिवर्तन या विकास करने से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यह एक ऐसी 'एजेन्सी' है, जो कि हर समाज में विधि एवं व्यवस्था की आयोजना करती रहती है तथा जिसका हर दिन अपराधों, दुर्व्यसनों तथा बाल अपराधों से पाला पड़ता रहता है। पुलिस कार्यों तथा व्यवहारों का उपर्युक्त चित्रण सर्वथा विकृत हो गया है—क्योंकि इस संस्था के साथ विकासशील देशों के परिवर्तन तथा विकास के प्रयत्नों को जोड़कर कैसे रखा जायेगा। पुलिस तथा विकास विषय पर की जाने वाली अधुनातन शोध एक दूसरी ही कहानी सुनाते हैं और वह यह कि पुलिस प्रशासन न केवल विकास को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है अपितु वह उसे समाहित करते हुए प्रभावित करता है और एक दिशाबोध भी प्रदान करता है।" प्रोफेसर डी.एच. बेली" का यह निश्चित मत है कि "इस तथ्य को मानने के पीछे कई आधार हैं कि दूसरी इकाईयों के मुकाबले पुलिस राजनीतिक जीवन को कहीं अधिक प्रभावित करती है। इसके कुछ कारण इस प्रकार हैं। प्रथम, चूंकि अपनी वर्दी के कारण पुलिस की भूमिका इतनी प्रत्यक्ष तथा खुली होती है कि उसे छिपाया नहीं जा सकता तथा यह समाज की सभी कार्यवाहियों में इतनी अधिक रची-बसी रहती है कि उसका सम्बन्ध जन-जन तक फैला हुआ है। द्वितीय, जहा तक बल के साधनों का प्रश्न है वहा तो पुलिस का 'एकाधिकार' सर्वमान्य है। यहा यह भी स्मरणीय है कि पुलिस समाज का नियत्रक है, अत उसकी भूमिका के प्रति समाज में भय, उत्तेजना तथा आशका की भावना भी रहती है। अत सरकार के अन्य अगों के विपरीत उसकी भावनात्मक महत्व की स्थिति बनी रहती है। तृतीय, चूंकि पुलिसकर्मी समाज के जीवन के सबसे महत्वपूर्ण तत्वों की रक्षा करते है तथा वे व्यक्ति के जीवन रक्षा उसकी सकट की घड़ियों में करते हैं, अत उनका महत्व निर्विवाद रूप से स्वय सिद्ध है। चतुर्थ, पुलिस को कानून का समानार्थी मान लिया गया है क्योंकि वह मनुष्य द्वारा रचित या विधि द्वारा स्थापित सरकार के सगठनों तथा ढाचों की रक्षा करती है और वह यह भी तय करती है कि उसे अपनी इस भूमिका का निर्वाह कैसे करना है।" इतनी विशाल शक्तियों के कारण भारतीय पुलिस इस देश के विकास की गति को बढ़ाने या रोकने में एक सभावित शक्ति की भूमिका प्राप्त कर लेती है। चूकि यह सत्ता की सबसे अनुशासित सहभागिनी है अत यह देश के विकास में भाग लेने की अपूर्व क्षमता रखती है।[12] इसके विपरीत अगर हम उसे विकास कार्यों से पृथक् भी रखना चाहें तो ऐसी अनचाही बाधायें तथा तनाव उपस्थित हो जायेंगे कि हम उनसे केवल पुलिस की मदद से ही निपट सकेंगे। जैसे जब हम 'गैर-राजनीतिक पुलिस' या 'विकास के प्रति तटस्थ पुलिस' की चर्चा करते हैं तो हम एक भ्रम को हवा में उछाल रहे हैं क्योंकि इसका मतलब यह निकलेगा कि अगर भारतवर्ष में पुलिस प्रशासन विकास की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेता है तो अन्ततोगत्वा उससे व्यवस्था में असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जायेगी।" फिर यह बात भी सही नहीं है कि हर 'विकासवादी पुलिस' अन्तत 'नागरिक पुलिस' का

रूप ग्रहण कर लेगी। अगर हम भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण, प्रजातांत्रिक प्रक्रिया तथा सामाजिक धर्मनिरपेक्षतावाद के जरिये विकास करना चाहते हैं तो हमें इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये न केवल पुलिस को एक 'नया दर्शन' प्रदान करना होगा, अपितु उसकी भूमिका तथा कार्यों में भी परिवर्तन लाने के लिये एक प्रासंगिक प्रशासनिक ढांचा भी बनाकर देना होगा, ताकि हमारे देश की राजव्यवस्था अपने घोषित लक्ष्यों को तथा प्रधारित मान्यताओं को प्राप्त कर सके।[34]

अगर कोई भी शोधकर्ता भारत में पुलिस संगठन एवं कार्यप्रणाली पर शोध करता है तो उसका पहला निष्कर्ष है कि विरासतें अपनी जड़ें जमाये बैठी हैं—यद्यपि यह उससे बचने के लिए बेहताशा संघर्ष भी कर रही है। हमारे देश में तो अभी तक सर्वथा अप्रासंगिक एवं पुराणपंथी 1861 का पुलिस एक्ट ही उपनिवेशवादी कानून तथा अपराधों और बुराइयों की शास्त्रीय मीमांसा प्रस्तुत कर रहा है। वर्तमान पुलिस संगठन भारतीय समाज की विकास आवश्यकताओं के समक्ष अब बौना लगने लगा है।[35] फलत: नई सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के समक्ष यह समस्या उठ खड़ी हुई है कि वह अपने नये लक्ष्यों तथा मान्यताओं की प्राप्ति हेतु इस पुलिस तंत्र को कैसे प्रासंगिक बनाये। जिले पर आधारित तथा बाहुबल से प्रेरित इस पुलिस संगठन का भूतकाल में इतना दुरुपयोग हुआ है कि व्यवहार में अब इस कानून की भुजा को केवल यथास्थितिवाद का पुष्टि पोषक मात्र ठहराया जाने लगा है।[36] फिर समाज तथा उसके जनमत बनाने वाले नेतृत्व की भी पुलिस के प्रति कोई सहानुभूति की भावना नहीं है क्योंकि भारत में लोक सेवा आयोग द्वारा चयनित अन्य प्रशासकीय सेवाओं के मुकाबले पुलिस में योग्य व्यक्ति नहीं आते। राजनीतिक प्रभुओं ने भी विगत काल में अपने भ्रष्ट शासन को बनाये रखने के लिए तथा यथास्थितिवाद को स्थाई करने के लिए ही अभी तक पुलिस दल का इस्तेमाल किया है। फिर भारतीय नौकरशाही भी यह चाहती है कि यह मजिस्ट्रेसी के कार्यपालक की भूमिका का निर्वाह करती रहे ताकि वह भारतीय प्रशासन की जिला व्यवस्था में विधि एवं व्यवस्था बनाये रखने की अपनी पारम्परिक भूमिका का निर्वाह कर सके।[37] फिर सामान्य जन न तो पुलिस व्यवसाय की अन्तरंग एवं दर्दीली कहानी को जानता है और न ही वह समाज की सुरक्षा की जटिल समस्याओं तथा परेशानियों से भिज्ञ हैं। विगत काल में भारत के पुलिस प्रशासन के वरिष्ठ अधिकारी भी उस अपेक्षित नेतृत्व को प्रदान करने में सर्वथा असफल रहे हैं जो कि पुलिस प्रशासन के संगठन की प्रशासनिक एवं व्यावसायिक द्विविधाओं तथा द्वंद्वों से निपटने के लिए वांछित थी। फलत: छूटे कामों का अम्बार लग गया है और समस्याएं उलझती चली गई हैं। मेरी दृष्टि में तो इसका कारण यही रहा है कि पुलिस संगठन के बाहर तथा भीतर दोनों ही जगहों पर सृजनात्मक क्षमताओं तथा चिन्तन का भारी अकाल है।[38] इसकी तार्किक परिणति वही हुई जिसकी आशंका थी अर्थात् पुलिस संगठन, पुलिस कार्यकर्ता, पुलिस बजट, पुलिस की कार्यप्रणाली का तरीका तथा पुलिस-जनता या समुदाय

सम्बन्ध सभी के सभी परिवर्तन की प्रति वैराग्य धारण करके बैठ गये। ऐसी स्थिति में इस विभाग की स्थिति उस अडियल टट्टू के समान हो गई जिसने विकास के लक्ष्य को तिलाजली दे डाली है तथा जो मृतकानूनों को लागू करने को अपने जीवन कर्म की सज्ञा दे रहा है। फलत तीव्र विकास उसके लिए एक लाल कपडे के सदृश्य हो गया है। फिर उसमें ऐसी बौद्धिक जागृति भी तो नहीं रही कि वह 'स्वस्थ अव्यवस्था' तथा अराजकता हिंसा के बीच एक आत्म-आरोपित लक्ष्मण रेखा खींच सके। 'विकास की परेशानियों' तथा 'विकास के तोड-फोड' के भेदों को पहचानने में वह सर्वथा असमर्थ रहा है। अत भारत में तो अभी तक पुलिस प्रशासन का यही दर्शन बना है कि उसकी भूमिका तो कानून बनाये रखने तक ही सीमित है। विकास या परिवर्तन को भारतीय पुलिस केवल उसी स्थिति में स्वीकार करती है जबकि वह एक अन्तिम विकल्प के रूप में उस पर आ गिरता है। ऐसी स्थिति में हम पुलिस को भी क्या दोष दें जबकि वह विकास की प्रक्रिया में भाग लेने के बजाय कानून स्थापित करने में ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ बैठी है।

ऐसी परिस्थितियों में भारतीय पुलिस एक विरोधाभास में जी रही है, जबकि एक तरफ तो वह परिवर्तन के प्रति बेरुखी अपनाए बैठी है और दूसरी तरफ सामाजिक परिवर्तन तथा आर्थिक विकास की ताकतें उसे परिवर्तन की ओर पूरे वेग से धक्का दे रही हैं। 'व्यवस्था बनाये रखने के चक्कर में' वह सभी को 'व्यवस्था तोडकों' की सज्ञा दे देती है और उसके साथ बेशर्मी से हिंसक बर्ताव कर डालती है। स्वतन्त्र भारत में एक तरफ जबकि आम नागरिक अपने मूलभूत अधिकारों के लिए जागृत हो गया है, राजनीतिक व्यवहार का कार्यक्षेत्र भी तेजी से बढा है, तथा नागरिकों में आर्थिक विकास की ललक स्पष्ट दिखाई देती है (और ये सभी राजनीतिक तथा आर्थिक विकास के लक्षण हैं) तब भारतीय पुलिस परिवर्तन की आधी को रोकने के लिए अपनी लाठी लिए बैठी है। रोना तो यह है कि वह इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए सर्वथा अक्षम असगठित है तथा घोर अज्ञानी भी। इसके प्रस्थापना के पक्ष मे उन अगणित राज्य पुलिस आयोगों की रिपोर्टों" को पेश किया जा सकता है जो चीख-चीख कर यह कह रही हैं कि वर्तमान पुलिस पूर्ण विकास के दर्शन के सदर्भ में अप्रासंगिक हो उठी है, अत उसे पुनर्गठित किया जाये। इन आयोगों ने यह सुविचारित मत दिया है कि पुलिस सगठन की प्रशासनिक सस्कृति ऐसी है कि वह उन्हें परिवर्तन की उत्प्रेरणा से सर्वथा असम्पृक्त बनाये हुए है। फलत वह उन्हें पुराणपथी, बाहुबली तथा खुशामदी बना रही है" और शासकीय अभिजात्य भी उन्हें बढावा देता है। कोई भी मार्क्सवादी भारतीय पुलिस को ऐसे 'बुर्जुआ वर्ग के हितों के रक्षक' की सज्ञा देगा जो कि पददलितों के विरुद्ध शोषण तथा भ्रष्टाचार की ताकतों को प्रश्रय देती है और शोषकों को अपनी सुरक्षित सीमा में आश्रय।" फलत यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय पुलिस को परिवर्तन के उत्प्रेरक बनने की बजाय 'विकास का बाधक' बनना अधिक पसन्द है और वह भी एक ऐसे देश में जहा अन्धविश्वास तथा पुराणपथी मान्यताओं से ग्रस्त लोग

हिंसा तथा सार्वजनिक सम्पत्ति में व्यापक विनाश के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की ताकतों को पीछे धकेलने के लिए कटिबद्ध हों।

परन्तु यहां पर यह ध्यान में रखा जाना चाहिये कि अगर हम यह चाहते हैं कि भारतीय पुलिस विकास के ये तीनों कार्य करे तो इसके साथ ही हमें गम्भीरतापूर्वक अध्ययन द्वारा सावधानी के साथ कुछ रणनीतियों का भी चयन करना पड़ेगा। अगर पुलिस संगठन अपने कर्त्तव्यों का मूल्यांकन करने में जुट जाए और अपनी सीमाओं को पहचानने लगे तो वह विकास को नुकसान पहुंचाने वाले तत्वों से बड़ी आसानी से निपट सकती है। फलत वह राजनीतिक स्थिरता, औद्योगिक सुरक्षा तथा सामाजिक सौहार्द का ऐसा वातावरण पैदा कर सकती है जिसके फलस्वरूप लोकतन्त्रीकरण, औद्योगिकरण तथा आधुनिकीकरण की शक्तियां बलवती हो उठेंगी।"

इस तरह विकास की एक लम्बी परिधि में पुलिस की भूमिका सबल, अर्थपूर्ण तथा टिकाऊ बन पड़ेगी—क्योंकि वैसे भी किसी भी समाज में विकास के 'सिन्ड्रोम' को गतिमान बनाये रखने के लिए किन्हीं कारणों पर खड़ा करना पड़ता है। फिर जब पुलिस अस्तित्व बनाये रखने के साथ सुरक्षा का भी प्रबन्ध करती है तो वह विकास का एक ठोस आधार लाकर जुटाती है।" यों तो पश्चिम के अति विकसित समाज भी अपनी पुलिस व्यवस्था को चुस्त तथा दुरुस्त रखते हैं क्योंकि परिस्थितियों की विडम्बना तो यह है कि जो शक्तियां विकास के आरम्भिक चरणों में बल प्रदान करती हैं वे ही आगे चलकर उसकी जड़ें खोखली करना शुरू कर देती हैं। उदाहरणार्थ, हम सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के विकास प्रतिमानों को ही लें तो हम यह पाते हैं कि कल्याणकारी कार्यों के अन्तर्गत ही उन्हें अपने पुलिस संगठनों को ध्यान में रखना पड़ता है, क्योंकि पुलिस वहां पर सभ्यताओं के अस्तित्व को बनाए रखने की एक आवश्यक एवं मूलभूत मशीनरी की भूमिका निभाती है।

भारतीय पुलिस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए दो काम करती है, और वे हैं (अ) सामाजिक विधायनों का क्रियान्वयन, तथा (ब) औद्योगिक नीति का नियमन। परन्तु विगत तीस वर्षों से हर मामले में विकास की मांगें असहनीय हो रही है। भारत के राजनीतिक भाग्य विधाताओं ने देश की राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने की इतनी अधिक प्राथमिकता दे डाली कि परिणामस्वरूप देश के आर्थिक विकास तथा सामाजिक परिवर्तन को गतिशील बनाने के लिए उसके पास ज्यादा शक्ति शेष नहीं रह गई थी। फिर राजनीतिक व्यवस्था ने ऐसा जागरूक प्रयास कब किया था कि भारतीय पुलिस सामाजिक सुधार तथा आर्थिक विकास के क्षेत्रों में भी अपनी भूमिका का निर्वाह करे। फलत भारतीय पुलिस देश के सामाजिक तथा आर्थिक कायाकल्प करने के लक्ष्य से कभी प्रतिबद्ध नहीं हो पाई। दूसरे छोर पर जब औद्योगिक अशान्ति के प्रसंग उपस्थित हुए तो व्यवस्था ने पुलिस के व्यावसायिक सलाह को महत्व देने की बजाय राजनीतिक दबावों के आगे

झुकना ज्यादा प्रासंगिक एवं समन्वेचित समझा। इसके विपरीत पुलिस के थानों में भी लाखों करोड़ों लोग अभी तक उस परिधि में भी नहीं आये हैं जहा पर विकास के लाभ लुटाये जा रहे हैं और जहा पर कि विकास की अनुक्रियायें अपना गत्यात्मक एवं सशक्त रूप प्रदर्शित करती हुई दिखाई देती हैं।

अब अगर हम भारत में पुलिस संगठन के कार्यों तथा भूमिकाओं का एक वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित अध्ययन करें तो विकास के तीन पक्षों के सन्दर्भ में (जिसमें राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पक्ष आते हैं) हम भारतीय पुलिस की विकास संबंधित निम्न लक्ष्यों का विवरण प्रस्तुत करना चाहेंगे–

**(1) प्रजातान्त्रिक संस्थानों तथा प्रक्रियाओं की सुरक्षा तथा उन्हें सबल बनाने का लक्ष्य**–भारतीय पुलिस इस दिशा में निम्नलिखित भूमिकाओं का निर्वाह कर सकती है–

(अ) किसी भी कार्यरत सरकार की कार्यपालक शक्तियों का निर्वाह करते समय वह ईमानदारी तथा योग्यता को अपना सबल मानकर चले।

(ब) क्षेत्र में नीति निर्माता के सहायतार्थ वह शालीनता बनाये रहे तथा कानून बनाये रखने समय एक विशेष की भूमिका निभाए।

(स) वह सही अर्थों में कानून की भुजा बने जिससे कि वह राजनीतिक विकास में एक बाधक की भूमिका नहीं निभाए।

**(2) आर्थिक विकास तथा समृद्धि लाने में पुलिस का योगदान**–पुलिस इस दिशा में निम्नलिखित तरीकों से एक सीमित योगदान दे सकती है।

(अ) अब सरकार की आर्थिक नीतियों से सम्बन्धित कानूनों का सख्ती एवं ईमानदारी से क्रियान्वयन करे।

(ब) वह जागृत होकर जनसहयोग से एक ऐसा वातावरण बनाये जिससे कि औद्योगिक तथा कृषि क्षेत्रों में शान्ति बनाये रखी जा सके तथा शासक और शासित के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित किए जा सकें।

(स) आर्थिक कार्यवाहियों का नियमन इस प्रकार से करे कि गम्भीर आर्थिक अपराधों (उदाहरणार्थ स्मगलिंग, जमाखोरी तथा काला बाजारी को ही लें) की प्रभावी रोकथाम हो सके।

**(3) सामाजिक परिवर्तन को गतिमान बनाये रखना**–यह तभी सम्भव है जबकि भारतीय पुलिस निम्नलिखित कदम उठाने का साहसिक निर्णय ले–

(अ) सामाजिक विधायन के क्षेत्र में अधिक तत्परता दिखलाये विशेषत पिछडी जातियों तथा जन-जातियों के सामाजिक सुधार के लिए बनाये गये कानूनों का क्रियान्वयन करें।

(ब) शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उन लोगों तथा शक्तियों के प्रति विशेष सख्ती

जीवन तथा आजीविका की रक्षा कौन करेगा। क्योंकि किसी भी सरकार की कार्यपालिका के एक अंग के नाते वह मात्र स्वामिभक्ति की विचारधारा को लेकर तो चल नहीं सकती है। वैसे भी जब पुलिस राजनीतिक विकास के सकारात्मक पक्ष के प्रति लापरवाह रहती है तो वह राजनीतिक विकास को पीछे धकेलने तथा सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन की दिशा में तथा संदर्भ में एक नकारात्मक कारक की भूमिका को अधिक निभाने लगती है। इसे ऐसे समझा जा सकता है कि जब पुलिस राजनीतिक भाग्य विधाताओं की आज्ञाकारी चेरी की भूमिका निभाती है तो वह उस भूमिका से प्रजातांत्रिक सशक्तीकरण की प्रक्रिया को अर्थात् राजनीतिक विकास की गति को ही कुन्द तथा मन्द बना देती है। इस प्रकार पुलिस ऐसे समाजों में एक द्विमुखी तलवार की भूमिका का निर्वाह करती है जहां कि मतभेदों की भरमार हो तथा जहां हिंसा दैनिक जीवन का हिस्सा बन कर रह गई हो—और इस प्रकार वह उन समाजों में राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति में चार चांद भी लगा सकती है और अगर चाहे तो प्रगति का मार्ग भी अवरुद्ध कर सकती है। यह भी देखा गया है कि इन समाजों में आभिजात्य वर्ग अपने सम्मान, शक्ति तथा सत्ता के खेल को तभी पूर्ण मानता है जबकि वह पुलिस को पालतू बना देने में सफल होता है और जब पुलिस सत्ता में खेल की अन्तर्धाराओं से अपरिचित रहती है तो वह आसानी से सत्ताधीशों के जाल में फंस जाती है और परिणामस्वरूप वह व्यवस्था में अव्यवस्था ही अधिक उत्पन्न करती रहती है। इस प्रकार जब यह बल प्रयोग से अव्यवस्थाओं को पैदा करती है या उन्हें प्रोत्साहित करती है—तो उससे पुलिस का प्रशासन स्वयं भी विरोधाभासों तथा प्रशासनिक उलझनों में फंसता चला जाता है। भारत में पुलिस प्रशासन विकास की कार्यवाहियों से जिन प्रशासनिक द्वन्द्वों का सामना करती है—उन्हें निम्नांकित बिन्दुओं के रूप में रेखांकित तथा चिन्हित किया जा सकता है—

(1) विकास के एशियाई ड्रामे की पहली दुविधा तो यही है कि यहां पर विशिष्ट हितों के कई स्तर पाये जाते हैं" और मजे की बात तो यह है कि हर स्तर अपनी भूमिका को बड़ी सफाई तथा अपनी विशेषता से निभाता है और जब उसे ललकारा जाता है तो यह आत्महत्या करने की बजाय आसानी से बलि का बकरा ढूंढ लेता है। फिर भारत के नागरिक तथा राजनीतिक सत्ताधारियों के लिए भारतीय पुलिस से अच्छी गूंगी तथा आसानी से मिलने वाली बलि कहां मिल सकती है—जो कि स्वयं अपनी अनुशासन की लक्ष्मण-रेखाओं में घिरी हुई है तथा घुटी हुई है। यह भी स्मरणीय है कि इस प्रक्रिया में बारम्बार ठोकर खाने के बाद व्यवस्था में उसने स्वयं वर्गीय हित विकसित कर लिए हैं—और यही कारण है कि वह स्वयं आत्महत्या से बचना चाहती है और इसलिए वह देश में विद्यमान आर्थिक विकास के प्रति स्थितप्रज्ञता की मुद्रा धारण किये हुए खड़ी है—क्योंकि इससे स्वयं उसका अस्तित्व खतरे में जा पड़ता है। अतः यही कहा जा सकता है कि अगर पुलिस को विकास की प्रक्रिया में सकारात्मक भूमिका निभाने दिया जाये—तो इससे

यथास्थितिवादी ताकतों का खात्मा हो जायेगा। इसके विपरीत अगर पुलिस स्वयं यथास्थिति बनाये रखने को तुल जाये—तो वह उन्नयन तथा विकास लाने वाले परिवर्तन को रोकना ही अपना प्रमुख लक्ष्य बना डालेगी।

(2) विकास की दूसरी दुविधा 'फ्लक्स' से पैदा होती है और जिसका सामना गैर-पश्चिमी देशों के सभी समाजों को करना पड़ता है। विशेषत भारत" जैसे देश में *व्यवस्था बनाये रखने वालों की निर्णायक स्थिति रहती है—क्योंकि राजनीतिक, आर्थिक तथा* सामाजिक क्षेत्रों में नीति म सम्बन्धित परिवर्तन बड़े व्यापक स्तर पर होते है। यह भी स्मरणीय है कि भारतीय स्थितियों में व्यवस्था बनाये रखने के लिए सेना की भूमिका से प्राय परहेज बरता गया है। फिर भी हमारे यहा भारतीय पुलिस की शक्ति का प्रयोग विशिष्ट हितों के नाम पर किया जाता है और इस प्रकार बल प्रयोग को प्रासंगिक बना दिया गया है। इसलिए जब राजनीतिक विकास के संदर्भ में, भारतीय पुलिस को 'स्वविवेक' प्रयोग करने की सुविधाए दी गई हैं तो वह परिवर्तन की इस वेला में बल प्रयोग करने *लगती है क्योंकि वह स्वय नियन्त्रण की प्रक्रिया की रस्मों के प्रयोग करने से सर्वथा* अनभिज्ञ जो रहती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो भारतीय पुलिस ज्यादतियों का प्रयोग इसलिए करती है क्योंकि एक तरफ तो वह गाधीवाद की अनुशासनात्मक विचारधाराओं *से अपरिचित है और दूसरी तरफ उसे अव्यवस्थित स्थिति में दोतरफा हिंसा का मुकाबला* करना पड़ता है। लेकिन स्थिति तब उलझ जाती है—जब किसी राजनीतिक व्यवस्था में प्रजातान्त्रिक सस्थीकरण की परम्पराए बलवती हो उठती हैं, तो यहा पर ससदीय तथा न्यायिक साधनों के माध्यमों से पुलिस को भी उत्तरदाई बनाने की प्रक्रिया गढ ली जाती है।

'आम राय' बनाने की इस प्रक्रिया के पुलिस का कर्मचारी नाखुश रहता है तो भी वह इससे बच नहीं पाता। *विकास के इस द्वद्व को जब तक पुलिस अच्छी तरह समझ नहीं लेती है तब तक वह इस समस्या के निदान भी प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं होगी।*

(3) तीसरी समस्या यही है कि विकास में जहा 'इच्छाओं' तथा बाधाओं का विस्फोट' होता है—वहा वह 'निराशाओं तथा कुण्ठाओं का भी अपरिमित विस्तार' करती है। फलत *वह पुलिस सगठनों में अपेक्षाओं की सम्भावना जगाती है। वातावरण को देखते हुए* भारतीय पुलिस भी यह दावा पेश करती है कि वह अब कोई पुराने जमाने की पुलिस नहीं रह गई है—परन्तु जब देश का आम नागरिक विशिष्ट स्थितियों में पुलिस से *आमना-सामना करता है अथवा जब वह पुलिस के थानों में विद्यमान 'पुलिस सस्कृति' के* दर्शन करता है" तो आम नागरिक दिल में बैठी *'सुरक्षा मे सकट' की धारणा और बलवती* हो उठती है और अविश्वास की भावना और गहरी पैठ जाती है। विशेषत जबकि *नागरिक अपने 'सभादित मित्र' के हाथों सिद्ध दुश्मन जैसी मार खाता है और देखता है* कि वह 'शासनाम्द अपराधियों से मिलीभगत किये बैठी है तब 'दोस्त पुलिस' की छवि

धूमिल पड़ने लगती है—ऐसी परिस्थितियों में पुलिस सुधारों के लिए व्यापक जन समर्थन जुटाने की सभी सम्भावनाएं समाप्त हो जाती हैं।"



भारत में पुलिस व्यवस्था की कथनी तथा करनी में खाई तब और बढ़ जाती है, जबकि एक तरफ तो उपनिवेशवादी परम्पराओं के क्रम में कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने को ही राजनीतिक विकास समझने लगती है और दूसरी तरफ प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में इससे एक 'नागरिक पुलिस' बन जाने की अपेक्षा की जाती है। फिर आर्थिक तथा सामाजिक विकास की बाध्यताएं भारतीय पुलिस के अपने औपनिवेशिक विधि एवं व्यवस्था के दर्शन से जुड़ जाने के लिए दबाव डालती हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत वह औद्योगिक क्षेत्र में शांति बनाने तथा वांछनीय सामाजिक आयोजना के लिए तत्पर रहती है, परन्तु राजनैतिक विकास हमें 'दीवार के लेखों' का स्मरण दिलाती हुई कहती है कि हमें 'औपनिवेशिक पुलिस' के बजाय 'नागरिक पुलिस' की अविलम्ब आवश्यकता है। फिर सवाल यह भी उठता है कि क्या यह निर्णय भी पुलिस का संगठन लेगा कि क्या वह 'नागरिक पुलिस' चाहती है? आज तो वे लोग भी यह नहीं कह सकते हैं (जो कि नागरिक तथा औपनिवेशिक पुलिस में भेदभाव नहीं करते हैं) कि वर्तमान स्थितियां मात्र संक्रमणकालीन परिस्थिति की देन हैं। ऐसी स्थितियों में एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि आज भारत में राजनीतिक विकास जिस चरण में से गुजर रहा है—उसमें 'नागरिक पुलिस' की धारणा स्वयं बड़ी अप्रासंगिक लगने लगती है।

(4) अन्त में, हमें हर विकास की कीमत चुकाने को तैयार रहना पड़ेगा। पश्चिम के विकसित समाजों ने समृद्धि की बड़ी कीमत अदा की है। बदले में उन्हें मिले हैं टूटे हुए घर, बढ़ते हुए बाल अपराध तथा राजनैतिक विद्रोह की बढ़ती हुई घटनाएं। समाज के हर वर्ग को या हिस्से को विकास के तनाव भी उसी तरह झेलने पड़ेंगे—जिस तरह वे विकास के फलों की प्राप्ति करते हैं। यह भी एक दिलचस्प तथ्य है कि भारत में विकास की आयोजना के नियन्ताओं ने समन्वित तथा एकीकृत विकास की कोई ऐसी व्यापक तैयारी नहीं की है। फिर जब भी कोई संकट पैदा होता है तो हमारे देश में उससे निपटने के लिए न केवल पुलिस को बुलाया जाता है बल्कि उसे ऐसे मामलों में दोषी करार दिया जाता है जिनकी वह कोई सृजक तो होती नहीं है और वहां क्या किया जाए जहां समाज के अनेक वर्ग (जिनमें विश्वविद्यालयों के कुलपतियों, उद्योगों के मालिकों, विरोधी दलों के नेताओं, ट्रेड यूनियनों के नेताओं तथा समाज के अन्य हिंसक वर्गों को सम्मिलित किया जाता है) शान्ति तथा व्यवस्था के नाजुक सन्तुलन को डगमगाते रहते हैं।" हमारे यहां पुलिस तब बुलाई जाती है जबकि सब के सब असफल हो जाते हैं और उसे दूसरे के किए हुए कर्मों के दण्डस्वरूप शारीरिक तथा नैतिक पीड़ाओं को भी झेलना पड़ता है। इसका मतलब एक तरफ तो यह निकला कि पुलिस के कार्यों में ऐसी सीमाएं अन्तर्निहित हैं तथा दूसरा अर्थ यह भी लिया जायेगा कि ऐसे संकटों को झेलने के लिए पुलिस को और अच्छे

प्रशिक्षण तथा अधुनातन साजसामग्री की आवश्यकता भी है। भारतीय पुलिस का यह द्वंद्व तब और भी अधिक गहराने लगना है जबकि उसे विकास के कोई फल तो मिलते नहीं हैं और प्रसव वेदनाएं पूरी तरह झेलने के लिए कहा जाता है—फल मिले तो वह उनका प्रयोग संगठनात्मक विकास एवं व्यावसायिक विशिष्टता के लिए कर सकती है।

*सार की बात यह है कि भारत में पुलिस के संगठन के समक्ष विकास की दुविधाएं* विरोधाभासी स्थितियां प्रस्तुत कर देती हैं। अगर हम भारत जैसे विकासशील समाज में विकास के दो पैमाने मान लें जैसे कि कानून तथा व्यवस्था की स्थिति को बनाये रखना तथा अपराधों की संख्या को घटाना, तो भी भारत की स्थिति को संतोषप्रद सज्ञा तो नहीं दी *जा सकती है। यह भी स्मरणीय है कि भारत में अपराधों तथा बुराइयों के आकड़े*" यह तथ्य उजागर करते हैं कि भारत में पूर्ण विकास के लिए कितनी ललक है और उसके लिये वे व्यवस्था को धक्के देते रहते हैं—स्थितियों का संकेत यही है कि पुराणपंथी पुलिस पौराणिक साधनों से उन समस्याओं से नहीं जूझ सकती है। कारण यही है कि भारत जैसे बहुरंगी तथा विविधपक्षी समाज में, राष्ट्रीय विकास जैसी बहुमुखी प्रक्रिया एक सपाट तथा सीधी रेखा में चलने के बजाय जटिल तरीकों से तथा टेढ़े-मेढ़े रास्तों से सम्पन्न होगी। यह भी ध्यान में रखना होगा कि संघर्ष, असन्तुलन, दरारें तथा विरोधाभास भी कभी-कभी स्वस्थ *उत्प्रेरकों की भूमिका निभाते हैं। बस जरूरत इस बात की है कि इन संघर्षों से इस* शालीनता तथा कौशल से निबटा जाए कि वे कहीं 'विकास के ग्राफ' के ऋणात्मक पक्षों से न जुड़ जायें। ठीक यहीं पर तो हमें राजनीतिक नेतृत्व की तथा कुशल आयोजकों की आवश्यकता है जिसमें इतनी दूरदर्शिता, नेतृत्व तथा बहादुरी के गुण विद्यमान हों—जो कि देश के विकासोन्मुखी संघर्षों तथा प्रगतिपेक्षी अव्यवस्थाओं से जूझने के लिए एक कुशल पुलिस की पुनर्रचना तथा नवसृजन कर सकें। अतः निवेदन यह है कि हम सब विद्वतजन पुलिस प्रशासन के बारे में अपने चिन्तन में कुछ नवीनता लायें और यह तभी संभव होगा जबकि एक तरफ तो हमारा राजनीतिक नेतृत्व यह स्वीकारे कि विकास का अर्थ एक नई मूल्य प्रणाली की स्थापना से तथा चिन्तन में दूरदर्शिता लाने से जुड़ा हुआ है और दूसरी तरफ हम पुलिस सुधार का यही अर्थ मानें कि पुलिस के अधिकारियों के मानस में हमें *विकास के मूल्य तथा विचारधारा स्थापित करनी है। अन्त में, इस लेख के माध्यम से मैं* यही प्रस्थापना रखना चाहूंगा कि आज समय की आवश्यकता यही है कि हम भारत में पुलिस के बारे में एक 'विकासोन्मुखी दृष्टिकोण' को विकसित करें, और तब ही हम तीव्र विकास के गहराते संकटों तथा औपनिवेशिक भारत में संगठित पुलिस के बीच एक सेतु की स्थापना कर पायेंगे, अन्यथा इन दोनों ध्रुवों के बीच की दिन-ब-दिन बढ़ती गहराइयों में हमारा विकास कहीं न कहीं धंस जायेगा। 'नागरिक पुलिस' आज हमारी सामयिक आवश्यकता है—इतिहास की इस चुनौती की उपेक्षा, हम अपने को संकट में डालने के लिए ही कर सकते हैं। उसके लिए हमारी भावी पीढ़ियां हमें कभी क्षमा नहीं करेंगी।

## टिप्पणियां

1 स्वईलो आई, *डवलपमेन्ट एडमिनिस्ट्रेशन*, सिरेक्यूज युनी सिरेक्यूज 1963
2 विस्तृत विवरण हेतु दृष्टव्य है डेनियललर्नर दि पासिंग ऑफ ट्रेडीशनल सोसाइटीज ग्लेन्को इलिनाय 1958, तथा प्रिन्सटन विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित सभी ग्रन्थ पठनीय हैं कम्युनिकेशन एण्ड पॉलिटिकल डवलपमेन्ट (स लुशियन पाई 1963) एजूकेशन एण्ड पॉलिटिकल डवलेपमेन्ट (स कालमेन 1965) तथा अन्य सम्बन्धित ग्रंथ।
3 रॉबर्ट निसबेट, *सोशल चेन्ज एण्ड हिस्ट्री आस्पेक्टस ऑफ वेस्टर्न थ्योरी ऑफ डवलपमेन्ट* न्यूयार्क ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1959
4 एडवार्ड शील्स, *पॉलिटिकल डवलपमेन्ट इन दि न्यू स्टेट्स* दि हेग, माउटन, 1962
5 लुसियन पाई, *आस्पेक्टस ऑफ पॉलिटिकल डवलपमेन्ट* लिटिल ब्राउन एण्ड कम्पनी 1966 पृष्ठ 62-67
6 वर्बा एण्ड पाई *पॉलिटिकल कल्चर एण्ड पॉलिटिकल डवलपमेन्ट* प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस प्रिन्सटन 1965 (भूमिका)
7 फ्रेड रिग्स, *दि थ्योरी ऑफ पॉलिटिकल डवलपमेन्ट*, चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में देखिए।
8 सेम्यूअल हंटिंगटन, *पॉलिटिकल डवलपमेन्ट एण्ड पॉलिटिकल डिके इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स* XVII अप्रैल 1965, पृष्ठ 386-93
9 हेवार्ड रिगिन्स, मिलोन : *डिलेमाज ऑफ ए न्यू नेशन*, यूनीवर्सिटी प्रेस 1960
10 डब्ल्यू रोस्टोव, *दि स्टेजेज ऑफ इकॉनॉमिक ग्रोथ* लन्दन केम्ब्रिज युनी प्रेस 1960
11 ए एफ के ओरगनस्की, *दि स्टेजेज ऑफ पॉलिटिकल डवलपमेंट* न्यूयार्क नोफ 1965
12 होल्ड एण्ड टर्नर, *दि पॉलिटिकल बेसेज ऑफ इकॉनॉमिक डवलपमेंट* प्रिन्सटन 1966
13 जॉन कोटास्की, *कम्युनिज्म एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ डवलपमेंट* न्यूयार्क, जॉन विली एण्ड सन्स 1968 पृष्ठ 69-82
14 ह्यूज वाटसन, *ट्वेन्टियथ सेन्चुरी रिवोल्युशन्स* पॉलिटिकल साइन्स क्वाटर्ली XXII नम्बर 3 जुलाई सितम्बर, 1951, पृष्ठ 259
15 ब्रेजिन्सकी एण्ड हंटिंग्टन *पॉलिटिकल पॉवर इन यू एस आर* न्यूयार्क वाइकिंग प्रेस 1964
16 मिलोवान दिजलास, *दि न्यू क्लास ग्रेगर* 1960 तथा जेडब्रेजिन्सकी दि पॉलिटिक्स ऑफ पॉलिटिकल डवलपमेंट, वर्ल्ड पॉलिटिक्स XI नम्बर 1, अक्तूबर 59, पृष्ठ 55-75
17 हैनरी बाडा, *रिफ्लेक्शन ऑन एशियन कम्यूनिज्म* दि येल रिव्यु LXI, नम्बर 1, अक्तूबर 1968, पृष्ठ 1-16, एण्ड आर बी बर्क, *दि डाइनेमिक्स ऑफ कम्यूनिज्म इन इस्टर्न यूरोप* प्रिन्सटन यूनीवर्सिटी प्रेस न्यूयार्क, 1961
18 आर ब्रेबान्टी, *पॉलिटिकल एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव डवलपमेन्ट* ड्यूक युनी प्रेस, डरहम 1969 विशेष तौर पर पृष्ठ 325-354 तथा 400-27 दृष्टव्य है।
19 मोन्टगुमरी एण्ड सिफिन्स, *एप्रोचेज टु डवलपमेन्ट; पॉलिटिक्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड चेन्ज* न्यूयार्क मेकग्रा हिल, 1966, पृष्ठ 15-48
20 फ्रेड रिग्स, एडमिनिस्ट्रेशन इन डवलपिंग कन्ट्रीज, *द थ्योरी ऑफ प्रिज्मेटिक सोसायटी* बोस्टन हाफटन 1964
21 फिलिप कटराईट, *नेशनल पॉलिटिकल डवलपमेन्ट*, मेजरमेन्ट एण्ड एनालिसिस अमेरिकन सोशियोलॉजीकल रिव्यू, 28 अप्रैल, 1963, पृष्ठ 253 64
22 भारत के संविधान प्रासंगिक अनुच्छेद इस प्रकार है—देखिये अनुच्छेद 14 से 35 तक 39 से 51 तक तथा 78 से 81, 139, 141 245, 257, 308-323 326 330 एव सातवीं अनुसूची पठनीय है।

23 मिश्रित अर्थव्यवस्था वाली भारतीय औद्योगिक नीति का प्रस्ताव सर्वप्रथम 1956 में पारित किया गया था।
24 भारत सरकार ने योजना आयोग की स्थापना 15 मार्च, 1950 के एक घोषणा पत्र के अन्तर्गत की थी।
25 के एन भट्टाचार्य *इण्डियाज फोर्थ प्लान टेस्ट इन प्रोग्रामशिप,* बम्बई एशिया, 1966, पृष्ठ 77-125
26 भवतोष दत्ता, *ऐमेज इन प्लान इकॉनॉमिक्स–ए क्रिटिकल कमेन्टरी ऑन इण्डियन प्लानिंग एक्सपेरिमेन्ट्स* कलकत्ता, वर्ल्ड प्रेस।
27 *नीरजा, नेहरू एण्ड डेमोक्रेसी इन इण्डिया, मैट्रोपोलिटन दिल्ली, 1972 पृष्ठ 242-62*
28 डेविस सेलबोर्न *एन आई टू इण्डिया–दि अनमास्किंग ऑफ एक टिरेनी* पेनगुइन, न्यूयार्क, 1977
29 डी जी कर्वे, *पुलिस एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया,* आई जे पी ए, नई दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर 1956, पृष्ठ 307-15 दृष्टव्य है।
30 डी एच बेली, *पुलिस एण्ड पॉलिटिकल डवलपमेन्ट इन इण्डिया,* प्रिन्स्टन यूनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क 1969
31 *उपर्युक्त, पृष्ठ* 14
32 *उपर्युक्त,* पृष्ठ 16-28
33 *पब्लिक प्रिसनेज अगेन्स्ट पुलिस इन ट्रान्जेक्शन्स,* नेशनल पुलिस अकादमी, माउन्ट आबू (अब हैदराबाद चली गई है), वी VIII, नव 1960
34 के वी राव, *ए नोट ऑन दि मैनेजीरियल, अप्रोच टु पुलिस आर्गनाईजेशन,* जनरल ऑफ दि सोसाईटी फॉर दि स्टडी ऑफ दि स्टेट गवर्नमेन्टस।
35 प्रभुदत्त शर्मा, *इण्डियन पुलिस-डवलपमेंट अप्रोच,* रिसर्च, दिल्ली, 1977, पृष्ठ 291
36 रेड्डी एण्ड शर्मा, *इवलविंग सोसायटी एण्ड पुलिस,* उस्मानिया, हैदराबाद, 1972, पृष्ठ 1-12 पठनीय है।
37 जी सी मिश्रा, *डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट एण्ड पुलिस आई जे पी ए,* नई दिल्ली वो XIV अक्तूबर, 1973, 196-7
38 रिपोर्ट ऑफ दि यू पी पुलिस कमीशन, (1960-61) पृष्ठ 196-254, पठनीय है।
39 निम्नांकित पुलिस कमीशनों की रिपोर्टें पठनीय है और ये है (अ) यू पी पुलिस कमीशन (1961-62), (ब) वेस्ट बंगाल पुलिस कमीशन (1960-61 तथा 1964), (स) बिहार पुलिस कमीशन (1961) तथा (द) महाराष्ट्र पुलिस कमीशन (1964) इत्यादि।
40 प्रभुदत्त शर्मा, *पूर्वोक्त,* 183-5
41 तत्रैव, पृष्ठ 190-4
42 *डी एच बेली, पुलिस एण्ड पॉलिटिकल डवलपमेन्ट, पूर्वोक्त, पृष्ठ 16-20 तक पठनीय है।*
43 डी एच बेली, *पूर्वोक्त,* पृष्ठ 409-23
44 के एन प्रसाद, *पुलिस इन इण्डिपेन्डेन्ट इण्डिया, आई जे पी ए ,* दिल्ली, पृष्ठ 77 से 94 तक पठनीय है।
45 गुन्नार मिर्डल, *एशियन ड्रामा–एन इन्क्वारी इन टु दि पॉवर्टी ऑफ नेशन्स,* लन्दन, एलन लेन, पेनगुइन प्रेस, 1968, खण्ड तीन तथा अध्याय 31 तथा 33 दृष्टव्य है।
46 विलियम कोर्नहोसर, *दि पॉलिटिक्स ऑफ मास सोसायटी,* लन्दन, रूटलेज एण्ड केगन पॉल, 1960, पृष्ठ 130-140
47 बंगाल पुलिस कमीशन की रिपोर्ट का पृष्ठ 132 देखिये।
48 सरस्वती श्रीवास्तव, *पब्लिक इमेज ऑफ दि पुलिस,* वाराणसी, जनरल फॉर दि सोसायटी फॉर स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेंट्स इन इंडिया, जुलाई सितम्बर, *1972, पृष्ठ 243-63*
49 आर श्रीनिवासन, *मॉब वायलेन्स,* इण्डियन पुलिस जनरल, दिल्ली, 1967 पृष्ठ 9 देखिये।
50 *एन्युअल एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ दि मिनिस्ट्री ऑफ होम अफेयर्स, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली,* 1950, 1960, 1970 तथा 1975।

# 10

# भारत में न्याय प्रशासन

'न्याय' मूलत एक सैद्धान्तिक अवधारणा है जो विभिन्न देशों और कालों में संस्कृति विशेष के मूल्यों द्वारा परिभाषित होती रही है। मध्ययुग में यदि अपराधी के हाथ पैर कटवा देना न्याय प्राप्ति की आवश्यकता थी, तो आधुनिक युग में समाज के बहुत से लोग जघन्य हत्या के अपराधी को भी फासी पर लटकाना न्याय सम्मत नहीं मानते। वास्तव न्याय समाज में व्यक्ति को प्राप्त एक ऐसी स्थिति का नाम है जिसे विभिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है। अपराधी, शिकार अपराध कृत्य, सामाजिक परिणाम, परिस्थितिया आदि ऐसे कितने ही दृष्टिकोण हैं जिनसे देखे जाने पर एक ही अपराध अलग-अलग तरह का लगता है और न्यायाधीशों को दण्ड के विभिन्न सिद्धान्तों पर बहस करनी पड़ती है। सभ्य समाजों में जहा अपराध और अन्याय की परिभाषायें कानूनों की अवहेलना और उल्लघनों के रूप में दी जाती है वहा न्यायिक दुनिया के कानून बनाते समय सामाजिक आचरण के कुछ मूल्य उद्देश्यों को ध्यान में रखा जाता है। राजनीतिक विचार दर्शन जो सरकार, समाज और नागरिक के जीवन मूल्यों को निर्धारित करते हैं न्याय प्रशासन के इन उद्देश्यों को प्रभावित करते हैं। मोटे तौर पर किसी भी आधुनिक समाज का न्याय प्रशासन निम्नलिखित सिद्धान्तों के चारों ओर बनाया और विकसित किया जाता है–

1 सामाजिक नैतिकता, जो किसी समाज को जोड कर रखती है। उसके उल्लघन-कर्ता अपराधी हैं और उन्हें सजा मिलनी चाहिए।
2 चूकि हर समाज में कुछ बीमार मस्तिष्क के लोग होते हैं, अत जन साधारण के शरीर और सम्पत्ति को उनके कृत्यों के खतरों और जोखिम से बचाया जाना जरूरी है।
3. समाज में व्यक्ति अपने व्यक्तिगत झगड़ों का आपस में इस तरह निपटारा न करने लग जायें कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व ही खतरे में पड जाये।
4 फिर यदि किसी समाज में अपराधियों को दण्डित करने की व्यवस्था न हो तो यह सम्भव है कि अपराधियों की सख्या बढ कर उसे विखण्डित कर दे।
5 अत उन्हें भयभीत करते रहना आवश्यक है। यह भय इस सीमा तक तो

उपयोगी है कि अपराधी कुकृत्यों को करने से डरे, पर यदि किसी कारणवश ऐसा हो चुका है तो उस अपराधी को अपराध की जिन्दगी से निकाल कर समाज में स्थापित करना भी सामाजिक न्याय की माग है।

6 अन्तत न्याय अपनी समग्रता में समाज में कानून और व्यवस्था को बनाये रखते हुए व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व की गरिमा के साथ जीने देने की स्वतन्त्रता का दूसरा नाम है। यह स्थिति अपेक्षा करती है कि न्यायकर्त्ता जनसाधारण की सामाजिक शोषण से रक्षा करे और राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के माध्यम से कानूनी न्याय की सप्राप्ति में सहायक हो।

## ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत में अंग्रेजी राज के आगमन पर जो स्थिति थी उसमें मुगलकालीन न्याय प्रशासन अपनी नियमहीनता, धर्मान्धता एव भ्रष्टाचार के कारण कुख्यात था। काजियों के तत्त्वाधान में चलने वाली मुगल न्यायिक कोर्ट जन साधारण को उत्पीडित कर रही थी। कानून की बहुरूपता एव सरकार की सैनिक आधिपत्य की स्थिति न्याय व्यवस्था को उपहासास्पद बनाती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जब शासन की बागडोर सम्भाली तो न्याय व्यवस्था का जो दर्शन उन्हें विरासत में मिला वह मूल रूप से 'इनक्विजिटोरियल फिलासफी ऑफ जस्टिस' था जिसके अन्तर्गत संदिग्ध व्यक्ति निर्दोष नहीं माना जा सकता था। फिर वकीलों की सस्था जो आज की न्याय व्यवस्था का आधार स्तम्भ है, थी ही नहीं और उसके अभाव में 'बार बेंच' सम्बन्धों के समीकरण के बिना न्याय की मुगलकालीन परिकल्पना आज की स्थिति से इतनी भिन्न थी कि दो व्यवस्थाओं की तुलना ही नहीं की जा सकती। अंग्रेजों ने जब न्याय प्रशासन की मूल आधारशिला को औपनिवेशी धरातल पर रखा तो उनका यह 'पहला परिवर्तन' सैद्धान्तिक था। उन्होंने 'इनक्विजिटोरियल फिलासफी' के स्थान पर 'एक्विजिटोरियल फिलासफी ऑफ जस्टिस' को स्वीकार कर भारत में एग्लो-सेक्शन न्यायिक सस्थाओं, की नींव डाली। यह दर्शन जो 'रूल ऑफ ला' का पक्षधर था, सिद्धान्तत यह मानकर चलता है कि 'किसी भी व्यक्ति को, जब तक वह अपराधी सिद्ध न हो जाए, निर्दोष माना जाना चाहिए और उसे सजा नहीं दी जा सकती। दूसरे कानून की भाषा समानता की भाषा है और कानून से ऊपर जैसी स्थिति न्याय व्यवस्था के लिए अस्वीकार्य है। यह दर्शन ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लाक के प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त से इतना अधिक प्रभावित था कि व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए निन्यानवे अपराधियों को बिना सजा इसलिये छोड़ने को तैयार था कि एक निर्दोष व्यक्ति फासी पर न चढ जाये। इस उदारवादी दर्शन को स्वीकार कर जब 1857 के सैनिक विद्रोह के बाद भारत में क्राउन का शासन शुरू हुआ तो पहला कार्य दण्ड सहिता का प्रणयन माना गया। सन् 1961 के आसपास भारत की 'पीनोलोजी' लिखी गई और तीन न्याय-आधार पुस्तकें जिन्हें (1) सी आर पी सी, (2) आई पी सी, और (3) इण्डियन एविडेन्स एक्ट कहते हैं। ब्रिटिश

व्यवस्था में भारत का न्याय व्यवस्था का आधार बनी। धीरे-धीरे जिला प्रशासन की सरचना में जैसे-जैसे परिवर्तन आते गये वैसे-वैसे ही सत्र न्यायालय मुन्सिफ मजिस्ट्रेट तथा एस डी एम न्यायालय विकसित होकर भारत के जन साधारण को कुछ-कुछ अग्रेजी ढग का न्याय देने लगे। बाद में 'एडवोकेट्स एक्ट' 'इण्डियन हाई कोर्टस एक्ट', 1911 पारित हो जाने पर व्यवस्था अधिक सुनियोजित हो सकी और न्याय प्रशासन की विभिन्न सस्था में अपनी-अपनी भूमिकाओं में अपने दायित्वों के निर्वहन के लिए परम्परायें स्थापित कर सकी। पुलिस बार, बेंच एव जेलों के सस्थागत ढाचों की सरचनाओं के लिए अधिनियम पारित किये गये और प्रत्येक सस्था को कानून के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हुए एक-दूसरे के साथ सहयोग एव कार्य समायोजना की प्रक्रियायें भी निर्धारित की गई। उदाहरणार्थ पुलिस, कोर्ट एव जेलों की कार्य प्रणाली के लिए 'मैन्युल्स' तैयार की गई और उनके अन्तर्गत रहते हुए प्रत्येक सस्था अलग-अलग ढग से अपराधियों को कानून की परिधि में लाने के लिए सक्रिय हुई। सन् 1935 के अधिनियम में जब 'फेड्रल कोर्ट ऑफ इन्डिया' का एक सुप्रीम कोर्ट के रूप में प्रावधान किया गया तो भारत में न्याय प्रशासन का सस्थानिक ढाचा अपने राष्ट्रीय रूप में चरम परिणति को पहुचा। सारे देश में एक से कानून तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता एव प्रमुखता का दर्शन पनपा और सन् 1950 में जब स्वतन्त्र भारत की सविधान सभा ने देश के लिए नया गणतत्री सविधान अगीकृत किया तो वकील नेताओं के वर्चस्व में लड़े गये स्वतन्त्र सघर्ष के सेनानियों ने भारत में न्यायपालिका की स्वतत्रता एव पृथक्करण को देश की लोकतात्रिक व्यवस्था में स्थापित कर न्याय प्रशासन के क्षेत्र में नई दिशायें खोलने की पहल की। कार्यकारिणी और न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए तथा समूचे देश में एकीकृत कानूनी व्यवस्था की स्थापना हेतु नीति निर्देशक तत्वों के माध्यम से सविधान द्वारा उन्हें सम्थापित करने का सकल्प लिया गया। न्यायपालिका को सविधान की सरक्षिका घोषित कर सवैधानिक उपचारों के अधिकार द्वारा न्याय प्रशासन को सुदृढ किया गया और स्वतत्र एव निष्पक्ष न्यायपालिका सवैधानिक प्रतिभूतियों के साथ देश में एक गौरवास्पद स्थान प्राप्त कर सकी।

शताब्दियों के लम्बे अन्तराल में फैले भारत के न्याय प्रशासन को जब अग्रेजों ने कानून के शासन के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया तो तीन प्रकार के कानून बने, जिन्हें (अ) दीवानी, (ब) फौजदारी, और (स) राजस्व कानून कहा है। ये कानून प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तर पर विकसित और वर्गीकृत हुए। इनमें राजस्व कानून जो कृषि भूमि प्रशासन से सम्बन्धित होने के कारण जिला प्रशासन का ही एक अभिन्न अग था जिसे प्रान्तीय स्तर पर 'रेवेन्यू बोर्डों' की प्रबन्धीय अध्यक्षता में आज भी देखा जा सकता है। न्याय प्रशासन का यह भाग अत्यधिक जटिल एव सवेदनशील होते हुए भी आज भी 'प्रशासनिक न्याय व्यवस्था' का अग है। इसकी कार्य प्रणाली के न्यायिक होते हुए भी इसे उस प्रदेश विशेष की न्याय व्यवस्था का हिस्सा कहना विवादास्पद होगा। भूमि रूपान्तरण, हस्तान्तरण, भूमि

सुधार कानूनों की क्रियान्विति आदि के मुकदमे जो नीचे के तहसीलदार, एस.डी.ओ और कलेक्टर आदि की कोर्टों में निर्णीत होते हैं, 'राज्य की रेवेन्यू बोर्ड' में अपील में जाते हैं और उनके सवैधानिक या मूल अधिकार सम्बन्धी पक्षों की सुनवाई भी राज्य के उच्च न्यायालय तथा देश के सर्वोच्च न्यायालय में हो सकती है। इस तरह राजस्व मण्डल जो राज्य स्तर पर प्रदेश के जिला प्रशासन को राज्य स्तरीय एव राष्ट्रीय न्यायिक प्रशासन से जोडता है एक ऐसी कडी है जो न्याय प्रशासन पर सामान्यत पडने वाले भारी बोझे को भी घटाता है।

## नई संरचना

स्वतत्रता के पश्चात् जब भारत का नया संविधान बना तो न्याय प्रशासन पर एक नया दायित्व और डाल दिया गया। यह दायित्व था देश के सवैधानिक कानून की व्याख्या और इस तरह (1) दीवानी, (2) फौजदारी, तथा (3) सवैधानिक कानूनों की अनुपालना करवाने के तीन विशिष्ट क्षेत्र न्याय प्रशासन की दुनिया में उभर कर सामने आये। वैसे भारतीय संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत गठित उच्च एव सर्वोच्च न्यायालय तीनों ही प्रकार के न्यायों का वितरण करते हैं पर उनके क्षेत्राधिकार संविधान द्वारा परिसीमित हैं। उदाहरण के लिए कुछ खास प्रकार के दीवानी, फौजदारी और सवैधानिक मुकदमे या ममले उच्च न्यायालयों अथवा सर्वोच्च न्यायालय के मौलिक अधिकार क्षेत्र में आते हैं। कुछ की अपील हो सकती है और कुछ अन्तिम अनुग्रह अपील के रूप में राष्ट्रपति के पास क्षमादान के लिए जा सकते हैं। जिला सत्र न्यायालय प्रशासन जो प्रदेश की हाईकोर्ट के पर्यवेक्षण में *कार्य करता है, जिसे कि कार्यकारी प्रशासनिक शाखा से पृथक् कर दिया गया है,* यद्यपि एक्जिक्यूटिव मजिस्ट्रेट और डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के कार्यालय अभी भी यथावत बने हुए हैं। सभी राज्यों में नीचे के स्तर पर न्याय प्रशासन को पृथक् एवं स्वतन्त्र बनाया जा चुका है या बनाया जा रहा है। फिर एम.डी.ओ और तहसीलदार जो प्राथमिक रूप से कार्यकारिणी के हिस्से हैं काफी सीमा तक जिला स्तरीय न्याय प्रशासन के आधार स्तम्भ कहे जा सकते हैं।

अंग्रेजी प्रशासन के युग में भारत में स्थानीय शासन उपेक्षित रहा, जिसके फलस्वरूप म्युनिसिपल या स्थानीय न्याय की अवधारणा देश में विकसित नहीं हो सकी। केवल महानगरों में ही म्युनिसिपल मजिस्ट्रेट या 'जस्टिसेज ऑफ पीस' की सस्थाए में विकसित हुई और वहा भी जूरी आदि के स्थानीय न्याय के प्रयोग पूरी तरह असफल रहे। सन् 1960 के दशक में जब देश में पचायती राज के प्रयोग का युग आरम्भ हुआ तब भी न्याय प्रशासन के ग्रामीण पहलू को गम्भीरता से नहीं लिया गया। न्याय पचायतों की सरचना जहा कहीं भी की गई उनके कार्य व्यवहार में सरकार और जन साधारण दोनों ही की उदासीनता एव अविश्वास के कारण ग्रामीण स्थानीय न्याय के क्षेत्र में कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी। अब जबकि भारतीय न्यायालय हर स्तर पर लम्बित मुकदमों

के भार से दबे जा रहे हैं, 'लोक अदालत' और 'ग्राम न्यायालय' के विचार एवं संस्थायें स्वयं विधि आयोग द्वारा सुझाई जा रही हैं। पंचायती विकेन्द्रीकरण का एक युग जो विकास की राजनीति के कारण स्थानीय स्वराज्य की इकाइयों को विवाद के घेरे से बाहर नहीं निकाल सका अब दूसरे युग में प्रवेश कर रहा है। पंचायती राज का यह आवर्ती प्रयोग यदि ग्राम न्यायालयों और लोक अदालतों को वैधानिक एवं सम्मानीय स्थिति दे सका तो भारतीय न्याय प्रशासन में एक नई क्रान्ति का सूत्रपात हो सकेगा।

इस प्रकार संरचना की दृष्टि से भारत में न्याय प्रशासन के चार स्तर हैं—पहला केन्द्र अथवा संघीय स्तर, दूसरा राज्य स्तर, तीसरा जिला स्तर और चौथा ग्राम स्तर। प्रत्येक स्तर पर यद्यपि न्यायालयों का कार्य मुकदमे सुनना और न्याय देना है, किन्तु मुकदमों के प्रकार, प्रकृति, न्याय प्रक्रिया की विधि एवं विभिन्न संस्थाओं की अन्तक्रियाओं में भारी अन्तर है। देश में बढ़ रही लोकतान्त्रिक एवं विकास की उथल-पुथल ने हमारे न्यायालयों के कार्य क्षेत्रों को हर स्तर पर विस्तृत कर प्रशासन के प्रहरी के रूप में अपनी नई छवि बनाई है। दीवानी, फौजदारी तथा संवैधानिक मुकदमे जो मूल रूप से भारतीय विधि संहिता तथा दण्ड प्रक्रिया से निर्णीत किये जाते हैं पूरे देश की न्याय व्यवस्था को एक सूत्र में बांधते हैं। नये-नये कानूनों के बनते रहने तथा मुकदमों के भार के बावजूद भारत की संघीय व्यवस्था में सभी राज्यों में न्यायालयों का गठन एक-सा है और वे एक ही न्यायिक प्रक्रिया से कार्य करते हुए न्याय प्रशासन को चला रहे हैं। सामाजिक न्याय तथा लोकहित विवादों ने हमारी न्यायपालिकाओं के प्रांगणों में नये-नये विवादों को लाकर खड़ा किया है और एक ओर जबकि न्यायपालिका अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं से बंधी कानूनबद्ध ढंग से कार्य करने के लिए आलोचित की जाती है तो दूसरी ओर 'ज्युडिशियल एक्टिविज्म' के दर्शन के दबाव हमारी न्यायपालिकाओं की नई भूमिकायें स्वीकार करने और उन्हें निभाने के लिए विवश दिखलाई देते हैं।

लोकतंत्र की लहर और आर्थिक विकास से उत्पन्न अव्यवस्था ने भारतीय समाज में घनघोर विखण्डन तथा अपराधीकरण की स्थिति ने हमारी न्यायपालिका को एक अभूतपूर्व चुनौती के घेरे में ला खड़ा किया है। इस पर विडम्बना यह है कि जबकि सरकार के अन्य अंग और विभाग जनमत बना कर लोकतन्त्र में अपनी समस्याओं का निराकरण मांग सकते हैं, न्यायपालिका से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सार्वजनिक विवादों और समाचार पत्रों की सुर्खियों से दूर रहे। फिर कानून का दायरा, जो वैसे भी दकियानूसी और अनमनीय होता है, न्यायपालिका के क्षेत्र में सुधारों, परिवर्तनों या व्यवस्था अनुकूलन के प्रयत्नों को स्वागत की दृष्टि से नहीं देखता। फलस्वरूप जैसे-जैसे जनतान्त्रिक प्रक्रियायें गहरी बनती जा रही हैं भारतीय समाज के अन्तर्विरोध अपराध और अव्यवस्था के बोझ से न्यायपालिका को केवल झकझोरते ही नहीं, अपितु तोड़ते हुए भी दिखलाई देते हैं। इन उभरती हुई समस्याओं से शासक, शासित और स्वयं न्यायाधीश भी चिन्तित और विचलित

है, पर समाधान सस्थागत न होकर व्यवस्था-मूलक होने के कारण सुधार की प्रक्रिया भी प्रारम्भ करना कठिन लगता है। अभी तक तो भारत में न्याय प्रशासन के क्षेत्र की चुनौतियों अथवा समस्याओं को पहचानने तक का प्रयास भी नहीं किया गया है। वैसे न्यायिक क्षेत्र की कुछ चुनौतिया तो स्पष्ट एव दृश्य हैं, परन्तु जिन्हें वास्तविक और गम्भीर चुनौती माना जाना चाहिए वे बडी जटिल तथा अन्योन्याश्रित हैं। इनमें से कुछ समस्याओं को निम्नलिखित ढग से पहचाना जा सकता है–

## (1) व्यवस्थामूलक समस्यायें

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एक बहुल समाज में लोकतन्त्रीय मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास है। स्वतन्त्रता समानता और न्याय के जिन सिद्धान्तों की उद्घोषणा भारतीय संविधान करता है उनकी व्याख्या, क्रियान्वित और अनुपालना समाज के हर स्तर पर राजनीतिक विवाद और लोकतत्री सघर्षों को जन्म देती है। ये विवाद और सघर्ष मूलत कानून की दुनिया में परिवर्तन चाहते है, जो चाहे विधायिका से शुरू हों पर अन्तत न्यायपालिका पर आ कर रुकते हैं। संविधान निर्माताओं का यह प्रयास सराहनीय भले हीं हो कि न्यायपालिका और न्याय प्रशासन राजनीतिक विवादों से दूर रहें, पर कोर्टों की 'थर्ड चैम्बर' परिकल्पना से बच पाना स्वय कोर्टों के लिए भी सम्भव नहीं है। अत ऐसी स्थिति में संविधान की सरक्षिका समझी जाने वाली न्यायपालिका वैचारिक विवाद और सैद्धान्तिक आलोचनाओं में फसती है और उसकी ऐतिहासिक छवि को बचाना एक दुष्कर कार्य लगता है। मोटे तौर पर इसे न्याय प्रशासन का राजनीतिकरण कहा जाता है। यह राजनीतिकरण *स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों ही प्रकार का हो सकता है। पर जब यह है तो यह* कहना, बतलाना और समझना कि 'न्यायपालिका' स्वतन्त्र, तटस्थ एव गैर-राजनीतिक है, वैचारिक दृष्टि से एक विरोधाभास है। ससदीय और सघात्मक लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक व्यवस्था *की स्थापना भारतीय न्यायपालिका के सामने उसकी अपनी नई पहचान बनाने की समस्या* पैदा करती है। यह एक सामाजिक प्रक्रिया है जो लम्बा समय लेगी।

## *अपराधीकरण बनाम राजनीतिकरण*

राजनीतिकरण की यह प्रक्रिया जो एक विकासशील देश के आरम्भिक वर्षों में अपराधीकरण की प्रक्रिया से जुडी हुई होती है, भारतीय न्याय प्रशासन को एक नये दबाव के सदर्भ में प्रस्तुत करती है। जब शासक शासितों से अधिक बडे अपराधी या कानून भजक हों और यह तथ्य प्रेस और मीडिया से सबको विदित भी हो तो न्यायपालिका के लिए अपनी 'न्यायी छवि' बनाये रखना चुनौती से अधिक जोखिम का कार्य बन जाता है। राजनीतिक अपराध आर्थिक अपराधों को जन्म देते हैं और दोनों प्रकार के अपराधों से सामाजिक अन्याय, शोषण तथा अत्याचार बढते हैं। भारत की यह स्थिति जो ऐतिहासिक विषमताओं के कारण और भी अधिक दर्दनाक है, अब न्याय प्रशासन को उन अन्यायों से

जूझने के लिए विवश करती है जिन पर न्यायालय प्रागणों में बहस नहीं हुआ करती थी। अपराधीकरण की इस सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया ने न्याय प्रशासन की दण्ड संहिताओं और आचार संहिताओं को असगत एव पुराना कर दिया है। हिसक अपराधों की वृद्धि पूरी न्याय प्रक्रिया को इस तरह झकझोर रही है कि ईमानदारी से किया गया विलम्बित न्याय सस्थागत अन्याय होता है। कानून में जन साधारण की आस्था तिरोहित होने लगी है और अपराधी अपनी राजनीतिक पहुच और काले धन के प्रभाव से कानून मुक्त या अदण्डनीय बनता जा रहा है। अपराधीकरण को इतनी त्वरित गति से आगे बढाने में आर्थिक विकास और आयोजना का एक बहुत बडा योगदान है। गत पचास वर्षों में धनिक अधिक धनिक बने हैं और कालेधन की अर्थव्यवस्था ने अपराधों के अम्बार लगा कर लम्बित मुकदमों से पूरे न्याय प्रशासन को पगु और नपुसक बना दिया है। विकास के विघटन ने जिन आर्थिक मूल्यों का सृजन किया है वे न्याय प्रशासन की बजट सीमाओं के वश की बात नहीं है। समाज में अपराध और न्यायालयों की कार्य क्षमता के बीच इतनी बडी खाई पैदा हो चुकी है कि भविष्य की कल्पना मात्र से ही भय लगता है।

## *विकास के दबाव*

विकास प्रशासन और नियमन प्रशासन के बीच द्विभाजन करने वाले भी अब यह तो मानने लगे हैं कि विकास प्रशासन का विस्तार नियमन प्रशासन पर आनुपातिक भार लाता है। विकास अपराधों की मात्रा बढाता है और विकासशील समाजों में व्यवस्था विखण्डन के मुकदमे बढते हैं। अत लोकतन्त्रात्मक समाज जो 'वोट की राजनीति' के कारण विकास को प्राथमिकता देता है, नियमन या न्याय प्रशासन की अनदेखी करता है। न्याय प्रशासन अपने सीमित साधनों में दिन-प्रतिदिन के बढते हुए अपराधों की चुनौती के लिए अपना विस्तार मागता है। न्याय और पुलिस व्यवस्था का यह विस्तार अविकसित होने की निशानी है। अत न्याय प्रशासन की कार्य क्षमता विकास प्रशासन की वेदी पर बलिदान की जाने लगती है। गत पाच दशकों का भारतीय अनुभव यह सकेत देता है कि विकास और विघटन के बीच सामन्जस्य न होने की यह स्थिति भारतीय न्याय प्रशासन पर बढते हुए भार के कारण उसे अपने ही बोझे से तोड़ रही है जिसके दूरगामी परिणाम भयावह हो सकते हैं।

## *रूढ़ीवादी कार्य प्रणाली*

भारतीय न्याय व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं की भाति इतिहास की कैदी है। यह सही है कि लम्बा इतिहास व्यवस्थाओं से जीवन्तता छीन कर उन्हें जडता और सडाध देने लगता है। भारतीय न्याय प्रशासन अपनी औपनिवेशिक कार्य प्रणाली से इतना रूढ़ीवादी हो गया है कि आज का प्रणाली-परिवर्तन उसे और भी जटिल और हास्यास्पद स्थिति में ला खडा करता है। जो दण्ड विधायें खेतीहर समाज के सामान्य अपराधियों के लिए बनी थी आज के राजनीतिक आतकवादियों पर जब लागू की जाती हैं तो न्याय प्रशासन की धज्जियां

बिखरने लगती है। गवाही, साक्ष्य बयान पेशिया, जिरह फैसले, जमानत, मुचलके सब मुगलकालीन इतिहास की-सी प्रक्रियायें लगती हैं। एक विकासशील समाज की न्याय व्यवस्था को इस प्रकार की कोर्ट व्यवस्था से चलाना असम्भव-सा लगता है। पर इसका विकल्प खोजने पर 'पंचायती अदालत', 'ग्राम न्यायालय' या 'लोक अदालत' जैसे सस्थायें उभरती हैं, जिन्हें न्याय प्रशासन का अंग मानते हुए स्वयं न्यायालय भी कतराते हैं। फलस्वरूप आज न पुरानी सस्थायें आधुनिकीकृत हो पाती हैं और न ही नई सस्थायें वैधिक ढग से कार्य कर सकने में सक्षम हैं।

## *सामाजिक सहयोग का अभाव*

न्याय वितरण की कोई भी अवधारणा सामाजिक सहयोग के बिना लोकतान्त्रिक व्यवस्था से मेल नहीं खा सकती। अंग्रेजी राज में भी न्याय व्यवस्था में जन साधारण का सहयोग कानूनी स्थिति में मान्यताप्राप्त रहा। प्रबुद्ध समाज अपराधी और समाज कण्टकों को पहचानने और सजा दिलवाने में न्यायपालिका की मदद करे यह सिद्धान्त तथ्यों के विश्लेषण और सत्य तक पहुचने के लिए पहले भी अनिवार्य था और आज भी है। पर न्यायिक प्रक्रिया की विकृतियों एव भ्रष्ट आचरणों ने कालान्तर में ऐसी स्थिति बना दी कि समाज का ईमानदार एव प्रबुद्ध वर्ग न्यायालय में जाना ही अपमान समझने लगा। न्याय प्रशासन के साथ सहयोग करना स्वयं एक उत्पीडन और सजा बन गया, जिसके फलस्वरूप न्याय प्रशासन में सामाजिक सहयोग की जडें ही हिल गईं। आज भी ऐच्छिक सस्थाओं के माध्यम से मिलने वाले सहयोग के बावजूद भी न्याय प्रशासन सच्चे सामाजिक सहयोग से वंचित है और समाज के सहयोग के नाम पर एक अपराधी वर्ग दूसरे अपराधी वर्ग को बचाने के लिए कोर्टों को गुमराह करने का बीडा उठाये हुए लगता है। न्याय चाहे दीवानी हो या फौजदारी उसके सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक निहितार्थ होना स्वाभाविक है। आज का न्याय प्रशासन जब जन-सहयोग की अपेक्षा करता है तो उसे जन-विरोध का सामना करना पड़ता है। दहेज हत्यायें, दलित वर्ग पर किये गये अत्याचार आज के भारतीय न्याय प्रशासन के सामने इसी प्रकार की कुछ उभरती हुई चुनौतियां हैं।

## *निहित स्वार्थों की राजनीति*

न्याय प्रशासन चूंकि दण्ड विधान की व्यवस्था देता है अत उसकी केन्द्रीयता निर्विवाद है। शासक चाहे कोई भी हो इस व्यवस्था से डरता है और यह चाहता है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से न्याय प्रशासन में हस्तक्षेप कर उसे अपने अनुकूल बनाये रखे। फलस्वरूप जनतन्त्र के शासक चाहे वे किसी भी प्रकार का अभिजात्य वर्ग हो न्याय प्रशासन की ईमानदारी को अपने निहित स्वार्थ की दृष्टि से देखता है। आज के भारतीय समाज में जहा एक विशेष प्रकार की राजनीतिक एलीट पैदा हो चुकी है वह काले धन की अर्थ-व्यवस्था के सहारे यह चाहती है कि वह न्यायिक सस्थाओं पर अपना वर्चस्व स्थापित कर न्यायालयों

जेल प्रशासन अपने को सामाजिक उपेक्षा का शिकार बतला कर अपने अपराधों पर पर्दा डालने की कोशिश करता है और समाज और उसकी ऐच्छिक संस्थायें पूरी सरकार को दोषी बतलाकर अपने आप को दोषमुक्त कर लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय न्याय प्रशासन की ये सभी संस्थायें आंशिक रूप से अपने संस्थागत दोषों के कारण कुल मिलाकर भारत में न्याय प्रशासन को वहा लाकर खड़ा कर देती है जहा से उसकी समग्रता आंशिक दोषों के कारण कई गुनी बढ जाती है।

## औपनिवेशिक विधि संहिताएं

न्याय प्रशासन एक कानूनबद्ध स्थिति है जो देश के कानूनों के अन्तर्गत व्यक्ति एव समूहों के हितों की रक्षा करता है। भारत का संवैधानिक कानून प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करने का उद्घोष करता है। यह न्याय जाति, धर्म, रंग, लिंग तथा वर्ण आदि के बिना किसी भेदभाव के सबको समान रूप से उपलब्ध हो सके इसके लिए देश के कानूनों में समय-समय पर संशोधन किये जाते रहे हैं। भारतीय संसद और राज्यों की व्यवस्थापिकायें समाज के सभी वर्गों के प्रतिनिधियों की आम राय से इन कानूनों को बना रही है और बदल रही है। उन्हें इस कार्य में 'ला कमीशन', विधि मन्त्रालय, संसदीय समितियों आदि से दिशा-निर्देश मिलता रहता है। सरकार के अन्दर और बाहर के बहुत से निकाय इन कानूनों को उद्देश्यपरक बनाने में संसद को सहयोग देते हैं। पर सिद्धान्तत जबकि यह सही है, व्यवहार में भारतीय विधि संहिता मूलत अपनी औपनिवेशिक रूप में ही चल रही है। सी आर पी सी और आई पी सी में आजादी के बाद कितने ही क्रान्तिकारी परिवर्तन भी किये गये, पर भारतीय कानूनी प्रक्रिया के मूल दोष उनसे आज भी निकाले नहीं जा सके हैं। उदाहरण के लिए भारतीय कानूनों में शक्तिशाली, समृद्ध तथा शासक वर्ग के पक्ष मे एक झुकाव है। निर्बल, दरिद्र तथा पिछड़े वर्ग के लोग कानून के व्यवहार में उपेक्षित ही नहीं बल्कि प्रक्रिया मात्र से ही प्रताडित हो जाते हैं। आज के कानून भी जो कल्याण राज्य के दर्शन से अनुप्राणित होने के कारण सामाजिक और आर्थिक न्याय का उच्च उद्देश्य लेकर चलते हैं जब व्यवहार में पहुच कर जन साधारण को मुक्ति पहुचाने की स्थिति में आते हैं तो उनके आन्तरिक दोष उन्हें उद्देश्यमुक्त कर शोषण का पात्र बना देते हैं। भारतीय कानून व्यवस्था न्याय व्यवस्था को सुदृढ़, स्वच्छ एव न्यायपूर्ण होने से रोकती है। इस दृष्टि से भारतीय कानूनों और दण्ड प्रक्रिया संहिताओं में निम्नलिखित दोष दृष्टव्य हैं–

(1) भारत में कानूनों की एक भीड बढ़ती जा रही है और जो कानून एक बार बन जाता है उद्देश्यहीन एव अनावश्यक हो जाने पर भी चलता रहता है। कानूनों को निरस्त करने या संशोधित करने तक के यन्त्र बड़े दुर्बल या सुप्त हैं और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी अनुभव नहीं करते।

(2) भारतीय संसदीय प्रणाली में निर्वाचन की विसंगतियों के कारण जो जन प्रतिनिधि

कानून निर्माण के कार्य के लिए व्यवस्थापिकाओं में आते है वे अधिकतर अभिजात्य वर्ग के सदस्य हैं और इस कारण जन प्रतिनिधि होकर भी वे जन साधारण के दुख एव अभावों के प्रति सवेदनशील नहीं है। यह स्थिति कानूनों को अप्रासंगिक व सामाजिक न्याय की प्राप्ति में बाधक बनाती है।

(3) कानूनों में अधिकतर सशोधन ला कमीशन की तकनीकी राय या अन्य वकील जजों आदि की समितियों के माध्यम से निकल कर विधायकों तक आते हैं। यह स्थिति निहित स्वार्थों को मजबूत बनाती है और कानून विधि वेत्ताओं का बन्धक बन कर रह जाता है।

(4) भारत में अपराधीकरण की प्रक्रिया तथा अपराधों के समाज शास्त्र पर कोई गहन चिन्तन नहीं हो सका। इस कारण एक ओर तो नये अपराध बढ रहे हैं और दूसरी ओर अग्रेजी औपनिवेशिक युग की परिभाषायें और वर्गीकरण चल रहे हैं। *भारतीय पीनोलोजी की पुस्तकें, जिन्हें दुबारा लिखे जाने की आवश्यकता है, पूरे न्याय प्रशासन को विकृत कर जन आक्रोश को जन्म दे रही है।*

(5) *भारत में मूल कानून तथा कानूनों के उल्लघन करने वालों को सजा देने की* प्रक्रिया कानून दोनों ही धनाढ्य सशक्त एव बडे आदमियों के पक्षधर हैं। कानून की इस दुर्भावना को लोकतन्त्रात्मक राजनीति भी अभी तक बदल नहीं पाई है जिसके कारण सहज अन्याय होते हैं।

## पुलिस की अन्यायी छवि

*पुलिस न्याय प्रशासन का अग तो नहीं मानी जा सकती पर भारतीय पुलिस और भारतीय न्यायव्यवस्था में एक चोली-दामन का सम्बन्ध देखा जा सकता है। कानूनों का उल्लघन करने पर अन्याय की स्थिति में यह पुलिस का दायित्व है कि वह हरकत में* आये। पुलिस को जाच-पड़ताल और मुकदमों को दर्ज कर उनके तथ्यों सहित कोर्ट में चालान प्रस्तुत करने का कार्य करना होता है। कानून की दृष्टि से चाहे यह कार्यकारिणी के कर्त्तव्य हो पर इनकी अर्द्ध-न्यायिक प्रकृति पुलिस इन्वेस्टिगेशन को न्याय प्रशासन का सहयोगी बना देती है। न्याय की इस 'रिले रेस' में यदि पुलिस न्यायपालिका के साथ कदम से कदम मिला कर नहीं दौडती तो न्याय के नाम पर अन्यायों की शृखला आरम्भ हो जाती है। भारतीय पुलिस का इतिहास जो दुर्भाग्य से शासक-भक्ति का इतिहास रहा है भारतीय समाज में पुलिस की छवि और व्यवहार को एक अन्यायी सस्था के रूप में प्रस्तुत करता है। वैसे तो भारतीय पुलिस सगठन और उसकी कार्य प्रणाली में कितने ही प्रकार के अभाव अभियोग ढूढे जा सकते हैं, पर भारतीय न्याय प्रशासन में बहुत से दोषों के लिए पुलिस निम्न प्रकार से उत्तरदायी है—

(1) *जन साधारण की यह शिकायत है कि पुलिस के थानों में अपराधों या कानूनों के क्रिमक उल्लघनों की रिपोर्ट (जिसे एफ आई आर कहते हैं) लिखने में*

आनाकानी या टालमटोल किया जाता है। स्वाभाविक है कि जब अपराध को अपराध ही नहीं माना जाए तो न्याय अन्याय के प्रश्न ही पैदा नहीं होते। पर इन प्रश्नों को पैदा होने से रोकना स्वय एक सस्थागत अन्याय है।

(2) पुलिस की जाच-पड़ताल जो एक कानूनबद्ध प्रक्रिया है पुलिस अधिकारियों को इतना विवेकाधिकार देती है कि वे अन्यायी को अपराध स्थल पर ही माफ कर सकते है और किसी निर्दोष को सदिग्ध अपराधी बनाकर न्यायालय तक तो पहुचा ही सकते हैं और वहा भी यदि पुलिस अधिकारी साक्ष्य जुटाने में माहिर हो तो निर्दोष को जेल भेजने में न्यायपालिका अपने को विवश महसूस करेगी।

(3) पुलिस जाच तथा अभियोजन जो न्यायपालिका की कार्य प्रक्रिया को ध्यान में रखकर चलता है, मूलत पुलिस न्यायपालिका सम्बन्धों में फस कर रह जाते हैं। पुलिस के विरुद्ध निर्णय देना न्यायपालिका अपनी ईमानदारी और स्वतत्रता समझती है और न्यायपालिका की इस कमजोरी को अपने पक्ष में बदलने की कला जानने वाला पुलिस अधिकारी अप्रत्यक्ष रूप से बन जाता है।

(4) पुलिस प्रशासन में (अ) राजनीतिक हस्तक्षेप, (ब) पुलिस की भ्रष्ट छवि, (स) पुलिस कार्य में जनता का असहयोग, (द) पुलिस के पास अपर्याप्त साधन, (य) पुलिस के छोटे कर्मियों की दयनीय स्थिति, तथा (र) बदले हुए अपराधों एव नये दबावों की लम्बी सूची कुछ ऐसे कारण हैं जो पुलिस को अपना कार्य ईमानदारी एव तत्परता से करने में बाधा डालते हैं। ये कारण पूरी तरह तो कभी भी नहीं मिट सकेंगे पर वर्तमान समाज में राजनीतिक चेतना एव जनजागरण यह अपेक्षा करता है कि न्यायपालिका तक पहुचने से पहले भी उसे न्याय मिले और पुलिस प्रशासन ऐसी स्थिति न बना दे कि न्यायपालिका अन्याय करती हुई उसे न्याय मान बैठे।

(5) पुलिस प्रशासन की अकार्य कुशलता, भ्रष्टाचार, असवेदनशीलता, शक्ति मद, अतिस्वामीभक्ति, कानून की दकियानूसी परिभाषायें आदि ऐसे कितने ही दोष हैं जो न्याय प्रशासन को प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से कलंकित करते हैं। पुलिस कानून की रक्षक है और कानून की अनुपालना न्याय है ऐसी स्थिति में न्याय का मूल स्रोत न्यायालय में न रह कर पुलिस थाने में पहुच जाता है।

## बार और बेंच

बार और बेंच न्याय प्रशासन के केन्द्र एव हृदय स्थल कहे जा सकते हैं। अग्रेजी राज के जमाने में न्यायालयों में वकीलों के माध्यम से बहस एव न्याय दिलवाने की व्यवस्था आरम्भ हुई। विश्वविद्यालयों में कानून की शिक्षा तथा वरिष्ठ अधिवक्ताओं के साथ कार्य कर बार की सदस्यता का प्रचलन आरम्भ हुआ। न्यायाधीशों के आसन विधि के प्रतिष्ठित केन्द्र बनाने के लिए योग्य एव लब्धप्रतिष्ठ वकीलों को न्यायाधीश बनाया गया और उनसे यह आशा

की गई कि अधिवक्ता एक प्रोफेशनल के रूप में सच्चाई एव न्याय की खोज मे कोर्टो मे बौद्धिक विवाद लडे और न्यायाधीश बहस सुनने के बाद पूर्णत तटस्थ एवं स्वतंत्र भाव से अपने निर्णय सुनाए। इस पूरे अभ्यास की प्रक्रियायें निर्धारित की गई और आज जिन्हें एविडेन्स, क्रास एक्जामिनेशन, मेडिकल रिपोर्ट, सलिंग बेल, पैरोल, एफीडेविट, कंक्विर थाड, सन्टेन्स आदि कहा जाता है न्याय प्रक्रिया का हिस्सा बनी। वकीलों से यह अपेक्षा की गई कि वे अपने क्लायन्ट की पैरवी करते समय उसे बचायेंगे और जज कानून के सारे पहलुओं पर समीक्षात्मक दृष्टि डालते हुए अपराधियों को सजा देंगे। इस तरह निर्दोष लोगों की स्वतत्रता, दोषियों को सजा तथा कानून का सम्मान एव प्रक्रिया की पवित्रता न्याय प्रशासन के मौलिक सिद्धान्त बनकर सामने आये।

*न्याय प्रशासन के व्यावहारिक क्षेत्र पर आज दृष्टि डलने पर ये सिद्धान्त ही उसकी अनेक विकृतियों की जड में दिखलाई देते हैं। 'बार' की सारी अवधारणा जो कानूनी ज्ञान के माध्यम से निर्दोषों को बचने के लिए थी आज केवल भारी फीसों के सहायता से अपराधियों को छुडवाने के लिए रह गई प्रतीत होती है। ला के क्षेत्र में शिक्षा की जो दुर्गति है उसके कारण ला के स्नातक उस स्तर के विधि विशेषज्ञ नहीं हैं जिस स्तर के उन्हें होना चाहिए।* फिर देश में फैली भीषण बेराजगारी के कारण 'बार' में ऐसे लोग प्रवेश ले रहे हैं जिन्हें जीविका उपार्जन के सघर्ष में व्यावसायिक नैतिकता के साथ समझौता करना पडता है। 'बार' में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनैतिक्ता, वरिष्ठ वकीलों का सामन्तवाद, समाज एव निर्धन वर्ग के प्रति सवेदन शून्यता आदि कुछ ऐसी व्याधिया हैं जिन्होंने बार' को स्वतत्रता के रक्षक के स्थान पर उसके लिए सकट बना दिया है। वकीलों के अपने निहित स्वार्थों के कारण मुकदमे लम्बे खिचते हैं, पेशिया लगती रहती हैं, कानूनों की खामियों का फायदा उठा कर बेनिफिट ऑफ डाउट मिलते रहते हैं। जानबूझ कर पैसे कमाने के लिए कोर्टों को गुमराह किया जाता है और एक प्रकार की दलाली प्रथा सारे पेशे को बदनाम करती है।

'बेल' की स्थित, जो न्याय प्रशासन को आज भी अति सम्मानीय बनाती है। धीरे-धीरे भारतीय समाज में आलोचना का विषय बनने लगी है। आये दिन प्रेस में छपने वाले न्यायाधीशों के कारनामे उनकी छवि को जनदृष्टि में धूमिल बनाने लगे हैं। नवधनाढ्यों ने 'एन्टिसिपेट्री बेल' के माध्यम से न्यायाधीशों को फाइव स्टारों की सस्कृति से खरीदना शुरू कर दिया है। न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया उनकी ईमानदारी और चरित्र पर प्रश्न-चिन्ह लगाती प्रतीत होती है। न्यायाधीशों के अनुदारवादी दर्शन पर तो गत चालीस साल से बहस चल रही है पर अब प्रश्न उनकी कार्यशैली, सेन्टेंसिग पालिसी उनके अतीत की *राजनीति तथा वकीलों के साथ उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों आदि के विषय में उठने लगे हैं। बार बैंच के उभरते हुए बीमार सम्बन्ध पूरे न्याय प्रशासन को सर्वविदित है और जनतत्र में जैसे-जैसे ज्यूडिसियरी सार्वजनिक आलोचना का विषय बनती है वैसे-वैसे ही न्यायाधीश*

और न्यायालयों की छवि भी अब वह नहीं है जो पहले थी। विश्वसनीयता का यह संकट न्याय प्रशासन को शिथिल बनाता है और जन साधारण उसके साथ सहयोग करने से कतराता है।

### बीमार कारागार प्रशासन

न्याय प्रशासन की अन्तिम संस्था 'जेल' अथवा कारागार' है जिसका प्रशासन अपराधी सुधार की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी भारत में यह सबसे अधिक दयनीय स्थिति में है। समाज और सरकार दोनों ही की जेल प्रशासन में कोई विशेष रुचि नहीं है और धनाभाव के नाम पर कारागृहों में जो अमानवीय स्थिति है उसमें हर तरह के अपराध पनपते हैं। जेलें तो अपराधियों को समाज से बीन कर अलग करने के लिए बनी हैं, भारतीय संदर्भ में अपराधी पैदा करने वाली फैक्ट्रियां बन चुकी हैं। जेल आचार संहितायें इतनी पुरानी हैं कि कैदी नारकीय यातनायें भोग रहे हैं। कैदियों के जीवन सुधारने तथा समाज में उन्हें पुन स्थापित करने के लिए जो सेवायें हैं, वे इतनी *अक्षम* हैं कि अपराधी सुधार के कार्यक्रम समाज पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ते। महिला कैदियों एव बाल अपराधियों की दशा इतनी चिन्तनीय है कि उसका मानव पक्ष बर्बर लगता है। जेल प्रशासन अनुशासन के नाम पर कोई प्रयोग नहीं करना चाहता और पेरोल आदि के कानून सिद्धान्तत काफी उदार होते हुए भी प्रयोग में अनुपयोगी रहे हैं। जेल सेवा के अधिकारियों और कर्मचारियों की शिकायतें अनगिनत हैं। उनका कार्मिक प्रशासन भर्ती, पदोन्नति, प्रशिक्षण तथा सेवा स्थिति की दृष्टि से उनके साथ न्याय नहीं करता, जिसका बदला वे कारागार प्रशासन के भ्रष्टाचार तथा कुशासन के रूप में सरकार और समाज से लेते हैं।

### अपराधी पुनर्वास

भारतीय समाज अपराधियों के प्रति अत्यन्त क्रूर एव हृदयहीन है। भूतपूर्व कैदियों को समाज में पुनर्स्थापित करने के लिए ऐच्छिक संगठन नहीं के बराबर है और जो है भी उनका प्रभाव नाम मात्र का भी नहीं है। समाज पूर्व अपराधियों को सजा काट लेने के बाद भी विश्वसनीय और समादृत नहीं मानता। फलस्वरूप वे या तो अधिक कहर अपराधी बन आजीवन कारावास में बिताते हैं अथवा समाज के प्रति कटुता का भाव लेकर नये प्रकार के अपराधियों को संरक्षण देते हैं। इस तरह न्याय प्रशासन की एक बड़ी भारी जिम्मेदारी (जो अपराधी को फिर से एक स्वस्थ और उपयोगी नागरिक बनाना है) केवल समाज और जेल प्रशासन के मिले-जुले प्रयत्नों से ही सम्भव है। भारतीय समाज में यह दायित्व अभी सामाजिक नेताओं के विचार के स्तर पर भी पहचाना नहीं जा रहा है। दिनोंदिन बढ़ते हुए नये-नये अपराध जेलों को पूरी तरह भर चुके हैं। 'बेल नाट जेल' के सिद्धान्त का सहारा लेकर न्यायपालिका और सरकार अपराधियों से मुक्ति पाना चाहती है और समाज एव स्वय सेवी संस्थाओं से अपेक्षा करती है कि वे अपराधियों के पुनर्वास के लिए आगे आयें।

उन्हें प्रशिक्षित कर और समाज के दृष्टिकोण को भी इस तरह बदलें कि वे अपराधी को रोगी तथा अपराध को सामाजिक विसगति समझें।

### (3) सैद्धान्तिक संकट

इन सभी व्यवस्थामूलक तथा सस्थागत समस्याओं के कारण भारत के न्याय प्रशासन के सम्मुख कुछ सैद्धान्तिक सकट आ खडे हुए हैं। न्याय देने वाले और न्याय पाने वाले व्यवस्था से यह पूछने लगे हैं कि क्या न्याय का यह अर्थ है कि वह कभी भी और कैसे भी मिल जाए। क्या न्याय का उद्देश्य अपराधी को सुधारना अधिक है या अन्याय के शिकार किसी अभागे को उसकी हानि की क्षतिपूर्ति दिलवाना है। क्या न्याय की प्रक्रिया न्याय के निर्णय से अधिक पवित्र मानी जाए? आखिर न्याय प्रशासन जिस अपराधीकरण प्रक्रिया को रोकने के लिए बना है क्या वह इन आर्थिक और सामाजिक विसगतियों को राजनीतिक एव कानूनी न्याय से ठीक किया जा सकता है? भारतीय संविधान ने अपनी भूमिका में "न्याय सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक" लिखकर एक समग्र क्रान्ति का सूत्रपात किया है जिसके लिए भारतीय समाज आज भी ऐतिहासिक रूप से तैयार नहीं है। पर न्याय प्रशासन को इन दार्शनिक प्रश्नों से आज नहीं तो कल जूझना ही होगा। पश्चिम के समाज में भी प्रश्न तो मूलत ये ही थे पर उनका परिवेश और सदर्भ भिन्न होने के कारण उन्होंने कानून और उसकी प्रक्रिया में इन सैद्धान्तिक समस्याओं के उत्तर ढूढे। शायद हमें भी एक नई प्रक्रिया विकसित कर न्याय की उपलब्धि का एक सर्वस्वीकृत मार्ग ढूढना है। एक सन्तुलित न्याय सिद्धान्त की माग है कि 'न्याय' प्राप्ति में कुछ विवेकसम्मत लक्षण स्पष्ट रूप से दिखलाई दें। ये लक्षण हैं–

(1) न्याय इतना विलम्बित न हो कि लोग ये कहें कि "जस्टिस डिलेड इज जस्टिस डिनाइड" पर वह इतना त्वरित भी न हो कि उसे " जस्टिस हरिड इज जस्टिस बरिड" कह कर आलोचित किया जाए।

(2) न्याय वह है जो दलित और दुर्बल के सहायतार्थ चल कर उसकी झोपडी तक आये। यह स्थानीय न्याय थोडा बहुत अन्याय होते हुए भी इसलिए न्याय ही अधिक है चूंकि स्थानीय व्यक्ति और परम्परायें ही न्याय के स्रोत हैं।

(3) न्याय प्रक्रिया में निर्दोष और निर्धन लोग ही ज्यादा उलझते हैं। अत वह सस्ता होना चाहिए–इतना सस्ता कि उसे पाने की तलाश में दरिद्र हो जाने वाला व्यक्ति अन्याय का शिकार न हो जाए।

(4) न्याय व्यवस्था समाज जोडने के लिए होनी चाहिए न कि उसे तोडने के लिए। अत न्याय की हर अवधारणा 'कन्सीलियेशन' या 'मीडियेशन' पर बल देने वाली होनी चाहिए न कि 'एडजुडिकेशन' या 'आर्बिट्रेशन' पर।

(5) न्याय का प्रक्रियाबद्ध होना आज के विधि विशेषज्ञ सबसे अधिक आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार 'ट्राइबल जस्टिस' या पचायती जस्टिस में इसका अभाव उसे

सच्चा न्याय बनने से रोकता है। प्रक्रिया की यह आवश्यकता ही वकीलों की संस्था को जन्म देती है।

न्याय के ये सारे लक्षण व्यवस्था द्वारा सुलभ बनाये जाने चाहिये। कहना न होगा कि भारतीय न्याय व्यवस्था अनेक ऐतिहासिक, सामाजिक एवं व्यवस्थागत कारणों से आज जो न्याय दे रही है वह विलम्बित है महगा है, शहरी है, और प्रक्रिया से इतना अधिक बधा हुआ है कि समाज के वर्गों में टुकडे होते जा रहे हैं।

## सुधार की दिशा

गत एक दशक मे भारतीय न्याय व्यवस्था की विसगतियों पर देश में चर्चा होना प्रारम्भ हुआ है। बहुत लम्बे समय से बन्द कमरे में 'कन्टमप्ट ऑफ कोर्ट' के भय मे आलोचना को दूर रखती हुई भारतीय न्यायपालिका अब जनतांत्रिक समीक्षा और 'सोशल आडिट' के घेरे में आने लगी है। इनवेस्टिगेटिव जर्नलिज्म ने उस पर नये प्रहार किये हैं और "होली काऊ" का चिर-परिचित रूप अब ज्युडिसियरी को भी स्वय परेशान करने लगा है। वैसे न्याय प्रशासन अपनी समग्रता में लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी अन्य प्रशासनों से भिन्न रहेगा पर "वह आलोचना से ऊपर है" यह स्थिति कालान्तर में स्वीकार्य नहीं होगी। उसे सुधार के नाम पर गम्भीर रूप से बदलना होगा और यह बदलाव तभी आयेगा जब वह अपनी अनिच्छा के बावजूद भी अपनी रचनात्मक आलोचना करने का अधिकार समाज को देगा। इससे उसकी छवि खराब हो सकती है पर खराब छवि को आलोचनाओं से बचा लेने मात्र से वह अच्छी छवि या अच्छी व्यवस्था नहीं बन सकती। स्वय 'ला कमीशन' और अन्य कानूनी एजेन्सिया इस दिशा में पहल कर रही हैं पर उनका दृष्टिकोण केवल कानूनी है जो एक व्यापक समाजशास्त्रीय समीक्षा चाहता है। भारतीय समाज और राजनीति के बदलते परिवेश में जब सारे प्रशासन की अवधारणा ही सक्रमण से गुजर रही है तब भारतीय न्याय प्रशासन के क्षेत्र में सुधार की व्यापक योजनाओं की आवश्यकता है। ये योजनायें निम्न परिवर्तन विन्दुओं के चारों ओर तैयार की जा सकती हैं–

(1) भारतीय अपराध शास्त्र और दण्ड विधान की पुनर्रचना। अब तक परिवर्तनों की दृष्टि से हम अपनी दण्ड संहिताओं में सामान्य सशोधन करते आये हैं। अब समय आ गया है कि सन् 1861 के कानूनों या पीनोलाजी को नये सिरे से लिखा जाए। अपराध की नई समाजशास्त्रीय अवधारणा से अपराधों को भारतीय परिवेश में देखा और परखा जाए। बहुत से अपराध शायद दण्ड पुस्तिकाओं से बाहर निकाले जा सकते हैं और इसी तरह कुछ नये या पुराने अपराधों को दण्डित करने की प्रक्रिया और सजाओं को बदला जा सकता है। 'डीक्रिमनलाइजेशन' और 'ट्रायल प्रासेस' के इन प्रश्नों को नई भारतीय समाज शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए, आज की पहली आवश्यकता है।

(2) कानूनी प्रक्रिया की पूर्णता एव नवीनीकरण की यह माग होगी कि कानूनों की अनुपालना करवाने वाली पुलिस व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन किये जायें। बहुत से

सुधारों में से एक प्राथमिक सुधार यह आवश्यक है कि पुलिस और न्यायपालिका एक-दूसरे के शत्रु और प्रतिद्वन्द्वी न होकर पूरक भूमिकायें निभायें। पुलिस न्यायपालिका की सहायता के लिए है न कि न्यायपालिका पुलिस से नागरिकों को बचाने के लिए। ऐसी स्थिति में 'पुलिस फार ला' और 'पुलिस फार आर्डर' की विभाजित व्यवस्था कर कानूनी पुलिस को अर्द्ध-न्यायिक बनाया जा सकता है और उसकी छवि एव कार्य प्रणाली को न्यायपालिका प्रक्रिया की तरह पवित्र एव उच्च स्थान दिया जा सकता है। फ्रास की पुलिस ज्यूडिशल की अवधारणा न्यायिक पुलिस के इस विचार को भारतीय सदर्भ में विचारणीय बनाती है।

(3) भारतीय न्याय व्यवस्था में वकीलों की सस्था अपरिहार्य है पर यह सस्था न्याय की सम्प्राप्ति के लिए उद्देश्यपरक बन सके इसके लिए आवश्यक है कि 'विधि' का ज्ञान और 'डिग्री' मेडिसिन और इन्जीनियरिंग की तरह एक प्रोफेशनल डिग्री हो जिसे विशिष्ट प्रतिभाशाली युवक ही भारी परिश्रम मे पा सकें। वकील वर्ग में प्रोफेशनल नैतिकता जगाने के लिए कोर्टों में प्रैक्टिस करने का लाइसेंस भारतीय सुप्रीम कोर्ट द्वारा एक विशेष प्रतियोगी परीक्षा द्वारा दिया जाए। 'जापानी बार' की भाति भारतीय बार के सदस्य बडी कठिनाई से उसमें प्रवेश पा सकें और उनकी प्रतिष्ठा या सफलता इस पर निर्भर न करे कि उनकी प्रैक्टिस कितनी है बल्कि इस तथ्य पर वे 'एमिनेन्ट' मा[illegible] [illegible]यें कि उन्होंने विधि के क्षेत्र में क्या बौद्धिक योगदान दिया है। वकीलों की स्वतन[illegible] आवश्यक होते हुए भी न्याय व्यवस्था के हित में यह आवश्यक है कि उन्हें मनमानी फीसें और अनगिनत मुकदमे लेने की स्वतत्रता से वचित किया जाए। वकीलों पर भी अनैतिकता और 'पर्जरी' के मुकदमे चलें और ये मुकदमे यदि उनके व्यावसायिक जाति भाई न लडना चाहें तो इसके लिए कोई नई व्यवस्था विकल्प के रूप में खोजी जाए।

(4) भारतीय न्यायाधीशों के विषय में एक नये सोच की आवश्यकता आज सभी महसूस करने लगे हैं। बार और बैंच के बीच का सहयोग एक ऐतिहासिक स्थिति रही है, पर इसकी हानिया भी इसके लाभ से कम विचारणीय नहीं हैं। न्यायाधीश केवल विधिवेत्ता के अतिरिक्त भी बहुत कुछ होने चाहिए। जनतत्र में उनकी नियुक्ति उनके चरित्र का निर्धारण करती है। अत अब समय आ गया है कि आई जे एस या अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का गठन किया जाए। इसमें जो लोग योग्यता आधार से आयेंगे वे दूसरे ही किस्म के व्यक्ति होंगे और उनका बार से भी एक नया किस्म का सम्बन्ध बनेगा। आई जे एस सेवा के गठन से परिवर्तन की सामान्य परेशानिया खडी हो सकती हैं, पर यह वर्तमान व्यवस्था से कम बुरी होंगी। जजों की सामाजिक पृष्ठभूमि एव बौद्धिक स्तर बदलने के बाद भारत में न्यायपालिका का दर्शन कार्य प्रणाली तथा दण्डविधायें बदलने लगेंगी और धीरे-धीरे एक ऐसी स्थिति आ सकेगी जिसके अन्तर्गत न्यायाधिपतियों को उन बातों पर गर्व होगा जिसकी आज वे परवाह नहीं करते और उन स्थितियों पर शर्म भी आने लगेगी जिन्हें आज वे कानून की कमजोरिया कह कर अपने को दोषमुक्त कर लेते हैं।

(5) जेल प्रशासन को उद्देश्यपरक बनाने के लिए एक 'प्रिजन पॉलिसी तथा रिहैबिलिटेशन सर्विसेज' के गठन का निर्णय लेना होगा। सर्वप्रथम कारागार व्यवस्था आरम्भ कर जेलों के आधुनिकीकरण का प्रयत्न करना होगा। जेल प्रशासन में कारागार कर्मियों तथा कैदियों की एक नई जनतांत्रिक भूमिका एवं सहभागिता काफी सीमा तक व्यावहारिक बनाई जा सकती है। ऐच्छिक एवं स्वयं सेवी संस्थाओं को सशक्त तथा सक्रिय कर पूरे समाज को अपराध नियन्त्रण की नई दिशाओं में प्रशिक्षित करने की योजनायें बनाई जानी चाहिए। मीडिया के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों को यह समझाया जाना आवश्यक है कि न्याय केवल सरकार के अभिकरणों द्वारा ही नहीं दिया जा सकता और यदि समाज 'बेल' 'पैरोल' तथा पुनर्वास आदि के कार्यों को गम्भीरता से लेगा तो कारागार प्रशासन पर भार घटेगा और सुधार के लिए अधिक संसाधन उपलब्ध हो सकेंगे। कारागार मैन्युल्स जो मध्य युगीन जीवन मूल्यों को लेकर बनाई गई थीं आज संशोधित कर दिये जाने मात्र से नवीन नहीं बन सकतीं। उन्हें अपराधी, अपराध, परिस्थिति, शिकार क्षति, उपलब्ध सुविधाओं आदि को मिलाकर एक नये दृष्टिकोण में फिर से लिखने की आवश्यकता है।

(6) न्याय प्रशासन की सभी संस्थायें समन्वित रूप से सक्रिय रह सकें इसके लिए समन्वित प्रशिक्षण काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। पुलिस, ज्युडिसियरी तथा जेल के अधिकारी एक-दूसरे की सीमायें और समस्याओं को समझें और समाज तथा सरकारी नीतियों के सन्दर्भ में सीमित साधनों में अधिक से अधिक उपलब्धि पाकर दिखलायें यह एक कठिन कार्य है पर 'समन्वित प्रशिक्षण' इसके लिए एक प्रभावी मंच प्रस्तुत करता है।

(7) भारत में न्यायिक प्रक्रिया अपनी स्वच्छता की रक्षा के लिए बहुत जटिल एवं लम्बी बनाई गई है। इसे निरन्तरता से सुधारने के लिए किसी भी संस्था के पास समय नहीं है और अन्य संस्थाओं द्वारा दिये गये सुझावों का न्याय प्रशासन द्वारा प्रतिरोध होता है। ऐसी स्थिति में मुकदमों की बढ़ती भीड़ से निपटने का एक ही लोकतांत्रिक उपाय है कि 'न्याय प्रशासन का विकेन्द्रीकरण' किया जाए। पंचायती संस्थायें न्याय देने के लिए आगे आयें और 'लोक अदालतों' तथा 'ग्राम न्यायालयों' में बिना वकीलों के सरल प्रक्रिया द्वारा मध्यस्थता न्याय दिये जाने की पहल की जाए। ये प्रयोग हाल ही में काफी सफल भी रहे हैं। स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए इनमें कानूनविद् या सेवानिवृत्त जजों को सम्बद्ध किया जा सकता है पर प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रक्रियाओं में उलझ कर न्याय महंगा और विलम्बित न हो जाये।

इस प्रकार भारत में न्याय प्रशासन के क्षेत्र जो सदियों से जड़ता एवं कानूनी जटिलताओं का जाल बना हुआ है आज अपने ही कार्यभार से नये सुधारों के लिए नये विचारों को आमन्त्रित कर रहा है। प्रशासन की 'कानून के शासन' की परिकल्पना स्वतन्त्र और तटस्थ न्यायालय की मांग को मजबूत करती है, किन्तु भारतीय समाज का अन्याय

प्रश्न और अभाव ग्रस्त सामाजिक ढांचा इसी सारी अवधारणा के भारतीयकरण की माग करता है। स्वाभाविक है कि इसका आरम्भ सन् 1861 में लिखी गई विधि संहिताओं और आचार संहिताओं में दी गई प्रक्रियाओं के बदलाव से करना पडेगा। अंग्रेजी राज में स्थानीय स्वराज की सस्थायें ही नहीं के बराबर थीं और आज का भारतीय लोकतंत्र इनके बिना ग्रामीण आधार पर खडा ही नहीं रह सकता। अत भारतीय न्याय प्रशासन अपनी केन्द्रीकृत शहरी संरचना को पंचायती राज के माध्यम से एक विकेन्द्रीकृत ग्रामीण आधार दे सकता है और उसे देना भी चाहिए।